मुण्डकोपनिषद् प्रवचन

अखान्य (त्रामन)

महाराजश्री: संक्षिप्त परिचय

पितामहकी प्रार्थनाके ठीक नौ मास पूर्ण होनेके दिन ब्रजकी ठाकुर श्रीशान्तनुबिहारीजीकी कृपासे भारतवर्षके पवित्रतम वाराणसी मण्डलके महराई नामक ग्राममें, सरसूपारीण बाह्मण वंशमें महाराजश्रीका जन्म संवत् १९६८ श्रावणी अमावस्या तदनुसार शुक्रवार २५ जुलाई १९११ को पुष्य नक्षत्रमें हुआ था। श्रीताकुरजीकी कृपासे प्राप्त होनेके कारण बालकका नाम 'शान्तनुविहारी रखा गया।

बड़े-बड़े ज्योतिषशास्त्रियोंने महाराजबकी उम्र १९ वर्ष ठहराई। मृत्युका भय महाजको आध्यात्मके मार्गको और ले आया। सभी संत महापुरुषोंने स्पष्ट कहा कि प्रारब्धसे प्राप्त मृत्युसे बचनेका उपाय तो हम नहीं कर सकते। किन्तु ऐसा ज्ञान दे सकते हैं जिससे मृत्युको विभीषिका सर्वदाके लिए मिट जाये। वस्तुतः ऐसा ही हुआ। महाराजत्रीके अन्तःकरणमें अमृतब्रह्मका आविर्भाव हुआ और मृत्युको काली छाया सर्वदाके लिए दूर भाग गयी।

एक बार महाराजश्री प्रयागमें झुसीके सुप्रसिद्ध ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीसे मिलने गये थे। वहाँ पहली बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके दर्शन हुए थे और उनके साथ वेदान्त सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर हुए। बाबाकी अद्वय-निष्ठा और जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखकी मस्ती देखकर महाराजश्री मंत्रमुग्ध हो गये। बाबाका स्नेह और वात्सल्य उन्हे प्राप्त हुआ। महाराजश्रीके संन्यास ग्रहण करनेमें बाबाकी ही अन्तरंग प्रेरणा थी और ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामीश्री ब्रह्मानन्दजी सरस्वतीसे संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। संन्याससे पूर्व गोरखपुर 'कल्याण' के सम्पादक मण्डलमें महाराज की सात वर्ष तक रहे।

सर्वप्रथम दस वर्षकी में इनके पितामहने इनमे श्रीमद्भागवतका पाठ कराया और तबसे लीला संवरण पर्यन्त श्रीमद्भागवत एक सुहदके समान उनका साथी रहा। उनको नित्यका सत्संग भी निजानन्दकी मस्ती थी, जो १७ नवम्बर १९८७ को सायं सत्संग सभा तक अनवरत चलता रहा। आज भी सत्संग प्रेमी ऑडियो-वीडियो कैसेटों एवं ग्रर्थिक माध्यममी उनकी अमृतवाणीका आनन्द लूटते रहते हैं।

१९ नवम्बर, १९८७ मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी प्रातः दो बजेके करीब अर्थात् ब्रह्मवेलामें व्यष्टि-प्राण समष्टिप्राणसे एक हो, सर्वव्यापक हो गये।

महाराजश्रीके जीवनमें प्रत्यक्ष दीखता था कि चाहे कोई किसी भी सम्प्रदायका हो, मुर्ख हो या विद्वान, स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्घ, निर्धन हो या धनी सबके प्रति आपका समान प्रेम था। जो व्यक्ति जिस काम उनके पास आया, उसे वह मिला। चारों पुरुषार्थ एवं पञ्चम पुरुषार्थ भक्तिको अन्त तक लुटाते रहे।

महाराजश्री द्वारा स्थापित 'आनन्द वृन्दावने आश्रम' श्री वृन्दावन धाममें तीर्थराज प्रयाग सदृश है, जहाँ कर्म, भक्ति और ज्ञानका संगम है। आश्रममें सत्संग, श्रीठाकुर-सेवा, गौ-सेवा, संत-सेवा, वेद-विद्यालयमें शास्त्रोंका स्वाध्याय, निःशुल्क दवाखाना आदि विभिन्न गतिविधियोंके साथ-साथ महाराजश्रीके द्वारा शुरू की गयी सभी आचार्योंकी जयन्ती मनानेकी प्रथा सांस्कृतिक समन्वयकी दृष्टिसे अविस्मरणीय रहेगी। यह महाराजश्रीके उदार दृष्टिकोणका उत्तम उदाहरण है।

मुण्डकसुधा (मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन)

(पूर्व प्रकाशित 'मुण्डक-सुधा' का नवीन वृहद् संस्करण)

प्रवचन

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

सम्पादन

स्वामी बिश्वात्मानन्द सरस्वती

प्रकाशक

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थानः

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग मालाबार हिल

मुम्बई - 400 006

फोन : (022) 23682055

मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय आनन्द कुटीर, मोतीझील वृन्दावन - 281 121

फोन : (0565) 2913043, 2540487

मो.: 09837219460

द्वितीय (परिवर्धित) संस्करण : 1100

21 जुलाई 2005

गुरुपूर्णिमा

वृतीय संस्करण : 500

विजयादशमी 2016

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : रु. 200/-

मुद्रक :

आनन्दकानन प्रेस

डी. 14/65, टेढ़ीनीम

वाराणसी - 221001

फोन : (0542) 2392337

सम्पादकीय

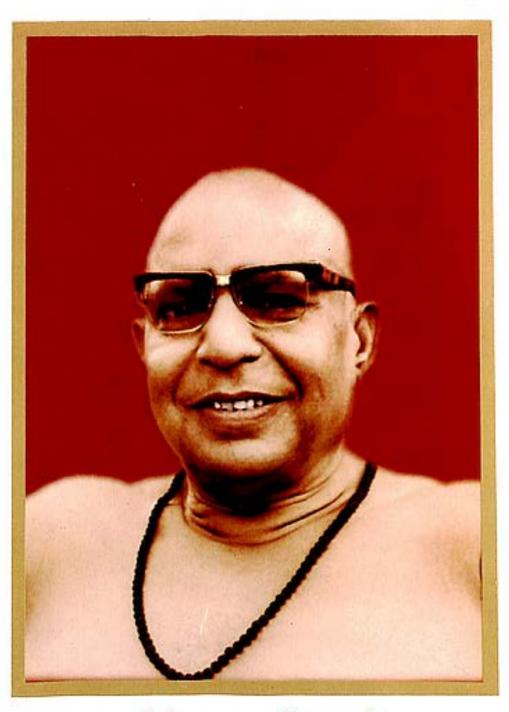
प्रस्तुत 'मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन' ग्रन्थ पूर्व-प्रकाशित 'मुण्डक-सुधा का संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण है। असलमें तो इसको एक नवीन ग्रन्थ ही कहना उचित होगा क्योंकि परमपूज्य महाराजश्रीके मुण्डक उपनिषद्-प्रवचनोंकी यह हू-बहू अनुकृति है जब कि 'मुण्डक-सुधा'में उसका संक्षिप्त रूपान्तरण था। आशा है जिज्ञासुओंके लिए यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

उपनिषदों में मुण्डकोपनिषद्का अपना बहुत महत्त्व है। एक तो यह मंत्र संहिताका भाग है, दूसरे इसके मंत्रोंका प्रचार-प्रसार प्रमाणके रूपों में सर्वत्र होता है। ब्रह्मसूत्रमें भी इसके मंत्रों पर विचार किया गया है। अत: वेदान्तके जिज्ञासुओं के लिए इस उपनिषद्का विचार अनिवार्य है। संन्यास, प्रणवोपासना तथा अन्त:करणशुद्धिके अन्य उपायोंका भी इसमें वर्णन है। 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति 'इसकी प्रसिद्ध सूक्ति है। गुरूपसित्तकी अनिवार्यता भी इसमें बतायी गयी है तथा ब्रह्मज्ञानी-गुरुके सत्संग तथा सेवाका अपूर्वफल भी यहाँ बताया गया है। जीवन्मुक्ति तथा संन्यासीकी क्रम-मुक्तिकी अवधारणा भी बहुत स्पष्ट है।

उपर्युक्त समस्त विषयों पर प. पू. महाराजश्रीने अपने प्रवचनोंमें अत्यन्त सरल-सुबोध ढंगसे अनूठा प्रकाश डाला है। जैसा महाराजश्रीके साहित्यके पाठकोंको पूर्व परिचय ही है उनके प्रवचनोंमें गम्भीरता एवं प्रसाद दोनों अनुपमरूपसे उपस्थित रहते हैं। स्वाध्यायकी सुविधाके लिए प्रारम्भमें उपनिषद्का मूल-पाठ भी दे दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचनोंका संकलन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने किया है, एतदर्थ उनको बधाई। सम्पादनके निमित्तसे मुझे इन प्रवचनोंका गम्भीरतासे अवलोकन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, इसके लिए मैं पूज्य महन्तजी महाराजका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। परम पूज्य महाराजश्रीके श्रीचरणोंमें दण्डवत् प्रणाम सिहत।

श्रीवृन्दावन धाम अक्षय तृतीया 4 मई 2003 श्रद्धावनत श्रीगुरुचरणकमलाश्रित '**विश्वात्मानन्द'** (स्वामी विश्वात्मानन्द सरस्वती)



स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

मुण्डकसुधा

॥ ॐ तत्सत्॥

मुण्डकोपनिषद्

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(प्रथम मुण्डक)

🕉 ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-

मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ 1 ॥

परावराम्॥ 2॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-

थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।

स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह

भारद्वाजोऽङ्गिरसे

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्न: पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्विमिदं विज्ञातं भवतीति॥ ३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदिनत परा चैवापरा च॥४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति॥ अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भृतयोनिं परिपश्यन्ति **धीराः॥ ६॥**

यथोर्णनाभि: सृजते गृह्वते च

यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि

तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥ ७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥८॥ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥९॥

॥ इति प्रथम मुण्डके प्रथम: खण्ड:॥

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके॥ 1॥

> यदा लेलायते ह्यर्चिः सिमद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्भया हुतम्॥ २॥

यस्याग्रिहोत्रमदर्शमपौर्णमास

मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-

मासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३॥

काली कराली च मनोजवा च

सुलोहिता या च सुधूप्रवर्णा।

स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी

लेलायमाना इति सप्त जिह्वा: ॥ ४ ॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु

यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।

तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो

यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवास:॥ ५॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः

सूर्यस्य रश्मिभर्यजमानं वहन्ति।

प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य

एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा

अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा

जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ ७॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः

स्वयं भीरा: पण्डितं मन्यमाना:।

जङ्गन्यमानाः परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना

वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।

यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-

त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ १ ॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं

नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ा:।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-

मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥ 10॥

तपः श्रद्धे ये ह्यपवसन्त्यरण्ये

शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्या चरन्तः।

सूर्यद्वारेण ते विरजा: प्रयान्ति

यत्रामृत: स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ 11॥

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो

निर्वेदमायात्रास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

सिमत्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ 12॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्य-

क्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म्विद्याम् ॥ 13 ॥

॥ इति प्रथम मुण्डके द्वितीय खण्डः॥

॥ इति प्रथम मुण्डकं समाप्तम्॥

(द्वितीय मुण्डक)

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः

सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः

प्रजायन्ते तत्र चैर्वापियन्ति॥ १॥

दिव्यो ह्यमूर्त: पुरुष: सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज:।

अप्राणो द्वामनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २ ॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ३॥

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ

दिश: श्रोत्रे वाग्रिवृताश्च वेदा:।

वायु: प्राणो हृदयं विश्वमस्य

पद्भयां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ ४॥

तस्मादग्रिः समिधो यस्य सूर्यः

सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।

पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां

बह्नी: प्रजा पुरुषात्सम्प्रसूता: ॥ ५ ॥

तस्मादृच: साम यज्रैंषि दीक्षा

यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।

यजमानश्च लोकाः संवत्सरश्च

सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य: ॥ ६ ॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः

साध्या मनुष्याः पशवो वयाँसि।

प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च

श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्य विधिश्च॥ ७॥

यप्त रप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्

सप्तार्चिप: सिमध: सप्त होमा:।

सप्त इमे लोका येपु चरन्ति प्राणा

गुहाशया निहिता: सप्त सप्त ॥ ८ ॥

अत: समुद्रा गिरयश्च सर्वे-

ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।

अतश्च सर्वा ओपधयो रसश्च

येनैप भूतेंस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ १॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहित गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥ 10॥

॥ इति द्वितीयमुण्डके प्रथम: खण्ड:॥

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणित्रिमिपच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ 1॥ यदिर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँह्लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाड्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥ 2॥

> धनुर्गृहीत्वौपनिषदं पहास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥॥॥॥ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तह्मक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥॥॥॥ यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-मोतं मनः सह प्राणेश्च सर्वै:। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्जथामृतस्यैष सेतु:॥॥॥॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः

स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं

स्वस्ति व: पराय तमस: परस्तात्॥६॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित!॥

मनोमयः प्राणशरीरनेता

प्रतिष्ठितोऽत्रे हृदयं सन्निधाय।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा

आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया: । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदु:॥१॥

न तत्र सूर्यों भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्रिः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्विमदं विभाति॥ 10॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥११॥

॥ इति द्वितीयमुण्डके द्वितीय: खण्ड:॥

॥ इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम्॥

(तृतीय मुण्डक)

द्रा सुपर्णा सयुजा सखाया परिषस्वजाते। समानं वृक्षं पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-तयोरन्य: अभिचाकशीति॥ 1॥ नश्रन्नन्यो समाने वृक्षे पुरुषो निमग्रो-ऽनीशया शोचित मुह्यमान: । यदा पश्यत्यन्यमीश-जुष्टं मस्य महिमानमिति वीत्रशोकुः ॥ २ ॥ यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। विद्वान्पुण्यपापे विध्य तदा निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति॥ ३॥ प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरति: क्रियावा-नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ:॥४॥ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्याज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्त:शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

(11)

```
सत्यमेव
             जयते नानृतं
             सत्येन पन्था विततो देवयान:।
येनाक्रमन्त्युपयो
                     ह्याप्तकामा
             यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥
              तिदृव्यमिचन्त्यरूपं
वृहच्च
             सृक्ष्माच्य तत्सृक्ष्मतरं विभाति।
             तदिहान्तिक च
दूरात्सुदूर
             पश्यितस्वहैव निहितं गुहायाम्॥ ७॥
न चक्षुपा गृह्यते नापि वाचा
             नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन
                     विश्द्धसत्त्व-
             स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ ८॥
एपोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
             यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
             सर्वमोतं प्रजानां
प्राणेश्चित्तं
             यस्मिन्वशुद्धे विभवत्येप आत्मा॥ १॥
यं यं लोकं मनसा संविभाति
             विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-
             स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥ 10 ॥
        ॥ इति तृतीय मुण्डके प्रथमः खण्डः॥
```

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीरा:॥ 1॥

कामान्यः कामयतं मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्व-हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा: ॥ 2 ॥ प्रवचनेन लभ्यो नायमात्मा न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्येष। आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥ ३॥ बलहीनेन लभ्यो नायमात्मा न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥४॥ ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। संप्राप्यैनमुषयो सर्वतः प्राप्य श्रीरा ते सर्वगं युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥ . वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले ते परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥ गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु। विज्ञानमयश्च आत्मा कर्माणि परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥ यथा नद्य: स्यन्दमानाः समुद्रे-ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः तथा परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

(13)

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्ममैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरित शोकं तरित पाप्मानं गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ १॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्।

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः

स्वयं जुह्नत एकर्षि श्रद्भयन्तः।

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत

शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ 10 ॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ 11॥

॥ इति तृतीयमुण्डके द्वितीय: खण्ड:॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ इत्यथर्ववेदीया मुण्डकोपनिष्रत्समाप्ता॥



मुण्डकसुधा

(मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन)

अनुक्रमणिका

प्रथम मुण्डक खण्ड-1

प्रवचन संव	मंत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०		
1	1-3	ब्रह्मविद्याको परम्परा एवं मूल प्रश्न	1		
2	1-3	दो विद्याऐं जानने योग्य हैं—परा और अपरा	17		
2	4-6	गुरुपसत्तिपूर्वक जिज्ञासा	19		
3	5-6	पराविद्याका विषय अक्षर तत्त्व-1	37		
4	6	अक्षर तत्त्व-2	54		
5	6	अक्षर तत्त्व-3	72		
6	6-7	अक्षर तत्त्वका जगत्कारणत्व-1	91		
7	7	अक्षर तत्त्वका जगत्कारणत्व-2	108		
8	8-9	सृष्टि-क्रम	117		
	1	प्रथम मुण्डक रवण्ड-2			
9	9-12	अपरा विद्या परा विद्यामें कहाँ तक सहायक है	135		
10	12-13	पराविद्याकी प्राप्ति-विधि-गुरुशरणागति	158.		
11	12-13	पराविद्याकी प्राप्ति-विधि-गुरुशरणागति	179		
12	13	पराविद्याकी प्राप्ति-विधि-गुरुशरणागति	197		
द्वितीय मुण्डक खण्ड-१					
13	1-2	अक्षरतत्त्व और जीव-तत्त्व	215		
14	2	जीवका निरुपाधिक स्वरूप-अक्षर तत्त्व	233		
15	2	जीवका निरुपाधिक स्वरूप-अक्षर तत्त्व	249		

प्रवचन सं०	मंत्र सं०	विषय	पृष्ठ सं०			
16	2	जीवका निरुपाधिक स्वरूप-अक्षर तन्त्र	265			
17	2-7	अक्षररात्परतः परः-औपाधिक [ः] एवं				
		निरुपाधिक अक्षर-तत्त्व	282			
18	8-10	सव परमात्मासे, सब परमात्मा	299			
द्वितीय मुण्डक खण्ड-2						
19	1-4	ज्ञानके प्रतिबन्ध-निवृत्तिके लिये ओंकारकी				
		ध्यान-विधि	319			
20	5-6	प्रणवोपासना-ओंकारकी ध्यान-विधि	336			
21	7	आत्माका अपरोक्ष अनुभव	353			
22	8-11	ग्रन्थि भेदन और तत्त्वज्ञान	369			
तृतीय मुण्डक खण्ड-१						
23	1-2	भोक्ता जीव और अभोक्ता ईश्वर	385			
24	3-5	तत्त्वज्ञानसे जीवन्मुक्ति	403			
25	5-9	ब्रह्मज्ञानके सहकारी साधन	419			
26	10	ब्रह्मज्ञानीकी महिँमा-1	435			
तृतीय मुण्डक खण्ड-२						
26	1-2	ब्रह्मज्ञानीकी महिमा-2	445			
27	3-4	आत्मप्रकाश कैसे?	454			
28	5-6	ब्रह्मज्ञानीकी महिमा-3	473			
29	6-7	ब्रह्मज्ञानीकी महिमा-४ (सद्योमुक्ति एवं क्रममुक्ति)	486			
30	7-9	ब्रह्मज्ञानीकी महिमा-5	503			
31	10-11	उपसंहार-ब्रह्मविद्या-सम्प्रदानकी मर्यादा	521			



मुण्डकसुधा

(मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन)

प्रथम मुण्डक, प्रथम खण्ड

प्रवचन :1, मंत्र 1 से 3 तक

ब्रह्मविद्याकी परम्परा तथा मूल प्रश्न

ॐ ब्रह्मादेवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-

मथर्वाय ज्येष्टपुत्राय प्राह॥ 1.1.1

मन्त्रार्थ: — सब देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। वही विश्वका रचियता तथा रक्षक है। उसने (ही) सब विद्याओं की प्रतिष्ठास्वरूप ब्रह्मविद्याका अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको उपदेश किया॥ 1॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।

स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह

भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावरम्॥ 1.1.2

मंत्रार्थ: -- ब्रह्माने अथर्वाको जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश किया उसीको अथर्वाने पूर्वकालमें अङ्गीको बताया। फिर अङ्गीने भरद्वाजके पुत्र सत्यवहसे वही विद्या कही और सत्यवहने उस परम्परासे प्राप्त पर-अपर ब्रह्मविषयक विद्याको अङ्गिरासे कहा॥ 2॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥ 1.1.3

मंत्रार्थ: — प्रसिद्ध है कि शौनक महाशाल थे। उन्होंने अङ्गिराके पास विधिवत् जाकर पूछा—'भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है'॥ 3॥

प्रवचन: 1

ब्रह्मविद्याकी परम्परा

यह मुण्डकोपनिषद् (वेदके) मन्त्र (भाग)में भी है, ब्राह्मणमें भी है और आरण्यकमें भी है। कोई-कोई उपनिषद् मन्त्र-संहिताका है, जैसे ईशावास्योपनिषद्; कोई-कोई ब्राह्मण (भाग)का है जैसे बृहदारण्यकोपनिषद्; और कोई-कोई आरण्यक (भाग)का है (जैसे तैत्तिरीयोपनिषद्)। तो यह जो मुण्डकोपनिषद् आपको सुनाने जा रहे हैं, यह अथवंवेदकी (मंत्रभागकी) उपनिषद् है।

अथर्ववेदके नामसे बहुत-सी उपनिषदें प्रसिद्ध हैं। अब आजकलके पढ़े- लिखे लोग सम्प्रदायमें श्रद्धा नहीं करते हैं। वे तो कहते हैं बादमें लोगोंने अपने (सम्प्रदायकी) प्रवृत्तिके लिए उपनिषद्के नामसे अपने-अपने सम्प्रदायकी बात कह दी। पर अपना तो ऐसा है कि कौन क्या कहता है, इससे हमारा कोई मतलब नहीं है। उपनिषद्में यदि कहीं मकान बनानेकी विधिका वर्णन हो, तो हम कहेंगे कि यह उपनिषद् शिल्प-कलाका वर्णन कर रही है। यदि गृहस्थ-धर्मका वर्णन हो तो कहेंगे गृहस्थ-धर्मका वर्णन कर रही है। और किसी-न-किसी आदमीके लिए, किसी-न-किसी देशमें, किसी-न-किसी समयमें वह बात भी उपयोगी होती है। इसलिए हम ऐतिहासिक दृष्टिसे कि क्या आगे है और क्या पीछे है, इस दृष्टिसे उपनिषद्की संगति लगाते ही नहीं।

हम उपनिषद्की संगित लगाते हैं मीमांसा-पद्धितसे। मीमांसा पद्धित माने जहाँ ब्रह्मका निरूपण है वहाँ ब्रह्मिवद्या है और जहाँ ब्रह्मका निरूपण नहीं है वहाँ (जिसका वर्णन है) उसी पदके अर्थका निरूपण है। तो ब्रह्मज्ञानमें जब हम नेति-नेति बोलेंगे, तो इति-इतिके अर्थमें जो कुछ आवेगा उसका निषेध कर देंगे और ब्रह्मका ज्ञान हो जायेगा। और इति-इति पदके अर्थमें तो गृहस्थ धर्म भी आता है, मकान बनाना भी आता है, चलना-बोलना भी आता है। तो यह सब-का-सब वेदमें रहे भी, तो इसमें हमें कोई आपित्त नहीं है। इसलिए अपने श्रद्धालु लोग यही मानते हैं कि दुनियामें जो कुछ कहा गया है, जो कुछ कहा जा रहा है और जो कुछ कहा जायेगा, वह सब वेदसे ही निकला है। यह श्रद्धालुओंकी आस्था है।

भृतं भव्यं भवच्यापि सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।

मनु स्मृतिमें यह श्लोक आया है। (अर्थात्) जो कुछ कभी हुआ, जो कुछ हो रहा है और जो कुछ होगा वह सब वेदसे ही सिद्ध होता है।

तो यदि आधुनिक विचार वाला भी कहीं फिट बैठने लायक कोई बात कहता है तो उसका हम वेदके अनेक भागोंमें (कहीं) समावेश कर सकते हैं।

अब मीमांसा पद्धितसे विचार करनेपर कोई झगड़ा ही नहीं है। वह तो कामीके लिए कोई बात है, क्रोधीके लिए कोई बात है, लोभीके लिए कोई बात है, सिद्ध त्यागीके लिए कोई बात है, मुसलमानके लिए कोई बात है, ईसाईके लिए कोई बात है, कोई तमोगुणीके लिए है, कोई रजोगुणीके लिए है, कोई सत्त्वगुणीके लिए है। तो देशभेदसे, कालभेदसे, अधिकारी भेदसे सभी बातोंकी संगति हम लगा देते हैं। इस तरहसे हम वेदके एक अक्षरको भी अप्रमाण नहीं मानते।

अच्छा, दूसरी बात सुनाते हैं। इन उपनिषदोंमें-से जो अथर्ववेदके नामसे प्रसिद्ध हैं, तीन उपनिषदोंपर शंकराचार्य भगवान्का भाष्य मिलता है— मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद् और प्रश्लोपनिषद्पर।

इसका अर्थ हुआ कि जितने आचार्योंके नामसे हमारे वैदिक सम्प्रदाय प्रचिलत हैं, उनमें (क्योंकि) सबसे पुराने तो शंकराचार्य हैं न—मध्वाचार्यसे भी पुराने, निम्बार्काचार्यसे भी पुराने, विष्णुस्वामीसे भी पुराने, श्रीरामानुजाचार्यसे भी पुराने—इसिलए आजकल जो उपनिषदें मिल रही हैं, ये शंकराचार्यके समयमें बहुत प्रमामिक मानी जाती थीं, इसीलिए शंकराचार्य भगवान्ने इनपर भाष्य किया।

अब बोले—(यही नहीं) शंकराचार्यसे पहले भी मुण्डकोपनिषद्की बड़ी इज्जत थी। वह कैसे? कि वेदान्त दर्शनमें, जिसकी व्याख्या शंकराचार्य भगवान्ने की है, व्यास भगवान्ने मुण्डकोपनिषद्के मन्त्रको लेकरके विचार किया है—

नित्यं विभ्ं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भृतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

इस मन्त्रका एक अधिकरण है ब्रह्मसृत्रमें, वेदान्त दर्शनमें—अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तः। यह सूत्र है वेदान्त दर्शनमें कि भाई परमात्मा अदृश्य, अग्राह्म, अचक्षुः श्रोत्रं है, क्योंकि उपनिषद्में यह बात साफ साफ कही गयी है।

तो इससे सिद्ध हुआ कि शंकराचार्यके समयमें तो मुण्डकोपनिषद् प्रामाणिक था ही, जब व्यासजीने ब्रह्मसूत्र लिखा था, तब भी यह मुण्डकोपनिषद् प्रामाणिक रूपसे था। और शिष्ट सम्प्रदायमें पिरगृहीत है। शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, मध्व—सब इस मुण्डकको एक श्रेष्ठ उपनिषद् मानते हैं और इसकी व्याख्या अपने सम्प्रदायमें करते हैं और इनके सम्प्रदायके लोग स्वीकार करते हैं।

तो अब देखो एक तो वेद होनेसे, दूसरे व्यासादि शिष्ट जनोंके द्वारा परिगृहीत होनेसे, तीसरे शंकराचार्यादिके द्वारा व्याख्यात होनेसे यह उपनिषद् बड़ा महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है, तत्त्वज्ञान देनेवाला उपनिषद् है। हम लोगोंका ऐसा विश्वास है कि ब्रह्मज्ञान उपनिषद्के सिवाय दूसरी किसी रीतिसे नहीं होता। क्योंकि एक परब्रह्म परमात्मामें यह जीव जो शत्रुकी कल्पना करके, मित्रकी कल्पना करके, उनके साथ राग-द्वेष करके सुखी-दु:खी हो रहा है। वह यह विचार किये बिना ही हो रहा है कि सब परमात्मा है। तो जब यह कल्पनासे दु:खी हो रहा है, तो साइन्ससे (विज्ञानसे) जाँच करनेपर यह कल्पना निवृत्त नहीं हो सकती। क्योंकि साइंससे जो मशीन बनती है, वह दुनियाकी जाँच करनेके लिए होती है, यह 'मैं 'की जाँच करनेके लिए नहीं होती। तो 'मैं 'में जो सुखीपना है, जो दु:खीपना है, यह 'मैं 'के स्वरूपकी जाँच किये बिना कल्पित है। तो इस कल्पित सुखीपनेसे, कल्पित दु:खीपनेसे निवृत्त करे कौन? तो बोले—अध्यारोपसे जो दु:ख होता है, वह अपवादसे निवृत्त होता है। इसको 'ना' करना पड़ेगा। जिस प्रमाणसे तुमने पाप माना है उसी प्रमाणसे पुण्य मानना पड़ेगा। जिस प्रमाणसे तुमने अपनेको न जानकरके, अपनेमें बन्धनकी कल्पना की है, उसी प्रमाणसे अपने आपको जान करके बन्धनकी कल्पनाको काटना पड़ेगा। इसलिए उपनिषद्की जरूरत है।

अच्छा, अव जो शांकरभाष्य है न इसका अभिप्राय वादमें सुनावेंगे, पहले तो इतना ही समझो कि इतना महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है कि शंकराचार्य भगवान्ने इसपर भाष्य किया, रामानुजाचार्यने भाष्य किया, श्रीरंग रामानुजाचार्यने किया, श्रीनिम्बार्काचार्यका तो कोई भाष्य मिलता नहीं है, ब्रह्मसूत्र पर ही मिलता है, उनके अनुयायियोंने भाष्य किया। मध्वाचार्यने उपनिपदों पर जो टीका लिखी उसमें भी मुण्डकोपनिषद् है। बल्लभ सम्प्रदायमें भी पीछेके आचार्योंने टीका लिखी। तो इस उपनिषद्में परमात्माका वर्णन है।

इसको मुण्डकोपनिषद् क्यों बोलते हैं? कि मुण्डकोपनिषद् यों बोलते हैं कि शरीरका चार विभाग कर लो—स्थूल शरीर प्रधान, सूक्ष्म शरीर प्रधान, कारण शरीर प्रधान और चौथा—आत्मा तुरीय। तो यह जो मुण्डक है न, यह स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरका मुण्ड नहीं है, यह तो स्वयं ब्रह्मरूप मुण्ड है, तुरीय-आत्माका स्वरूप है। मुण्डक=मुण्डरूप 'क'; माने सबके शिरोभागमें मूर्धन्य—सबसे ऊपर 'क' माने ब्रह्म है, सुख है, उसके कारण इसका नाम मुण्डकोपनिषद् है। यह सबमें मूर्धन्य है।

जैसे हेडमास्टर होता है न! मास्टरोंमें मूर्धन्य। हेड माने तो आप जानते ही हैं (शिर) हमको एक महात्माने बताया था 'हेड' माने मूड़।

तो यह मुण्डकोपनिषद् है माने हैड-उपनिषद् है। उपनिषदोंका हेड है। मूर्धन्य है। इसलिए इसका नाम मुण्डकोपनिषद् है।

अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्ग जुष्टम्।

यह आश्रमातीत अवधूतों द्वारा अपनाया होनेसे मुण्डकोपनिषद् है। एक आश्रमी होता है—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी। आश्रम बनाकर जो रहते हैं सो आश्रमी। परन्तु न यतेराश्रमप्रायो—अवधूतके लिए आश्रम नहीं होता। तो अत्याश्रमिभ्यः माने जो चार वर्ण और चार आश्रमसे भी पार पहुँच जाते हैं वे जीवन्मुक्त पुरुष—उनके लिए यह उपनिषद् कही गयी है। अत्याश्रमीके ऊपर तो और कोई होता ही नहीं, इसलिए इसका अधिकारी सर्वोपिर है। इससे इसका नाम है मुण्डकोपनिषद्।

शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।

सबसे बड़ा व्रत है शिरोव्रत।

महाराज, हमारे पास एक ब्रह्मचारी आया। उसके बाल बड़े घुँघराले दिखते थे। बड़ा शौकीन था, बालोंका शौकीन। मैं गुरु और वह चेला। तो हमारी बात तो उसको माननी चाहिए थी न—हमने उससे कहा तुम अपने बाल कटवा लो। देखनेमें भी मलूक था, सुन्दर था और बाल भी बड़े अच्छे थे। तो हमने कहा कि देखकर लोगोंका मन तुम्हारी तरफ खींचता है, तुम ये बाल कटवा दो। सो महाराज उसने नहीं कटवाये, नहीं मानी बात। तो एक दिन मैंने उसको पकड़ा और पकड़कर कैंचीसे उसका बाल काट दिया।

देखो न, लोगोंका बालोंसे ही इतना मोह होता है। ये बाल शरीरका भल है। यह तो जैसे नाखून निकलता है, पसीना निकलता है, वैसे शरीरमें जो गन्दगी इकट्ठी होती है न, वह यह काला-काला (बाल) बनकरके निकलता है। लेकिन लोगोंका बालसे कितना मोह होता है!

बादमें उसको कुछ बुरा नहीं लगा। वह प्रेमी मालूम पड़ा कि स्वामीजीने हमको बहुत प्रेम किया, लेकिन उसका मन कटानेका नहीं होता था।

देखो प्रायश्चित्त शास्त्रमें लिखा है कि अगर आदमी कोई पाप करे और पापका प्रायश्चित्त करे तो सिर मुँड़ाना जरूरी है। और कुछ करो कि न करो, लेकिन सिर जरूर मुँड़ाओ। क्योंकि बालमें पापका निवास होता है, ऐसा लिखा है धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें।

बोले—सधवा स्त्री हो तो क्या करे? बोले—वह केवल दो अंगुल ऊपरका बाल कटवा दे, अगर उसको प्रायश्चित्त करना हो, तो। सधवा पूरा बाल न मुँडा़वे, लेकिन ऊपरका दो अंगुल कटवा दे।

तो मैंने देखा महाराज मुम्बईमें तो सब लोग उसका अनुष्ठान करते हैं। ज्यादातर लोग अनुष्ठान करते हैं, तो वह कोई आश्चर्य नहीं रहा।

अब प्रयागराज जो लोग जाते हैं उनके लिए कहा जाता है कि प्रयाग मुण्डे। 'गया पिण्डे प्रयाग मुण्डे'। गयामें जाये तो पिण्डदान करे, प्रयागमें जावे तो मुँडा़वे।

शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।

जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत किया है उनके लिए यह उपनिषद् है। तो आओ अब इसका पहला मन्त्र पढ़ते हैं— ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रितिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राहः॥ 1.1.1
ॐ—यह 'ॐ' मङ्गलाचरण है, ईश्वरका नाम है। यह 'ॐ'
अपित्रको भी पित्र करनेवाला है, अशुद्धको भी शुद्ध करने वाला है और इस
एक अश्वरमें सारा वेद भरा है। सारा वेद गायत्रीमें और गायत्री प्रणवमें।
इसिलिए पहले ॐकारका उच्चारण करके तब वेदका उच्चारण करते हैं।
बिल्क यह लिखा है कि गायत्रीका उच्चारण करके, तब वेदका उच्चारण करना
चाहिए। तो गायत्री गयी व्याहितमें—भूर्भुवः स्वःमें, और व्याहित—ये तीन गये
ॐकारमें और ॐकार अमात्रमें गया और अमात्रमें परमात्माकी प्राप्ति हो गयी,
इसिलिए ॐको बोलना चाहिए।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभ्वः।

सम्पूर्ण देवताओंमें, जितने देवता हैं, उनमें सबसे पहले ब्रह्मा हुआ। जितने इन्द्रादि देवता हैं वे तो हुए कश्यपसे, कश्यप हुए मरीचिसे और मरीचि हुए ब्रह्मासे। तो देवताओंके बाप कश्यप, बाबा मरीचि और परदादा ब्रह्मा। तो यह ब्रह्मा जो है यह देवताओंका परदादा है। यह सबसे पहले हुआ।

अब देखो, ब्रह्मा कहनेसे ही यह बात प्रकट हो जाती है कि ब्रह्मा तो सृष्टिक प्रारम्भमें हुआ, फिर प्रथम: कहनेका अर्थ क्या?

तो यहाँ 'प्रथम: ' शब्दका अर्थ पहला नहीं है, श्रेष्ठ है। प्रथम: माने श्रेष्ठ:। गिनती करना हो तो सबसे पहले उँगलीपर नाम आवेगा ब्रह्माका। किस देवताका पहले नाम लें ? बोले—ब्रह्माका। ज्येष्ठ है यह, श्रेष्ठ है यह, सबसे बड़ा है यह, इसलिए इसको 'प्रथम: ' कहते हैं।

अब संबभूवः में जो 'सं' उपसर्ग है न, उसका क्या अभिप्राय है? संबभूवः। बभूव माने हुआ, उत्पन्न हुआ। यह 'भू' धातुकी भूतकालिक क्रिया है—बभूव। बोले—'सम्' क्यों जोड़ दिया? तो 'सम्' इसलिए जोड़ दिया कि—स्वयं बभूव। यह स्वयंभू है—स्वयं भवतीति स्वयंभू।

संबभूवः माने स्वयं बभूवः। माने—योन्यादिनिरपेक्षं बभूव—इसमें माताका सम्बन्ध नहीं इसमें वीर्यका सम्बन्ध नहीं। जैसे स्त्री पुरुषकी उत्पत्ति होती है वैसी ब्रह्माकी उत्पत्ति नहीं हुई, यह स्वयंभू है। स्वयंभू—जैसे वेदान्ती लोग चेतनका निरूपण करते हैं तो स्वयं प्रकाश बोलते हैं। वैसे जब सत्ताका निरूपण किया जाता है, तब उसको स्वयंभू कहा जाता है। यह स्वयं भवनशील सत्ता है। यह अपने आप ही ब्रह्माके रूपमें प्रकट हो गया।

अब उसका दूसरा अर्थ देखो। देवानां—(देवताओं में) माने हमारी जो इन्द्रियाँ हैं, ये; ये इन्द्रियाँ जब पैदा नहीं हुई थीं, तब भीतर अन्तः करणके रूपमें चतुर्मुख ब्रह्मा पैदा हुआ।

यह ब्रह्ममें जब कर्तृत्व आगया, तब उसका नाम ब्रह्मा हो गया। ब्रह्म अकर्ता है, अभोक्ता है, निष्क्रिय है; जब वह कर्ता होकर प्रकट हुआ तब उसका नाम ब्रह्मा हो गया।

ब्रह्मा शब्द पुर्लिंग है और ब्रह्म शब्द नपुंसक लिंग है। तो ब्रह्म किसीका बाप नहीं है, न किसीकी माँ है। और यह ब्रह्मा सबका बाप है। पुरुष है, इसलिए इसका पुल्लिंगमें प्रयोग किया जाता है।

तो आप देखो, ये जो इन्द्रियाँ हैं हमारी, ये देवता हैं। एक देवता है सूर्य आँखमें, दूसरा देवता दिशा कानमें, वायु देवता स्पर्शमें और अश्विनीकुमार देवता घ्राणमें, जिह्वामें वरुण देवता और अग्नि, हाथमें इन्द्र देवता, पाँवमें उपेन्द्र—ये सब देवता सारे शरीरमें बैठे हैं। इनमें सबसे पहले दिल पैदा हुआ। तब इस दिलमें जो वासना होती है, इस वासनाके अनुसार शरीरका निर्माण होता है।

तो सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्मा हुआ। ईश्वरके मनका नाम ब्रह्मा है। ईश्वरके संकल्पका नाम ब्रह्मा है। ईश्वरमें जो ब्रह्माण्डका अध्यारोपित अन्तःकरण है, उसका नाम ब्रह्मा है।

मनो नाम मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः।

वह ब्रह्मा कैसा हुआ? कि-

विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

इसीने विश्वको बनाया, विश्वका यह कर्ता है, प्रजापित पित है। समझो कि यह जो लोकसभाके लिए सदस्य चुने जाते हैं न, उनको यदि प्रजापित बोला जाये तो उस लोकसभाका—संसद सभाका-विधानसभाका जो अध्यक्ष होगा न, उसको प्रजापित पित बोला जायेगा। ये सब सदस्य हैं और वह सदस्य पित है—अध्यक्ष। ऐसे ब्रह्मा सम्पूर्ण देवताओं के अध्यक्ष हैं।

ये विश्वके कर्ता हैं माने विश्वके बनानेवाले हैं और भुवनस्य गोप्ता—अपने ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण विश्वकी रक्षा करनेवाले हैं।

यह वात क्यों कही गयी ? इसिलए कही गयी कि आप यह समझो कि इस उपनिषद्में यही उपदेष्टा हैं, यही गुरु हैं।

तो ब्रह्माके द्वारा उपदिष्ट विद्या ही श्रेष्ठ होगी। तो यह गुरु रूपसे मुण्डकोपनिषद्में हैं। गुरु रूपसे जो मनुष्य वक्ता है, वह ब्रह्मा है। जब यह सबका बाप है तो ज्ञानदानमें "अपात नहीं करेगा। और, सबका रक्षक है तो सबका हित चाहेगा। इसिलए राटके प्रति सम अर्थात् राग-द्वेषसे रहित और सबकी रक्षा करनेवाले ब्रह्माजीके द्वारा यह विद्या कही गयी है। तो—स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठां—इस उपनिषद्में क्या निरूपण किया? कि ब्रह्मविद्याका। तो अब देखो ब्रह्मविद्या शब्दका दो अर्थ हो गया—

ब्रह्मणा प्रोक्ता विद्या-ब्रह्मविद्या। ब्रह्मविषया विद्या— ब्रह्मविद्या।

इसके वक्ता ब्रह्मा हैं इसिलए इसका नाम ब्रह्म-विद्या है। (ब्रह्माने जो विद्या बतायी, सो ब्रह्मविद्या।) और, ब्रह्मके बारेमें जो विद्या प्राप्त हुई, उसका नाम ब्रह्मविद्या।

अब आओ परमात्माका ज्ञान करावें, परमात्माका दर्शन करावें। बोले— यह विद्या क्या है ? इस उपनिषद्में आनेवाला है कि दुनियामें जितनी विद्याएँ हैं उनमें एक अपराविद्या है और एक पराविद्या है। परिच्छित्र वस्तुका जो ज्ञान होता है उसे अपराविद्या बोलते हैं और अपरिच्छित्र परिपूर्ण ब्रह्मका जो ज्ञान होता है उसको पराविद्या बोलते हैं।

तो यह विद्या कैसी है ? कि सर्व विद्या प्रतिष्ठां—दुनियामें जितनी विद्या हैं उनकी प्रतिष्ठा यही है, माने सब इसीमें समायी हुई हैं।

प्रश्न यह है कि क्या एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है? यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

एक ऐसी चीज है कि उसको जान लो तो सबका ज्ञान हो जायेगा, कुछ बाकी नहीं रहेगा। तो सर्वविद्या प्रतिष्ठां का अर्थ हुआ, सारी विद्याओंकी यह प्रतिष्ठा है, सारी विद्याएँ इसमें समाई हुई हैं। ऐसी ब्रह्म विद्याका हम निरूपण करेंगे। अब एक बात उसके लिए भी कहते हैं जिसको यह विद्या वतायी गयी—अथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह—अधिकारीका वर्णन करते हैं।

श्रीमद्भागवतका ही जब वर्णन आता है न, तो उसमें आता है कि व्यासने श्रीमद्भागवतका निर्माण करके, नारदजीकी आज्ञासे, बारम्बार उसका अनुशीलन करके, संशोधन करके, बादमें शुकदेवजीको भागवत पढ़ाया। बोले—भाई शुकदेवजीको पढ़ाया—इसका क्या मतलब? तो देखो पुत्रके प्रति स्वाभाविक स्नेह होता है, वात्सल्य होता है। संसारमें सब पिता अपने पुत्रका भला चाहते हैं। तो व्यासजीने भी, जो ज्ञान उनको (व्यासको) है वह ज्ञान शुकदेवको दिया। अब यह ब्रह्माजीने क्या किया? ब्रह्माजीने अथवांय च्येष्ठपुत्राय प्राह—अथवां नामके जो ज्येष्ठ पुत्र हैं, उनको इसका प्रवचन किया।

तो भाई ब्रह्माजीके पुत्रोंका वर्णन आता है उसमें उनसे मनु हुए—ऐसा वर्णन आता है, सनत्कुमार हुए, रुद्र हुए और भी हुए—नारद हुए, अंगिरा हुए। इसमें तो अथर्वाका कहीं नाम नहीं है।

शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि भई, ब्रह्माजी भिन्न-भिन्न कल्पमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टि बनाते हैं। एक कल्प ऐसा भी था जिसमें सबसे बड़ा पुत्र ब्रह्माजीका अथर्वा हुआ। इसलिए अथर्वा ब्रह्माका ज्येष्ठ पुत्र है। सृष्टि तो तरह-तरहकी होती है।

अब देखो वक्ताकी महिमा तो यह हुई कि देवानां प्रथम:—देवताओं में सर्वश्रेष्ठ है और संबभूव स्वयं प्रकट हुआ है। विश्वका कर्ता है और भुवनका रक्षक है। ऐसे कहो विश्वस्य भुवनस्य कर्ता, विश्वस्य भुवनस्य गोप्ता सम्पूर्ण भुवनका कर्ता है और सम्पूर्ण भुवनका रक्षक है। वह तो वक्ताकी विशेषता हुई। और विद्या जो इसमें बतायी जायेगी उसकी क्या विशेषता हुई? तो उसमें सारी विद्या समाई हुई है। और विद्या बतायी किसको गयी? अधिकारीका विशेषण बताते हैं—

अथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह।

आप लोगोंको मैं बता दूँगा, झटसे मालूम हो जायेगा। लेकिन हमको मालूम करनेमें जो तकलीफ हुई है वह आप लोगोंको मालूम नहीं है। यह 'अथर्वा' शब्द माने क्या होता है एक कोशमें मिला। उसमें लिखा था कि 'अथर्वा' नामका एक ऋषि होता है।

मैंने कहा—बाबा, यह तो तुम्हारे बतानेसे पहले हमको मालूम है, यह तुमने क्या बताया!

तो दूसरे कोशसे पृछा—भाई, अथर्वा माने क्या होता है? तो उसने बताया कि अथ, ऋ और विनन्। अथ माने अर्थ। यह अर्थमें-से रेफका लोप होकर 'अथ' शब्द बनता है—ऐसा उसमें लिखा था। और 'ऋ' माने ज्ञान। और विनन् माने वान् समझो। जिसको परमार्थ-ज्ञानमें खूब-खूब श्रद्धा हो, उसका नाम अथर्वा।

हमको तो संतोष नहीं हुआ भाई। 'वाचस्पत्याभिधान'में यह अर्थ लिखा हुआ था और हमको सन्तोष ही नहीं हुआ। एक तो अर्थका 'अथ' बना दिया, फिर उसमें 'ऋ' जोड़ा, फिर 'विनन्' जोड़ा।

तो 'निरुक्त 'देखा। वेदका अर्थ करनेके लिए निरुक्त देखना पड़ता है। तो निरुक्तमें लिखा मिला कि थर्वतिश्वरितकर्मा। न थर्वति इति अथर्वा — जो विचलित हो जाये उसको बोलते हैं थर्व। थर्वति चरित — जिसके अन्दर दृढ़ता न हो, किसी निश्चयपर जो दृढ़ न रह सके उसका नाम 'थर्वा'। और तद्-विपरीद: अथर्वा जो महाराज अपने निश्चयपर अडिंग होवे, दृढ़ होवे उसका नाम अथर्वा।

अथर्व किसको कहते हैं कि जो दृढ़ निश्चयी शिष्य होवे।

श्रद्धावान्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

हृदयमें श्रद्धा हो, तत्परता हो, जितेन्द्रिय हो।

अब कोई जितेन्द्रिय तो हो; लेकिन साधन न करे, कि अरे इसमें क्या रखा है। बोले—श्रद्धा ही न हो कि साधनसे कोई फल मिलता है। तो जितेन्द्रिय होनेसे तो ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होगी।

अच्छा भाई, श्रद्धालु हो, लेकिन जितेन्द्रिय न हो, साधन न करे तो भी ब्रह्म नहीं मिलेगा, अच्छा खूब साधन करे लेकिन श्रद्धा न हो और जितेन्द्रिय न हो, तब ? तब भी ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होगी।

तीन चीज चाहिए—श्रद्धा चाहिए। साधनका अनुष्ठान चाहिए और इन्द्रियोंपर वश होना चाहिए। नहीं तो इन्द्रियोंके रास्तेसे ज्ञान बह जाता है। तो 'अथर्वा' शब्दका अर्थ है ये त्रिअंश चाहिए—जितेन्द्रिय हो, श्रद्धालु हो और तत्पर हो। दृढ़ निश्चयका पता कैसे लगे? कि अपने काममें डटा रहे, तत्पर हो जाये। और दृढ़ निश्चयका पता कैसे चले? कि उसके लिए कुछ त्याग करे। तो जितेन्द्रिय होना माने त्याग करना। और, तत्पर होना है माने उसके लिए काम करना, लगे रहना।

हरि से लगा रहु रे भाई, तेरी बनत बनत बनि जाई।

लगे रहो। और श्रद्धालुका क्या अर्थ है? यह पूरा विश्वास है कि इससे हमारा काम बनेगा।

तो सफलता मिलनेका दृढ़ निश्चय, लगे रहना और विघ्नोंसे प्रतिहत न होना। ये तीन गुण जिसमें होवें, वह श्रद्धावान्तभते ज्ञानं—वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है। लगे रहो, लगे रहो, लगे रहो। एक दिन ऐसा आवेगा, बिलकुल जैसे सूर्योदय हो जाता है न, ऐसे बिलकुल प्रकाश हो जायेगा। एक दिन ऐसा आवे कि सबको एक साथ ज्ञान हो जावे—ऐसा भी हो सकता है। एक दिन ऐसा होवे कि सब समझें कि बस, हम तो मुक्त।

यह तो केवल, जैसे स्विच दबा देते हैं न, बिजली चालू होनेकी देर है। लाइन एक बार ठीक-ठाक हो जाये, उसमें बिजली चालू हो जाये, तो प्रकाशके लिए तो केवल स्विच ही दबाना पड़ता है। लाइन ठीक होनी चाहिए, उसमें बिजली दौड़नेवाली होनी चाहिए, बस स्विच दबाया और ज्ञान हुआ।

तो महाराज अथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय—ये सबसे बड़े पुत्र हैं, स्नेहभाजन हैं। अच्छा, पुत्र शब्दका अर्थ शिष्य भी होता है। संसारमें—गृहस्थाश्रममें पुत्र उसको कहते हैं जो अपने रज-वीर्यसे पैदा हो। तो बोले— नहीं, जिसको गोद लेते हैं उसको भी पुत्र कहते हैं। तो गोद लेनेमें गोद लेनेवालेकी इच्छा तो होती है, पर गोद जानेवालेकी रुचि कैसी है, इसका तो पता नहीं चलता है। लेकिन यह गुरु-शिष्यमें जो पिता-पुत्रका भाव है, इसमें तो पिता-पुत्र दोनोंकी स्वीकृति है। दीयते क्षिप्यते च। दीक्षा किसको बोलते हैं? कि चेला जाकर बोल दे कि महाराज, हमने अपनेको अर्पण किया। गुरुने कहा कि अच्छा, तूने तो मुझको शरीर दिया है, मैं तुझे आत्मा देता हूँ। तुमने तो जड़ शरीर मेरे सामने गिरा दिया, अर्पण किया, और मैं तुझे चेतन आत्मा देता हूँ।

दीक्षा माने दान शिष्यका और क्षेप गुरुका! तो एक बिन्दु-शिष्य होता है एक नाद-शिष्य होता है। एक तो महाराज जड़ जलकी बूँदसे पैदा होता है उसको पुत्र बोलते हैं और ये जो शब्द-बिन्दु कानमें पड़ते हैं, उससे अन्त:करणमें एक चित्र पैदा होता है, उसे नाद-पुत्र बोलते हैं। एक बिन्दु-पुत्र, एक नाद-पुत्र। तो पुत्र शब्दका दोनों अर्थ होता है।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भरद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥१.1.2
ब्रह्माने अथर्वाको जिस विद्याका उपदेश किया, अथर्वाने पहले अङ्गिको
उसका उपदेश किया। अब उस अङ्गिने भरद्वाज गोत्रोत्पन्न सत्यवाहको उसका
उपदेश किया और भारद्वाज सत्यवाहने अङ्गिराको उस परावराविद्याका उपदेश

अब उसमें आप देखों, यह विद्या आपके जीवनमें उतरती है। अथर्वाने-दृढ़ निश्चयने अङ्गीको-जीवको इस विद्यासे भर दिया। जीवने सत्यवाहको जो वाणी-वाक तत्त्व, उसको ब्रह्म विद्यासे भर दिया और (वागतत्त्वने) ब्रह्म विद्याने अङ्गिराको माने सम्पूर्ण जो मनुष्य जाति है, उसको ब्रह्म विद्यासे भर दिया।

यह ब्रह्मविद्या कैसी है? कि परावरां। परावरा माने? एक परम्परा है इसमें। ब्रह्मा, अथर्वा, अङ्गि, सत्यवाह और अङ्गिरा। माने सिद्ध परम्परासे प्राप्त होनेके कारण यह विद्या भी सिद्ध है। महात्माओंकी परम्परामें रही है। लोग अपने खानदानका वर्णन करते हैं न, अपने वंशका वर्णन करते हैं कि इतने सिद्ध वंशमें हम पैदा हुए हैं, हमारे बाप ऐसे, हमारे दादा ऐसे, हमारे परदादा ऐसे, अपने गोत्रका नाम लेते हैं, कैसे अच्छे वंशमें पैदा हुए हैं।

एकको जाकर किसीने कहा कि झूठ बोलो, झूठी गवाही दो। तो वह बोला—भलेमानुस! मैं ब्राह्मण, ब्राह्मण वंशमें पैदा हुआ, रोज संध्या-वन्दन करता हूँ, गायत्रीका जप करता हूँ और रोज कहता हूँ कि आज जो मुझसे झूठ बोला गया हो, उसको भगवान् माफ करें। रोज माफी माँगता हूँ। (उस झूठकी जो) गलतीसे बोला गया हो, तो अब जान-बूझकर मैं झूठ बोलूँगा?

देखो, यह वंशका अभिमान हुआ न, पापसे उसे बचाया।

बोले—एक व्यापारीके पास गये कि मालमें कुछ मिलावट कर दो। तो वह बोला—ढाई सौ बरससे हमारी गद्दी चली आ रही है, इसकी दुनियामें प्रतिष्ठा है और मैं अपने मालमें गलत चीज मिलाकरके बिगाड़ दूँ अपनी प्रतिष्ठा को!

एक मिलकी बात में जानता हूँ। किसी मिलके मैनेजिंग डाइरेक्टरने क्वािलटी बिगाड़ दी अपने कपड़ेकी, ज्यादा कमाई करनेके लिए। पहले जो इज्जत थी न, बिगाड़ दी, तो बिक्री घट गयी। तो मालिकोंने कहा कि तुमने तो हमारे मिलकी प्रतिष्ठा ही गिरा दी, निकल जाओ तुम हमारी मिलमें-से।

तो परम्पराकी भी एक प्रतिष्ठा होती है। लोभमें आकर लोग अपनी प्रतिष्ठाको गिरा देते हैं। उससे कहो—हमारी परम्परा देखो न! हमारा सिद्ध मन, हमारा दृढ़ निश्चयी मन, हमारा सत्यवादी मन और हमारे शरीरको बसमें रखनेवाला यह आङ्गि रस तत्त्व, इसको मैं नष्ट भ्रष्ट करूँ? तो—

परावराम्—परम्परासे प्राप्त यह विद्या। पर माने ब्रह्मा और अवर माने अङ्गिरा, यह विद्या इस ढंगसे चली है। और दूसरा इसका अर्थ है कि परावर जो ब्रह्म है, परावर माने ब्रह्म—

'तस्मिन्दृष्टे परावरे'—इसी उपनिषद्में आनेवाला है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिशिछद्यते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

परावरे ब्रह्म-सगुण ब्रह्म भी निर्गुण ब्रह्म भी। पराविद्याका विषय निर्गुण ब्रह्म और अपराविद्याका विषय सगुण ब्रह्म। जिसको जानकर कुछ करना बाकी रहे उसको अपरा विद्या बोलते हैं और जिसको जानकर कुछ करना न पड़े उसका नाम पराविद्या होता है। कर्त्तव्यका लेश भी नहीं रहे, इस विद्याका उपदेश किया।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। किस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्विमिदं विज्ञातं भवतीति॥ 1.1.3 शौनकजी महाराज महाशाल थे। बड़ी शाला बनाकर यज्ञ करने-वाले महाशाल। उन्हींके यज्ञमें तो सूतजी आकर 'विष्णुपुराण की कथा सुनाते थे।

शुन कस्यापत्यं महाशालो महागृहस्थः।

गृहस्थाश्रममें रहकरके सूतजीको तो आशीर्वाद देते थे—'हे सूतजी तुम्हारा कल्याण हो। बैठे-बैठे, इस समय यज्ञमें हमको कुछ अवकाश मिला है, तो तुम पुराणकी कथा सुनाओ।' ऐसे महाशाल शौनकजी!

अङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। विधि पूर्वक अङ्गिराकी शरण में गये। वही अङ्गिरा जो ब्रह्मा, अथर्वा, अङ्गि, भरद्वाज, सत्यवाह और अङ्गिरस परम्परामें हैं। एक अङ्गि है और एक अङ्गिरस है; तो पाँचवें अङ्गिराके पास जाकर शौनकने प्रश्न किया। ये महाशाल हैं, बड़े-बड़े यज्ञ कर चुके हैं और बड़े भारी गृहस्थ हैं।

अट्ठासी हजार ऋषि इनके पास रहते हैं, इनसे बड़ा गृहस्थ और कौन होगा? सबके खाने-पीने-रहनेका बन्दोबस्त करना और सब लोग शान्तिसे यज्ञ करें और भगवच्चिरत्रका श्रवण करें। सत्संगका इतना अपूर्व बन्दोबस्त और लाऊड-स्पीकर बिलकुल नहीं होता था।

में अभी ध्रांग्ध्रा गया था। पाँच-पाँच हजार आदमी बैठते शामको कथा सुननेके लिए और यदि कभी मुझे चुप हो जाना पड़ता न, तो मालूम पड़ता कि बिलकुल शान्ति, कहीं-से-कोई आवाज नहीं आ रही है, एकदम शान्ति। बम्बईमें इतनी शान्ति नहीं रहती। वहाँ तो—'अच्युतं केशवं.......' बोल जानेके बाद भी लोग बैठे रहते कि कहीं कुछ और तो नहीं बोलेंगे और यहाँ तो लोग 'स्विस्ति न इन्द्रो.......' बोलनेके पहले टोपी लगा लेते हैं सिर परं, कोट पहन लेते हैं, तो मालूम पड़ जाता है कि जानेकी बड़ी जल्दी है।

तो महाशाल शौनक विधिपूर्वक अङ्गिरसं उपसन्नः पप्रच्छ—विधिपूर्वक अङ्गिराकी शरणमें गये और जाकर पूछा।

क्या पूछा? देखो, प्रश्न ऐसे है उपनिषद्मं—आपके मनमें अगर कहीं उठे—

कस्मित्रु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।

क्या प्रश्न किया कि हे भगवान्! भगवो माने भगवान्! वह कौन-सी वस्तु है जिसके जान लेनेके बाद यह सब कुछ जान लिया जाता है। एक कोई ऐसी चीज है। (वह क्या है?) दूसरे उपनिषद्में यह प्रश्न उठाया है—ऐसा कैसे होगा? बोले—ऐसे होगा कि जैसे सोनेकी पहचान हो जाय तो सब जेवरोंमें सोना है यह बात पहचान ली जायगी। जैसे लोहेकी पहचान हो जाय, तो सब औजारोंमें लोहा है—यह बात पहचान ली जायगी। जैसे मिट्टीकी पहचान हो जाय, तो सब खिलौनोंमें मिट्टी है यह पहचान हो जायेगी।

एक सेठके घरमें हमलोग ठहरे थे। तो बच्चे जाते चौकेमें और वहाँसे आटा ले आते। अब हमको तो अपनी याद है हम तो गाँवमें पैदा हुए न! बचपनमें हमारे घरके पास एक गड़ही थी, बड़ी लम्बी, तेरह एकड़में है। हम उसमें-से मिट्टी निकालकर ले आते और खिलौना बनाते। स्त्री बनाते, पुरुप बनाते, हाथी बनाते, घोडा बनाते और उनसे खेलते। हमें तबतक यही ख्याल था कि ये खिलौने बनाकर जो बच्चे खेलते हैं, यह माटीके सिवाय और किसी चीजसे खेल ही नहीं सकते। जब सेठके घरमें मैं रहा तो देखा वे माटी तो वेचार छूते ही नहीं थे, वे या तो रसोइएसे आटा माँगकर ले आवें गुँधा हुआ और उससे स्त्री बनावें, पुरुप बनावें, हाथी बनावें, घोड़ा बनावें और या तो मोम बाजारसे लेकरके रखें और अपने हाथसे मोमका खिलौना बनावें। कागज काटकर खिलौना बनावें। जैसे कागजके कटे हुए स्त्री और पुरुपमें कागज ही है न, और गुँधे हुए आटेसे जो खिलौना बनावे, वह आटा ही है न, और जो मोमसे खिलौना बनावे वह मोम ही है न, इसी प्रकार यह समूची सृष्टि जिस मूल मसाले से बनी है, अगर उस मूल मसालेका ज्ञान हो जाय तो मालूम पड़ेगा कि यह काला-गोरा जो रंग है, यह जो लम्बाई-चौड़ाई है, वह सब उस मूल मसालेमें कल्पना है। असलमें यह मूल धातु जैसे हममें, वही तुममें, वही खड्ग-खम्भमें, वही एक वस्तु है। और वही धरती, वही ईश्वर।

तो अब यह प्रश्न है कि यह कौन-सी मूल-वस्तु है, कौन-सी चीज है जिस वस्तुके जान लेनेपर सब जान लिया हुआ हो जाता है। अब यह फिर कल आपको सुनावेंगे!



मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन

मुण्डक-1, खण्ड-1, मंत्र 4 से 6 तक प्रवचन : 2

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं : परा और अपरा

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ 1.1.4

मंत्रार्थ: उन शौनकजीसे अग्निने कहा—ब्रह्मवेत्ता लोग ऐसा कहते हैं कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा॥ ४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ 1.1.5

मंत्रार्थ: उन दो विद्याओं में अपरा तो है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष तथा परा विद्या वह है जिससे अक्षर तत्त्व परमात्माका ज्ञान होता है॥ ५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भृतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ 1.1.6

मंत्रार्थ: यह जो अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है, अवर्ण है, चक्षु और श्रोत्रादि रहित है, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे रहित है, जो नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, अत्यन्त सूक्ष्म है, अविनाशी है, जो समस्त भूतोंका कारण है— ऐसे अक्षर परमात्म तत्त्वको धीर पुरुष पराविद्याके द्वारा सब ओर देखते हैं॥ 6॥

प्रवचन-2 (वितत) मंत्र 4-5

अपरा विद्या

तस्मै स होवाच— द्वे विद्ये वेदितव्ये....परा चैवापरा च

जब प्रश्न यह है कि वह एक वस्तु कौन है जिसके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है तो यही बताना चाहिए न कि वह अमुक वस्तु है। परन्तु बिना पूछे ही अङ्गिरा ऋषि दूसरा उत्तर देते हैं (कि दो विद्यायें जानने योग्य हैं)। इसका आशय यही है कि अङ्गिरा क्रमसे उत्तर देना चाहते हैं, बातको पूरी तरहसे समझाना चाहते हैं कि क्रम-क्रमसे बातको समझो। पहले अपरा विद्याको बताते हैं।

तस्मै स होवाच—तस्मै=शौनकाय; स:=अङ्गिरा; ह=निश्चितम्, किल (ह=िकल); उवाच=आह।



प्रवचन: 2

गुरूपसत्ति पूर्वक जिज्ञासा

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्विमिदं विज्ञातं भवतीति॥ 1.1.3
महागृहस्थ शौनकने विधिपूर्वक अङ्गिराके पास जाकर पूछा—भगवन्!
किसके जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है!

शौनको ह वै महाशाल-

इससे एक तो यह अर्थ निकला कि गृहस्थ भी वेदान्त विद्याका अधिकारी है।

दूसरा महाशालका अर्थ है कि जिनकी शाला-यज्ञशाला, पाठशाला बहुत बड़ी हो उसे महाशाल बोला जाता है।

बड़े-बड़े यज्ञ होते हैं, बड़े-बड़े सत्संग होते हैं। तो ये विधिपूर्वक अङ्गिरस ऋषिके पास गये, उनकी शरणमें गये और उपसदन करके तब उन्होंने प्रश्न किया। विधिवदुपसन्न:का अर्थ है, विधिपूर्वक गुरुकी शरणमें गये।

शङ्कराचार्य भगवान्ने (विधिवदुपसन्नः का) दो अभिप्राय बताया है। एक अभिप्राय तो यह है कि शौनकके पहले जो देवताके समान जिज्ञासु हैं, वे तो विधिपूर्वक शरणागत नहीं भी होते थे, तब भी उनकी योग्यताके आधिक्यसे उन्हें ज्ञान हो जाता था, लेकिन शौनकके बादकी जो परम्परा है, इसमें गुरुकी शरणागति प्रधान है। विधिवत् शरणागित। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

कोई-कोई कहते हैं, बीचमें यह प्रसंग आया, इसलिए पहलेके लोग भी शास्त्रोक्त रीतिसे ही गुरुकी शरणमें जाते थे और बादके लोगोंको भी गुरुकी शरणमें जाना चाहिए। एक बात आपको बतावें कि विश्वासकी उपस्थित जिज्ञासुके हृदयमें होनी चाहिए। जैसे एक शिष्य ऐसा है जो कहता है कि गुरुजी, आप मेरे ऊपर विश्वास कीजिए मैं आपका भला करूँगा। एक शिष्यको गुरुजी कहते हैं कि चेलाजी, आप विश्वास रखो, मैं आपका कल्याण करूँगा।

तो विश्वासकी उपस्थिति किसके हृदयमें आवश्यक है ? आप देखो।

विश्वासकी उपस्थिति शिष्यके हृदयमें आवश्यक है। क्योंकि उसको ब्रह्म विद्या प्राप्त करना है, प्रयोजन तो उसका पूरा होना है कि उसकी जिज्ञासा पूर्ण होवे-निवृत्त होवे और यदि उसका आचरण ऐसा ही है कि गुरुजी विश्वास कर-करके उसे अच्छा समझें (तो सीताराम कहो!)।

एकने कहा—महाराज! आप विश्वास रखना कि मैं आपको छोड़कर जाऊँगा नहीं। क्या अर्थ हुआ? कि गुरुजी तो चाहते हैं कि यह चेला हमारा बना रहे और हमारी सेवा करे और हमको भेंट-पूजा दे।

तो कभी-कभी गुरुजीके मनमें अविश्वास न आने पावे हमारे लिए, गुरुजी प्रयोजनवान हैं और शिष्य निष्प्रयोजन है, शिष्य छोड़कर जा भी सकता है, लेकिन गुरुजी न छोड़ें, उनका प्रयोजन पूरा होगा भला!

तो गुरुजीको प्रयोजनवाला बना देना और स्वयं निष्प्रयोजन हो जाना— यह जिज्ञासुका लक्षण नहीं है। जिज्ञासुका ही प्रयोजन पूरा होता है कि सकल अनर्थकी निवृत्ति होकरके उसे परमानन्दकी प्राप्ति होवे। इसलिए शिष्यको ही अपनेको इस ढंगसे रखना चाहिए, अपने हृदयको ऐसा बनाना चाहिए कि उसमें श्रद्धा और विश्वास बना रहे। श्रद्धा-विश्वास अज्ञानीकी सम्पत्ति है, जो अपने अन्त:करणको शुद्ध करना चाहता है, उसकी सम्पत्ति है।

तत्त्वज्ञानीकी सम्पत्ति श्रद्धा-विश्वास नहीं है। जो सब जानता है उसको कहीं श्रद्धा नहीं करनी पड़ती। जो ईश्वरको जानता है उसे ईश्वरपर श्रद्धा करनी नहीं पड़ती, वह तो ईश्वरको जानता है। ईश्वर ऐसा है, ईश्वर हमारा आत्मा है और, अपना आत्मा अनन्त अखण्ड अद्वितीय परिपूर्ण ब्रह्म है।

यह सब तो उसका अनुभव है और सच पूछो तो यह अनुभव जो मैं अभी बोल रहा हूँ, वह दूसरे नम्बरका है, क्योंकि इसको दुहरानेकी, अपने मनमें भी दुहरानेकी जरूरत नहीं पड़ती कि सत्य ऐसा है। सत्य तो सत्य ही है, दुहरानेकी क्या जरूरत? तो प्रयोजन जो होता है, वह शिप्यके चित्तमें होता है, इसलिए श्रद्धापूर्वक श्रद्धया सत्यमाप्यते—श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है। जीवनमें व्रत होवे, तब दीक्षा मिलती है। दीक्षासे दिक्षणा—कौशल-दक्षता प्राप्त होती है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षामाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमश्नुते॥

दक्षिणा माने कुशलता-दक्षता। दक्षतासे श्रद्धाकी प्राप्ति होती है। श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है। तो,

विधिपूर्वक उपसत्तिका अर्थ क्या है?

विधिपूर्वक उपसत्तिका अर्थ यह है कि उपनिषद्में गुरूपसदन कहा है। दो प्रकारके विधान हैं शास्त्रमें—

एक—स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। मनुष्यको स्वाध्यायका अध्ययन करना चाहिए। एक स्वाध्यायाध्ययनको विधि है और एक विधि है परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनेकी—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

परमात्माका विज्ञान प्राप्त करनेके लिए गुरुके पास जाय।

स्वाध्यायका अध्ययन दूसरी चीज है। स्वाध्यायके अध्ययनसे शब्दराशिका ज्ञान होता है। वेदमें कितने मन्त्र हैं, कौन-सा स्वर उदात्त है, कौन-सा अनुदात्त है, कैसे उच्चारण करना चाहिए। और (्वाध्यायसे) पदार्थ-ज्ञान होता है, वाक्यार्थ-ज्ञान होता है। यह स्वाध्याय-अध्ययनकी विधि है।

तो यज्ञोपवीत आदि संस्कारसे सम्पन्न होकर गुरुकुलमें निवास करके स्वाध्याय-अध्ययन करना चाहिए। इससे वेदार्थका ज्ञान होता है।

परन्तु परमात्माका ज्ञान ? बोले—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

शम-दमादि सम्पत्ति स्वाध्यायके अध्ययनमें जरूरी नहीं है। वैराग्य होवे तब वेद पढ़े—यह जरूरी नहीं है। चाहे विरक्त हो चाहे अनुरक्त हो, जो यज्ञोपवीतादि-संस्कार सम्पन्न है, उसे वेद पढ़ना ही चाहिए। यह विधान है। बिल्क एक बात आपको और सुनावें। पहले वेदकी रक्षाके लिए एक बहुत बिढ़या नियम था। जबतक वेद न पढ़े तबतक द्विजाति कभी विवाह ही न करे। अड़तालीस वर्षका ब्रह्मचर्य पालन करना पड़े, चौबीस वर्षका ब्रह्मचर्य पालन करना पड़े—

> वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्। अविप्नुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥

> > म. स्मृ. 3.2

मनुजीने कहा कि पहले वेद पढ़ ले, तब ब्याह करे। तो इसका अर्थ यह हुआ कि वेद जो है वह विरक्तके लिए, अनुरक्तके लिए, रागीके लिए, विरागीके लिए, सब संस्कार सम्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिए वेदाध्ययन अनिवार्य है। लेकिन; ब्रह्मका ज्ञान सबके लिए अनिवार्य नहीं है।

यह किसके लिए है ? इसीको अधिकारी बोलते हैं-

शान्तो दान्तो उपरतस्तितिक्षुः समाहितः। श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।। परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतःकृतेन।

विवेक करके, वैराग्य करके, शमदमादिसे सम्पन्न होकरके तब ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। तो ब्रह्म जिज्ञासा जो है तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म। सृष्टि-स्थिति-प्रलयकी जिज्ञासा करो; वह ब्रह्म है।

अब आपको देखो थोड़ा भेद बताते हैं। स्वाध्यायका अध्ययन मनुष्यका कर्तव्य है। अपनी शाखाका वेदाध्ययन मनुष्यका कर्तव्य है। इसलिए वेदका अध्ययन करना चाहिए और वेदका अध्ययन करनेपर, ज्ञान होनेपर भी फिर उसमें बताये हुए जो कर्तव्य कर्म हैं उनका पालन अलग करना पड़ता है। यज्ञ करो तो पहले पढ़ो, फिर यज्ञ करो और उसके बाद उसका फल प्राप्त करो और भी बादमें। तो, स्वाध्याय अध्ययनकी विधि, यज्ञादिका अनुष्ठान और स्वर्गादि रूप फलकी प्राप्ति—ये तीनों वेदका अध्ययन हुआ।

और, ब्रह्मका अध्ययन क्या हुआ ? बोले—विवेक-वैराग्य-शमदमादि सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर, गुरुकी शरणमें जाकर आत्मा और परमात्माकी जो उपाधि है—अन्त:करण और अव्याकृत अविद्या और माया—इस उपाधिका तिरस्कार करके दोनोंमें जो सिच्चिदानन्दघन चैतन्य ब्रह्म है उसकी अद्वितीयताको, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मको अद्वितीयताको जानो, द्वैतकी निवृत्ति हो जायेगी। अविद्याकी निवृत्ति हो जायेगी।

तो यह जो विधिवत् उपसत्ति है, यह जो वेदाध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए नहीं है; जो ब्रह्मविज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए है।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

अब यहाँ प्रश्न है--

कस्मिन्न भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति!

वह कौन-सी वस्तु है जिसका विज्ञान प्राप्त हो जानेपर यह सबका विज्ञान हो जाता है! तो शौनकजीको यह बात मालूम थी कि वेदमें ऐसी वस्तुका वर्णन है कि,

एकस्मिन्विज्ञाते सर्विमिदं विज्ञातं भवति इति शिष्ट प्रवादं श्रुतवान् शौनकः।

शौनकने यह शिष्ट प्रवाद श्रवण किया था कि कोई ऐसी वस्तु है, जिसके विज्ञानसे सर्वविज्ञान हो जाता है।

इसीकी जानकारीके लिए, सामान्य दृष्टिसे जानकरके, विशेष दृष्टिसे जाननेके लिए शौनकने यह प्रश्न किया।

अब यह प्रश्न करनेवाले शौनकके प्रति अङ्गिराऋषिने यह उत्तर दिया। 'ह' शब्दका अर्थ है 'किल'। यहाँ 'आह' नहीं, 'ह' है—तस्मै स ह उवाच। 'ह' माने किल-निश्चितम्, निश्चयेन उवाच। क्या बताया? द्वे विद्ये वेदितव्ये—दो विद्या जाननी चाहिए। इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च—(यह 'द्वे' में-से 'द' का लोप करके गुजराती लोग 'बे' बोलते हैं; 'बे' माने दो) 'विद्या'=जिसके द्वारा जाना जाये, उसका नाम विद्या-वेद्यते अनया।

यह विद्या वेदितव्य है। वेदितव्य माने जानने योग्य है। दो प्रकारकी विद्याएँ जानने योग्य हैं। एक—स्वाध्याय विधिसे प्राप्त और एक ब्रह्मजिज्ञासु रूप अधिकारीके लिए प्राप्त।

इति ह स्म यद् ब्रह्म विदो वदन्ति।

क्योंकि यह बात ब्रह्मवेत्ता माने ब्रह्मवेदार्थके अभिज्ञ परमार्थदर्शी ऐसा

कहते हैं। बोले—कौन-सी दो विद्याएँ हैं? कि परा चैव अपरा च—एक परा विद्या है और एक अपरा विद्या है।

यह परा विद्या और अपरा विद्या क्या है? अपरा विद्या माने लोक परलोकको विद्या और पराविद्या माने परमार्थको विद्या।

हम पहले 'अनुभूति-प्रकाश' बहुत पढ़ते थे। विद्यारण्य स्वामीने संस्कृतमें उपनिषदोंका अभिप्राय बतानेके लिए एक 'अनुभूति प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा है। हम जाते थे मोकलपुरके बाबाका दर्शन करनेके लिए, तो 'अनुभूति-प्रकाश' साथ रख लेते थे। क्योंकि बाबा तो गंगाजीके बीचमें रहते थे, अतः नावपर तो बैठना ही पड़ता था—तो पहले ही बैठ जाते नावपर। तो दो-तीन मील पहुँचनेमें नावको आधा-पौन घंटा लगता, जब हवा अनुकूल हो तो, नहीं तो घण्टे-डेढ़ घण्टे लग गये। तो इतनी देर नावपर बैठे-बैठे 'अनुभूति प्रकाश' रटते थे।

तो 'अनुभूति-प्रकाश'में जो पराविद्या और अपरा विद्याका भेद बताया हैं, वह यह बताया है—

नानुष्ठानं विना वेद वेदनं पर्यवस्यति। ब्रह्मधीस्तावतैव स्यात्फलदेतिपरा मता॥

यह हमको उस समयका श्लोक याद है जब सत्रह-अट्ठारह वर्षकी उम्रके थे। तो पराविद्या क्या है और अपरा विद्या क्या है ? तो देखो अपरा विद्या वह है—

नानुष्ठानं विना वेद वेदनं पर्यवस्यति।

किसीने समझाया कि होम कैसे करना, वेदी कैसे बनाना, अग्नि स्थापन कैसे करना, कुश-कण्डिका कैसे करना, होम किस वस्तुका करना, कैसे मंत्रका पाठ करना? ईश्वरका अपराध हो जाय, मन्त्र बिगड़ जाय—मन्त्रो ही नः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो नातमर्थनाः। मिथ्या प्रयोग मन्त्रका नहीं होवे, नहीं तो इन्द्रशत्रो विवर्धस्व (भा. 6.9.11) की तरह गड़बड़ी हो जाती है।

अच्छा मान लो वेद तो पढ़े, लेकिन होम न करे, यज्ञ न करे, वेदी न बनावे, कुश-कण्डिका न बनावे, स्वर्गके लिए यज्ञयागादि न करे, अन्त:करण शुद्धिके लिए यज्ञयागादि न करे तो वेद पढ़नेका फल कहाँ निकला? नानुष्ठानं विना वेद वेदनं पर्यवस्यित—विना किये वेदका ज्ञान सफल नहीं होता। इसका नाम अपरा विद्या है।

और परा विद्या कौन-सी है ? कि—

ब्रह्मधीस्तावतैव स्यात्फलदा इति परा मता।

ब्रह्मविज्ञान केवल ज्ञान मात्रसे ही फल प्रद है। अब अपरा विद्या और परा विद्याका आपको जरालसा और भेद बताते हैं।

एक आदमीने अपनेको मनुष्य जाना, परन्तु मनुष्य का बर्ताव नहीं किया, पशुका बर्ताव किया, तो 'मनुष्य जानना' उसका व्यर्थ हो गया न! जानता है कि मैं मनुष्य हूँ, पर मनुष्यके जो कर्तव्य हैं उनका पालन नहीं करता है, तो अपनेको मनुष्य जानकरके क्या किया उसने ?

अच्छा, एकने अपनेको जाना कर्ता, यह जो कर्तृ-विज्ञान है ना, यह भी पराविद्याका विषय नहीं है। अपनेको जाना कर्ता कि मैं पापका कर्ता हूँ, मैं पुण्यका करता हूँ, और जो मैं करूँगा वह मेरे साथ जुड़ेगा और फिर भी पाप करे और पुण्य न करे तो उसको अपनेको कर्ता जाननेका जो विज्ञान है वह व्यर्थ हो गया।

तो 'नानुष्ठानं विना' अपनेको यदि कर्ता समझते हा, तो पाप मत करो, पुण्य करो; पुण्य करके हृदय शुद्ध करो या परलोक बनाओ; अपनेको देहसे परे समझो; स्वर्गमें जाओ। अपनेको देहातीत समझो—कर्ता जाननेका यह अभिप्राय है। यह अपरा विद्या हुई।

लेकिन जब अपनेको नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अद्वय परब्रह्म परमात्मा जानते हैं तब ? बोले—अब क्या कर्तव्य है ? जहाँ अपनेको कर्ता जानेंगे, वहाँ कर्तव्य होगा। जहाँ अपनेको भोक्ता जानोगे वहाँ भोक्तव्य होगा।

सेठ जयदयालजी निष्काम कर्मका बड़े जोर-शोरसे प्रतिपादन करते थे। आप जानते हैं लोकमान्य तिलक निष्काम कर्मका प्रतिपादन करते हैं, तो वे तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी कर्म करना चाहिए, इस बातपर जोर देते हैं; और सेठ जयदयालजीकी जो तत्त्वविवेचनी टीका गीतापर जब लिखी जा रही थी, तब मैं बिलकुल साथ-ही-साथ था, बाँकुड़ामें ही रहता था, तो वे निष्काम कर्मपर बहुत जोर देते। तो मैंने उनसे एक दिन पूछा कि सेठजी जबतक कोई अपनेको भोका जानता है और भोगकी वृत्ति है और भोग्यके सम्बन्धसे सुख-दुःख मिलता है, तो जबतक अपनेमें भोकापनकी भ्रान्ति रहेगी, तबतक कोई निष्काम कैसे होगा? सेठजी बड़े निपुण थे, तो सेठजी बोले—पण्डितजी, मैं निष्काम कर्म कहता हूँ तो उसका मतलब आत्यन्तिक निष्कामता नहीं होती, मेरा मतलब तो व्यवहारमें सामान्यरूपसे निस्वार्थ भावसे आदमी काम करे, निःस्वार्थ भावसे परोपकार करे, ज्यादा स्वार्थी न बने, मनुष्यके लिए जो निस्वार्थ होना धर्म है, उसका वर्णन करता हूँ। जो काम-कर्मकी आत्यन्तिक निवृत्ति है, वह तो जब कर्तापनकी आत्यन्तिक निवृत्ति होवे ब्रह्मज्ञानसे भोकापनकी आत्यन्तिक निवृत्ति होवे, जब कर्तापन और भोकापन वस्तुतः निवृत्त हो जायेगा, तब काम-कर्म भी वस्तुतः निवृत्त हो जायेगे। बिना ब्रह्मज्ञानके काम-कर्म तो छूटेंगे नहीं और बिना काम-कर्मके छूटे निष्कामता तो आवेगी कहाँसे? निष्कर्म होगा कहाँसे?

तो यह परा-अपरा विद्याका भेद है। पराविद्या जो है वह ब्रह्म विद्या है और अपरा विद्या जो है वह कर्तृत्व भोकृत्वका विज्ञान है। जो कर्तात्मक भोक्तात्मक विज्ञान है—अपनेको कर्ता समझना भोक्ता समझना—इसका नाम अपरा विद्या है।

अब गिनती कराते हैं। तो देखो शंकराचार्य भगवान्ने अपने भाष्यमें इस प्रसंगमें लिखा है कि बताना तो यह चाहिए कि एक ब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर सर्वका ज्ञान हो जाता है, सीधे उत्तर देना चाहिए। यह प्रतिवचनमें घुमाव-फिराव क्यों है ? तो उन्होंने बताया कि यह अपरा विद्या जो है, वह तो अविद्या ही है—

अपरा हि विद्या-अविद्या सा निराकर्तव्या।
यह अपराविद्या तो अविद्या ही है और इसे दूर करना चाहिए।
तद् विषये हि विदिते न किञ्चित्तत्त्वतो विदितं स्यात्।
यदि केवल अपरा विद्याका विषय वसने जाना हो क

यदि केवल अपरा विद्याका विषय तुमने जाना तो कुछ नहीं जाना।

निराकृत्य ही पूर्वपक्षं पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवति इति न्यायात्।

इसिलए पूर्वपक्षके रूपमें यहाँ अपरा विद्याका और उत्तरपक्षके रूपमें पराविद्याका वर्णन है।

तो बोले--अपराविद्या कौन-कौन-सी है ? इसकी गिनती कराते हैं-

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

अपरा विद्या क्या है ? कि ऋग्वेद। यह शब्दराशि है — अग्निमीले पुरोहितं — यहाँसे प्रारम्भ होकर जो शब्दराशि है वह ऋग्वेद है।

और यजुर्वेद जो है, वह? सामवेद, अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। एक-एककी कई-कई संहिताएँ हैं।

सहस्रवर्त्मा सामवेदः। सामवेदकी तो हजार शाखाएँ हैं।

तो ये भिन्न-भिन्न शाखाओं वाले चारों वेद (और उनके अङ्ग शिक्षा आदि सब अपरा विद्या हैं)।

शिक्षा—वेदके शब्दोंका उच्चारण कैसे करना यह बतानेके लिए प्रत्येक शाखाकी अलग-अलग शिक्षा होती है।

कल्पसूत्र—होते हैं। जो वैदिक मन्त्रोंके प्रयोग की विधि बताते हैं। व्याकरण—जिससे (वैदिक) शब्दोंकी निष्पत्ति होती है।

तो वेदके व्याकरणको प्रातिशाख्य बोलते हैं। सामान्यरूपसे पाणिनीय व्याकरण आदि जो व्याकरण हैं, वे सबमें चलते हैं; लेकिन वेदका एक व्याकरण होता है प्रातिशाख्य।

निरुक्त—जैसे 'अमरकोश' आदि लौकिक कोश होते हैं वैसे वेदमें शब्दकी व्युत्पत्ति बतानेके लिए निरुक्त है, निर्वचन करनेवाला शास्त्र, एक प्रकारका कोश है, दिग्दर्शिनी-डिक्शनरी है। शब्दकी दिशा बतावे, किस धातुसे निकला, इसकी क्या व्युत्पत्ति है, इसमें क्या प्रत्यय होता है। यह 'निरुक्त' है।

छन्द—गायत्री अनुष्टुप जगती—ये छन्द होते हैं वेदमें, उनका वर्णन छन्द शास्त्रमें है। छन्दका निर्णय।

ज्योतिषाम्—वसन्त ऋतु जब होती है तब अग्न्याधान करना चाहिए— वसन्यग्निं आदधीत् वसन्त ऋतुमें अग्न्याधान करना चाहिए। और ज्योतिषके बिना वसन्त ऋतुका पता ही नहीं चले। दर्शपौर्णमास कब करें, कूहू करें। तो दर्शपौणमासका ज्ञान ही नहीं होगा बिना ज्योतिषके।

तो ये वेदके छह अंग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। यह चतुर्व्यूहात्मक वेद पुरुष है। इसको बोलते हैं अपराविद्या। माने इसको यदि कोई पढ़ लेगा, तो वह संसारको ही जानेगा। संसारके सिवाय और कुछ नहीं जान सकता।

संसार माने कीट पतंगसे लेकर ब्रह्मातक और एक अणुसे लेकर प्रकृति पर्यन्त व्यावहारिक ज्ञान उसको प्राप्त होगा। इस व्यावहारिक ज्ञानको देनेवाली जो विद्या है उसको अपरा विद्या कहते हैं। स्वर्ग क्या है और यह किस प्रकार यज्ञ करनेसे प्राप्त होता है और लोकमें कैसे रहना चाहिए यह सब अपरा विद्यासे मालूम पड़ता है।

अथ परा—अब परा विद्याका वर्णन करते हैं। तो देखो अपरा विद्यामें जो क्रिया-कारक-फलका विवेक है कि कौन-सी क्रिया कैसे करना, उसमें श्रुत-स्रुवा आदि कैसे होना, यजमान कैसा होना, उद्गाता कैसा होना, तो ये सब रीति-नीति बतानेवाली क्रियाकारक और उसके करनेसे फल क्या होता है-यह सब अपरा विद्याका विषय है।

लेकिन यह विद्या वास्तवमें विवेक नहीं है; क्योंकि इसमें तत्त्वका विवेक नहीं है। ये सारे भेद तो अविद्या कृत हैं। एक अखण्ड परमात्माको न जानकरके ये सारे भेद बनाये गये हैं। इसिलए यदि कोई जान ले कि ज्योतिषस्तोम कैसे किया जाता हैं और उससे क्या फल मिलता है; ज्योतिषस्तोम जान ले, सौत्रामणि जान ले, पशुयागको जान ले, तो उसको जानकर करे और करके उसका फल भी प्राप्त करे, तो स्वर्गमें जाकर उसको लौटना पड़ेगा। इसिलए यह व्यवहार प्रतिपादक विद्या होनेके कारण अविद्याके विषयमें ही घूमती रहती है, सत्यका ज्ञान तो कुछ होगा नहीं। इसिलए शंकराचार्य भगवान्ने कहा कि अपरा हि विद्या अविद्या—अपराविद्या तो असलमें अविद्या है और सा निरा कर्तव्या उसका तो निराकरण करना कर्त्तव्य है। तद्विषयेहि विदितो न किश्चित तत्त्वतो विदितं स्यात्। यदि अपरा विद्याका विषय जाना तो (सार) कुछ नहीं जाना।

तो अब! असलमें परिवद्याको जानना चाहिए। पर विद्या माने श्रेष्ट विद्या।

एक अपराविद्या है और एक परा विद्या है। अथ इदानीं परा विद्या उच्यते। अब यह परा विद्या बतायी जाती है। कौन-सी? कि अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

'अथ परा'—अब परा विद्याका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। ऐसी विद्या आश्चर्यजनक चमत्कारकारी है।

जैसे देखो, आप किसी दूसरेक बारेमें कोई भी बात चाहो, अच्छा है कि बुरा है—एक भले मानुससे जान लिया कि अमुक बहुत ही भला है तो उससे प्रेम करनेका मन होगा। हमने सुना पहले कि गाँधीज़ी वर्धाके पास सेवाग्राममें रहते हैं, बहुत भले मानुस हैं, महात्मा हैं, मन हुआ कि चलो काशीसे चलकर उनको देखें कि कैसे हैं?

जब गाँधीजीके बारेमें ज्ञान हुआ, तो उनको देखनेकी इच्छा हुई। तो बाबा! वर्धा आये और वर्धासे पैदल चलकर सेवाग्राम गये। तो अब यह एक ज्ञान ऐसा हुआ कि उस ज्ञानसे इच्छाका उदय हुआ। इच्छाके बाद फिर प्रयत हुआ और प्रयतके बाद उसके फलकी प्राप्ति हुई—गाँधीजीको देखा।

महाराज, एकके घरमें जाकर कहीं ठहर गये। थोड़ी देरके बाद ज्ञान हुआ कि यह तो अच्छा आदमी नहीं है, यह हमको रातमें धोखा देगा। तो यह इच्छा हुई कि चलो भाग चलें। अब वहाँसे भगे महाराज और रातमें मीलों चलकर तब दूसरे गाँवमें जाकर ठहरे। तो क्या हुआ? उसकी बुराईका ज्ञान होनेपर त्यागकी इच्छा हुई और तब भागना हुआ-प्रयत्न हुआ और फिर उसका फल मिला कि हम उसकी ठगीसे बच गये। तो 'अपरा विद्या' इसीको कहते हैं।

जाननेके बाद इच्छा हो, इच्छाके बाद प्रयत हो और प्रयत्नके बाद सफलता मिले—यह भी विद्या है, पर यह दुनियादारीकी विद्या है परा विद्या। तो महाराज! पहले ठगाकर आओ। यह बड़ी विचित्र बात है। संसारी लोग सुनें तो डर जायें। इसलिए हम बताते नहीं हैं संसारियोंको।

यदि त्यागमें तुम्हें डर लगता है (तो अभी तुम परा विद्याके अधिकारी

नहीं हो।) अभी सबेरे मैंने सुनाया—विज्ञानमें कोई अनुसंधान कर रहा था, तो उसके सामने विष आया। तो वैज्ञानिकोंको बड़ी जिज्ञासा थी कि इस विपमें कोई स्वाद है कि नहीं? अब वह भलेमानुस अनुसंधान कर रहा था, उसने उठाकर उस विषको अपनी जीभ पर रख लिया और लिखना शुरू किया जैसा-जैसा उसको अनुभव होता गया, लिखता गया और लिखते-लिखते मर गया। जान-बूझकर विष खाया कि हम स्वादका अनुसन्धान करेंगे और दुनियाको एक बहुत बड़ी चीज देकर जायेंगे। हम तो मरेंगे, लेकिन दुनियाको ज्ञान देकर जायेंगे। जिज्ञासुकी वृत्ति ऐसी होती है।

श्रुति कहती है कि मैं मर जाऊँ, मैं बाधित हो जाऊँ, मैं मिथ्या सिद्ध हो जाऊँ और परमात्मा सत्य सिद्ध हो जाय। परमात्माके सत्यत्वका प्रतिपादन करके श्रुति अपनेको बाधित कर देती है, मिथ्या कर देती है। इसका अनुसन्धान है।

और, अनुसन्धान माने क्या है ? कि 'तू प्रभु जीवे मैं मर जाऊँ।' इसका नाम अनुसन्धान है कि ब्रह्म मिले। ब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होवे और हमारा जो अहं है न, हमारा यह छोटा अहं है—कर्त्ता, भोक्ता, संसारी परिच्छित्र अहं है—यह मर-मर जाये। जिज्ञासुका मतलब होता है—अहंको मार करके सत्यका अनुसन्धान करना।

और देखो भाई बुरा मत मानना, आप लोग तो सब बड़े लोग हो, आपके बारेमें कुछ नहीं कहता हूँ। आजकल जैसे हमारे सेठ लोग होते हैं न, वे कहते हैं कि देखो सेठोंमें तो हमारी बड़ी इज्जत है, क्योंकि हमारे पास करोड़ रुपये हैं; मोटर वालोंमें हमारी बड़ी इज्जत है, क्योंकि बड़ी भारी मोटर है हमारे पास और सुन्दर पत्नीवालोंमें हमारी बड़ी इज्जत है, क्योंकि हम विलायतसे लाये हैं। ये अपनेको बहुत बढ़िया मानते हैं। तो कहते हैं अब वेदान्तियों में भी हमारी इज्जत होनी चाहिए कि देखो इतनी बड़ी सम्पत्तिके साथ इनको वेदान्तका ज्ञान भी है। तो वे क्या करते हैं, जैसे मोटर उनका आभूषण है, मकान उनका भूषण है, स्त्री उनका भूषण है, बढ़िया वस्त्राभूषण धारण करते हैं, वह उनका भूषण है, वैसे वे चाहते हैं कि वेदान्तमें जिस ब्रह्मज्ञानका वर्णन है न, वह भी हमारा भूषण होकर रह जाय।

तो जो ब्रह्म ज्ञानको अपना भूषण बनाना चाहता है, उसको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति उसको होती है जो 'पुरुष-मेध' करनेको तैयार है। आपने 'अश्वमेध का नाम तो सुना ही होगा न; जैसे अश्वमेधमें घोड़ा मारा जाता है—वैसे ही महाराज यह पुरुष—यह अहं जिसमें मारा जाता है। यह 'पुरुषमेध विद्या' है कि छोटे अहंको मार कर, तब अपनेको ब्रह्मके रूपमें जाना जाता है। तो यह परा विद्या है। अथ परा। यही सब विद्याओंको पोषण करनेवाली है।

पिपर्त्ति इति परा। प्रीञ् पालन पोषणयो:।

जो संसारके सम्पूर्ण विद्याओंका पालन करे और पोषण करे, उसका नाम परा।

देखो गोपियाँ मर गयीं और उन्होंने कृष्णसे प्रेम किया। श्रुतियाँ मर गयीं, उन्होंने ब्रह्मसे प्रेम किया। वैज्ञानिक मर गया, परन्तु विज्ञानका एक सत्य दे गया। इस प्रकार जो अपनेको मिटा कर परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रेरित है, यह वेदान्त विद्याका प्रेमी है। इसमें बलि देनी पड़ती है। आत्मबलि। वामनको जब बलि देता है न, तब उसको विराट्की प्राप्ति होती है।

ऊर्ध्वं प्राणं उन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वो देवा उपासते॥

मध्ये वामनमासीनं—हृदयमें तुम्हारे परमेश्वर बैठा हुआ है। 'मैं बौरी हूँ कृन चली रही किनारे बैठ'—हूँ ढ़ने गये। बोले—काहे के लिए ? किनारे बैठ गये। मैंने सुना कि एकने अपने गलेमें फाँसी लगाने के लिए रस्सी लटकायी। लटका के फिर उसने रस्सीको कमरमें बाँधा और कुर्सी परसे कूद पड़ा। वह तो मरा नहीं, जिन्दा ही रहा। अब लोग आये, बोले—भाई, यह क्या किया? बोला कि मैं खुदकुशी-आत्महत्या करने के लिए, रस्सी लगा के कूद पड़ा। बोले—पर यह रस्सी तुमने कमरमें क्यों बाँधी? अगर भरना ही था तो गलेमें बाँधना चाहिए था। तो बोला कि गलेमें मैंने बाँधा तो दम घुटने लगा। तो ये महाराज खुदकुशी भी करने चलते हैं, आत्महत्या भी करने चलते हैं और दर्दसे डरते भी हैं। तो डरनेसे काम नहीं चलता।

एक महात्मा हमारे कहते थे, यह तो दोनों हाथ उठाकर, जैसे कोई

भृगुपतन करे, ऐसे कूद पड़नेका नाम है। जवतक क्षरसे अपना विवेक नहीं करोगे, तबतक अक्षरकी प्राप्ति कैसे होगी?

यया तदक्षरं अधिगम्यते—यह वह विद्या है जिससे अक्षर वस्तुका ज्ञान होता है। अक्षर क्या है ? न क्षरित—जिसका कभी क्षरण न हो। जिसमें नमक न लगे। यह नोना लगता है न, मैंने यहाँ देखा बम्बईमें, किसी-किसीके घरमें भीत (दीवाल) में 'नोना' लगा हुआ है। तो नीचेसे गल-गलकर भीत गिरती जाती है। नमक लग जाता है।

तो यह क्षर और क्षार दोनों एक ही है, क्षर और क्षार दोनों दो चीज नहीं हैं। तो जो चीज क्षरण होती है, माने परिणामी है, विकृत होनेवाली है, विकारी है, उससे जो विलक्षण है उसका नाम अक्षर है।

और, व्याकरणके महाभाष्यकारने तो अक्षर शब्दका अर्थ बताया है— अश्नुते इति अक्षरं। अश्नुते व्याप्नोति।

'क' चाहे किसी लिपिमें लिखें, मराठी लिपिमें क, गुजराती लिपिमें क, सिंधी लिपिमें क, पंजाबी लिपिमें क, तिमलमें, तेलगुमें, किसी भी लिपिमें लिखें, उसकी शक्ल चाहे कुछ होवे और उच्चारणमें भी भेद होता है। उर्दू लिपिमें लिखते हैं तो 'काफ' बोलते हैं और अंग्रेजीवाले 'के' वोलते हैं। उच्चारणमें भी भेद है और आकृतिमें भी भेद है, परन्तु अक्षर कौन है? बोले— 'क'। (अक्षर व्यापक होता है।)

अब देखो ' अ' कितने चोले पहनता है। तो अक्षर उसे कहते हैं कि नाम रूपका भेद होनेपर भी, यह रही औरत, यह रहा मर्द और दोनोमें अक्षर एक है।

यह रहा पशु और यह रहा मनुष्य दोनोंमें अक्षर एक है। एक रहा श्याम और यह रहा राम, अक्षर दोनोंमें एक है। इसको बोलते हैं अक्षर। अश्ननुते इति अक्षरं। यह पतञ्जलिका वचन है। अक्षर शब्दका अर्थ यह है।

तो, यया तदक्षरं अधिगम्यते—बोले—यह अक्षर ब्रह्म है। न क्षरित।

अधिगम्यतेका अर्थ है—प्राप्यते। 'अधि! पूर्वक जो गम् धातु है उसका अर्थ होता है—प्राप्ति। अधिगम माने प्राप्ति। द्रव्याधिगम भी होता है भला! द्रव्यका अधिगम हुआ। देशाधिगम भी होता है। अर्थाधिगम भी होता है। अधिगम माने प्राप्ति।

तो जिससे अक्षरका अधिगम हो, माने अक्षरकी प्राप्ति हो वह परा विद्या तो यहाँ अधिगम और प्राप्ति—दो नहीं होती।

यह देखो आपको यह बात सुना रहा हूँ कि दूसरेके पास जब अच्छाईका ज्ञान हुआ तो उसके पास जाना हुआ और जब बुराईका ज्ञान हुआ, तब? तब उसको छोड़कर भगे।

अब देखो एक ज्ञान अपने बारेमें होवे कि मैं ऐसा हूँ। तो क्या करोगे, अपनेको ? अगर बुरा जानोगे तो उस बुराईको छोड़नेकी कोशिश करोगे और अच्छाई जानोगे, तो अच्छाई रखनेकी कोशिश करोगे।

तो अच्छाई रखनेकी कोशिश क्यों करते हो? इसिलए कि इसके जानेका डर है और बुराईको भगानेकी कोशिश क्यों करते हो? क्योंकि यह भागनेवाली है। तो इसका मतलब हुआ अच्छाई-बुराई दोनों आगन्तुक हैं, अभी तुमने अपने आपको नहीं जाना। अपने आपको जब जानोगे तब क्या करोगे? उसको (अपने आपको) छुड़ाना चाहोगे? कि अपने आपको पाना चाहोगे? अपना आप तो मिला हुआ है, न छोड़नेका है न पानेका है। तो आत्मज्ञान जो होता है, उसके बाद प्राप्ति परिहारकी इच्छा नहीं होती कि इसको प्राप्त करें कि छोड़ें इसके लिए प्रयत्न नहीं होता। वह फलरूपसे नहीं मिलता, वह तो स्वयं प्राप्त है।

तो आओ अब अक्षर तत्त्वकी चर्चा करें यह अक्षर तत्त्व कैसा! तो यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भृतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥

अद्रेश्यम्का अर्थ है अदृश्यं। अदृश्यंका क्या अर्थ है ? ज्ञानेन्द्रियोसे, बुद्धि-इन्द्रियसे दृश्य नहीं है।

अग्राह्मम्का अर्थ क्या है? अलग-अलग कर्मेन्द्रियके द्वारा ग्राह्म नहीं है। जैसे हाथने चश्मेको ग्रहण किया। तो चश्मा ग्राह्म हुआ। परमात्मा—यह अक्षर कैसा है? हाथसे ग्राह्म नहीं है। माने कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे भी ग्राह्म नहीं है। वाणीसे भी ग्राह्म नहीं है। न तत्र वाग्गच्छति—वाणी तो वहाँ जाती नहीं। तो अग्राह्म माने कर्मेन्द्रियसे अग्राह्म।

अक्षर वस्तु है। क्यों? कि जो-जो दृश्य होगा वह क्षर होगा। जो-जो ग्राह्य होगा वह क्षर होगा, वह अक्षर तो होगा ही नहीं।

अदृश्य और अग्राह्य—यह परमात्माको क्यों बताया? क्योंकि जो-जो दृश्य होता है, सो-सो परिच्छित्र होता है, वह ब्रह्म नहीं होता। जो-जो ग्राह्म होता है, सो-सो परिच्छित्र होता है, वह ब्रह्म नहीं होता।

विवेकीके लिए शुरू-शुरूमें यह बात ध्यान देने लायक है। क्यों? बोले—देखो इन्द्रियाँ हमारी परिच्छित्र होती हैं। तो कहे कोई कि हम आँखसे स्थूल वस्तुको देख लेंगे, तो कैसे देखेगा? आँखसे तो पूरा रूप नहीं दिखता है। थोड़ी दूर हो तो रूप आँखसे नहीं दिखेगा, थोड़ा सूक्ष्म हो तो रूप आँखसे नहीं दिखेगा। तो दूरताकी उपाधि हो तब भी नहीं दिखेगा, सूक्ष्मताकी उपाधि हो तब भी नहीं दिखेगा और कालकी उपाधि हो, पाँच बरस पहलेवाला हो, तो? वह भी आँखसे नहीं दिखेगा।

तो पाँच बरस पहलेवाला नहीं दिखेगा, पाँच मील दूरवाला नहीं दिखेगा और जो महीन स्तरमें होगा वह भी नहीं दिखेगा। अब भला आँख क्या बतावेगी? आँख क्या ब्रह्म बतावेगी? वह तो महाराज लोग अपने-अपने बेटेका नाम ब्रह्म रख लेते हैं। हमने देखा ऋषिकेशमें कई ऐसे साधु हैं जिनका नाम सिद्धब्रह्म है। हमारे एक सिद्ध-वेद हैं, रामघाटमें हैं। एकका नाम है नित्यप्रकाश। साधु नहीं हैं, गृहस्थ हैं, दो-दो, चार-चार बच्चोंके बाप हो गये। और महाराज कोई बहुत भले हों सो बात नहीं, नाम है सिद्ध वेद। नाम है नित्य प्रकाश। अर्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

और, यह ब्रह्म शब्द जो है न, यह सम्पूर्ण परिच्छित्रताका निषेध करके समझने योग्य है। इस सम्बन्धमें यह प्रश्न है, यह तुम वेदके बारेमें जो यह बात कहते हो कि ऋग्वेद अपरा विद्या है और अक्षर विद्या जो है वह पराविद्या है, तो क्या अक्षर विद्या और वेदविद्या—ये दो विद्या हैं?

कल एक वैदिक विद्वान् आये थे हमारे पास, वेदके बड़े अच्छे पण्डित थे। वे अनुसन्धान कर रहे हैं। अब उन्होंने बताया कि कई अंग्रेज विद्यालयमें यह लिखा है कि यह जो हिन्दू लोग-भारतीय लोग वेद-वेद बोलते रहते हैं, ये थेदका नाम तो लेते हैं पर वेदको मानते नहीं हैं। क्यों वेदको नहीं मानते? उसने कहा—गीतामें तो लिखा है—िक त्रैगुण्यविषया वेदाः। योग जो है वह त्रैगुण्य विषयक है और तुम निस्त्रैगुण्य हो, तो चलो योग तो छूट गया, यह योग बाह्य मत हो गया। गीताका मत वेद बाह्य होगया। पण्डितने ऐसे बोला कि ऐसा लिखा है अंग्रेज विद्यालयमें।

अब यहाँ बोले कि ऋग्वेद-यजुर्वेद आदि तो अपरा विद्या है और यह अक्षर-विद्या है तो यह वेद बाह्य विद्या हो गयी।

तो उन अंग्रेज विद्वानोंका यह कहना है कि हम यह मानते हैं कि हिन्दू लोग-भारतीय लोग अक्षर विद्याको मानते हैं, परन्तु वेद विद्याको नहीं मानते। ये गीताको मानते हैं, परन्तु वेदको नहीं मानते, क्योंकि गीतामें तो वेदकी निन्दा है।

हे भगवान्! अब वेदको कायदेसे पढ़े बिना वेदका अभिप्राय तो मालूम होता नहीं है। वेदमें यह भी एक वैज्ञानिक बात है, क्योंकि देखो अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व, निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकारका जितना भी वर्णन होगा, वह संकेतसे होगा।

आप देखो, बिना संकेतसे तो कोई वर्णन होगा नहीं, माने किल्पत रीतिसे वर्णन होगा। तो संकेत रीतिसे जो वर्णन होता है, किल्पत रीतिसे जो वर्णन होता है वह जबतक संकेत बताया न जाय, तबतक समझमें नहीं आता है।

यदि आँखसे ब्रह्मका ग्रहण होता तो बिना बताये कोई देख लेता। यदि जीभसे ब्रह्मका स्वाद आता तो जैसे अंगूरका स्वाद, इमलीका स्वाद, आमका स्वाद हम जीभसे पहचानते हैं ऐसे ब्रह्मका स्वाद भी हम पहचान लेते। लेकिन यह बात तो है नहीं। तब नारायण! यह बात है कि बिना हमारे संकेतको समझे, कोई बातको समझ नहीं सकता।

तो वेदमें दो बात है-

एक अर्थ प्रधान वेद है और एक शब्द प्रधान वेद है। ज्ञान तो अपौरुषेय होता ही है। कैसे? तो आपको देखो बताते हैं। ज्ञान जो है न, तो कोई कहे कि ईश्वरने ज्ञान बनाया। आप बता सकते हो कि ईश्वरने ज्ञान बनाया कि नहीं? आपकी समझमें आने लायक बात है? अच्छा, जिस दिन ईश्वरने ज्ञान बनाया उसके पहले ईश्वरके पास ज्ञान था कि नहीं था? अगर कहो कि ज्ञान बनानेके पहले ईश्वरके पास ज्ञान नहीं था, तो ईश्वर अज्ञानी होगा न! बिना ज्ञानका ईश्वर नहीं होता। ईश्वरकी सिद्धि भी ज्ञानसे होती है। तो ज्ञानका निर्माता ईश्वर नहीं होता, यह बात आप समझ लो। तो ज्ञान भी ईश्वरके द्वारा निर्मित नहीं होता, स्वत: सिद्ध होता है।

अब वेद जब इसी ज्ञानका प्रतिपादन करता है, तो ज्ञानको तो अपौरुषेय बताता ही है, स्वयं अपौरुषेय ज्ञानका प्रतिपादक होनेसे स्वयं भी अपौरुषेय हो जाता है।

पौरुषेय ज्ञान और अपौरुषेय ज्ञानमें क्या फर्क होता है? बड़ा मजेदार है। आदमी अपने अन्त:करणसे जब किसी चीजको जानता है तो भ्रम होता है, प्रमाद होता है, विप्रलिप्सा होती है, करणापाटव होता है। कई दोष होते हैं अन्त:करणमें। और ईश्वरमें तो ये सब कोई दोष हैं नहीं।

वेदमें भ्रम नहीं, प्रमाद नहीं, विप्रिलिप्सा नहीं, करणापाटव नहीं। तो अब यह वेद जो है, इसके दो विभाग कर दिये। जो जिज्ञासु हैं, निवृत्ति परायण हैं, विरक्त हैं, उनके लिए अर्थज्ञान और जो ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, वैश्य हैं, यज्ञोपवीतादि संस्कार सम्पन्न हैं, वे शब्द ज्ञान पहले प्राप्त करें। तो शब्द ज्ञानकी परम्पराकी रक्षाके लिए जो विद्या है उसको अपराविद्या कहते हैं और अर्थज्ञानकी परम्पराकी रक्षाके लिए जो विद्या है उसको परा विद्या कहते हैं। इसमें अक्षर ब्रह्म तत्त्वको समझाते हैं।

तो अब यह बात अब आपको कल सुनावेंगे!



प्रवचन : 3, मन्त्र 5-6

पराविद्याका विषय अक्षर तत्त्व-1

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ 1.1.5

अब परा विद्याका वर्णन करते हैं। यह परा विद्या क्या है? कि 'यया तदक्षरमिधगम्यते'। 'यया' माने जिस विद्यासे 'तत्' माने वह 'अक्षर' 'अधिगम्यते'—अधिगत होता है।

आपको सुनाया कि परा विद्या और अपरा विद्यामें यह भेद है कि अपराविद्याका स्वाध्यायके रूपमें अध्ययन किया जाता है और अध्ययन करनेके बाद उसके अनुसार अनुष्ठान किया जाता है। अनुष्ठान करनेके बाद उसका फल प्राप्त होता है।

और पराविद्या जो है वह स्वाध्याय-अध्ययनकी विधि से नहीं प्राप्त होती, ब्रह्म विजिज्ञासाकी विधिसे प्राप्त होवे—तद् ब्रह्म तद् विजिज्ञासस्य। और, इसके लिए शान्ति, दान्ति, वैराग्य, गुरुकी शरणागित—ये सब जरूरी है।

और, जब यह परा विद्या मिलती है तो फिर कुछ करनेकी जरूरत नहीं रह जाती और लोकान्तरमें जाकर उसका फल नहीं मिलता; विद्याके साथ ही उसका फल मिल जाता है, विद्या ही फल है।

जो लोग वैराग्यवान् नहीं होते हैं वे ऐसा समझते हैं कि साधन जुदा चीज है और उसका फल जुदा चीज है। यह वैराग्यवान न होनेकी निशानी है। यही पहचान है।

एक आदमी समझो लोकमें सच बोलकर आया और बोला कि महाराज हमने सच बोला है, सच बोलनेका महाराज फल नहीं मिला। तो वह यह समझता है कि लड्डू खाना फल है और सच बोलना साधन है। उसने सचको कितना नीचे गिरा दिया। सच बोलना मनुष्यके जीवनकी कितनी बड़ी उन्नति है, यह कितना बड़ा फल है कि वह सच बोलता है। अब वह कहता है कि हमने सच तो बोल दिया, लेकिन उसका फल नहीं मिला। तो फल कैसा होगा? सच बोलना साधन और पैसा फल। जरूर उसने कुछ-न-कुछ बात अपनी अकलसे उलट दी होगी, तभी न वह ऐसा समझता है कि सत्य बोलनेपर भी हमको इसका फल नहीं मिला।

बोले—महाराज हमने ब्रह्मचर्यका पालन किया। कि बहुत बढ़िया किया। बोले—महाराज, ब्रह्मचर्य पालनका फल नहीं मिला हमको। कि ब्रह्मचर्य पालनका फल नहीं मिला हमको। कि ब्रह्मचर्य पालनका फल तुम क्या चाहते हो? कि एक बहुत बढ़िया स्त्रीसे हमारा ब्याह होना चाहिए था, सो नहीं हुआ।

ब्रह्मचर्य पालनका यही फल है?

इसी प्रकार लोग जब तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करने चलते हैं, तो कहते हैं ज्ञान तो प्राप्त करें हम उस ब्रह्मका, जो देशसे परे, कालसे परे, वस्तुसे परे, अद्वितीय, अविनाशी, अखण्ड अपना आत्मा है और उसका फल किसे मिले ? बोले— देहको!

अरे महाराज कहाँसे कहाँ गिरे, इतने ऊँचे उड़कर चीलकी तरह, फिर वहीं मांस पिण्डपर गिरे। बोले—हमने ब्रह्मको तो जाना; लेकिन हमारे देहमें यह विशेषता नहीं आयी। तो असलमें तुमने ब्रह्मको नहीं जाना। देह धारण करनेका फल ब्रह्म है, ऐसे-ऐसे करोड़ देहको निछावर करके भी ब्रह्म ज्ञान हो जाय तो वह बहुत बड़ी चीज है। और, ब्रह्मज्ञान जान करके, प्राप्त करके तुमने शरीरको ही सँवारा!

अच्छा तो देखो; विद्या और कर्म—इस लोकमें दो फल प्राप्त होता है और इनको देह—इन्द्रियोंके द्वारा भोगा जाता है।

अगर तुमने संसारमें कोई विद्या प्राप्त की और उसका फल इन्हीं देह इन्द्रियोंसे भोगनेके लिए मिला, तो वह कोई फल नहीं हुआ। उससे तो वैराग्य होना चाहिए।

बोले—नहीं, हमने अपनेको कर्ता-भोक्ता जाना। आप देखो कुँएमें भाँग पड़ गयी है। आज यह बात मैं बहुत दिनोंके बाद कर रहा हूँ। गाँव-का-गाँव पागल हो गया है। बोले—महाराज हम किस औजारसे, किस करणसे यह बात समझें कि हम ब्रह्म हैं? माने जैसे आँखसे रूपको देखते हैं और नाकसे गन्धको सूँघते हैं, वैसे ही यह बताओ कि हमारे शरीरके भीतर वह औजार कौन-सा है, वह करण कौन-सा है, नाककी तरह, आँखकी तरह वह कौन-सी चीज है, जिससे हमें ब्रह्म देखना है? वह क्या चीज है? हमारे शरीरके भीतर क्या चीज है?

तो देखो इसका सीधा जवाब हम नहीं देंगे आपको। घुमा-फिराकर जवाब देंगे। क्या? कि आपने जो अपनेको जीव मान रखा है, वह किस औजारसे देख करके अपनेको जीव माना है? अपनेको जो यह माना कि—

1. मैं देहवाला हूँ, मैं अन्त:करणवाला हूँ, 2. मैं पापी हूँ कर्ता, मैं पुण्यात्मा हूँ कर्ता, मैं सुखी हूँ भोक्ता, मैं दु:खी हूँ भोक्ता, 3. मैं नरकमें-स्वर्गमें जाने-आनेवाला संसारी हूँ और 4. मैं एक अणु हूँ उज्ज्वल चम-चम चमकता हुआ, जगमग-जगमग जगमगाता हुआ—यह आपने किस प्रमाणसे जाना है—यह हमको बता दो। किस औजारसे आपने जाना कि मैं जीव हूँ। किस करणसे आपने जाना कि मैं जीव हूँ।

देखो, नारायण! बेवकूफीसे जो चीज मानी जाती है, उसके लिए औजारकी जरूरत नहीं होती। अज्ञान' कहनेका अर्थ ही यह है कि यह बात किसी भी प्रमाणसे, सिद्ध नहीं होती। बोले—हमको अनुभव होता है कि मैं जीव हूँ। अनुभव तुमको होता है तो प्रमाणसे अनुभव होता है? यदि किसीको यह अनुभव होवे कि यह ठूँठ नहीं, भूत है, तो अनुभव प्रमाण है इसका? वह अनुभव प्रमाण नहीं है। क्यों प्रमाण नहीं है? वह ठूँठमें जो भूत है वह प्रमेय नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि तुमने प्रमाणसे इसका साक्षात्कार नहीं किया है, प्रमाणभाससे ही उसका साक्षात्कार किया है। वह तो प्रमाण नहीं है, प्रमाणाभास है।

अब देखो, सम्मुच अगर ठूँठको देख लिया होता, तो भूत वहाँ होता ही नहीं, ठूँठ होता। तो तुमने सचमुच अगर अपनेको देख लिया होता, तो मैं जीव हूँ, यह कल्पना ही तुम्हारे चित्तमें नहीं होती।

यह वेदान्त कोई नया प्रमाण, कोई नया प्रमेय उपस्थित नहीं करता। वह तुमसे यह पूछ रहा है कि तुमने जो यह माना कि मैं देह हूँ, यह किसी प्रमाणसे माना कि बिना प्रमाणसे? वह तो मैंने कभी सोचा-विचारा तो नहीं था, अपनेको देह मान लिया। अच्छा; तब अपनेको खाने-पीनेवाला, इन्द्रियवाला जो माना, सो किस प्रमाणसे माना? अपनेको मन वाला माना तो कैसे माना!

तो आस्तिक व्यक्तिके पास इसके सिवाय और कोई जवाब नहीं है कि वेदमें, श्रुतिमें यह बात कही गयी है कि शरीरके भीतर एक जीव है, आत्मा है और यह आत्मा शरीरके मरनेक बाद भी रहता है, लोक-लोकान्तरमें जाता है, स्वर्ग-ब्रह्म लोकमें गमन करता है। यह बात वेद प्रमाणके सिवाय दूसरे किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है।

बोले—पुराणसे भी सिद्ध है, बाईबिलसे भी सिद्ध है! बोले—ये सब पुराण बाईबिल जो हैं, ये वेदमें-से सुनकर ही ऐसा बोलते हैं। जितना अंश उनका वेदानुकूल है, इतना अंश उन्होंने वेदसे जानके कहा। क्योंकि पहले पुराण कि पहले वेद? पहले बाईबिल कि पहले वेद? पुराण-बाईबिल ही नहीं, संसारके जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें सबसे पहले वेद।

तो नारायण, 'अरब' देश कोई यहाँसे बहुत दूर नहीं है। ईसाने भारतमें आकर वेदका अर्थ सुन लिया, यह कोई नई बात नहीं है। यह भी श्रुतानुश्रुतिक वेदका ही प्रभाव है जो दुनियामें लोग देहसे जुदा मरनेके बाद रहनेवाले आत्माको स्वीकार करते हैं।

यह मत समझना कि जीवात्माकी फोटो ले लेते हैं। यह सब स्टँट हम लोगोंको मालूम है कि आदमी मरता है और इसमें-से जीवात्मा निकलता है तो वे फोटो लेते हैं। (जीवात्मा कोई पाँच भौतिक पदार्थ होवे तो उसका फोटो लिया जा सकता होवे, परन्तु) जहाँ आत्माका स्वरूप अभौतिक हो गया, पाँच भौतिक रहा ही नहीं, वहाँ फोटोका कहाँसे सवाल आया? वहाँ शीशाको तोड़नेका क्या सवाल आया? जब किरणें शीशाका भेदन कर देती हैं, तो चैतन्य आत्मा शीशेके संदूकमें से निकल जाये, इसमें आश्चर्य कहाँ है? तो कहनेका अभिप्राय यह है कि यह जीवका जो जीवत्व है, वह या तो कहो अध्यारोप सिद्धान्तसे श्रुतिसे सिद्ध है या तो कहो बिना सोचे-विचार तुमने जैसे अपनेको देह माना था, वैसे बिना सोचे-विचार अपनेको जीव मान लिया।

यह कोई विचारपूर्वक मानी हुई चीज, खोजपूर्वक, अनुसन्धान पूर्वक, मानी हुई चीज नहीं है। यह तो कल्पना हो गयी है कि मैं जीव हूँ। कल्पित सिद्धान्त है कि मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ। यह संसारी आत्माका ज्ञान जब भी होता है तो श्रुतिसे। यदि इसमें कोई प्रमाण है तो श्रुति। दूरबीन नहीं, खुर्दबीन नहीं, कोई औजार नहीं, कोई कारण नहीं, हाथ नहीं, पाँव नहीं, आँख नहीं।

तो जब तुमने श्रुतिसे अपनेको जीव माना है, तो श्रुतिसे अपनेको ब्रह्म क्यों नहीं मानते? श्रुति प्रमाणसे ब्रह्मता भी सिद्ध है। यदि तुम अन्य प्रमाणसे अपनेको जीव सिद्ध करो, तो हम उस अन्य प्रमाणका खण्डन करनेके लिए उद्यत हैं।

प्रमाणसे प्रमेय विषयकी सिद्धि होती है, प्रमाणसे प्रमाताकी सिद्धि नहीं होती। प्रमाणके जो पेटमें आवेगा, सो प्रमाणसे सिद्ध होगा। जो प्रमाणके पीछे रहकर प्रमाणको प्रकाशित करता है, वह प्रमाणसे सिद्ध नहीं होगा।

इसका अर्थ हुआ कि बिना उपनिषद्के बिना वेदके अपनी अद्वितीय ब्रह्मताका ज्ञान किसी प्रकार नहीं हो सकता।

ना वेदविन्मनुते तं बृहन्तम्। अवेदवित् जो पुरुष है, वह अपनेको ब्रह्म नहीं जान सकता। आचार्यवान्पुरुषो वेद॥

आचार्याद्ध्यैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत॥ न नरेणावरेण प्रोक्त एषः सुविज्ञेयो ह्यणुरेष धर्मः॥ ब्रह्म बड़ा सूक्ष्म पदार्थ है।

अब उपनिषद्में विद्या और कर्मका मेल देखो। कर्म जो होता है वह कर्ता करता है और किसी फलकी कामनासे करता है, वासनासे करता है और देह इन्द्रियादि करणसे करता है और फिर उसका फल प्राप्त करता है।

और महाराज यह अपनेको कर्ता समझना, भोक्ता समझना, ब्राह्मण समझना,हिन्दू समझना, मनुष्य समझना—यह सब कर्मके लिए उपयोगी है। कुछन्न-कुछ समझकर तो कर्म करोगे न स्यह जो सिद्धान्त है ने, कि जो जैसा कर्म करे, वैसा वर्ण उसका—जो सिपाहीका काम करे वह सिपाही, बोले— नहीं, जो सिपाही हो वह सिपाहीका काम करे।

आप देखो इसमें फर्क क्या पड़ा! पहले पुलिसमें भर्ती हो जाओ, सिपाही बन जाओ, तब चौराहेपर खड़े होकरके यातायातका नियन्त्रण करो। और सिपाही हुए बिना अगर नियन्त्रण करोगे तो कोई नहीं भी मानेगा और कोई रोकनेके अपराधमें पकड़के पुलिसको भी दे देगा। मनुष्य प्रधान है और धर्म उसमें आरोपित है।

इसी प्रकार चैतन्य प्रधान है और धर्म उसमें अध्यारोपित है।

रूसमें अर्थ प्रधान है मनुष्य गौण है। और, भारतत्र्षमें मनुष्य प्रधान है और अर्थ गौण है।

तो हमारे महात्माओंने मनुष्यके अनुसार धर्माधर्मका विभाग किया। धर्माधर्म-अनुष्ठानके अनुसार मनुष्यको नहीं बाँटा। मनुष्यके अनुसार धर्मा-धर्मको बाँटा। वर्णके अनुसार धर्म होता है, धर्मके अनुसार वर्ण नहीं होता, आश्रमके अनुसार धर्म होता है, धर्मके अनुसार आश्रम नहीं होता। इसीको अधिकारी भेद बोलते हैं। मनुष्य प्रधान है। चैतन्यकी प्रधानता है।

'मैं पूर्वजन्मका पापी हूँ कि पुण्यात्मा हूँ या कि इस जन्ममें पापी हूँ कि पुण्यात्मा हूँ या आगे पापी होऊँगा कि पुण्यात्मा होऊँगा'—यह बात क्या आप अपनी आँखसे देख सकते हो? नाकसे सूँघ सकते हो? जीभसे चाट सकते हो? त्वचासे छू सकते हो? अच्छा, मनसे बिना किसी आधारके ही कल्पना कर सकते हो? इसीसे बोलते हैं—वेदैकवेद्य। इसको बोलते हैं—'श्रुत्यैकसमाधिगम्य' एक मात्र वेदसे ही यह बात मालूम पड़ती है।

तो जब वेद ही अपनेको ब्रह्म बताता है तो यह बात कहनी पड़ेगी न, कि किस दृष्टिसे हमको ब्राह्मण कहा जाता है, किस दृष्टिसे हमको संन्यासी कहा जाता है।

देखो, एक व्यक्ति बैठा है तुम्हारे सामने यह वर्णसे ब्राह्मण है और आश्रमेण संन्यासी है और सम्प्रदायेन हिन्दू है और जात्या मनुष्य है और स्वरूपसे ब्रह्म है।

एक साथ ही यह वर्णसे ब्राह्मण है, आश्रमसे संन्यासी है, सम्प्रदायसे

हिन्दू है, जातिसे मनुष्य है और धर्माधर्मकी दृष्टिसे लांग इसकां जीव समझते हैं और यह अपनी दृष्टिसे ब्रह्म है। और ब्रह्म भी ऐसा कि अपनी दृष्टिसे बिलकुल अद्वितीय। ब्रह्म भी ऐसा जिसमें दूसरा कोई जीव नहीं, दूसरा कोई जगत् नहीं, दूसरा कोई ईश्वर नहीं—ऐसा अद्वितीय असंग ब्रह्म।

अब बताओ यह ब्रह्मता किस प्रमाणसे सिद्ध है ? तुमको जीवता किस प्रमाणसे सिद्ध है ? तुमने जीव कभी देखा है ? किसी मरनेवालेको मरते तुमने देखा है ? अरे देह देखा है बाबा! जब मर गया आदमी, तब उसका जो पड़ा रह गया देह, वह देखा है ! सार-सार तो निकल गया, निस्सारको देखा है । मुर्देको देखा है, तुमने आदमीको कहाँ देखा है ? इस जीवको कहाँ देखा ?

तो देखो; यह बात है कि कर्म जो होता है वह श्रद्धाकी प्रधानतासे होता है। कर्ता उसको करता है, कर्तापनेका अभिमान होता है और उसमें वासना होती है, उसका फल पैदा होता है और उसका भोक्ता होता है।

और यह जो ब्रह्मविद्या होती है, यह श्रद्धाकी प्रधानतासे नहीं, वेदार्थकी प्रधानतासे, प्रमाणकी प्रधानतासे होती है। और उसमें कोई कर्ता नहीं होता है। उसमें वासना नहीं होती है। उसमें भोक्तापन नहीं होता है। उसमें मरनेके बाद फल नहीं होता है। इसमें मन पसन्द भगवान् नहीं मिलता है। इसमें तो जो अपना नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा है, अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर जो है; सो है।

अविद्याकी निवृत्ति क्या है ? निवृत्ति अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती। अत: अविद्याकी निवृत्ति ही ब्रह्म है।

अब अगर आपको यह बात बतानेकी युक्ति ज्यादा समझमें न आवे, तो जैसे अपनेको बिना जाने, बिना सोचे, बिना समझे, बिना प्रमाणके जीव मान रखा है न, वैसे यह बिना सोचे, बिना समझे, बिना प्रमाणके यदि अपनेको ब्रह्म मान बैठें (तो भी कल्याण ही होगा)। जैसे कल्पित रूपसे उसने अपनेको जीव माना है और मर रहा है, दु:खी-सुखी हो रहा है, वैसे यदि कल्पित रूपसे भी कोई अपनेको ब्रह्म मान ले, तो यह उसकी उपासना हो जायेगी और यह उपासना उसको भवसागरसे तार देगी।

अप्यसत् प्राप्यतेध्यानात् नित्या तु ब्रह्मता पुनः । अहं ब्रह्मास्मि । शिवोऽहम् ।

और यदि उपनिषद्के अनुसार, वेदके अनुसार उसने अपनेको जीव माना है, तो (वेदके अनुसार ही) श्रवण-मनन-निद्धिध्यासन करके, सम्पूर्ण श्रुतियोंका तात्पर्य जीवकी ब्रह्मताके प्रतिपादनमें है—इस बातको जानो और मुक्त हो जाओ।

इसीको पराविद्या कहते हैं।

देखो, यदि तुम अपनेको 'यहाँ' मानोगे और 'वहाँ की चीज जानोगे, तो उसको पकड़नेके लिए जाना पड़ेगा। और 'अब' तुम हो और 'तब की चीज जानोगे, तो उसको पानेके लिए इन्तजार करना पड़ेगा। आगे होगी तो और पीछे होगी तो ध्यान करना पड़ेगा। और, यदि तुम कहोगे कि मैं 'यह' हूँ और ब्रह्म 'वह' है तो उस ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए उसकी भक्ति, उसका ध्यान करना पड़ेगा।

और जब यह ज्ञान होता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, तो न तो उसके लिए एक कदम चलना पड़ता है, न इन्तजार करना पड़ती है, न याद करना पड़ता है, न उसको पकड़ना पड़ता है, न ध्यान करना पड़ता है, न उपासना करनी पड़ती। वहाँ तो ज्ञानमात्रसे ही कृतकृत्यता हो जाती है। इसीका नाम होता है पराविद्या ब्रह्मविद्या। 'ज्ञान' ही जहाँ प्राप्ति है।

दूसरोंके बारेमें जानोगे, तो जानकर पाना पड़ेगा और अपने बारेमें जानोगे तो जानकर पाना नहीं पड़ेगा, वह तो मिला-मिलाया है। उसका नाम है पराविद्या।

यया तदक्षरमधिगम्यते।

इसीसे यहाँ 'अधिगम' शब्दका क्या अर्थ है ? बोले—प्राप्ति। जहाँ कि अक्षर विषयक जो अविद्या है, उस अविद्याकी निवृत्ति ही यहाँ प्राप्ति है।

निवृत्ति अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती। अविद्याकी जो निवृत्ति होती है, जैसे सेर भर मिट्टीसे आपने घड़ा बनाया, एक सेर मिट्टी तौल ली और उससे घड़ा बना लिया। पाँच तोला सोना तौल लिया और उससे जेवर बना लिया। सेर भर पानी तौल लिया और उसका बर्फ बना लिया। अब जब उस जेवरकी शकल तोड़ी गयी, वह घड़ा तोड़ा गया, तो जेवरको सोना या घड़ेको मिट्टी बननिक लिए जैवर या घड़ेको तोड़नेक सिवाय कोई दूसरा प्रयास करना

पड़ेगा क्या? घड़ेको मिट्टी बनानेके लिए, घड़ेको तोड़नेके सिवाय दूसरा और कोई प्रयास नहीं करना है। असलमें वह मिट्टी जब घड़ा है तब भी मिट्टी है। इसको मिट्टी समझनेके सिवाय कोई दूसरा प्रयास नहीं करना है। ज़ेवरको सोना समझनेके सिवाय दूसरा कोई प्रयास नहीं करना है। बर्फको पानी समझनेके लिए दूसरा कोई प्रयास नहीं करना है।

इसी प्रकार अपनेको और सम्पूर्ण विश्वको ब्रह्म समझनेके लिए, ब्रह्मको जाननेके सिवाय दूसरा कोई प्रयास अपेक्षित नहीं है।

तो घट-आकारका अपवाद करके देखो तो मिट्टी है, जेवर-आकारका अपवाद करके देखो तो सोना है और संसारमें जो नाम-रूप मालूम पड़ता है उसका अपवाद करके देखो तो यह ब्रह्म है। क्योंकि स्वयं प्रकाश अक्षर ब्रह्ममें प्रमाणका काम केवल अविद्याकी निवृत्ति है। अविद्याकी निवृत्ति स्वयं अधिष्ठान स्वरूप है, इसमें अर्थान्तर नहीं है। वह प्राप्त करनेवालेका आत्मा है। क्योंकि आत्मा और ब्रह्ममें जो भेद मालूम पड़ता है वह केवल अविद्याके कारण मालूम पड़ता है। इसलिए शंकराचार्य भगवान्ने बड़ा बढ़िया लिखा—

> अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात्। न च परप्राप्तेरवगमार्थस्य भेदोऽस्ति। अविद्याया अपाय एव ही परप्राप्तिनार्थान्तरम्।

अधिगम और प्राप्तिमें कोई भेद नहीं है। अविद्याका नाश ही परमात्मा की प्राप्ति है। परमात्माकी प्राप्ति नामकी चीज और कुछ नहीं। लोगोंकी कल्पना हो जाती है। शंकराचार्य भगवान् क्या बढ़िया बोलते हैं—

निह मोक्षदशायां विज्ञानान्तरमानन्दान्तरं वा उत्पद्यते।

बृहदारण्यकके भाष्यमें बोलते हैं शंकराचार्य कि मोक्षदशामें कोई नया विज्ञान उत्पन्न नहीं होता, कोई नया आनन्द भी उत्पन्न नहीं होता।

अरे जो तुम जाननेवाले हो, सत् हो, और जो तुम अपने परम प्रिय हो, सो ही तो हो।

देखो; दूसरेकी प्रियता उत्पन्न करनी पड़ती है कि यह हमारा प्यारा। अपनेमें तो प्यार स्वयं है, इसमें क्या प्रियता उत्पन्न करनी पड़ेगी? और उसको मैंने जाना। और अपनेमें? कि जाननेवाला तो खुद ही है। इसमें क्या ज्ञान उत्पन्न करना पड़ेगा?

इसलिए परा विद्या विशेष है।

अब आओ आपको अविद्याकी निवृत्ति कैसे जानना—यह रीति बताते हैं।

अभी थोड़े दिन पहले एक शास्त्रार्थ हुआ। आकर हरद्वारमें ऋषिकेशके मध्वाचार्य महाराज हैं उन्होंने पर्चे छापाकर बाँट दिये। पर्चे बाँट दिये कि यह अद्वैत सिद्धान्त जो है यह आसुर सिद्धान्त है। अब ऋषिकेश, हरिद्वार तो संन्यासियोंका गढ़ और मध्वाचार्यने ऐसा पर्चा बाँट दिया। तो संन्यासी लोग जुटे, यह हुआ कि शास्त्रार्थ होगा। अब यह हुआ कि शास्त्रार्थ करे कौन! तो संन्यासियोंकी ओरसे करपात्रीजी महाराजसे प्रार्थना की गयी कि आप ही शास्त्रार्थ करो। तो बोले—क्या बात है, हम कर लेंगे। वह मध्वाचार्य हैं। कोई छोटा-मोटा होता, तो किसी विद्यार्थीको लगा देते, खास मध्वाचार्य हैं। तो मध्वाचार्यने पूछा कि यह जो अविद्याकी निवृत्ति होती है यह ब्रह्मके सविकल्प ज्ञानसे होती है कि निर्विकल्प ज्ञानसे होती है?

निर्विकल्प ज्ञानमें तो अविद्याकी निवृत्तिका सामर्थ्य नहीं है और सिवकल्प ज्ञान यदि अविद्याकी निवृत्ति करे भी, तो वह तो स्वयं सिवकल्प है, द्वैतकी निवृत्ति नहीं होगी। अब बताओ यह जो अज्ञानको मिटानेवाला ज्ञान है, यह सिवकल्प है कि निर्विकल्प है?

करपात्रीजी महाराजने बिलकुल बमगोला ही फेंक दिया। बोले— ठूँठका जो ज्ञान होता है, उससे उसमें आरोपित जो भूत है उसकी निवृत्ति हो जाती है। रज्जुके ज्ञानसे सर्पकी निवृत्ति हो जाती है, सीपके ज्ञानसे चाँदीकी निवृत्ति हो जाती है। तो अधिष्ठानके यथार्थ स्वरूपका जो ज्ञान है वह भले सिवकल्प होवे, भले निर्विकल्प होवे, उसमें सिवकल्प-निर्विकल्पका सवाल नहीं है, यह कोई समाधि नहीं है और यह कोई प्रमेय विषयक ज्ञान नहीं है। यह तो जहाँ अधिष्ठानकी यथार्थताका ज्ञान हुआ, वही अध्यस्त वस्तु जो है वह निवृत्त हुई। इसमें सिवकल्प-निर्विकल्प क्या होता है? अधिष्ठान याथात्म्यका जो बोध है वही सिवकल्प-निर्विकल्पका निवर्तक है। तो बोले—देखो, असलमें यह 'मैं' जो हमलोगोंने देहमें घुसा दिया है न, यह घुसा हुआ है बिलकुल, देहमें मैं है नहीं। क्योंकि 'मैं देह हूँ'—ऐसी भ्रान्ति किसीको नहीं होती। आपको बिलकुल चुनौती देकर बोलते हैं भला! 'मैं मनुष्य हूँ'—यह भ्रान्ति होती है। 'मैं हिन्दू हूँ'—यह भ्रान्ति होती है। 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह भ्रान्ति होती है। 'मैं मुसलमान हूँ'—यह भ्रान्ति होती है।

कोई कहे कि मैं यह हड्डी-मांस-चाम हूँ, तो उसको तो मान्यता बनाकर कहना पड़ेगा। वह तो जैसे यह कहेगा कि यह बेटा नहीं, मेरा प्राण है, तो बेटेको जब अपना प्राण कहते हैं तो बनाकर बोलते हैं कि सच्चा बोलते हैं? जानते हैं कि बेटा हमसे जुदा है, वह दूसरे पलंगपर सोता है, हम दूसरे पलंगपर सोते हैं, हमारा खाना उसका नहीं, उसका खाना हमारा नहीं, हमारे खानेसे उसका पेट नहीं भरता, उसके खानेसे हमारा पेट नहीं भरता। जानते हैं कि बेटा अलग हम अलग। फिर भी बोले—अरे भाई हम और ये तो एक ही हैं। यह 'मित्र-मित्र एक' जैसे बोला जाता है न, ऐसे ही इस देहको जब मैं बोला जाता है, तो यह जानते हुए कि यह हड्डी है, मांस है, विष्ठा है, मूत्र है, इसमें खून है, पीव है। इसको मैं बोलना किसी प्रमाणसे सिद्ध थोड़े ही है। यह तो बिना सोचे-विचारे बोलते हैं।

श्री मधुसूदन सरस्वतीने—न भूमिनंतेजो....इस श्लोककी व्याख्या की है जो 'सिद्धान्त-बिन्दु के नामसे प्रसिद्ध है। श्री शंकराचार्यजी महाराजका श्लोक है, दश-श्लोकी बोलते हैं उसको। दश श्लोक हैं उनकी व्याख्याके। साफ उसमें बताया कि देखों 'मैं हिन्दू हूँ' तो हिन्दुपना भी अपनेमें किस प्रमाणसे सिद्ध है! मनुष्यपना किस प्रमाणसे सिद्ध है? कैसे माना अपनेको? बोले—बिना सोचे मान लिया। तो ऐसे ही तुमने अपनेको बिना सोचे ही जीव माना है। बिना सोचे ही अपनेको पापी-पुण्यात्मा माना है।

यह जो सुखी-दु:खी मानते हैं न रोज, दिनभरमें पच्चीस दफे, वह क्या सोच-विचारके अपनेको सुखी मानते हो? सोच-विचारके दु:खी मानते हो? यह अज्ञानसे सिद्ध है।

तो इसकी निवृत्ति कैसे होगी? कि ज्ञानसे होगी। कि किसके ज्ञानसे होगी? तो अक्षरतत्त्वके ज्ञानसे होगी। अद्रेश्यं अग्राह्यं अगोत्रं अवर्णं अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।

अब अपनेको ढूँढ़ो, कैसा है यह आत्मा! कैसा है यह अक्षर! कैसा है यह ब्रह्म!

बोले—अद्रेश्य है माने अदृश्य है। माने ज्ञान-इन्द्रियके द्वारा यह नहीं देखा जाता।

दृश्य उसको कहते हैं जो ज्ञानेन्द्रियसे देखा जाये। ज्ञानेन्द्रिय पाँच हैं। सात छेद ऊपर हैं। दो कानके, दो आँखके, दो नाकके और एक मुँहका—ये सात छेद हैं न! और, यह गालोंपर त्वचा है, बाल बनवालेके बाद छूनेमें अच्छा लगता है। यह स्पर्श बोलते हैं, यह स्पर्शेन्द्रिय है। त्वचा।

यह पाँच देखो—आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा—सब इकट्ठे ही तो हैं। तो इनके द्वारा जो चीज देखी जाती है वह आत्मा नहीं है। वह तुम नहीं हो। देखनेवाले तुम हो, देखी जानेवाली चीज तुम नहीं हो—अदृश्यम्।

अब है अग्राह्यम्।

अब दूसरा लो, कि पाँवसे चलकर जाते हैं, हाथसे पकड़ते हैं, मुँहसे बोलते हैं, और पेशाब-टट्टी निकलती है। तो टट्टी-पेशाब निकलनेके दरवाजे और पकड़नेका हाथ, चलनेका पाँव, बोलनेकी जीभ—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनसे वस्तुका आदान होता है।

अच्छा, आपको यहीं यह भेद बता दें कि कर्मेन्द्रिय प्रमाण नहीं होती। प्रमाण हमेशा ज्ञानेन्द्रिय होती है।

बोले—हमें तो पाँवसे मालूम हुआ! कि पाँवसे नहीं मालूम हुआ, पाँवमें जो त्वचा है उससे मालूम हुआ कि गीली चीज है कि सख्त चीज है। पत्थरका दुकड़ा पाँवके नीचे आया, कि काँटा आया, कि शीशा आया। यह बात पाँवसे नहीं मालूम पड़ती है।

तो प्रमाण किसको कहते हैं ? कि जिससे चीज मालूम पड़े।

अब देखो, आप कश्मीर देखते हैं, स्विटजरलैंड देखते हैं। बोले—कैसे देखते हैं? कि आँखसे। तो आँख प्रमाण हुई, आँखसे सिद्ध हुआ कि यह कश्मीर है और पाँव? कि चलकर ले जाता है।

वह फूल दिख रहा है, बहुत बढ़िया फूल है भाई, जरा पास चलकर

देखें। तो आँखकी मदद किया पाँवने। पाँवने आँखके दृश्यके पास पहुँचा दिया। बोले—अरे इधर आग लगी है, भागो। तो पाँव भाग लिया। तो यह कर्मेन्द्रिय जो हैं, ये नौकर हैं। यह जैसे पालकी ढोनेवाले कहार होते हैं न, वैसे ये कर्मेन्द्रिय हैं। गिलासमें पानी लानेका नौकर हाथ है और कंधेपर उठाकर कहीं पहुँचा देनेका नौकर पाँव है। और घरकी गंदगी दूर करनेके लिए जैसे भंगी होता है न, वैसे ये नीचेवाली इन्द्रियाँ गन्दगी दूर करनेके लिए भंगी हैं। यह शरीरमें यह बात है।

तो इन कर्मेन्द्रियोंसे भी परमात्मां पकड़ा नहीं जाता, ये प्रमाण नहीं हैं। अग्राह्यम्।

पहले, कर्म प्रमाण नहीं होता, इस बातको भी समझ लो। कर्म उपासना और योग प्रमाण नहीं होता। समाधि भी प्रमाण नहीं होती। प्रमाण वह होती है जहाँ हृदयमें वृत्ति उदय होकर किसी वस्तुके यथार्थ रूपको ग्रहण करती है। प्रमाण ज्ञान होता है। कितना भी कर्म करो। घरमें समझो हल्वा पकाने लग गये, आँखपर पट्टी बाँध लो और उसको छूओ मत और चलाते रहो, आपको पता लग जायेगा कि पक गया कि नहीं? हाथसे पता नहीं लगेगा, पाँवसे पता नहीं लगेगा, जीभ लगाओ तब भी पता नहीं लगेगा कि अभी पका है कि नहीं? (पर गन्धसे पता लग जायेगा) तो किसी वस्तुके पक्की या कच्ची होनेमें ज्ञानेन्द्रियाँ प्रमाण होती हैं, कर्मेन्द्रियाँ प्रमाण नहीं होती। वस्तुकी उपलब्धि ज्ञानेन्द्रियसे होती है, वस्तुकी उपलब्धि कर्मेन्द्रियसे नहीं होती।

वह तो आँख कहती है फूलसे आओ, तो हाथने फूल तोड़कर आँखके सामने पहुँचा दिया कि देख लो, नाकके सामने पहुँचा दिया कि सूँघ लो, त्वचाके सामने पहुँचा दिया कि छू लो। हाथ नौकर है। नौकर माने करो न भवति, कर इव भवति। नो कर:। नो माने नहीं, कर माने हाथ। नौकर हाथ तो नहीं है, परन्तु हाथका सब काम करता है इसलिए यह हाथ नौकर है।

यह कर क्या है। करोति। बोले—फल तोड़कर ले आया। अब हाथसे पूछो क्या स्वाद है? पाँवसे पूछो क्या स्वाद है? बोले—बाबा हम मालिकके लिए लाये हैं, हम तो नौकर हैं, हमको इसके स्वादका पता नहीं है। जीभने

तुरन्त बताया स्वाद। यह स्वाद बतानेका नौकर जीभ है और फल तोड़कर लानेका नौकर हाथ है। लानेवाला नौकर हाथ और स्वाद बतानेवाला नौकर जीभ। यह भी नौकर है, इन्द्रिय है। इन्द्रिय होना माने नौकर होना।

तो प्रमाण ज्ञानेन्द्रिय होती है, कर्मेन्द्रिय प्रमाण नहीं होती। जैसे समझो आपके सामने कृष्ण भगवान् प्रकट हुए—मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर। आप कैसे पहचानोगे कि ये कृष्ण हैं? जीभसे पहचानोगे? बोलकर पहचान लोगे? पकड़कर पहचान लोगे?

पकड़कर पहचानोंगे तो माने त्वचासे पहचानोंगे हाथसे नहीं, ज्ञानेन्द्रियसे पहचानोंगे। जबतक ज्ञान नहीं होगा कि ये कृष्ण हैं, तबतक तुम्हें कृष्णकी प्राप्ति हुई? पहचानोंगे तब न कृष्णकी प्राप्ति होगी। वैसे तो कृष्ण कितनी बार आते हैं, जाते हैं, मिल-जुल जाते हैं; लोग पहचानते नहीं हैं। जब पहचान लेते हैं कि ये कृष्ण हैं, तब मिल जाते हैं। तो भगवान्की प्राप्ति बिना ज्ञानके कैसे होगी? जबतक आत्माको ब्रह्मके रूपमें नहीं जानोंगे, तबतक कैसे प्राप्ति होगी? लेकिन ज्ञानेन्द्रियोंसे तो बाहरकी चीजें जानी जाती हैं, वे आत्मा नहीं हैं। कर्मेन्द्रियोंसे जो बाहरकी चीजें पकड़ी जाती हैं, वे आत्मा नहीं हैं।

तो अग्राह्मम् माने कर्मेन्द्रियसे अग्राह्म और अद्रेश्यम् माने ज्ञानेन्द्रियोंसे अदृश्य।

अब बोले—अगोत्रम्—गोत्र नहीं है। वंशके मूलमें जो महापुरुष होता है, उससे गोत्र चलता है। जैसे विसष्ठ गोत्र, गर्ग गोत्र, गौतम गोत्र, शाण्डिल्य गोत्र। हमारे सरयूपारीणोंमें ऐसा मानते हैं कि गर्ग, गौतम, शाण्डिल्य गोत्रका कोई होवे तो कहते हैं ये तीन श्रेष्ठ हैं। फिर ये तेरह गोत्र हैं। फिर उसके बाद चलते हैं, ऐसे गिनती होती है, इसको गोत्र बोलते हैं। तो सबका कोई-न-कोई गोत्र है। सबका वंश कहीं-न-कहींसे चला है।

ेपा भी वर्णन आता है कि यजमानका और पुरोहितका गोत्र एक होना चाहिए, तब यह अपने गोत्रका कर्मकांड ठीकसे करायेगा। फिर बोले कि अच्छा, गोत्र एक न होवे तो कोई बात नहीं, लेकिन शाखा जरूर एक होना चाहिए। नहीं तो मंत्र दूसरी शाखाका याद करके रखो। अब जब पुरोहित यजमानकी शाखाका नहीं होवेगा तो वह अपनी शाखाके अनुसार पाठ करावेगा। तो पुरोहित यजमानकी शाखा एक होनी चाहिए।

तो अब 'अगोत्रम्'। समझो कि यह जो परमात्मा है इसका क्या गोत्र है! अच्छा, यदि किसी मनुष्यको ही अपने गोत्रका पता न हो तो क्या करे? कि उसके लिए विधान है शास्त्रमें।

अज्ञात गोत्रं सर्वेषां कश्यपगोत्रत्वं।

जिनके गोत्रका पता नहीं है उनको कश्यप गोत्रका मानना; क्योंकि कश्यप वंशमें तो दिति-अदिति—दैत्य-देवता-मानव—सब कश्यप गोत्र हैं।

अब बोले—भाई हो परमात्मा! तुम्हारा गोत्र क्या है? वह आपने सुना होगा, शंकरजीका जब ब्याह हुआ न, तब गोत्रोच्चार हुआ। तो पंडितने पूछा—शंकरजी! तुम्हारी ओरसे तो कोई दिखता नहीं है, जरा अपने पिताका नाम बता दो। बोले—ब्रह्मा! तो पूछा—ब्रह्माके बापका नाम? बोले—विष्णु!! बोले—विष्णुके बापका नाम बताओ। तो शंकरजीने कहा—मैं हूँ विष्णुका बाप!!! लो।

अब क्या हुआ? कि अगोत्रं। इसका अभिप्राय हुआ कि परमात्माके गोत्रमें कोई (परमात्मासे पूर्वमें) पुरुष होवे और वहाँसे वंश चले और चलते—चलते, अन्वय होवे। गोत्र माने अन्वय—जिसकी अन्वित होवे, जैसे वयं भारद्वाजः। हमारे बाप भी भारद्वाज. हमारे दादा भी भारद्वाज, हमारे परदादा भी भारद्वाज। तो एक ऋषिका ऐसा नाम होवे, जो हमारे वंशमें चला आता हो। अब यह परमात्माके तो वंश ही नहीं कोई पूर्वज ही नहीं, तो गोत्र कहाँसे आवेगा? तो अगोत्रम्। अनन्वित, अनुपादान; उसका अर्थ होता है अनुपादान। परमात्माका कोई उपादान कारण नहीं है।

जैसे घड़ा मिट्टीसे बनता है, वैसे परमात्मा किस मसालेसे बना ? बोले— परमात्माको बनानेवाला दूसरा मसाला नहीं है।

तुम्हारा जेवर किससे बना? कि सोनेसे। बोले—परमात्मा किससे बना? किस मसालेसे बना? बोले—यह परमात्माको बनानेवाला कोई दूसरा सोना नहीं है। कोई दूसरा माटी नहीं है। यह बात अगोत्रम् कहकर कही गयी। अच्छा, तुम अपने आत्माको जानना चाहते हो? तो पहले जो आँख कान- नाकसे मालूम पड़ता है उसको छोड़ो। जो हाथ पाँवसे मिलता है; उसको छोड़ो और जिसमें अन्वित और अन्वयका अभाव है, व्याप्य व्यापकताका अभाव है उसको भी छोड़ो—अपूर्वम्, अनपरम्, अबाह्मम् अचक्षुः अश्रोत्रम्।

अच्छा, परमात्माका वर्णन कौन-सा है, बताओ। 'वर्ण' शब्दका कई अर्थ है। वर्ण माने ब्राह्मणादि वर्ण। परमात्मा ब्राह्मणवर्ण है कि क्षत्रिय है, कि 'वैश्य है, कि शूद्र है!

ये तो आपसमें लड़ते हैं पट्टे कि मैं ब्राह्मण, तू शूद्र! आपको क्या बतावें! आजकी दुनिया तो दूसरी है न! हमारे गाँवमें कुछ ऐसी जातिके लोग रहते हैं जो जनेऊ नहीं पहनते, काले-काले हैं। रंगमें भी काले होते हैं। खेतीका काम करते हैं। तो उनको पहले हमारे बाप-दादोंके जमानेमें हमारे घरमें भोजन नहीं कराते थे। तो जब हमारा समय आया तो काम तो बहुत करते थे, लड़कीकी शादी हो तो दिनभर काम करें और खायें बिलकुल नहीं, तो बुरा लगे। तो हमने उनसे कहा, तुम हमारे घर भोजन करो। देखो, हमलोग ब्राह्मण हैं, यज्ञोपवीती हैं, संस्कार सम्पन्न हैं, तुमसे बहुत अच्छे हैं, हमारे घर खाते क्यों नहीं?

तो बोले-महाराज, आपका अन्न हमको कैसे पचेगा?

अपनेको श्रेष्ठ समझते थे और नहीं खाते थे हमारे घर। श्रेष्ठता क्या? बोले—आपलोग दान लेते हैं, प्रतिग्रह लेते हैं, सामर्थ्यवान हैं, देवता हैं, आपको दानका द्रव्य पच जाता है। हम आपके घरका खायेंगे तो पचेगा नहीं।

देखो, यह धारणा उनकी थी। अपनेको निकृष्ट समझकर हमारे घरका न खाते हों—सो बात नहीं, अपनेमें उनको उत्कृष्टताका बोध होता था हमारे घरमें न खानेसे।

यह आपको एक बात बतायी। यह नहीं समझना कि शूद्र होंगे। यह तो नेता लोगोंने उनके चित्तमें हीनताका भाव उत्पन्न किया है, उनके चित्तमें तो बड़ी उत्कृष्टताका भाव था। बोले— क्षत्रिय हथियारसे अपनी जीविका चलाते हैं; बन्दूक चलाते हैं रामराम! और ये बनिए तो दूसरोंका धन मारते रहते हैं इसितिए हम किसीके घर नहीं खाते। उस जातिका नाम 'बिंद' है। 'बिंद' बोलते हैं अपनेको। शास्त्रमें कुर्विदके नामसे उनका वर्णन आता है, वे लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके घरका नहीं खाते।

तो यह वर्ण विभाग जो है न, आपको क्या सुनावें! 'भगवान् कौन वर्ण है?' आपलोग यह नहीं समझना कि ब्राह्मण या क्षत्रियोंका बेटा है ईश्वर! उसको ग्वाल बननेमें कोई हिचक नहीं है। उसके बारेमें आप सोच लो कि सब वर्णमें वह है। तो अवर्ण। पहले वह सम्पूर्ण वर्णोंसे बाहर होकर, फिर सब वर्णोंमें घुसा हुआ है। अगर एक वर्ण होता न, तो उसका भी एक वर्ण होता। पर वह है—अवर्णम्।

अचक्षु अश्रोत्रम्। अब देखो बताते हैं कि भगवान्को देखनेके लिए आँख और कान और चलने, पकड़नेके लिए पाणि और पाद। तो देखो, पहले बताया कि दृश्य नहीं है और ग्राह्य नहीं है और अब बताते हैं कि दृश्य देखनेका जो औजार है आँख-कान आदि, वह ज्ञानेन्द्रिय भी परमात्मामें नहीं है और तदपाणिपादम्—ग्रहण करनेके जो औजार हैं—पाणिपाद—जो करण हैं वे भी नहीं हैं। न ग्राह्य है, न ग्रहणका साधन है। न गृहीता है। न ज्ञेय है। न ज्ञानका साधन प्रमाण है और न तो ज्ञाता है। यह ऐसा असंग है। तदपणिपादम् नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं......

अब यह आपको कल सुनावेंगे!



प्रवचन: 4 मन्त्र-6

अक्षर तत्त्व

नारायण! अविद्यासे किल्पत जो ये विषय हैं, उनका वर्णन करती है अपराविद्या। अविद्यासे किल्पत विषय। जैसे तुमने अपने स्वरूपको न जानकर अपनेको कर्ता मान िलया, तो वेदने कहा—ठीक है जब तुम अपनेको कर्ता मानते हो तो तुम कर्ता हो। तो तुम जो कर्म करते हो उसका तुमको फल मिलेगा। अगर इस शरीरसे भोगने लायक होगा तो इस शरीरसे मिलेगा, नहीं तो कुछ नरकमें मिलेगा, कुछ स्वर्गमें मिलेगा। तुम हो कर्ता, तुमने अपनेको अविद्यासे कर्ता किल्पत किया तो कर्म और कर्मफल, दो चीज अपराविद्यामें और कल्पना कर दी।

अब बोले—भाई! हमको तो बहुत भोग चाहिए। (वेदने कहा—ठीक है) भोग चाहिए तुमको तो यज्ञ करो। यज्ञ करोगे तो तुमको स्वर्ग मिलेगा। तो अविद्यासे कल्पित जो अपनेमें भोकृत्व है और अविद्यासे कल्पित जो स्वर्गादि रूप भोग है, उसकी प्राप्तिके लिए यज्ञका विधान, कर्मका विधान श्रुति करती है। तो इसमें यज्ञ करना पड़ेगा। और उसका फल बादमें मिलेगा।

लेकिन; यह जो परा विद्या है, यह किल्पत विषयका वर्णन नहीं करती, अकिल्पत सत्यका वर्णन करती है और उसका जो फल है वह करनेके बाद नहीं, इसी जन्ममें होता है। दृष्टफल—अरे, बस परा विद्याकी उत्पत्ति हुई और उसका फल मिला माने अविद्या मिटी पापीपना, पुण्यात्मापना उसी समय मिटा। जिस समय तुम अपनेको ब्रह्म जानोगे, उसी समयपर जन्म-जन्मसे माना हुआ जो अपना पापीपना और पुण्यात्मापना है वह अभिमान तुरन्त मिट

जायेगा। अपनेको पापी मानकर दीन हीन बनते हो, और अपनेको पुण्यात्मा मानकर अभिमान करते हो कि हम दृसरेसे बड़े हैं। यह भी तो पाप ही है न! जब सब ब्रह्म है तो किसीको अपनेसे छोटा समझना और अपनेको बड़ा समझना—यह क्या पाप नहीं है?

बोले—अब हमको कहाँ जन्म लेकर जाना पड़ेगा? नरकमें जायेंगे कि स्वर्गमें जायेंगे? आगे क्या होगा? यह जो अन्धेरा है न आगे! तब तो मालूम पडता है कि मरनेके बाद किस अन्धेरेमें जायेंगे—

न साम्परायः प्रतिभाति बालम्।

ये जो बच्चे लोग हैं, इनको यह बात नहीं मालूम पड़ती कि मरनेके बाद क्या होगा?

देखो, इतनी साधी बात इसके सम्बन्धमें शास्त्रमें है कि यदि आपको सुना दें तो आश्चर्य होगा। जो लोग जानते हैं उनको तो आश्चर्य नहीं होगा पर जो नहीं जानते हैं उनको आश्चर्य होगा—मरनेके बाद क्या है ?

बोले—जो कुछ मरनेके पहले है वही मरनेके बाद है। अगर मरनेके पहले तुम पापी हो तो मरनेके बाद भी तुम पापी हो और मरनेके पहले पुण्यात्मा हो तो मरनेके बाद भी पुण्यात्मा हो और मरनेके पहले कामी हो तो मरनेके बाद भी कामी हो और, मरनेके पहले अगर मुक्त हो तो? तो मरनेके बाद भी मुक्त हो। यह अपने मैंके साथ जो चीज भी तुमने अज्ञानसे जोड़ रखी है, अगर ज्ञानके द्वारा इन सारी स्वीकृतियोंको तुम काट दो तो न 'मैं भें बन्धन है न मोक्ष है। अज्ञानसे तुमने अपनेमें बन्धन स्वीकार किया और ज्ञानसे अपनेको मुक्त स्वीकार किया न तुममें बन्धन है न मुक्ति और न ज्ञान है न अज्ञान।

नारायण! बड़ी विचित्र रीति है इसकी। इसीलिए जब अर्थ, धर्म, कामकी वासना छोड़कर, सद्गुरुकी शरणमें जाकर वेदार्थ समझते हैं (तभी यह ज्ञान होता है)।

एक महात्माके पास मैं गया, तो उन्होंने कहा—देखो अबतक. जो तुम्हारी मान्यताएँ रही हैं, उनको छोड़नेके लिए तुम तैयार हो कि नहीं! क्योंकि तुमने ब्रह्मको जानकर अपनी कोई मान्यता नहीं बनायी है। तुम्हारी धर्मके

सम्बन्धमें मान्यता है अपनी, लेकिन कह रहे हैं महाराज, सब ब्रह्म है! तो (सब ब्रह्म है—यह जानकर) यह धर्माधर्मका भेद कैसे रहेगा! जब तुमको धर्माधर्मका भेद ही रखना है तो ब्रह्मज्ञानको हाथ जोड़ो।

अरे महाराज कहीं हम नरकमें न चले जाँय।

बोले—अरे भाई, सच्चाईका ज्ञान हो जाय, तो नरक ही में रहना पड़े तो क्या बुरा है! होशमें होवें और नालीमें होंवे, तब क्या है! और बेहोश होवे और स्वर्गमें होवे तो किसी कामका नहीं। क्योंकि होशमें होंगे और पनालेमें गिरे होंवे तो कम-से-कम निकलनेकी कोशिश तो करेंगे न! होशमें रहकर नालीमें गिरना भी अच्छा है और बेहोश होकर स्वर्गमें रहना भी अच्छा नहीं है। ज्ञानसे बद्ध रहना भी अच्छा है और अज्ञानकी मुक्ति भी अच्छी नहीं। क्योंकि अज्ञान तो बड़ा भारी आवरण, बड़ा भारी पर्दा है।

सो महाराज यह परा विद्या इसी समय यथार्थ वस्तुको समझाने वाली है। इसमें कुछ करना नहीं पड़ता है, केवल अज्ञानसे ही इसका फल ढका हुआ है और सद्गुरुकी शरणमें जाकर वेदार्थ समझनेसे यह बात ध्यानमें आ जाती है। इसलिए यद्यपि अपरा विद्या भी वैदिक है और परा विद्या भी वैदिक है, लेकिन दोनोंमें बड़ा फर्क है।

तो आपको सुनाया कल, यह जो परब्रह्म परमात्मा है न, कैसा है?

अद्रेश्यं अग्राह्यं अगोत्रं अवर्णं अचक्षुः श्रोत्रं तद् अपाणिपादम्।

तो देखो; दृश्य नहीं है, इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञानेन्द्रियोंका विषय नहीं है। माने हम शब्दके रूपमें आत्माको सुन नहीं सकते, रूपके रूपमें आँखसे देख नहीं सकते, नाकसे सूँघ नहीं सकते, जीभसे उसको चख नहीं सकते—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्थवच्च यत्। 1.3.15 यह जो कठ श्रुति है न, यह सारी श्रुति 'अद्रेश्यं' में आ गयी। अग्राह्मम्। यह आपको सुनाया कि कर्म जो है यह प्रमाण नहीं होता। यह प्रमाणका मददगार होता है। जैसे आप पाँवसे कश्मीरको नहीं देख सकते, आँखसे कश्मीरको देखेंगे। तो आँखके कश्मीर पहुँचनेमें पाँव मदद कर सकता है। तो जैसे कर्मेन्द्रियाँ जानेन्द्रियको मदद करती हैं, वैसे कर्म जानकी मदद करता है। कर्ममें वस्तु उपलब्धिका सामर्थ्य नहीं है। तो इसके दो विभाग हैं—

एक प्रमाण विभाग और एक निर्माण विभाग, जैसे आप समझो कि एक इञ्जीनियर है, वह बढ़िया-से-बढ़िया आइडिया आपको मकान बनानेका दे सकता है। यह जो ज्ञान है न, वह बता सकता है। आइडिया माने ज्ञान। आप इस शब्दकी प्रकृतिपर ध्यान देंगे तो बिलकुल संस्कृतसे निकला हुआ है।

लेकिन कारीगर क्या करेगा? अरे भाई, वह तो बड़ा पत्थर उठाकर रखेगा, टाँकी चलावेगा—मारेगा, धूपमें जोड़ेगा। तो मिस्त्रीका विभाग दूसरा है और उसके बारेमें जानकारीका विभाग दूसरा है।

तो आपके शरीरमें अविद्या विभाग है कर्म (कर्मेन्द्रिय) विभाग और विद्या विभाग है ज्ञानेन्द्रिय विभाग।

तो यह जो शंकराचार्य भगवान् कहते हैं न कि कर्मसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है इसका अर्थ आप यह समझो कि कर्म जो है वह ज्ञानका मददगार है, अन्त:करणकी शुद्धिके द्वारा।

अपने ईशावस्योपनिषद्में और बृहदारण्यकोपनिषद्में विद्या-अविद्याका भेद पढ़ा न, कि देखो खाली अविद्याके चक्करमें पड़ जाओगे तो घोर अन्धकारमें जाओगे और खाली विद्याके चक्करमें पड़ जाओगे तो और घने अंधकारमें जाओगे। खाली ब्रह्मकी उपासना करोगे तो चक्करमें पड़ जाओगे और कारण ब्रह्मकी उपासना करोगे तो और चक्करमें पड़ जाओगे। इसिलए कार्यकारणसे अतीत जो ब्रह्म है, उसका ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा— यह बात हम ईशावास्योपनिषद् सरीखे छोटेसे उपनिषद्के छह मन्त्रोंमें प्राप्त करते हैं।

अकेली विद्या काम नहीं देगी, अकेली अविद्या काम नहीं देगी। दोनोंका समन्वय करके काम करोगे तो अन्त:करण शुद्ध होगा और परमात्माका ज्ञान होगा। और केवल कार्य ब्रह्मकी उपासना माने समाज सेवा- ये काम नहीं देंगे, समाधि भी लगानी पड़ेगी और केवल समाधि काम नहीं देगी काम भी करना पड़ेगा और इन दोनोंसे जो अन्त:करणकी शुद्धि होगी, वह परमात्माके ज्ञानमें साधन बनेगी।

यह परमात्मा 'अग्राह्य' है। माने कर्मका विषय नहीं है, हाथसे नहीं पकड़ सकते। 'अगोत्रं' का अर्थ है इसका कोई मूल पुरुष नहीं है। इसका कोई अन्वय नहीं है, वंश नहीं है—अगोत्रम्।

जैसे पराशर गोत्र है, शाण्डिल्य गोत्र है, गर्ग गोत्र है, भारद्वाज गोत्र है, सब वंशोंका एक मूल पुरुष है, ऐसे ब्रह्मका कोई बाप नहीं है। इसमें कौन-सी श्रुति ली? बाप होगा तो फिर बापका बाप होगा, फिर बाप-का-बाप होगा, तब तो गोत्र बनेगा न! तो बोले—नहीं—

न तस्य कश्चिद् जनिता न चाधिपः। स बाह्याभ्यान्तरो ह्यजः

आपको रामके बापका नाम याद है न, दशरथ; और कृष्णके बापका भी नाम याद होगा। थोड़ा गड़बड़ाया तो उन्होंने; परन्तु कुछ-न-कुछ तो आपको मालूम होगा। रामका बाप कौन? कि दशरथ! यहाँ भी यह बताया कि दशरथमें-से नहीं निकले वह जो चरु निकला न यज्ञमें-से उसमें-से निकले। तो चलो बाबा चरु दिया अग्निने अग्निमें-से निकला, वहाँ भी तो वंश बन गया न! अग्निका बेटा चरु और चरुमें-से राम निकले।

और कृष्णने गड़बड़ाया वसुदेव कि नन्द? लेकिन 'न तस्य कश्चिद् जिनता' यह बाप तो कल्पनासे होता है, वस्तुतः तो ईश्वरका बाप कोई होता नहीं। तो इसमें गड़बड़ पैदा कर देना यही असिलयतका सूचक है। ओर ये तो बापके भी बाप हैं। परन्तु देखो; कल्पनासे भी आपको ब्रह्मके बापका नाम मालूम है? कल्पनासे भी ब्रह्मके बापका नाम मालूम नहीं है। अविद्या निवृत्तिके अतिरिक्त स्वयं प्रकाश ब्रह्मके अनुभवका और कोई रूप नहीं है। केवल पर्दा हटा दो।

एक मन्दिर था जंगलमें शंकरजी का। बड़ा विशाल मन्दिर; परन्तु कोई पूजा करने जाये नहीं, कबूतर बस गये उसमें। तो लकड़ी गिरी, बीट किया, तो मय अर्था समेत वह जो पूजा करनेकी जगह थी न, वह लकड़ी और बीटसे भर गयी। अब कोई आया तो देखा—भाई! मन्दिर तो बड़ा विशाल है, इसमें शंकरजीकी स्थापना करनी चाहिए। तो मूर्ति कहाँसे मँगावें? गढ़ी हुई होवे कि नर्मदाकी होवे कि क्या होवे? एक आदमी आया, वहीं रहता था। उसने कहा—देखो यहाँ मूर्ति स्थापन करनेकी जरूरत नहीं है, यह जो लकड़ी पड़ी है इसको हटा दो और यह जो कबूतरके बीट पड़े हैं न, उनको धो दो। तो देखो भीतरसे वह शंकर स्वामीकी मूर्ति निकलेगी; वह लिंग मूर्ति निकल आयी।

इसी प्रकार तुम्हारे अन्त:करणमें यह जो मैल बैठ गया है न, यह जो अविद्या किल्पत विषयोंकी कल्पना तुम्हारे अन्त:करणमें हो गयी है, इसिलए पहलेसे विद्यमान जो शिव है उसका दर्शन नहीं होता। अब यहाँ शंकरकी स्थापना नहीं करनी है, प्रतिष्ठा नहीं करनी है, कहींसे लाना नहीं है, केवल जो कूड़ा-कर्कट जमा हो गया है उस अविद्या-परिकिल्पत कूड़ा कर्कटको सिर्फ निकालकर फेंक देना है।

अवर्णं। यह परमात्मा कैसा है भाई?

परमात्मा ऐसा है कि इसमें किसी प्रकारका वर्ण नहीं हैं। यह वर्ण क्या है भाई? वर्णनेन इति वरण: । बोले—भाई! जहाँ वर्णन करते हैं न, वहाँ कुछ-न-कुछ गुण होता है, तब तो वर्णन करते हैं, यह सफेद है यह काला है। वर्णन करनेके गिनतीके ढंग हैं—जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध और रूढ़ि ये जो भाषाविद लोग हैं, ये कहते हैं कि किसीको कहते हैं यह मनुष्य है तो क्या हुआ? कि जाति हो गयी मनुष्य। किसीको कहते हैं कि ये गोरे हैं तो यह गुण हो गया। किसीको कहते हैं ये ड्राइवर हैं, तो यह कर्म (क्रिया) हो गया। किसीको कहते हैं कि यह अमुकका नौकर है, तो यह सम्बन्ध हो गया। इनका यह नाम है, कि यह रूढ़ि हो गयी। तो जातिसे, गुणसे, क्रियासे, सम्बन्धसे और रूढ़िसे, वस्तुका वर्णन किया जाता है।

नः वर्णाः विद्यन्ते यस्मिन्। परमात्मा अवर्ण है, माने उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। माने न तो इसमें जाति है, न गुण है, न क्रिया है, न सम्बन्ध है, न रूढ़ि है। न तो उसमें अभिधा है न लक्षणा है। व्यावहारिक नहीं होनेसे घट-पटके समान अभिधा नहीं है और लक्षणा जो होती है वह तो सम्बन्धसे होती है। अभिधेय अर्थका प्रतिपादन करनेवाली अभिधा वृत्ति होती है। नाम ले लिया यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह औरत है यह आदमी है, इसको अभिधेय बोलते हैं, अभिधावृत्ति और लक्षणा जो होती है वह अभिधेय-सम्बन्धिनी होती है माने अभिधेयके सम्बन्धमें लक्षणा होती है—

गंगायां धोष: । क्षत्रिणो यान्ति ।

एक गौणी वृत्ति (गुण सम्बन्धी वृत्ति) भी होती है—सिंहो मानवकः। अरे यह आदमी क्या है शेर है! यह क्या हुआ कि शेरके समान बहादुर है।

तो गौणी, लक्षणा, अभिधा—इन वृत्तियोंसे वर्णन किया जाता है और परमात्माका वर्णन करनेके लिए, जैसे मोहन-सोहन नाम होता है, ऐसे ब्रह्मका कोई नाम नहीं, इसलिये अभिधा वृत्ति नहीं;और किसीसे कोई सम्बन्ध न होनेके कारण लक्षणा वृत्ति भी नहीं। लक्षणा भी नहीं होती है ब्रह्ममें भला। यह तो तत्त्वमिस महावाक्यमें लक्षणा होती है, ब्रह्ममें लक्षणा थोड़े ही होती है। लक्ष्यत्वाद्यास्तु कल्पिता:। ब्रह्ममें लक्ष्यता तो कल्पित है। यह पंचदशीका वचन है।

और गौणी वृत्ति भी ब्रह्ममें नहीं होती, क्योंकि (निर्गुण ब्रह्ममें) कोई गुण हो तो। अतः अवर्णम् का अर्थ हुआ कि इसका वर्णन शब्दसे नहीं किया जा सकता-यत्र वर्णा न विद्यन्ते। गौड़ पादाचार्यने कहा कि इसके बारेमें अक्षर नहीं है।

एक गुरु ग्रन्थ साहबका वचन है— जहाँ बोल तहाँ आखर आवा, जहाँ अबोल तहाँ मन न रहावा। बोल अबोल मध्य है जोई,

जस वह है तस लखे न कोई॥

जब बोलोगे तब अक्षर बोलना पड़ेगा और जहाँ बोली नहीं है तब तो वहाँ मन ही नहीं है। बोल और अबोल दोनोंके बीचमें जो है, कैसा है? कि वह जैसा है वैसा कोई दृश्यके रूपमें जान नहीं सकता। अवर्णम्—न काला है, न गोरा है। न काला वर्ण है उसका, न गोरा वर्ण है उसका। इसको अवर्णम् बोलते हैं—ऐसा है।

अच्छा! अब विषयका निषेध करके विषयके ग्रहणकी जो इन्द्रियाँ हैं उनका निषेध करते हैं—

अचक्षुः श्रोत्रं। ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं। चक्षु माने आँख. श्रोत्र माने कान और उनसे उपलक्षित ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं, करण नहीं है। और फिर—

तदपाणिपादम्—उसमें न हाथ है न पाँव है। देखो इसका अर्थ यह हुआ, आप ध्यान दो, आगे कही जायेगी बात कि परमात्मा सर्वज्ञ है और सर्वविद् है—

यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।

बोले—हम लोगोंको जो ज्ञान होता है, वह किसी-न-किसी करणसे होता है। जैसे कानसे आवाजका ज्ञान होता है, आँखसे रूपका ज्ञान होता है। तो जब परमात्माको सबका ज्ञान होता है, तो उसके भी आँख होगी, उसके भी कान होगा। तो बोले—एक तो उसमें आवाज नहीं और रूप नहीं। दूसरे कि उसमें आँख नहीं और कान नहीं अचशुः श्रोत्रम्।

बोले भाई, उसके पास हम तो चलकर नहीं पहुँच सकते और हम नहीं पकड़ सकते; लेकिन वही कभी हमें पकड़ ले!तो—

तदपाणिपादम् उसके पास भी पाँव नहीं है और उसके पास भी हाथ नहीं है।

देखो इसका मतलब यह है, यह देखता कैसे है? अरे उसको पलक उठानेकी जरूरत नहीं पड़ती, आँखसे नहीं देखता, बिना आँखके देखता है। वह सुनता सबको है, लेकिन कानसे नहीं सुनता, बिना कानके ही सबको सुनता है—पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। वह बिना आँखके देखता है और बिना कानके सुनता है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी चौपाई आपको याद है न—

पग बिनु चलइ सुनई बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥

त्वक् बिनु परस नयन बिनु देखा। गहड़ घ्रान बिनु बास असेषा॥ अस सब भांति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाड़ नहिं बरनी॥

ऐसा है वह—अपाणिपादम् अचक्षुः श्रोत्रम् बिना आँख-कानके देखता सुनता है। बिना हाथ-पाँवके वह सबको पकड़े हुए है, सबके पास पहुँचा हुआ है।

पाँवसे पहुँचे तो देरी हो जाये।

अब भला बताओ कहाँ इन्द्रप्रस्थकी सभा जहाँसे द्रौपदीने पुकारा और कहाँ द्वारका! द्वारकासे चलकर जाना हो तो कितनी देर लगे! वह तो वहीं पहुँचा हुआ है। अगर हाथसे साड़ी देनी पड़े न, तो कहाँ से दे? दुकानसे खरीदकर ले आयेगा? श्रीकृष्ण भगवान्ने जो साड़ी बढ़ायी थी द्रौपदीकी, वह किसी मिल या कारखानेकी बनी हुई थी क्या? कहींसे उठाकर ले आये थे क्या? नहीं, वह तो वहीं बैठे हुए भगवान्का वस्त्रावतार हुआ। वह वस्त्रत्वेन प्रतीयगान परमात्मा है। वह वस्त्र आया हुआ नहीं है और वह वस्त्र जानेवाला नहीं है, वहाँ वस्त्रके रूपमें भासता हुआ परमात्मा है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। 4

ईशावास्योपनिषद्में आप पढ़ते हैं न, सबसे पहले सब जगह पहुँचा हुआ है, कोई देवता उसको पकड़ नहीं सकता, वह बिलकुल परिपूर्ण है— तदपाणिपादम्।

यह देखो गीतामें इसको ऐसे मिलाना—

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। असक्तं सर्वमृच्यैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ न उसमें विषय हैं, न उसमें करण हैं।

अब आपको एक वेदान्तियोंकी जो प्रक्रिया है न, वह सुना देता हूँ। आपलोगोंने सुना होगा सैंकड़ों बार, क्योंकि यहाँके श्रोता तो बड़े संस्कारी हैं। कार्य-उपाधि जीवकी है और कारण-उपाधि ईश्वरकी है। तो कार्य क्या होता है ? कि जैसे यह हमलोगोंका हड्डी-मांस-चामका शरीर है न, यह कार्य है और इसमें हाथ-पाँव आदि जो इन्द्रियाँ हैं ये भी कार्य हैं। और, यह जो हमारा अन्त:करण बनता है न, वह भी कार्य है। पंचतन्मात्रा, सात्त्विक तन्मात्रासे बने सो भी कार्य है, और वैकारिक अहंकारसे बने सो भी कार्य है। हमारी बुद्धि महतत्त्वसे बने सो भी कार्य है और अन्त:करणकी एक वृत्ति हो तब भी कार्य है। तो कार्योपाधि, ईश्वरमें नहीं होती, जीवमें होती है। और अलग-अलग जो कार्य दिख रहे हैं उन सबकी कारणरूपा जो माया है सो उपाधि ईश्वरमें होती है। इसीसे उपाधिका जब तिरस्कार करते हैं कि हमको नहीं चाहिए। (तब आत्मा और ईश्वरकी एकताका बोध होता है)।

देखो; आँखसे देखा हुआ जो है न, कानसे सुना हुआ, नाकसे सूँघा हुआ, जीभसे स्वाद लिया हुआ, ऐसा जो जगत् है यह हमको नहीं चाहिए। विषय नहीं चाहिए और इस विषयको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ भी हमको नहीं चाहिए। क्या मरनेसे डरते हो?

देखो, हमको न तो विषय चाहिए और न तो इन्द्रियाँ चाहिए।

अच्छा! हमको अन्त:करण भी नहीं चाहिए। क्यों? देखो विषयका भोग होता है और इन्द्रियोंसे भोग होता है। तो विषय अर्थरूप हैं और इन्द्रियोंसे उनका भोग होता है। तो हमको धन और भोग—दोनों नहीं चाहिए।

अच्छा, धर्माधर्मका संस्कार कहाँ रहता है? कि अन्त:करणमें। वह भी हमको नहीं चाहिए। अरे करनेसे जो मिलता है, सो भी हमको नहीं चाहिए। तो कर्तृत्व नहीं चाहिए हमको, हमको भोकृत्व नहीं चाहिए। छोड़ो न जरा छोड़कर अपने भीतर चले जाओ। कि सब छोड़ करके भीतर चले गये। तब बोले—फिर हमको परिच्छित्र करनेवाला कौन है? कोई तो नहीं, देश-काल-वस्तु सब चले गये, कर्ताकी वृत्ति, भोक्ताकी वृत्ति, अन्त:करणकी वृत्ति, इन्द्रियोंकी वृत्ति, सारी-की-सारी कार्योपाधि चली गयी, तो कारणोपाधिसे इनका सम्बन्ध कहाँ है? कि तब तुम्हीं ब्रह्म हो।

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।

यह परमात्मांका स्वरूप है। आत्माका जो स्वरूप है वही परमात्माका स्वरूप है। अब जरा देखो, क्या बिढ़या बताते हैं — नित्यं विभं सर्वगतं सुसृक्ष्मम्।
यह उपनिषद् है इसलिए जरा ध्यान ज्यादा देना पड़ता है। नहीं

तो आपको 'नित्य' शब्दका सामान्य अर्थ तो मालूम ही है, विशेष अर्थ अब बताते हैं।

देखो यह घड़ीमें जो सुई घृमती है न, एक जगह तो नहीं रहती न, लेकिन एक सेकेण्डमें सब जगह भी तो नहीं होती। तो सुई क्या है? अब यदि आपको कालको मापना हो, तो घड़ीपर जो लकीरें खींच रही हैं. एक बजा, दो बजा, तीन बजा, क्या इन लकीरोंका नाम काल है? या कि सुई घृम रही है, उसका नाम काल है? अरे! सब सुइयाँ बन्द हो जायें, तब भी तो काल रहेगा न?

अच्छा यह सूर्य और चन्द्रमा जो घूम रहे हैं, नारायण! यह धरती सूर्यकी परिक्रमा कर रही है, तो समझो यह सूर्य धुर है और यह पृथिवी सूर्यकी परिक्रमा कर रही है। तो किसी कोणपर जाती है तो रात है और किसी कोणपर जाती है तो दिन है। तो क्या यह सूर्य और पृथिवीके ज्वकरका नाम काल है?

हे भगवान्! यह घड़ीमें काल नहीं रहता और पृथिवी और सूर्यके पिरिश्रमणमें काल नहीं रहता। दुनियामें कोई चीज चले कि न चले, यह जो क्रम मालूम पड़ता है न हमको (वह काल है)। देखो, जैसे हमने आदमी शब्द बोला। तो यह आदमी शब्द जो है न—सब शब्दोंको उर्दू-फारसीमें नहीं भेज देना चाहिए—यह आदिम शब्द जो संस्कृतमें है न, वही आदिमका आदमी है। 'आदमी' माने परमात्माकी प्रथम सृष्टि, पुरुषकार जो सृष्टि है, उसका नाम आदिम-आदमी।

तो आप देखो—काल। यह जैसे हमने 'आ' दि' 'मी'—तीन अक्षरका एक शब्द बोला। तो पहला अक्षर कौन है? 'आ' दूसरा 'दि' और तीसरा 'मी'। तो पहला, बीचका और आखिरी तीन अक्षर हुए न, और तीन बार बोले गये तो इसमें जो क्रम है, पहला बिचला और आखिरी यह क्या है? इसका नाम क्रम है। यह जो क्रमकी संवित् होती है, यह जो क्रमका ज्ञान होता है, इस क्रमका जो कारण, ब्रह्ममें किल्पत किया गया है, उस किल्पत कारणको काल कहते हैं। उस कल्पित कारणका नाम काल है। यह क्रमकी संवित् हैं—प्रथमा संवित्, द्वितीया संवित्, तृतीया संवित्।

अच्छा, अब देखो—देश। बोले—हम शरीरके रूपमें बैठे हैं, तो हमसे बड़ा कौन? कि सिंहासन। सिंहासनसे ज्यादा फैलाव किसमें? कि हालमें। और हालसे ज्यादा फैलाव किसमें? कि यह चौपाटी रोड मोहल्लेमें और इससे ज्यादा फैलाव किसमें? कि बम्बईमें। तो यह जो दैर्घ्य (दीर्घ) विस्तारकी संवित् है न—इसका फैलाव कि इसका घेरा कम और इसका घेरा बड़ा—तो यह जो दैर्घ्य विस्तारका जो आयाम है, इसकी जो चित्तमें संवित् होती है, दैर्घ्य विस्तारकी संवित्, इस संवित्की कल्पनाका जो हेतु ब्रह्ममें कल्पित है उसको 'दिक्' कहते हैं। दिक् अर्थात् दिशा।

अब देखो—वस्तु। यह घड़ा और यह कपड़ा—ये दो रूप हुए। तो यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह जो वस्तु-भेदकी संवित् है, यह वस्तु संवित्का जो भेद है, उस संवित्के कारणरूपसे जो वस्तु ब्रह्ममें किल्पत है, उसे वस्तु बोलते हैं। और यही जो किल्पत देश, किल्पत काल, किल्पत वस्तु है न, इनकी जो समष्टि है न, कल्पनाकी समष्टि, इसको माया बोलते हैं। इस मायाका अधिष्ठान है ब्रह्म और इसका प्रकाशक है द्रष्टा अहं।

सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल, सम्पूर्ण वस्तुकी कल्पना समष्टि जिस पर्देपर दिख रही है, उस पर्देका नाम है ब्रह्म और जो उसको देख रहा है उसका नाम है द्रष्टा।

अब इस कल्पनाका यदि तिरस्कार कर दो तो जो पर्दा है सो ही द्रष्टा है। जो ब्रह्म है सो ही आत्मा है। यही आत्मा और ब्रह्मका अभेद होता है।

तो त्वं—पद्का अनुसन्धान किया जाता है देश-काल-वस्तुके द्रष्टाके रूपमें और तत्-पदार्थका अनुसन्धान किया जाता है अधिष्ठानके रूपमें।

और जब इस किल्पत समिष्टिका अपवाद कर देते हैं तो देश काल वस्तुके न होनेसे हम और ब्रह्म क्या अलग-अलग जगहमें हैं ? हम और ब्रह्म क्या अलग-अलग रूपमें हैं ? तब बोले—न अलग स्थान है, न अलग समय है, न अलग रूप है। तो हम फिर अलग-अलग काहेको हैं ? कि यह अलगाव जितना था, यह सबका सब भ्रान्तिसे था।

यह बात ऐसी है भाई देखों, कई लोग ऐसे होते हैं जिनको वेदान्तकी कोई-कोई बात समझमें नहीं आती है, तो कहेंगे कि हाय हाय! हम तो कथा सुनने आये और समझमें कुछ नहीं आया, पल्ले कुछ नहीं पड़ा, 'बोर' हो गये।

आपको सुनाते हैं, कि जरा हमारी तरफ भी देखो। हमारी ओर देखोगे तो देर नहीं होगी।

अच्छा, तो हम लोग साधु लोग जो हैं न, ये जब भिक्षा माँगने जाते हैं गाँवमें, तो किसी घरमें हमको भिक्षा मिलती है, किसी घरमें नहीं मिलती है, चार घरमें मिलती है तो चार घरमें नहीं मिलती है। तीन घरमें मिली, चार घरमें नहीं मिली। ऐसा होता है। तो क्या हम दूसरे दिनसे भिक्षा माँगने जाना छोड़ दें? तो भूखे मर जायेंगे न! अरे यह तीन घरमें जो भिक्षा मिलती है उससे भी अपना पेट भर जाता है और जो चार घरवाले नहीं देते हैं न, वे दूसरे दिन फिर जब हम उधरसे निकलते हैं, तो पहले दिन तो नहीं देते हैं, पर दूसरे दिन जरूर दे देते हैं। और दूसरे दिन नहीं देंगे तो तीसरे दिन दे देंगे। तो अगर हम भिक्षा माँगनेमें 'बोर' हो जायें तो हमारा पेट नहीं भरे भला। हमें रोज जाना पड़ता है।

तो यह बात क्यों आपको सुनायी? कि जब हम ग्रन्थ पढ़ते थे न, तो ऐसा तो नहीं है कि सारे ग्रन्थ गुरु मुखसे ही पढ़े जायँ। इसमें तो न जाने कितने गुरु और कितने चेलेका जीवन बीत जाय। तो हमने एक महात्मासे कहा कि महाराज, हम अपने आप पढ़ते हैं, तब तो पूरा-पूरा समझमें नहीं आता है। प्रक्रिया पढ़ ली, उसका दिग्दर्शन कर लिया, पर समझमें नहीं आता।

बोले—देखो, ये सब शास्त्र जो हैं न, ये भिक्षा देनेवाले गृहस्थ हैं। इनके दरवाजेपर रोज जाओ। पहले दिन नहीं मिलेगी तो दूसरे दिन मिलेगी, दूसरे दिन नहीं मिलेगी तो तीसरे दिन मिलेगी। एक बार पढ़ो, दो बार पढ़ो, तीन बार पढ़ो, अगर यह कहता है कि हम नहीं देंगे, तो तुम कहो हम लेकर छोड़ेगे। यह शास्त्र भी गृहस्थ है। तो इसमें अपनेको कभी 'बोर' नहीं मानना, इसका जो अर्थ है वह निकालकर रहना; यह बात तुम्हारे समझनेके लिए है।

इस महात्मासे हमने कहा कि महाराज, आप जो बताते हैं यह तो बड़ा कठिन है। तो वे बोले कि तुम देखो ब्राह्मण, तुम संस्कृत पढ़े-लिखे पण्डित, तुम साधन करनेमें बड़े निपुण, जिज्ञासु, अगर तुम इसको समझनेकी कोशिश नहीं करोगे, तो अब क्या पशु इसे समझेगा! अरे बाबा, यह तुम्हारे लिए हैं, तुम समझनेकी कोशिश करो, तो सबकी समझमें यह आवेगा।

एक बार एक सज्जन आये उड़िया बाबाजी महाराजंके पास। तो बोले— महाराज, यह वैराग्य तो बड़ा कठिन है। यह वैराग्य क्या जीव कर सकता है? वैराग्य जीव करेगा क्या? ऐसे पूछा।

उड़िया बाबाजी बोले—तब क्या तुम्हारा चच्चा ईश्वर करेगा? वैराग्य जीव ही के करनेके लिए है, ईश्वरके करनेके लिए नहीं है। यह जो ग्रन्थ हैं, यह जो वेदान्तका विषय है, यह तुम्हारे ही समझनेके लिए है।

यह ईश्वरके लिए कि वह ज्ञान प्राप्त करके अविद्या निवृत्त करे, उसके लिए नहीं है। यह जीव ज्ञान प्राप्त करके अविद्या निवृत्त करे और अज्ञानान्धकारसे अपनेको मुक्त कर ले इसके लिए है।

तो; अब आपको नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं की बात सुनाते हैं।

तो नित्यंका अर्थ है कालसे परिच्छिन्न न होना। यह उम्र होती है न हमारी कि अमुक संवत्में जन्म हुआ और अमुक संवत्में मृत्यु होगी, तो हमारा शरीर क्या हुआ? कालसे परिच्छिन्न हुआ। काल माने समय और परिच्छिन्न माने कटना, माने हमारी उम्र जो है वह आगे-पीछे कटी हुई है।

जैसे देखो; कई फूल पैदा होते हैं न, फूल खिले, तो डांडीसे उनको अलग कर लेते हैं, बिलकुल अलग हो जाते हैं। यह पारिजातका जो फूल होता है—हरसिंगारका—वह अलग हो जाता है। ऐसे हमलोग अपनी मॉक पेटमें पैदा हुए और फूलकी तरह डांडीसे–नालसे अलग हो गंये और फिर एक दिन यह शरीर छूट जायेगा। तो क्या हुआ? कालमें यह शरीर परिच्छिन्न हुआ।

रात आती है जाती है, दिन आता है जाता है, यह क्या है? कि यह कालमें परिच्छित्र है, कटे-पिटे हैं।

अब नित्य किसको कहते हैं?

नित्य उसको कहते हैं जो कालमें कटे-पिटे नहीं। जो कालसे अपरिच्छित्र हो उसको नित्य कहते हैं। तो यह जो परमात्मा है नित्य है, देखो जो जिसको जानता है, वह उससे न्यारा होता है। हम कालको जानते हैं, इसलिए कालसे न्यारे हैं। हम तो कालसे न्यारे हैं, परन्तु काल हमसे न्यारा नहीं है।

यह वेदान्तको उल्टा समझ जाते हैं कई लोग, यह उलट बाँसी जल्दी समझमें नहीं आती है।

अभी मैंने कल कि परसों हरिद्वारके शास्त्रार्थकी चर्चा की थी। उसमें जो पूर्व-पक्षी सज्जन थे, उनके सामने जब यह बात कही गयी कि कार्यसे कारण न्यारा होता है, लेकिन कारणसे कार्य न्यारा नहीं होता, तो वे बोले—ऐसा भला कैसे हो सकता है? कि कार्यसे कारण न्यारा हो और कारणसे कार्य न्यारा न हो? न सम्भवति। ऐसा नहीं हो सकता।

श्रीकरपात्रीजी महाराज हँसने लगे, बोले कि क्या तुम्हारी समझमें इतना भी नहीं आता कि घड़ेसे मिट्टी न्यारी होती है, परन्तु घड़ा मिट्टीसे न्यारा नहीं होता है। यह बात भी तुम्हारी समझमें नहीं आती? घड़ेकी जो आकृति है न, उसका बड़ा पेट और गला छोटा। क्या घड़ा गोल-मटोल बनता है? पृथु उदर और गला छोटा—ऐसा जो घड़ा बना, तो वह मिट्टीसे तो न्यारा दिखता है। नाम भी अलग, रूप भी अलग, लेकिन घड़ेसे मिट्टी जुदा है। घड़ा नहीं था, तब भी मिट्टी थी, घड़ा फूट जायेगा, तब भी मिट्टी रहेगी। लेकिन मिट्टीसे जुदा घड़ा नामकी कोई चीज नहीं है, यह आपको मालूम है? हमारी मिट्टी वापिस कर दो, घड़ा अपना रखो। तो यह जो नाम रूपात्मक प्रपंच है न, इससे परे होता है परमात्मा, लेकिन परमात्मासे परे दुनिया नहीं होती है।

तो जब परमात्माको ढूँढ़ना होता है, तब दुनियासे परे बोलते हैं। और, जब परमात्मा मिल जाता है, तो सब परमात्मा ही हो जाता है, यह न्यारे और परे वाली बात नहीं चलती।

देखो; पाँच रुपयेसे सौ रुपया न्यारा होता है। आपको मालूम है कि नहीं? क्योंकि आप पाँच रुपयेमें सौ रुपये प्राप्त नहीं कर सकते। पाँच रुपयेसे सौ रुपया न्यारा होता है, लेकिन सौ रुपयेसे पाँच रुपया न्यारा नहीं होता।

घण्टे भरसे दिन न्यारा होता है, लेकिन दिनसे घण्टा न्यारा नहीं होता है।

एक गजसे एक मील अलग होता है, परन्तु एक मीलसे एक गज अलग नहीं होता। इसी प्रकार यह जो कार्य सृष्टि है वह अपने उपादान कारण, परमात्मासे अलग नहीं होता।

तो नित्यं विभुम्—इन्द्रिय वाली जितनी चीजें हैं, उनको अनित्य कहेंगे भला! इन्द्रियवाली सब चीजोंसे परमात्मा न्यारा है, परन्तु परमात्मासे ये इन्द्रियवाली चीजें न्यारी नहीं हैं।

इसीको बोलते हैं—सर्वं खिल्वदं ब्रह्म। इसीको बोलते हैं—अदृश्यं, अग्राह्मम्।

एक ओर तो ऐसे वोलते हैं कि यह ब्रह्म दृश्यसे न्यारा है, ग्राह्मसे न्यारा है, हाथ पाँवसे न्यारा है, आँख कानसे न्यारा है और दूसरी ओर ऐसे वोलते हैं कि इससे न्यारा कुछ नहीं है। तो जिज्ञासुको न्यारा-न्यारा कहकर यह ढूँढ़नेका तरीका है और ज्ञानीके लिए यह परिपूर्ण दृष्टि है कि सब वहीं है—ब्रह्म ही है।

तो नित्यंका अर्थ है जो कालसे न कटे। काल जिसमें किल्पत है, जो कालका प्रकाशक है, जो कालका अधिष्ठान है। काल जिससे न्यारा नहीं है उसका नाम नित्य।

विभुं—वह पहले आपको देश कालकी बात सुनायी थी न। 'विभुं' माने जो देशसे परिच्छित्र नहीं है। देश माने पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण।

आप देखना, आपने सपना देखा ही होगा। आप घड़ीमें देखकर सोये हैं, दस-बीस मिनट सोये हैं और सपनेमें दिनभर देख सकते हैं, पाँच दिन देख सकते हैं, दस वर्ष देख सकते हैं। तो यह जो सपनेका दस वर्ष है वह जाग्रत्वाले घण्टे भरसे बाहर है क्या? नहीं। तो नित्यंका अर्थ क्या होता है?

यह जो सृष्टिमें कालक्रम है न, भूत-भ्रविष्य-वर्तमान, यह परमात्माके स्वरूपसे न्यारा नहीं है। परमात्मा नित्य है और भूत-भविष्य-वर्तमान यह तीन पना, जो कालमें है यह कल्पित है।

जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ईश्वरमें तीन कल्पित हैं न, वैसे कालमें तीन कल्पित हैं। काल ईश्वर है और भूत-भविष्य-वर्तमान कल्पित है। और देश जो है वह ईश्वर है और इसमें बाहर, भीतर और अन्तराल—ये तीनों कल्पित हैं।

और, हम सब? समझो कि मनुष्य जाति, तो जाति ईश्वर है, सामान्य ईश्वर है। और वह मैं और तुम, प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष—ये तीनों मनुष्यत्व रूप ईश्वरमें किल्पत है। और काल रूप ईश्वरमें भूत-भविष्य-वर्तमान किल्पत है। और दिक् रूप ईश्वरमें अन्तः बाह्य और अन्तस्रल किल्पत है। और नारायण! यह जो व्यवहार है इसमें प्रमाता, प्रमाण प्रमेय किल्पत है।

अब रहा ईश्वर! जब तुम ईश्वरको अपनेसे मिलाकर देखोगे तो ईश्वर देश, काल, वस्तुकी समष्टि नहीं है, उनका प्रकाशक चैतन्य है और तुम भी उनकी कल्पनासे प्रकाशक चैतन्य हो।

जैसे सर्वरूप भ्रान्तिका विषय है सर्प, परन्तु उस सर्पकी भ्रान्तिका विषय-रूप सर्पका अधिष्ठान कौन है? कि रज्जु उपहित चैतन्य। और भ्रान्तिका अधिष्ठान कौन है? अन्तः करणोपहित चैतन्य। भ्रान्ति किसमें? कि मुझमें। और भ्रान्ति किसके बारेमें? बोले—रज्जुके बारेमें। ऐसे यह जो प्रपंच दिखायी पड़ रहा है, इसको देख रहा है कौन? कि मैं। कि किसमें देख रहा है? ईश्वरमें।

तो यह दीखनेवाली चीजका जब अपवाद कर दोगे, तो देखनेवालेमें और दीखनेवालेमें जो भेद मालूम पड़ता है न, वह भेद तो केवल दृश्यके कारण है। देशसमष्टि, काल-समष्टि, वस्तु-समष्टिसे उपिहत जो चैतन्य है, उसको ईश्वर बोलते हैं और उसकी कल्पनासे उपिहत जो चैतन्य है, उसको जीव बोलते हैं। जब कल्पना और कल्प्य—दोनोंका तिरस्कार कर देंगे, तो जो अखण्ड चैतन्य है, वही यहाँ आत्माके रूपमें प्रकाशित हो रहा है और वही वहाँ परमात्माके रूपमें प्रकाशित हो रहा है।

अखण्ड ब्रह्मसे जुदा न जीव है, न ईश्वर है, न जगत् है। नित्यं विभुं। अब सर्वगतंकी बात देखो। बड़ी निराली बात है। 'नित्य' कालके भेदको मिटानेके लिए है, 'विभु' देशके भेदको मिटानेके लिए है और 'सर्वगतं' वस्तुके भेदको मिटानेके लिए है। देखों जैसे एक घड़ा है, तो जितनी जगहमें घड़ा है, वह जगह ईश्वरसे जुदा हो गयी क्या? बोले—नहीं वहाँ भी ईश्वर है यह बात बतानेके लिए 'विभुं' होगा; और घड़ेकी जो उम्र है, माने जितनी देर घड़ा रहेगा, उतनी देरमें ईश्वर नहीं है क्या? बोले— नहीं, नित्यं, उतनी देरमें भी ईश्वर है। घड़ा जितनी देर है, उस देरमें भी ईश्वर ही है और घड़ा जितनी दूरीमें है, उतनी दूरीमें भी ईश्वर ही है।

अब 'घड़ा' चीज क्या है ? बोले—घड़ेमें जैसे मिट्टी है, वैसे अभिन्न निमित्तोपादान कारणके रूपमें, घड़ेके रूपमें भी ईश्वर ही है। यह बात 'सवर्गत' से बतायी। सर्व जो घट-पटादि पदार्थ हैं उसमें जो गत है अर्थात् उपादान रूपसे अनुंगत है, यह बात बतानेके लिए 'सर्वगतं' है। तो 'घड़ा' देशमें भी ईश्वर ही है और घड़ा कालमें भी ईश्वर ही है और घड़ेके वजनमें भी ईश्वर ही है। लेकिन महाराज ऐसा सूक्ष्म है-देखने वालेकी आत्मा है न—कि इसलिए दीखनेवाले घड़ेमें इनका अनुभव नहीं होता अत: सुसूक्ष्मं।

तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

इसका दर्शन सबको नहीं होता, धीर पुरुष को होता है।

धीर माने जो इन्द्रियोंके साथ बह नहीं जाय। जैसे कोई गंगाजीमें उतरे और लहरमें बह जाये। तो जो बह जायेगा उसको तटस्थका दर्शन कैसे होगा, वह तो बह गया, जो किनारे चीज थी, वह पीछे पड़ गयी। तटस्थका दर्शन किसको होगा? कि जो गंगाजीमें कूदे; लेकिन बहे नहीं। ऐसे यह जो इन्द्रियोंकी धारा बह रही है, वृत्तियोंकी धारा बह रही है, इन वृत्तियोंकी धारामें जो बह न जाये वही धीर है। धीर होवे माने बह न जाये। वह (धीर) क्या देखेगा? वह देखेगा कि सम्पूर्ण बहनेवाली प्रवृति धारामें तटस्थ वस्तु न बहनेवाली वस्तु कौन-सी है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचित॥ कठ. 1.2.22 अब यह बात आपको कल सुनावेंगे।



प्रवचन: 5, मंत्र-6

अक्षर तृत्त्व-3 (आत्म-दृष्टि)

अथ परा यया तदक्षरं अधिगम्यते॥

यत्तदग्रेद्रेश्यमग्राह्ममगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥ वेदमें दो प्रकारकी विद्या है—एक-परा, दूसरी-अपरा। अपरा विद्या जो है वह शब्द प्रधान वेदराशि है औरं पराविद्या जो है वह ज्ञान प्रधान-अर्थ प्रधान वेदराशि है।

देखो; अब इससे दो विभाग बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। जो शब्द प्रधान वेद राशि है, वह वाक्य द्वारा उच्चार्य मान होनेपर कर्मको धर्म बना देती है। माने शब्द है तो वाणीसे उसका उच्चारण होता है। उच्चारण करने मात्रसे ही वह वाक्कर्मको धर्म बना देनी है और ज्ञान जो है वह वस्तुका अधिगम करवाता है। तो यया तदक्षरमधिगम्यते।

जिससे ब्रह्मज्ञान होवे उसका नाम परा विद्या।

ये जो हमारे वैदिक हैं, कर्मकाण्डी हैं, अर्थ तो नहीं जानते हैं, परन्तु विधिपूर्वक गुरुमुखसे अध्ययन करके उसका पाठ करते हैं, उच्चारण करते हैं, यज्ञ-यागादि उसके द्वारा करवाते हैं, तो उनका कर्म धर्म हो जाता है और वे धर्मका जो फल है, सकाम भावसे करें तो लोक-परलोकका सुख मिलेगा उनको और निष्काम भावसे करें तो अन्त:करण शुद्धि होगी। तो निष्काम भावसे आदमी वेद पाठ करे तो उसका अन्त:करण शुद्ध हो जायेगा। बोले—भला वेद पाठ करनेसे अन्त:करण शुद्ध कैसे होगा?

अरे, इसमें निष्कामता जो लगी हुई है न, निष्कामता ही तो अन्त:करणकी शुद्धि है, और क्या अन्त:करणकी शुद्धि होती है ? निष्कामता ही अन्त:करणकी शुद्धि है। नारायण! इसीसे बोलते हैं—निष्काम कर्म करो तो भी अन्तः करणकी शुद्धि और निष्काम कर्मत्याग करो, तो भी अन्तः करणकी शुद्धि है। परन्तुः सकाम होकर कर्मत्याग करो तो भी अन्तः करण अशुद्ध और सकाम होकर कर्म करो तो भी अन्तः करण अशुद्ध और सकाम होकर कर्म करो तो भी अन्तः करण अशुद्ध।

असलमें अन्त:करणको अशुद्ध करनेवाला काम है और उसको शुद्ध करनेवाली निष्कामता है। इसमें कर्म करना और कर्म छोड़ना, इसक्य उतना महत्त्व नहीं है जितना अन्त:करणकी निष्कामताका है।

एक महात्मासे मैंने पूछा कि ईश्वरकी प्राप्तिके लिए क्या करें? तो बोले—दौड़ो। मैंने कहा—महाराज! यह क्या साधन बताते हैं? बोले—नहीं तो ईश्वरकी प्राप्तिके लिए बैठो। कि यह क्या साधन है! कि ईश्वरकी प्राप्तिके लिए लेट जाओ, ईश्वरकी प्राप्तिके लिए बोलो, ईश्वरकी प्राप्तिके लिए चुप हो जाओ।

कि यह क्या साधनका तरीका हुआ! बोले—यही तरीका है। यदि ईश्वर प्राप्तिके लिए तुम बैठ रहे हो, ईश्वर प्राप्तिके लिए दौड़ रहे हो, ईश्वर प्राप्तिके लिए सो रहे हो, ईश्वर प्राप्तिके लिए बोले रहे हो, ईश्वर प्राप्तिके लिए मौन हो रहे हो, यदि तुम्हारा उद्देश्य बिलकुल ठीक है, तो तुम्हारा साधन बन गया और मनमें है संसारकी प्राप्तिकी कामना तो चाहे माला फेरो, चाहे ध्यान करो, चाहे समाधि लगाओ, संसारके लिए जो करोगे वह संसारका साधन होगा, ईश्वरके लिए जो करोगे वह ईश्वरका साधन होगा, तो उद्देश्य पवित्र होना चाहिए। तुम किसके लिए करते हो।

अच्छा देखो, एक आदमी नाचता है। तो हम दो तरहके नाचनेवाले आपको बता दें। एक तो मीरा नाचती है—

मैं गिरधर आगे नाचूँगी।

नाच नाच पिया रिसक रिझाऊँ प्रेमी जनको जाँचूँगी॥

मीरा नाचती है और एक वेश्या नाचती है। काहेके लिए नाचती है? पैसेके लिए नाचती है। आदिमयोंको रिझानेके लिए नाचती है।

बालकोंको बना देते हैं न रूप, रूप-वेश बना देते हैं। काहेके लिए नचवाते हैं?

'भज कलदारं भज कलदारं।'

ईश्वरके लिए नहीं, पैसेके लिए नचवाते हैं। तो पैसेके लिए जो नाच होगा, वह पैसेकी प्राप्तिका साधन होगा और ईश्वरकी प्राप्तिके लिए जो नाच होगा वह ईश्वरकी प्राप्तिका साधन होगा।

> कस्मै देवाय हविषा विधेम! एकस्मै देवाय हविषा विधेम।

अपने जीवनमें जो उद्देश्य, जो लक्ष्य बनाया है कि हम ईश्वरके लिए यह काम कर रहे हैं।

अब देखो यहाँ यह जो वेदान्त ज्ञान है, वह शुद्ध अन्त:करणमें भासता है। क्यों शुद्ध अन्त:करणें भासता है? कि परमात्मा अदृश्य है।

अद्रेश्यं अग्राह्यम्।

अदृश्य है। तो यदि संसारमें तुम किसीके लिए काम करोगे, तो जिसके लिए करोगे वह तुम्हारे हृदयमें आकर दृश्य होगा कि नहीं? तो जिसके लिए संसारमें काम करोगे वह दृश्य होगा, तो अदृश्य परमात्मा वहाँ कैसे दिखेगा? वहाँ तो—

भरी सराय रहीम लखि आपु पथिक फिरि जाय।

तुम्हारे दिलमें दृश्य आ गया। अग्राह्यम्—यदि संसारमें कोई वस्तु पानेके लिए काम करोगे, तो ग्राह्य आकर हृदयमें बैठेगा, अग्राह्यका प्रकाश कैसे होगा?

इसीको कहते हैं कि अन्त:करणको निर्विषय बनाओ। यह 'दृश्य' और 'ग्राह्य' से रहित जो अन्त:करण है यह शुद्ध अन्त:करण है और इसमें अदृश्य अग्राह्य परमात्माका आविर्भाव होता है। ऐसे अन्त:करणमें अदृश्य, अग्राह्य परमात्माको देखनेकी और ग्रहण करनेकी क्षमता उत्पन्न होती है।

अगोत्रं अवर्णं। अब यह देखो—गोत्राभिमान और वर्णाभिमान। हम दूसरी तरहसे इसकी व्याख्या सुना रहे हैं।

हमारे ब्राह्मणोंमें अभिमान होता है। क्या? हम गर्गगोत्रि हैं, गौतम हैं, शाण्डिल्य हैं।

तो; जब तुम अपनेको अमुक गोत्रि कर दोगे, तो उस गोत्रका जो कर्म

है, जो धर्म है, उस गोत्रकी जो शाखा है, उस शाखामें तुमको निष्ठा करनी पड़ेगी और सम्पूर्ण शाखातीत, गोत्रातीत जो परमात्मा है, उसमें बुद्धि कैसे लगेगी?

अवर्णं। अन्त:करण शुद्धिके लिए (भले) वर्णाभिमान भी अपेक्षित है। लेकिन परमात्मा तो वर्णातीत है—

> यत्र वर्णा न विद्यन्ते। न वर्णा नावर्णा नाश्रमाचार धर्मा। न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि।

अभिमान नहीं छोड़ोगे (तो परमात्मामें अहं बुद्धि नहीं कर सकोगे) अभिमान माने सीमा। अपनेको एक घेरेमें लेना। मान माने परिमाण। एक गज, दो गज, चार गज। कपड़ेका मान कितना? कमरेका मान कितना? एक गज, दो गज, तीन गज, यह (देशका) परिमाण हुआ और समयका मान कितना? घण्टे, दो घण्टे, तीन घण्टे और वस्तुका मान कितना? कि सेर भर, दो सेर, तीन सेर।

तो जब यह मान बना लेंगे, माने हम ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय नहीं हैं, तो सर्वात्मा ब्रह्म कैसे होंगे? जब मान बनावेंगे कि हम शाण्डिल्यगोत्रि हैं, गर्गगोत्रि नहीं हैं, तो अभिमान हो जायेगा। बोले—हम संन्यासी हैं, गृहस्थ नहीं हैं। तो जब एकमें अभिमान करेंगे, तो दूसरेको अपनेसे बाहर देखना पड़ेगा।

देखो यह बात श्रुति बोलती है—

ब्रह्म तंपरादात् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्र तं परादात् योऽन्यत्रात्मनो क्षत्रं वेद। लोकास्तं परादुः योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद। देवास्तं परादुः योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद। सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।

जब तुम कहोगे कि यह हमसे न्यारा, ब्राह्मण न्यारा, क्षत्रिय न्यारा, देवता न्यारा, वेद न्यारा, तो जिसको-जिसको तुम अपनेसे न्यारा बोलोगे, वही न्यारा होकर, दुश्मन होकर तुम्हारे सिरपर सवार हो जायेगा। तो क्योंजो, न्यारा क्यों बोलते हो तुम? हिन्दुस्तान-पाकिस्तानमें लड़ाई क्यों? देखो. एक हो तो देश है न! कराचीवाला समुद्र मुम्बईवाला समुद्र दो थोड़े ही है। बीचमें कोई नयी नदी थोड़े ही बह गयी! सन् सैंतालीससे पहले जो नदी नहीं थी, अब थोड़े ही आगयी, पहाड़ थोड़े ही आगया! अभिमान आगया कि हम हिन्दुस्तानी, तुम पाकिस्तानी, हम पाकिस्तानी, तुम हिन्दुस्तानी, अभिमान आगया तो लड़ायी हो गयी।

इसी प्रकार अगर हम ब्राह्मण, तुम क्षत्रिय तो ब्राह्मण-क्षत्रिय, रावण-रामको लड़ायी हो जायेगी।

तो अगोत्रं अवर्णंका अर्थ है, गोत्राभिमान, वर्णाभिमानसे मुक्त हो जाओ, देखो तुम्हारे हृदयमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

अवशुश्रोत्रं—यह तुम्हारे कान, आँख बहुत तकलीफ देते हैं, यह नहीं समझना कि आराम-ही-आराम देते हैं। देखो, कानसे क्या बढ़िया-बढ़िया बात सुनते हैं। आँखसे क्या बढ़िया-बढ़िया दृश्य देखते हैं। कि नहीं, ये कान और आँख—ये दो छेद हैं, ये दो नकब लगी हुई हैं तुम्हारे अन्दर! क्या? कि इसमें-से संसार तुम्हारे कलेजेमें घुसकर बैठता है।

अचक्षुश्रोत्रम्—भगवान्का जब ध्यान करने बैठो न, तो ऐसे बैठो कि दुनियामें कुछ दीखे नहीं और कुछ सुनायी न पड़े। अचक्षुश्रोत्रं होकर तुम बैठते हो। तुम ऐसा सोचो कि न हमारे कान है न आँख है।

महात्मा लोग ध्यान करते हैं, तो एकबन्ध करते हैं—नाक बन्द कर ली। कोई द्विबन्ध करते हैं—नाक-आँख दोनों बन्द कर लेते हैं। कोई त्रिबन्ध करते हैं—नाक, कान, आँख—तीनों बन्द कर लेते हैं। कोई चतुर्बन्ध करते हैं। रुचि होती है अपनी-अपनी।

हमारी ओर देखो तो हम बता देते हैं। ये दो उँगली (अनामिका और किनष्ठा) मुँह पर लगाते हैं। यह मध्यमा दोनों नाकके छेदोंपर लगाते हैं। यह तर्जनीको आँखपर ले जाते हैं, अंगूठेको कानमें लगाते हैं। इसको चतुर्बन्ध बोलते हैं। यह महात्माओंका तरीका है कि अरे, दुनिया भाई, भीतर न घुसने पावे। एकबन्ध, द्विबन्ध, त्रिबन्ध, चतुर्बन्ध।

गली तो चारों बन्द भईं, कैसे मिलुँ पिया से जाय।

तो अचक्षुश्रोत्रंका अर्थ है—न आँखसे दुनियाको देखनेकी इच्छा करो और न दुनियाको कानसे सुननेकी इच्छा करो। देखो दुनियामें अमुक आदमी बुरा है—यह बात तुमको कानसे मालूम पड़ती है, आँखसे कम। क्योंकि कोई व्यभिचार करेगा, तो तुम्हारी आँखके सामने करेगा? दिखाकर तुमको थोड़े ही करेगा। कोई चोरी करेगा तो तुमको दिखाकर थोड़े ही करेगा?

तो यह सुन-सुनकर महाराज, यह चोर है, यह व्यभिचारी है, यह अपना दिल हम दूषित कर लेते हैं। तो हमारे हृदयको अशुद्ध करनेवाला यह कान और आँख है।

बोले—देखो, हम अब इस समय भजन करने बैठते हैं। तो अबतक आँख और कानसे संसारकी जो बात सुन रहे थे, छोड़ दी और अब जो सामने हो रहा है, उसे भी छोड़ दिया और आगे जो कान-आँखके सामने बात आवेगी उसपर भी ध्यान नहीं देंगे। उसको भी महत्त्व नहीं देंगे।

हम आपको राजनीतिकी बात नहीं सुना रहे, अध्यात्म विद्याकी बात सुना रहे हैं।

तो जब आपका अन्तःकरण 'अचक्षुश्रोत्रं' होगा, तब उसमें 'अचक्षुश्रोत्रं' जो परमात्मा है, उसको देखनेकी योग्यता आजायेगी।

अरे भाई, हाथ भी तो किसीसे मिलाया जाता है न—

समान शील व्यसनेषु चक्षम्।

जरा अपनेको सजा-सँवारकर ईश्वरके सामने जाओ। यह वेशभूषा बिगाड़कर, कुरूप होकर ईश्वरके सामने काहेको जाते हो? अपने दिलमें दुनियाको बसाकर, काम एक ओर पड़ा, क्रोध एक ओर पड़ा, लोभ एक ओर पड़ा, मोह एक ओर पड़ा, सुन-सुनकर दुनिया भर ली, दिलमें बोले—चलो ईश्वरसे चलकर मिलें।

आये मेरे सजना फिरि गये अंगना मैं बौरि रही सोय री।

तुम चक्षुश्रोत्रमें लग गये और परमात्मा 'अचक्षुश्रोत्रं' आँख कैसे मिले!

देवं भूत्वा देवं यजेत्।

कान और आँखसे रहित जो परमात्मा है, उससे मिलना हो तो तुम भी

आँख और कानको जरा अलग रखकर तब उससे मिलो। वह तो सारे पर्दे फाड़ दे, वह तो सारे कपड़े निकालकर फेंक दे और तुम अपना शरीर ढँक करके उससे मिलने जाओ!

अब कुछ दुनियामें देखना नहीं है, अब दुनियामें कुछ सुनना नहीं है। हम तो यह देखो परमात्मामें बैठ गये। ऐसे, अभी परमात्मामें बैठ जाओ।

एक बात याद आगयी पुरानी, आपको सुनाते हैं। ये हमारे मुम्बईके जो वेदान्ती हैं उनको तो यह जल्दी रहती है कि कैसे वेदान्त सीख लें और फिर दुकानपर जाकर बैठें। दुकानपर बैठनेकी तो जल्दी बहुत, तो वेदान्त जल्दी-जल्दी सीखो। (पंडितसे कहते हैं) महाराज, ब्याह जल्दी कराओ, लोगोंका सत्कार करना है। मन्त्र चाहे पढ़े जायें चाहे न पढ़े जायें, पर रिसैप्शन तो जरूरी है। तो इस रीतिसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

देखो आपके कामकी बात सुना रहा हूँ, क्योंकि मैं तो सुन चुका हूँ भला और उसका अनुभव भी कर चुका हूँ — एक महात्माने हमको बताया था कि जिस समय भजन करने बैठो, उस समय यह सोचो कि हमने सारी दुनियाको, जो अबतक देखी-सुनी, खायी, पी, जोड़ी, वह सब छोड़कर हम अपने परम प्रियतम परमात्मासे मिलनेके लिए जा रहे हैं, अब हमको लौटकर आनेकी जरूरत नहीं है। हमको फिर लौटकर मायके आना है यह सोचकर ससुराल मत जाओ। यह सोचकर ससुराल जाओ कि फिर लौटकर कभी मायके आना नहीं है।

जब भजन करने बैठो तो यह सोचो कि हम तो अब परमात्मासे मिलनेके लिए जा रहे हैं और उससे मिलकर एक हो जायेंगे तो पता नहीं, वह फिर लौटावे नहीं, अपने पास ही रख ले। तो फिर दुनियामें हमको लौटना नहीं है। ऐसा भाव लेकर जो ईश्वरसे मिलनेके लिए जाता है, उसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है।

तो तदपाणिपादम्। अचक्षुः श्रोत्रम्—यह अपना वर्णन आप देखो। हमारे न आँख, न कान। कोई जरूरत नहीं आँख-कानकी। देखो दुनियामें क्या देखना जरूरी है कि तुम आँखसे प्रेम करते हो? और क्या सुनना जरूरी है कि तुम कानसे प्रेम करते हो? तुम्हें क्या हाथसे पकड़ना है कि हाथको अपना मेरा समझते हो? और कहाँ चलकर जाना है कि पाँवको मेरा समझते हो? वैराग्यकी पराकाष्ठा हो गयी—तदपाणिपादम्।

न मुझे कुछ पकड़ना है और न कहीं जाना है।ईश्वरको अनन्य बनानेकी कोशिश मत करो, खुद अनन्य बनो। जैसे तुम बन जाओंगे वैसा ही ईश्वर तुम्हारे पास आवेगा। अगर तुम निराकार, तो ईश्वर निराकार। तुम साकार तो ईश्वर साकार और जो तुम निर्गुण एकरस नित्य-शुद्ध-बुद्धि-मुक्त आत्मा, तो ईश्वर भी निर्गुण एकरस नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा।

जैसी-जैसी अपनी सफाई करोगे, वैसा ही वैसा शुद्ध परमात्मा दिखेगा। तदपाणिपादम्।

> नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं। तदव्ययं यद्भतयोनिं परिपश्यान्त धीराः॥

आओ! परमात्माके स्वरूपपर विचार करें। परमात्मा कैसा है? कि नित्य है।

देखो, आप देखते हो कि मिट्टीमें जो खिलौने बनते हैं; वे अनित्य होते हैं, हमेशा नहीं रहते और मिट्टी नित्य होती है।

जो पानीमें बुद-बुदे, पैदा होते हैं वै अनित्य होते हैं और पानी नित्य होता है। आगमें जो चिनगारियाँ निकलती हैं वे अनित्य होती हैं और अग्नि नित्य होती है। वायुमें जो झोंके आते हैं वे अनित्य होते हैं और वायु नित्य होता है। और आकाशमें जो घटाकाश और मठाकाश मालूम पड़ता है, यह अनित्य होता है और आकाश नित्य होता है। मनमें जो संकल्प उठते हैं, वे अनित्य होते हैं और मन नित्य होता है। बुद्धिमें जो विचार उठते हैं, वे विचार अनित्य होते हैं और बुद्धि नित्य होती है।

अब आप साक्षी जो दृश्य देखते हो, वे अनित्य होते हैं और आप साक्षी नित्य होते हो।

अबं इस प्रकार देखो—नित्यं। दुनिया बदल रही है और ईश्वर नहीं बदल रहा है। हम शाश्वत टिक रहे हैं। हम जानते हैं कितनी हवाएँ आयीं और कितनी चली गयीं। जब यह हवा आती है न, आदमीका मन हो जाता है कि इसके साथ बह जायें। यह हवा आनेपर न बहना नित्यताका लक्षण है। कितनी हवा आयी, दुनियामें कितने राज्य बदले, कितनी उथल पुथल हुई, जिस राज्यका धरतीपर अट्ठारह वर्ष पहले अस्तित्त्व नहीं था, वह राज्य धरतीपर पैदा हो गया और महाराज जो राज्य बड़ा प्रबल था, वह राज्य समाप्त हो गया। सृप्टिमें यह बदलता है।

आपको मालूम है सूर्यमें भी परिवर्तन होता है। चन्द्रमामें भी परिवर्तन होता है। समुद्रमें भी परिवर्तन होता है, धरतीमें भी परिवर्तन होता है, वैज्ञानिक लोग इसका हिसाब रखते हैं कि पाँच हजार वर्षमें धरती कितना बदलती है और पाँच लाख वर्षमें धरती कितनी बदलती है। आसमान परसे रोज धूल कितनी गिरती है धरतीपर। अरे यह देहको मैं मानकर फँस गये बाबा इसमें 'नित्यं' जो शाश्वत है, सत्य है, उसको ढूँढ़ो—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

यदि इसी जीवनमें तुमने परमात्माको जान लिया, तो तुम्हारा जीवन सच्चा, नहीं तो महान् विनाशके मार्गपर चल रहे हैं।

विभुं-विविधं भवति इति विभुः।

एक परमात्मा ही नाना रूपमें हो गया और—सर्वगतं—सबमें व्यापक है तो सर्वगत।

देखो कलकी व्याख्यामें और आजकी व्याख्यामें थोड़ा फर्क कर दिया। यह क्या है ? कि असलमें रोज ही यदि इस मन्त्रकी व्याख्या करनी हो, तो रोज ही कोई-न-कोई नयी बात निकलेगी।

आप देखो फर्क इसलिए किया कि कल जो अर्थ किया था, वह लक्ष्य (ब्रह्म)की प्रधानतासे था और आज जो भाव सुनाया आपको वह आत्माकी प्रधानतासे सुनाया।तो असलमें दोनों एक ही हैं जो शब्द ब्रह्मके लिए होता है, अगर वही आत्माके लिए प्रयुक्त न होगा तो वह ब्रह्म ही गलत है। और, जो शब्द आत्माके लिए होता है, वह ब्रह्मके लिए प्रयुक्त न हुआ तो आत्मा ही गलत हो जायेगा। भिक्त सिद्धान्त और ज्ञान सिद्धान्त मिलानेकी दृष्टिसे यह बात है।

देखो हम इस समय जैसे हैं अगर ऐसा ही ब्रह्मका वर्णन करने लग

जायं—जैसे हमारे अन्दर कर्म हांता है न, देहसे हम परिच्छित्र होते हैं, जैसे हमारे अन्दर भी काम हांता है, क्रोध होता है, लोभ होता है, मोह होता है, ऐसा अगर हम ब्रह्मका वर्णन करने लग जायें—तो ब्रह्मका रूप क्या होगा? वह अवतार रूप होगा। विलकुल ऐसा ही! यह हम आपको गुर बताते हैं। सारे इतिहास-पुराणका सार बताते हैं।

अज्ञान दशामें जैसे हम हैं, अगर ब्रह्मका उसी दशामें वर्णन किया जाये, तो उसका नाम अवतार होगा। यह नहीं कहना कि वह चोरी नहीं करता, व्यिभचार नहीं करता, चीर हरण नहीं करता, वह छेड़छाड़ नहीं करता, वह लड़ाईमें नहीं हारता, वह झूठ नहीं बोलता! अपनी दशाका जब हम ब्रह्मपर आरोप करते हैं तब वह अवतार हो जाता है। और ब्रह्मकी दशाका जब हम अपने ऊपर आरोप करते हैं तब हम ब्रह्म हो जाते हैं।

ब्रह्मके सारे लक्षण हम अपनेमें घटा लें—यह तो उचित है और यदि हम अपने सारे लक्षण ब्रह्ममें घटावें। तो क्या यह अनुचित है? यह अनुचित नहीं है, नारायण, आप डरना मत। महात्मा लोग इस वस्तुका साक्षात्कार किये रहते हैं कि एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

एक कीड़ेकी जो अवस्था होती है एक कीड़ेका जो मैं है, वह ब्रह्मका मैं है। ब्रह्म क्यों नहीं कीड़ेके रूपमें प्रकट होगा? वह क्यों नहीं वराह बनेगा? ब्रह्म क्यों नहीं मछली बनेगा? ब्रह्म क्यों नहीं सिद्ध बनेगा? क्योंकि सबकी आत्मा ब्रह्म है।

तो यह आपको इसलिए बताया कि जबतक तत्त्वमिस महावाक्यके अर्थको कोई स्वीकार नहीं करे, तबतक पुराणका—इतिहासका अभिप्राय कभी उसकी समझमें आवेगा ही नहीं।

अब यह आपको सुनाते हैं—

नित्यं विभुं। विभुं माने विविधं भवति। स एकधा भवति। द्विधा भवति। त्रिधा भवति। पंचधा भवति। सप्तधा भवति। नवधा भवति। एकादशधा भवति।

वह परमात्मा एक रूपमें प्रकट होता है, दो रूपमें प्रकट होता है, तीन रूपमें प्रकट होता है, पाँच रूपमें प्रकट होता है। एक प्रकृतिके रूपमें प्रकट

होता है। दो—द्रष्टा और दृश्यके रूपमें प्रकट होता है। तीन गुणके रूपमें प्रकट होता है। पाँच-पाँच कर्मेन्द्रियों ज्ञानेन्द्रियोंके रूपमें प्रकट होता है। सात धातुओंके रूपमें प्रकट होता है। नौ इन्द्रिय छिद्रोंके रूपमें प्रकट होता है।

एकादशधा भवति—मन सहित इन्द्रियोंके रूपमें प्रकट होता है। इसको बोलते हैं विविध।

तो इसका क्या अर्थ हुआ कि संसारमें जो कुछ है, उसके रूपमें विभु परमात्मा प्रकट हुआ है। सबका उपादान कारण परमात्मा है।

'विभु'का अर्थ है विभवति, विविधं भवति सबका उपादान कारण परमात्मा है। और 'नित्यं', नित्यंका अर्थ है अबाधित सत्य है। 'सर्वगतं 'का अर्थ व्यापक है।

कल बताया था विभुका अर्थ व्यापक है और सर्वगतका अर्थ सर्वोपादान है। अब 'विभु' माने विभवनशील है और सर्वगत माने सर्वव्यापी है।

देशवत् व्यापक है यह बात सर्वगतमें कही गयी। कारणवत् व्यापक है—यह बात विभुमें कही गयी और कालवत् व्यापक है यह बात 'नित्यं 'में कही गयी। परमात्माकी विभुता अगर समझनी हो, वेदान्तकी रीतिसे तो ऐसे समझी जाती है।

'नित्यं विभुं सर्वगतं'—बोले—ऐसा परमात्मा, तो इसका अर्थ हुआ नित्य है।

अब जरा मिलाओ—नित्य है परमात्मा, तो इस समय है कि नहीं? जो इस समय नहीं होगा वह नित्य काहेको होगा! वह तो बिलकुल बोगस होगा।

'विभुं'—सर्वरूपमें है, तो जो रूप हम देख रहे हैं, उस रूपमें परमात्मा है कि नहीं? भले ही यह परिणामी रूप है कि विवर्ति रूप है, इस बातको छोड़ दो, लेकिन जो रूप भी हम देख रहे हैं और देखे जा रहे हैं। यह नहीं समझना कि देख रहे हैं सो ही, जिस रूपमें हम देखे जा रहे हैं, उस रूपमें परमात्मा और जिस रूपमें तुम देख रहे हो, उस रूपमें परमात्मा, क्योंकि सब रूप उसीके हैं।

यह अद्वैतवादी और परिणामवादी आपसमें लड़ाई कर लेंगे कि विवर्तके

रूपमें सब है कि परिणामके रूपमें सब है। यह लड़ाई दार्शनिकोंकी है। लेकिन परमात्मा सर्व है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। न मध्वाचार्यका, न रामानुजाचार्यका न वल्लभाचार्यका, न निम्बार्काचार्यका, न शंकराचार्यका।

सर्व-किस रूपमें सर्व है?

- 'यह सब परमात्माका विशेषण है'—यह रामानुजाचार्य बोलते हैं।
- 'यह परमात्माका शक्ति निक्षेप है'—यह निम्बार्काचार्य बोलते हैं।
- 'यह सब शुद्ध सोनेकी तरह परमात्मा है'—यह वल्लभाचार्य अविकृत परिणाम बोलते हैं।

और, महाराज शंकराचार्य बोलते हैं कि यह विवर्त है। चिन्मात्र वस्तुमें कोई परिणाम नहीं होता है, वह ज्यों-का-त्यों है। पर यह सब मानते हैं कि परमात्मा सब है। आध्यात्मिक शान्तिके लिए इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है!

तो कालवत् व्यापक है—िनत्यं, उपादानवत् व्यापक है विभुं और देखो परमात्मा यही है। जो यहाँ नहीं है, सो परमात्मा कैसे होगा? कि परिच्छिन्न होगा। परमात्मा यही है, जो यही नहीं होगा वह उपादान कैसे होगा? और जो अभी नहीं होगा, वह तो मर गया होगा या अभी पैदा ही नहीं हुआ होगा।

देखो; जो अभी नहीं होगा, उसमें दो बात होंगी या तो पैदा हुआ नहीं, इसलिए नहीं है, या तो मर गया होगा इसलिए नहीं होगा। जो पहले मर गया सो अब नहीं है, जो आगे पैदा होगा सो अब नहीं है और परमात्मा, कभी न मरा न पैदा होगा, अभी है, नित्य है और यहीं है, दाहिने-बायें वही है और यहीं है। यह तीन बात कही गयी। तब, लोग पहचानते क्यों नहीं हैं? कि सुसूक्ष्मं—वह जो धातु है अगर सोनेकी तरह होता तो कसौटीपर कस लेते; हीरेकी तरह होता तो मशीनमें डालकर देखते कि इसमें चिलक कैसी है? पीलापन तो नहीं है। अगर हीरेकी तरह होता तो यन्त्रसे देखते, सोनेकी तरह होता तो कसौटीपर कसते। दाल-भातकी तरह होता तो चखकर देखते— परन्तु; यह तो सुसूक्ष्मं बड़ा सूक्ष्म है।

अब वह सूक्ष्म क्यों है? सूक्ष्मताका हेतु बताते हैं। कि देखो यह

गुणवाली जो वस्तु होती है वह स्शृल हो जाती है। जैसे आकाशमें शब्द गुण है, वायुमें स्पर्श गुण है, तेजमें रूप गृण है, जलमें रस गृण है और पृथिवीमें गन्ध्र गुण है।

तो, गुणवाली वस्तु स्थूल होती है और भी गुण देख लेना, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—जिसमें परिमाण रूप गुण होता है, कितनी बड़ी। जिसमें—यह उसका पिछला हिस्सा और यह पहला हिस्सा, अगला हिस्सा। तो पर-अपर जिसमें होता है, विभाग जिसमें होता है, जिसमें गुरुत्व होता है—भार होता है, जिसमें द्रवत्व होता है—जो पिघलनेवाली चीज होती है। जिसमें गुण होता है वह वस्तु स्थूल होती है और जो गुणातीत वस्तु होती है उसमें स्थूलता कभी आती नहीं और स्थूलता नहीं आती तो सुसूक्ष्मं—सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है। देश भी सूक्ष्म है। उपाधिसे ही पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण होता है।

काल भी सूक्ष्म है। प्रकृति भी सूक्ष्म है, परन्तु परमात्मा कैसा है? कि सुसूक्ष्मं ।

कैसा है परमात्मा? बोले—अव्यय है। अव्ययका मतलब आप समझो कि एक राजाके पास खजाना है। तो खजानेमें-से अगर खर्च होगा, तो खजाना खत्म हो जायेगा कि नहीं? व्यय हो जायेगा।

तो परमात्मा ऐसा खजाना नहीं है कि वह व्यय करनेसे खर्च हो जाये। तो राजांके खजानेकी तरह परमात्मामें व्यय नहीं है। और, देखो अपना शरीर तो एक दिन ऐसा था माँके पेटमें, एक बूँद पानी था और महाराज, बढ़ना शुरू हुआ, उसमें दिल बना, उसमें सिर निकला, हाथ निकले, पाँव निकले, बढ़ा और फिर माँके पेटमें-से निकला, तो वह खान-पान मिला महाराज, छह पाँड, आठ पाँडका निकला, हर महीनेमें दो पाँड बढ़ने लगा—ऐसा बच्चा बन गया। अब महाराज बढ़ते-बढ़ते पचास वर्षकी उम्र हो गयी। अब क्या होगा? नारायण! बस, अब बाल पकने लग गये अब आँखसे कम दिखने लग गया, अब कानसे कम सुनायी पड़ने लगा।

चलते हैं, महाराज, तो कई लोग हाथीकी तरह चलने लग जाते हैं। चाल देखकर बड़ा मजा आता है। कोई बिलकुल हवाई जहाजकी तरह चलते हैं, जैसे नाव चल रही हो, ऐसे चलते हैं। कोई बैलगाड़ीकी तरह चलते हैं, कोई मोटरकी तरह चलते हैं। इन यन्त्रोंके साथ आदमीका मिलान करो तो हँसी आयेगी आपको। लेकिन यह है कि अगर आप अपने दुश्मनके बारेमें सोचोगे तो यह मजा थोड़े आवेगा?

जिससे मोहब्बत है, रागमें फँस गये, तो वही दिखेगा, दूसरा दिखेगा ही नहीं और द्वेपमें फँस गये तो जिससे द्वेप है वही दिखेगा।

राग-द्रेप छोड़कर दुनियाको देखो, कोई महाराज सड़कपर चलते हैं, तो सीधे कभी नहीं चलते, कभी इस किनारे जाते हैं तो कभी उस किनारे जाते हैं। कई लोग ऐसे होते हैं जो घृम-घूमकर पीछे देख लिया करते हैं। बड़ी विचित्र चाल होती है। उड़ियाबाबाजी महाराज बताते थे अपने भक्त लोगोंको, हम पाँच-चार जने इकट्टे होकर जाते रातको, तो चलकर बताते थे कि देखों सुखराम चलता है तो उसका हाथ यों लटकता है, वह कमर पटकता है, टेढ़ा होकर वह मटकता हुआ चलता है। अरें! बताते थे कि बन्दर कैसे दोनों हाथसे खाता है, माने उसको खानेकी वासना इतनी तीव्र है कि एक हाथसे खानेमें उसको तृप्ति नहीं होती। तो दोनों हाथसे खाता है। वे बताते कि बन्दर ऐसे खाता है।

यह शरीर जो है यह कैसा-कैसा रूप ग्रहण करता है, आप देखों गन्दगीके खजानेका नाम यह शरीर है। आप बड़े पिवत्र हैं, हम इस बातकों मानते हैं, पिवत्रात्मा हैं बिलकुल। लेकिन दुनियामें कहीं गन्दगी नहीं रहती है, जहाँ आदमी जाता है, वहीं गन्दगी है। इस शरीरमें-से नाखून निकले, सो गन्दा, बाल काटकर फेंक दें सो गन्दा; थूक दें तो गन्दा, शरीर धोकर पानी फेंक दें तो गन्दा, पेशाब गन्दी, विष्ठा गन्दा, खून बह जाये तो गन्दा, पीब बहे तो गन्दा, हड्डी इसमें-से निकले तो गन्दा; दाँत मुँहमें रहे तो शुद्ध है पर टूटकर बाहर गिरे तो अशुद्ध कैसे हुआ, वह आपको मालूम है? थूक मुँहमें रहे तबतक पिवत्र और बाहर थूक दिया तो गन्दा। यह कैसे हुआ?

देखो जो चीज 'मैं के जितनी निकट है उतनी पवित्र है और जो चीज 'मैं से जितनी दूर होती है, वह उतनी गन्दी होती है।

यह सृष्टि गन्दी कैसे हुई? यह परमात्मासे दूर होकर मैं-से दूर होकर गन्दी हो गयी। यदि तुमको ऐसा ज्ञान होता— अहं हरि: सर्विमिदं जनार्दन: नान्यं तत: कारणकार्य जातम्।

सब आत्मा, सब परमात्मा, सब ब्रह्म है, तो दुनियामें गन्दगी नामकी चीज ही नहीं होती। यह सब शरीरमें होता है।

जो चीज अपने शरीरके भीतर रहती है, वह गंदी नहीं होती, शरीरसे जो बाहर निकल जाता है सो ही गंदा हो जाता है। यदि सारी सृष्टि अपने भीतर होती तो बिल्कुल गंदी न होती। यह सृष्टि जो अपनेसे बाहर निकल गयी, माने हमने अपनेको छोटा मान लिया, परिच्छित्र मान लिया, इसलिए सृष्टि। ंदगी आ गयी।

तो अव्यय माने क्या होता है?

आप देखो—यह आत्मा अव्यय है—यह कहनेका मतलब है कि शरीरका जैसे व्यय हो रहा है, जैसे खजानेका व्यय होता है, जैसे गुणोंका व्यय होता है, ऐसे आत्माका व्यय नहीं होता।

अच्छा 'व्यय' माने क्या होता है? यह 'वि' उपसर्ग है और 'एति' अथवा 'अय' दोनों धातुओंसे 'व्यय' शब्द बनता है। इण गतौसे विविधं एति विपरीतं एति इतिव्ययः। तथा अय् धातुसे विपरीतं अयते। इति अव्ययः व्ययनं व्यय। ऐसा समझो। विपरीत अयन। विपरीत अयन क्या? विपर्ययते-विपरीत हो जाना। पैदा होना अलग, इकट्ठा होना अलग और खर्च होना अलग। यह खर्च है। ख़र्चना= 'ख' माने शून्य, रचना। ख रचना कब बोलेंगे? जब तिजोरी खाली हो जाये, ख-रचना। तिजोरीके खानेको 'ख' कर दे, माने शून्य कर दे। तो 'ख'की रचना हो गयी, खरचनेमें। इसी प्रकार खात्मा-खं शून्यमेव आत्मा, खात्मा हो गया। माने कुछ रहा ही नहीं। तो परमात्मा व्यय नहीं अव्यय है।

'अव्यय' है कहनेका अभिप्राय है कि यह खर्च नहीं होता। जैसे महात्मा लोग आत्म ज्ञानका उपदेश करते हैं। ऐसे बोलते हैं—तुम हमारे आत्मा, तुम हमारे आत्मा, तुम हमारे आत्मा, माने सबको आत्मदान कर रहे हैं। तो अगर महाराज ऐसे कहा जाये कि 'मेरे धनके मालिक तुम, मेरे धनके मालिक तुम, मेरे धनके मालिक तुम, मेरे धनके मालिक तुम, वो क्या धन रहेगा? खत्म हो जायेगा कि नहीं? धनका व्यय हो जायेगा। वह तो कहेंगे—मेरे धनका मालिक मैं।

अरे महाराज, पैसेका सवाल आये तो बाप और बेटामें यह झगड़ा

होता है। एक मारवाड़ियोंका बहुत बड़ा फर्म था कलकत्तेमें; ढाई सौ वर्ष पुराना, जब मुकदमा लड़ा, तो कटघरेमें एक ओर बाप खड़ा और एक ओर बेटा खड़ा।

योले—महाराज यह बहुत सत्संग करते हैं, बेटेके साथ मुकदमा लड़ रहे हैं, आप उनको समझा दो। ऐसे उनके घरके लोग आकर हमसे कहें।

यह 'व्यय' जो है न, यह व्यय है। शरीरका व्यय होता है, धनका व्यय होता है और जैसे देखों, गुणका भी व्यय होता है। गुणका व्यय कैसे होता है? कि गुलाबका फूल है, उसमें खूब गन्ध है पहले! अब ज्यों-ज्यों पुराना पड़ता जायेगा, त्यों-त्यों उसकी गन्ध कम होती जायेगी। भोजन बनाया, उसमें स्वाद गुण है, वह धीरे-धीरे कम होता जायेगा।

शरीर पैदा हुआ, उसमें रूप गुण है, वह धीरे-धीरे कम होता जायेगा। ये गुण भी कम होते हैं और खजाना भी कम होता है, शरीर भी कम होता है। लेकिन यह परमात्मा जो है, न गुण है इसमें, न खजाना है यह और न तो यह शरीर है भला। क्यों? कि यह—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं है। इसलिए—

तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

यह भूतयोनि है। भूतयोनिका बड़ा बिढ़या अर्थ है। देखो, आप 'योनि' शब्दका अर्थ गीतामें पढ़ते होंगे। शास्त्रमें जो शब्द प्रयुक्त होता है उसको हम बोलनेमें संकोच नहीं करते हैं।

हमने एक देखा, पूर्व मीमांसाका सूत्र है।

'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः।'

चोदनाका अर्थ होता है प्रेरणा। अब महाराज, महात्मा लोग उसको निरोधना बोलते हैं। उसका अर्थ है 'विधान, प्रेरणा, किसीको प्रेरित करना।

अच्छा तो गीतामें—

म्मयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिनार्भं दधाम्यहम्।

अब इसको आप सुधारकर पढ़ो, तो कितना सुधारोगे? कि 'महद् पत्नी, महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'—तो ऐसे थोड़े ही बनेगा। यह तो जैसे है, वह तो वैसे ही ठीक रहेगा। तो यहाँ 'भूत' माने जो पैदा होगा, जो हुआ, उसको भृत बोलते हैं। भवित इति भूतानि—जो पैदा होते हैं उनको भृत बोलते हैं माने जिन जिनमें उत्पत्ति देखनेमें आती है कि यह चीज पैदा हुई है—ऐसा समझो, उत्पत्ति धर्मकं जो पदार्थ हैं उनको भूत कहते हैं और जो उत्पत्ति धर्मक पदार्थ होता है, वह मरण धर्मक भी होता है।

जो उत्पत्तिधर्मा होता है वह मरणधर्मा भी होता है, माने जो पैदा होता है, वह मरता है। पैदा हो और मरे नहीं—ऐसी व्याप्ति, ऐसा दुनियामें कहीं भी देखनेमें नहीं आता—

जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

जो फलता है वह झर जाता है, जो जलाया जाता है दीपक, वह बुझ भी जाता है। उसके लिए दार्शनिक लोग बोलते हैं—यहुश्यं तन्नष्टं—जो चीज देखनेमें आती है वह नष्ट हो जाती है। यह नियम ही है। यद्जन्यं तद् अनित्यम्। जो जन्य है वह अनित्य है।

अब देखो यह ध्यान करो कि जो जन्म है उसके साथ मौत लगी हुई है। तो जन्मके पहले वह चीज उस रूपमें नहीं थी और मरनेके बाद वह चीज उस रूपमें नहीं रहेगी। बीचमें वह उस रूपमें दीखती है।

जैसे देखो, आप कहों रास्तेमें रातको चलते हैं, तो भूत दिखायी पड़ा। अब जाकर जाँच किया तो वहाँ भूत नहीं था, पेड़का ठूँठ था। तो तुम्हारे दिखनेके पहले वहाँ भूत नहीं था और जाँचकर लेनेके बाद भी भूत नहीं। तो बीचमें जो भूत आया, वह कैसे आया? तो वह जन्ममरणधर्मा हुआ। वह तुम्हारी आँखमें पैदा हुआ और तुम्हारी आँखमें ही चला गया।

तो यह जो सृष्टि दिखायी पड़ती है इसे भूत क्यों कहते हैं ? इसे भूत यों कहते हैं कि जैसे रस्सीमें साँपकी भ्रान्त दृष्टिसे देखनेसे पहले साँप नहीं था और फिर रस्सीकी जाँच कर लेनेके बाद साँप नहीं रहेगा तब उसे क्या कहेंगे ? कि भूत पैदा हुआ, साँपका भूत।

यह आपको इतना विस्तार करके इसलिए समझाता हूँ। कि 'भूत' शब्दका अर्थ आपके ध्यानमें आ जाये।

एक आदमी गया श्मशानमें, मुर्देपर बैठ गया और मन्त्र जप किया, तो

मुदेंका मुँह खुला तो खा जाये जप करनेवालंको। तो उसके लिए वह लोहेके चने बनाकर ले गया था तो उसके मुँहमें डाल दिया, मुँह बंद। अब क्या देखता है कि चारों तरफ भूत ही भूत, भृतोंकी बारात, भूतोंका ब्याह, भूतोंके संस्कार, अब बाजे-गाजे बजने लगे, रातका समय। अब महाराज थोड़ी देर बाद जब उसने साधना बंद कर दी, मंत्र जप करना बंद कर दिया, तो वह भूतोंका दिखना बंद हो गया।

तो भूत उसको कहते हैं जो जाँच करनेपर तो मिले नहीं और दीखनेसे पहले होवे नहीं। दीखनेके पहले उनका वह आकार-विकार-प्रकार-संस्कार होवे नहीं और बात करनेके पहले पहुँच जाये मशाल लेकर हाथमें, तो भूत हो गये। माने भूतकी बात हो गयी। भूतकी घटना हो गयी। विगत हो गया वह, वर्तमान नहीं है।

ये महाराज जो भूत दिखायी पड़ते हैं ये मनुष्य स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी ये भूत नहीं भूतोंके बच्चे हैं।

भला ऐसा क्यो कहते हो महाराज कि भूतोंके बच्चे हैं !

अरे तुम महाभूतको पहचानते हो कि नहीं? यह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश महाभूत हैं। इन महाभूतोंके बच्चे कौन हैं ? ये जितने खेत हैं, जितने पौधे हैं, जितने मकान हैं, जितने पशु-पक्षी हैं, जितने स्त्री-पुरुष हैं, कौन हैं? ये महाभूतोंके बच्चे हैं, इसलिए इनको भूत बोलते हैं। माँ-बाप महाभूत हैं और ये इनके नन्हें-नन्हें बच्चे भूत हैं। तो भूत और महाभूत, यह संस्कृत भाषामें जिस ढंगसे बात बोली जाती है, माने शब्दकी तहमें पहुँचनेके लिए क्या सोचना पड़ता है यह बात आपको सुना रहा हूँ।

तो ये जितने पशु-पक्षी, मानव-दानव-देवता हैं—ये सब भूत हैं और इनके माँ-बाप कौन हैं कि पंच महाभूत हैं। और, पंचमहाभूत कौन हैं? कि ये सब तामस अहंकारके विलास हैं।

यह कर्म क्या है ? प्राण क्या है ? कि राजस अहंकारका विलास है। ये इन्द्रियाँ, अन्त:करण क्या हैं ? कि यह सात्त्विक, वैकारिक अहंकारका विलास है। अरे अहंकारपर मत चढ़ो भाई, इस कार परसे उतरकर, अहंकारको छोड़कर परमात्मासे एक होकर देखो—

तद्भुतयोनिं परिपर्श्यन्ति धीराः।

ये महात्मा लोग देखते हैं कि ये भृत, महाभृत और यह अहंकार भृत मिहषासुर ही है। यह भैंसा ही है। महाशक्ति देवी इसको मारती है। महाकाली, महाशक्ति, महासरस्वती देवी इसको मारती है, माने ब्रह्म विद्या इसको मारती है। यह मिहषासुर रूप जो अहंकार है महाशक्ति इसका संहार करती है।

यह भूतयोनि है। भूतयोनि शब्दका अर्थ क्या है ? यह 'परिपर्श्यन्ति' जो लगा हुआ है उस परमात्माको सब जगह देखते हैं—

'परितः पश्यन्ति इति परिपश्यन्ति।'

जहाँ नजर उठाकर देखते हैं—

यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः।

जहाँ-जहाँ नजर जाती है, अच्छा भाई ब्रह्मजी, तुम आज लड़की बनकर आये, क्या आनन्द है! ब्रह्मजी, तुम आज पुरुष बनकर दिख रहे हो!

यह याद रखनेके लिए नहीं है, यह समझनेके लिए है कि अपने मनमें जो मोहकी, लोभकी, कामकी, क्रोधकी ग्रन्थियाँ पैदा हो गयीं, इनको बोलते हैं किंशिरा:।

किं उत्थित: शिर:। कस्मिन् शिरा:।

किं शिरा: कौन हैं? कि जिसमें नाड़ियाँ उत्थित हो जायें और किंशिरासे जो सम्बद्ध है उसको कैंसिर बोलते हैं। तो यह गाँठ पड़ गयी है, कैंसर हो गया है। इसके साथ उलझ गये, उसके साथ उलझ गये, यह जो उलझना है, इसका नाम किंशिरा है। तो यह ग्रन्थि काटनी पड़ेगी आप्रेशन करना होगा, यह महिषासुरकी बलि चढ़ानी पड़ेगी। तो, यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा:। सब जगह वही-वही दिखता है।

अब कल 'धीराः' का अभिप्राय बताकर आगे बढ़ेंगे।



प्रवचन : 6, मंत्र 6-7

अक्षरतत्त्वका जगत्कारणत्व-1

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रम् तदपाणिपादम।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसृक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥ वह अव्यय अविनाशी तत्त्व, वह अक्षर है, जिसको धीर लोग 'यत् धीराः भूतयोनिं पश्यन्ति'—धीर पुरुष जिसको जगत् कारणके रूपमें देखते हैं। माने जगत्के कारणको देखनेवाले अनुसन्धान करनेवाले एकरस रहते हैं।

एक धीर और एक अधीर। तो धीर पुरुष अक्षरको जगत्का कारण सोचते हैं और अधीर पुरुष चाहे जिसको भी जगत्का कारण देखते हैं। इसका कोई प्रयोजन नहीं है। जिसको ज्ञानी लोग कारण देखते हैं, वह क्या है? भ्रान्त पुरुष जिसको जगत्का कारण देखता है, वह ठीक नहीं देखता।

ब्रह्ममें जो अविद्या है, वह परोक्ष है कि अपरोक्ष है? तो प्रक्रियावादी वेदान्ती जितने होते हैं, वे यह सिद्ध करते हैं कि अविद्या अपरोक्ष होती है। कैसे? बोले—अहं अज्ञ:-में, अज्ञानी हूँ। देखो अपरोक्ष उनको होता है। प्रत्यक्ष उनको होता है—अहं न जानामि—मैं नहीं जानता। तो अज्ञानका आश्रय मैं हुआ न, और मैं इस अज्ञानको देख रहा हूँ तो अविद्या तो अपरोक्ष सिद्ध हुई।

अविद्याको सिद्ध करनेके लिए वेदान्ती लोग अपने अनुभवको प्रमाण बताते हैं। बोले—अच्छा, अहं किंचित् न जानामि! अहं न जानामि। अहं अज्ञानी। यह अनुभव भ्रान्त पुरुषका है कि अभ्रान्त पुरुष का है? माने जिसने अपनेको ब्रह्म जान लिया, वह ऐसा अनुभव करता है या कि जिसने ब्रह्मको नहीं जाना वह कहता है कि मैं अज्ञानी? तो दोनोंका फर्क क्या हुआ? जिसने ब्रह्मको नहीं जाना अगर वह कहता है कि 'मैं अज्ञ हूँ'—अज्ञानी अपनेको यदि अज्ञ कहता है। तो अज्ञानीका अनुभव किंचित् प्रमाण नहीं है और तब उसके अनुभवमें अविद्या नामकी कोई चीज नहीं है। ब्रह्म दृष्टिसे अविद्या बिल्कुल है नहीं और अज्ञानीकी दृष्टिसे अविद्या सिद्ध होती है। तब अविद्या क्या है?

बोले-अविद्या बिल्कुल कल्पित है। यह अविद्या शास्त्रार्थ करनेके

लिए आनर्वचनीय है। जिज्ञासुके समझनेके लिए किल्पित है, भ्रान्तको अपरोक्ष सिद्ध है और ब्रह्मज्ञानीके लिए बिल्कुल है ही नहीं। अविद्या नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। बल्कि 'अविद्या' शब्दमें जो विद्या है न, उसको ज्ञानार्थक 'विद्' धातुसे नहीं बना करके सार्थक 'विद्' धातुसे बनाते हैं।

न विद्यते इति अविद्या।

जो बिल्कुल हो ही नहीं, उसका नाम अविद्या। अविद्या माने अविद्यमान। अब देखो आपको यह सुनाते हैं, यह जो अव्यय अक्षर पुरुष है, वही जगत्का कारण है।

तो यह बात बुजुर्गोंक सामने गयी कि जगत्का कारण क्या है? शून्यवादी बौद्धोंने कहा कि जगत्का कुछ कारण नहीं है। इसका कोई अधिष्ठान नहीं है, बिना अधिष्ठानके ही यह शून्यमें भास रहा है; न इसका अधिष्ठान है न अध्यस्त है। अधिष्ठान अध्यस्तसे विरहित ही यह जगत् दिखायी पड़ रहा है। इसको शून्यवाद बोलते हैं। तो जगत्का कारण क्या हुआ? बोले—शून्य हुआ। इसमें तीन स्थित हैं, आपको बताते हैं।

जो जगत्का कारण अपनेसे अलग ढूँढ़ेगा, उसकी तीन स्थित होती है—या तो वह इस निश्चयपर पहुँच जाये कि जगत्का कोई कारण नहीं है, शून्य है, या तो इस स्थितिपर पहुँचे कि जगत्का कारण जड़ है। क्योंकि अन्यको कारण ढूँढ़ रहा है, तो या तो शून्याद्वैतवादी हो जायेगा या तो जड़ाद्वैतवादी हो जायेगा। कि जगत्का कारण जड़ है। जैसे बोलते हैं विकासवादी थ्योरी, डार्वीनियन थ्योरी, जर्मन दार्शनिक हैगले, मार्क्स, जो जगत्को जड़ वस्तुसे उत्पन्न मानते हैं, जड़ाद्वैतवादी हो जाते हैं।

एक तीसरी बात और हो सकती है कि जो अपनेसे भिन्न जगत्का कारण मानेगा, वह ईश्वरवादी भी हो सकता है। यन्त्र प्रधान खोजी हो तो उसको जगत्का कारण जड़ मिलेगा और श्रद्धा प्रधान हो तो उसको जगत्का कारण ईश्वर मिलेगा और न श्रद्धा हो, न खोज होवे, केवल युक्तिकी, बुद्धिकी प्रधानता होवे तो जगत्का कारण शून्य मिलेगा।

अब शून्यमें तो अनेक भेद नहीं होते हैं, शून्य तो शून्य है, लेकिन जड़वादमें अनेक भेद होते हैं। परमाणुसे सृष्टि हुई, प्रकृतिसे सृष्टि हुई, पंचभृतसे सृष्टि हुई। यह जड़वादके अनेक भेद हाते हैं और ईश्वरवादमें भी जो साकारवादी हैं वे कहें में गणेशसे सृष्टि हुई, कोई कहेगा सूर्यसे हुई, कोई कहेगा देवी मैयासे हुई, कोई कहेगा चतुर्भुज नारायणसे हुई, कोई कहेगा गोरे शंकरसे हुई। साकारवादी अपने अपने इष्टदेवताको सृष्टिका कारण बतावेंगे। बोले—तुम क्या जानो किस रूपमें क्या है! वह तो हम जानते हैं, ध्यान करते हैं, हम प्रेम करते हैं, हम मिलते हैं, उसने ही सृष्टि बनायी है।

यह तुमको कैसे मालूम हुआ? कि एकदिन उसने कहा था कि हमने बनायी है। अपने इष्टदेवकी बात भला क्या कभी झूठी हो सकती है? उसने हमसे कहा था कि हमने ही पहले-पहल सृष्टि बनायी।

तो साकारवादी अपने-अपने इष्टको जगत्का कारण मानते हैं।

निराकारवादी जो हैं, उनमें समझो ईसाई हैं, मुसलमान हैं, ये निराकार ईश्वरसे सृष्टि मानते हैं। इसमें भी बहुत भेद हैं। समझो कि हमारे हिन्दुओं में पूर्वमीमांसक और जैन—ये सृष्टिकी उत्पत्ति और सृष्टिका प्रलय (आत्यन्तिक) कभी नहीं मानते हैं। ऐसा मानते हैं कि सृष्टिकी परम्परा हमेशासे चली आ रही है, कभी गुप्त होती है और कभी प्रगट होती है, अनादि है और नित्य है।

न कदाचिदनीदृशं जगत्।

बोले—(सृष्टिमें) यह इतना भेद कैसे होता है? कि कर्मसे। कर्म तो मनुष्यके अन्त:करणमें रहता है, इसिलए अन्तरंग उपादानवादी हैं कर्मवादी और परमाणुवादी बहिरंग उपादानवादी हैं, बाहर उपादान मानते हैं।

उपादान माने सृष्टिका मसाला। और प्रकृति और ईश्वर ये दोनों भीतर रहते हैं। अत: वे भी अन्तरङ्ग उपादानवादी हैं। तो वह जगत्का कारण है ऐसा।

तो ईश्वर भी अन्तरंग है और प्रकृति भी अन्तरंग है और कर्म भी अन्तरंग है, विज्ञान भी अन्तरंग है। दृष्टि-सृष्टिवाद भी अन्तरंग है। परमाणुवाद बहिरंग है। चार्वाकका जो चारभूतवाद है भूत चतुष्ट्य बहिरंग है। मार्क्सका जो वाद है वह बहिरंगवाद है। लेकिन बौद्धोंका जो शून्य है वह अन्तरंग-बहिरंगसे विलक्षण है। यह सृष्टिके उपादानके बारेमें दार्शीनक जब विचार करता है, तो ऐसे नहीं सोचता है कि बस इतना ही, वह गिनती करता है, अर्थ प्रधान विचार उसका होता है। गिनती कर लेता है कि सृष्टिमें कितने प्रकारके कारण हो सकते हैं, निरुप्दानवादी, हेयोपादेय उपादानवादी, अन्तरंग-उपादानवादी, बहिरंग उपादानवादी और सृष्टिको नित्य माननेवाले जिसमें उपादान और उपादेयका भेद ही नहीं होता है—ऐसे। अनेक प्रकारके उपादान। तो सांख्य और योग अन्तरंग उपादानवादी हैं। न्याय और वैशेषिक बहिरंग उपादानवादी हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा अन्तरंग उपादानवादी हैं। मार्क्स, हेगले, चार्वाक्—ये बहिरंग उपादानवादी हैं। ईसाई मुसलमान सब अन्तरंग उपादनवादी हैं।

अच्छा, ईश्वरने कहा—'बन जाओ' और सृष्टि बन गयी।

तदभूतयोनिं—ये सारे भूत कहाँसे पैदा हुए हैं ? बोले—अक्षरसे-ब्रह्मसे। क्योंकि जब सृष्टि पैदा होती है, तब उसके साथ देश विभाग, काल विभाग,— ये दोनों पैदा होगें तब सृष्टि होगी।

पहले-पीछे कब होगा? जब सृष्टि होगी। जैसे 'घट' शब्द हम बोलते हैं न, तो 'घ' पहले और 'ट' बाद में। यह पहले और बाद कब होगा? जब काल होगा। 'घ' पहले और 'ट' वादमें काल बन गया और कागजपर लिख दिया तो उन्होंने जगह घेर ली तो स्थान हो गया। और दोनोंकी आकृति बन गयी, लिपि हो गयी। तो 'घट' लिपिमें लिखा हुआ घट जगह भी घेरता है, उसकी शक्ल भी होती है और मुँहसे बोला हुआ 'घट', उसमें केवल बोलनेका जो स्थान प्रयत्न है न, वह होता है और 'घ' पहले और 'ट' बादमें यह काल होता है।

क्रिया, काल और स्थान। लिपि नहीं होती है, आकृति नहीं होती है, लेकिन जब काग्जपर लिख देते हैं, तो काल भी, स्थान भी, क्रिया भी, आकृति भी, ये सब झट बन जाते हैं।

तो यह सृष्टि जब पैदा होती है तब देश-काल सहित होती है और इनका मूल कारण है अक्षर।

तो जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है, यह शण्डामर्कका मत है। शण्डामर्क माने मार्क्स। यह शण्डामर्कमें जो 'मर्क' है न, उसको पहले 'स'से मिला दो तो मर्कसंड होगा, मार्क्स। प्रह्लादको जो पढ़ाया करते थे हिरण्यकशिपुके पुरोहित शण्डामर्क, उनका मत है यह।

और चार्वाक् जो हैं—लोकायतमत उसको बोलते हैं। चारुवाक्— जिसको सुनकर लोग तुरन्त मान लें कि बहुत बढ़िया, बहुत बढ़िया।

एक जगह में किसी हाईस्कूलमें बैठा हुआ था, तो कोई महाराज आर्य-समाजी आये और उन्होंने श्राद्धकी वह हँसी उड़ायी। अब वे बच्चे जो हैं छोटे-छोटे, बार-बार ताली पीटें, बार-बार हँसे। श्राद्धकी खूब हँसी उड़ायी। अब भला कहीं श्राद्ध बच्चे समझते हैं!

श्राद्ध विज्ञान, मूर्तिपूजा विज्ञान बच्चोंके समझनेकी वस्तु नहीं है। इसी प्रकार यह जो सृष्टि विज्ञान है, इसको सब लोग नहीं समझ सकते। कौन समझ सकते हैं ? कि—

तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः

धीराः माने धीमन्तः । ध्यायन्ति इति धीराः । शंकराचार्य भगवान्ने धीर शब्दका अर्थ किया है धीमन्तः । भाष्यमें धीराःका पर्याय दिया हुआ है— धीमन्तः ।

ध्यायन्ति इति धीरा:। तो धीरा: धीमन्त: विवेकिन:। जो धीरे हैं।

आप लोग धीर हो कि अधीर? तो ऐसा कहना पड़ेगा कि जिस समय आप कथाके लिए चलते हो न, और घरमें कई काम पड़े रहते हैं और उनको छोड़कर चले आते हो, उस समय तो धीर रहते हो आप। कई अड़चन होती है, घरमें, सुख होता है, दु:ख होता है, काम-धन्धा होता है और उसका त्याग करके कथामें आते हो, उस समय धीर होते हो और कथासे जब आपको जाना होता है और एक मिनट बाकी रहते ही टोपी लगा लेते हो और कोट पहन लेते हो तो उस समय आप कौन रहते हो? तो उस समय आप अधीर हो जाते हो।

भगवद्गीतामें यह बात बतायी है कि धीर जो है वह परमात्माके दर्शनका अधिकारी होता है—

यं हि न व्यथ्यन्त्यते पुरुषं पुरुषर्षभ। सम दुःखं सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। अमृतत्वका अधिकारी कौन है? थोड़ी सर्दी सहे, थोड़ी गर्मी सहे, थोड़ी गाली सहे, थोड़ा अपमान सहे, थोड़ी निन्दा सहे, सहनेकी थोड़ी शक्ति हो।

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुःखदा।

एक सज्जन वोले कि महाराज आज जरा जल्दी जाना है। क्यों ? कि बोले—आज चौंपाटीपर चाट खानेका प्रोग्राम वच्चेने वनाया है, तो वहाँ पहुँचना जरूरी है। ऐसे, एकने कहा—महाराज, संगीत सुनना है जरा, सो जल्दी जाना है। इसे क्या बोलते हैं ? कि अधीर।

विकारहेतौ सित विक्रियन्ते। येषां न चेतांसि त एव धीराः।

कालिदासका वचन है यह। विकारका हेतु उपस्थित होनेपर भी जिसके चित्तमें विकार नहीं होता, स्त्री-पुरुष सामने होनेपर भी कामका उदय मनमें न हो, शत्रु सामने रहनेपर भी क्रोधका उदय न हो, धन सामने रहनेपर भी लोभका उदय न हो, भोजन सामने होनेपर भी मन उसके लिए मचले नहीं, विचित्तित नहीं होवे, इसको धीर बोलते हैं।

मतलव यह कि संसारके लोगोंका आकर्पण जिसको खींचता नहीं है उसको धीर कहते हैं।

अब यह भूतयोनिको जाननेमें जगत्के कारणको जाननेमें धीरकी क्या जरूरत है?

धीरकी जरूरत यह है कि यदि संसारके भोग बार-वार तुम्हारी बुद्धिकां आकर्षित करेंगे तो धीरकी जरूरत होगी न! तो एक तो जिस समय भोग आकर्षण करेंगे, उस समय परमात्माके चिन्तनमें, भूतयोनिके चिन्तनमें मन लगेगा ही नहीं और भोगका आकर्षण ज्यादा होगा तो आगेके लिए इकट्ठा करनेमें लग जाओगे न! आप ईमानदारीसे सोचो, आप जो कमाई करते हो या धनकी फिक्र करते हो, यह आज खानेके लिए करते हो कि दस वर्ष बाद खानेके लिए करते हो? आज जो तुम बाजारमें शापिंग करनेके लिए जाते हो, क्या आज तुम्हारे पास पहननेके लिए साड़ी नहीं है, कपड़ा नहीं है इसके लिए जाते हो?

साफ-साफ बात करते हैं, दो टूक! क्यों अधीर हो रहे हो? तो,

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुख दुःखदा। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

उनको सह लेनेकी आदत डालो। तो यह कहो कि हिमालयमें जायें तो सहें। तो यह बात आप बिल्कुल गलत समझते हो, अगर ऐसी समझते हो तो। हम हिमालयके अनुभवी हैं, ऐसा नहीं समझना कि हमको हिमालयका अनुभव नहीं है।

एक बड़े प्रसिद्ध अच्छे महात्मा, उनका नाम मैं जानबूझकर नहीं लेता हूँ। पचास वर्षसे वे हिमालयमें रहते हैं, नंगे रहते हैं, बरफकी शिलापर बैठते हैं वे। उनसे एक बार प्रार्थना की गयी कि महाराज! काशी चलो। मान गये। जिन्दा हैं भला! तो उन्होंने कहा— भाई! काशीमें तो गर्मी बहुत पड़ेगी, तो हम गर्मीके दिनमें नहीं जा सकते। ठीक है महाराज, गर्मीमें नहीं, ठंडीमें चलो। तो महाराज पौष-माघमें उनको गंगोत्रीसे बुलाया गया।

अब पौष-माघके दिनोंमें जब हम रजाई ओढ़कर रहें, उस समय वे हरद्वारमें पसीनेसे तर-बतर। बोले—यहाँ तो बड़ी गर्मी है, पंखा करो। अरे बाबा, हम लोग रजाई ओढ़ते हैं, तुमको गर्मी लगती है!

बोले-गर्मी सहन नहीं होती।

अब आपको सुनाते हैं, इसका क्या अर्थ है। इसका अर्थ है हम गंगोत्री जाते हैं, बद्रीनाथ जाते हैं तो हमको वहाँ जाड़ा सहन नहीं होता है और ये जब यहाँ आते हैं तो यहाँकी गर्मी नहीं सहन होती है। तो हम गर्मी सहनेमें धीर हैं। और वे जाड़ा सहनेमें धीर हैं। हम बराबर ही हुए, इसमें कोई घट-बढ़ नहीं हुआ। शीतोष्णसुखदु:खदाः में उनके लिए उष्ण दु:खद है, हमारे लिए शीत दु:खद है। इसमें वे हमसे बढ़कर नहीं हुए।

अब यह कहो कि परमात्माका ज्ञान उनका बड़ा है, हमारा छोटा है तो जो छोटा ज्ञान होता है, वह तो अज्ञान होता है। जो ज्ञान ब्रह्माको है, विष्णुको है, शिवको है, सनत्कुमारको है, सूतको है, वामदेवको है, दत्तात्रेयको है यदि वही ज्ञान मुझको नहीं है तो मैं अज्ञानी हूँ। अज्ञानीकी पहचान क्या?

अज्ञानीकी पहचान यह कि वह कहे कि शंकराचार्यको जो ज्ञान था वह

हमको नहीं है। ब्रह्मा विष्णुको जो ज्ञान था सो हमको नहीं है। विशेष ज्ञान नहीं, ब्रह्मज्ञान। सामान्य ज्ञान नहीं, विशेष ज्ञान नहीं, ब्रह्म ज्ञान।

तो आप इसमें भी घबड़ाना नहीं। हम तो समझते हैं कि संसारी लोग अपनी स्त्रीकी, अपने पतिकी, अपने पुत्रकी, अपने भाईकी, अपने माँ बापकी, जितना संसारमें सह लेते हैं और संसारका काम करते हैं, अगर इतना ही कभी साधुओंको सहना पड़े, तो नहीं सह सकते। बड़े सिहण्गु, बड़े तितिक्षु। लेकिन तुम पैसा कमानेके लिए, घर-गृहस्थी चलानेके लिए सहते हो और ये महात्मा ब्रह्मज्ञानके लिए सहते हैं। तुम्हारे अन्दर कोई सिहण्गुताकी कमी हो, सो बात नहीं।

तो देखो वेदमें यह लिखा—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।

धीर पुरुष उसको जान सकता है। जितनी सिहष्णुता तुम्हारे अंदर है, धन कमानेमें तुम्हारा जितना प्रेम है, सिर्फ इतने प्रेमसे ही ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है। परिवार चलानेमें तुमको जितना सहन करना पड़ता है, इतनेसे ही तुमको ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण:।

पहले इसका सत्संग द्वारा, शास्त्र द्वारा परोक्ष रूपसे जानकरके अपनी प्रज्ञाको अपरोक्ष ज्ञानवती बनावे।

कौन बनावे ? कि धीरा:।

नानु ध्यायेद् बहून शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।

इसमें बहुत पढ़ाई-लिखाईकी जरूरत नहीं पड़ती, जरा इस समझदारीकी जरूरत पड़ती है कि—'मैं कौन हूँ।'

दुनियादार लोग यह समझते हैं कि हमारी बेटी कैसी, हमारी बहू कैसी, हमारा बेटा कैसा? यह काम-धन्धा कैसा? और महात्मा लोग सोचते हैं मैं कौन—

कोऽहं कस्मित्रिदं जातं कोऽस्य कर्ता च विद्यते।

जब तुम्हारे विचारकी धारा बहिर्मुख न हो करके अन्तर्मुख होगी और बाहरके दु:ख भी तुमको नहीं छू सकेंगे और बाहरके सुख भी नहीं छू सकेंगे।

सुख खींचते हैं, उनकी सुगन्ध खींचती है और दुःख खींचते हैं। सुख भी न खींचे और दुःख भी न खींचे, तब क्या होगा? कि तब धीरा:। धीर जो हैं—यत् धीरा: भृतयोनिं परिपर्श्यन्ति। उस भृतयोनिको, सम्पूर्ण जगत्के कारणको देख पाते हैं।

अब देखो इसमें, 'परिपश्यन्ति 'के 'परि' पर आपको एक विचार सुनाते हैं। दुनियामें पश्यन्ति जो क्रिया है—पश्यित, पश्यतः, पश्यन्ति, यह बिल्कुल विवर्त रूपा क्रिया है। जहाँ मूल धातु बदल जाती है वह क्रिया विवर्त हो जाती है। भाई धातु केसे बदल गयी? मूल धातु है दृश, दृश, दर्शने और क्रियाका रूप क्या है? पश्यन्ति। इसमें दृश कहाँ जुड़ा भाई? बोले—तुम्हारी आँख खो गयी तब देख रहे हो। है तो सब ब्रह्म, है तो सब परमात्मा, लेकिन जो आँख थी, दृश थी, वह खो गयी, तब क्या देखने लगे। कि, जगत् पश्यन्ति। यह ब्रह्म पश्यन्ति नहीं है, जगत् पश्यन्ति है। 'दृश' का 'पश्' हो गया है। आप देखो आँख नहीं रही, पश् हो गयी। दर्शति नहीं होता, दृश्यित नहीं होता, पश्यित हो जाता है। दृशका पश्यित हो गया। यह क्रिया ही विवर्त रूप हो गयी। इसमें बात क्या है देखो आप। ज्ञान जो होता है, ज्ञान जिसका नाम है–दर्शन। दृश्य दृष्ट दर्शनं ज्ञानं। तो यह जो ज्ञान होता है यह देशका भी प्रकाशक होता है। इसलिए देशसे परिच्छित्र नहीं होता, कालका भी प्रकाशक होता है, इसलिए कालसें परिच्छित्र नहीं होता, कालसे भी परे है। तो अकाल है, अदेश है। और वस्तुका प्रकाशक होता है, इसलिए वस्तुसे परे होता है।

जो लोग वेदान्तके प्रेमी हैं उनको सुननेकी बात सुना रहा हूँ कि ज्ञान जो है वह अविनाशी होता है, कालसे परिच्छिन्न नहीं है। परिपूर्ण होता है देशसे परिच्छिन्न नहीं है; और अद्वितीय होता है माने विषयसे परिच्छिन्न नहीं है।

अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय होना ज्ञानका, माने चेतनका स्वरूप है। चेतन अद्वितीय होता है, परिपूर्ण होता है। अविनाशी होता है। तो इसके आने—जानेकी कहीं जगह नहीं होती। यह न पूर्व जा सकता, न पश्चिम। क्योंकि पूर्व—पश्चिमको तो इसमें जाहिर किया। न ऊपर जा सकता न नीचे, न बाहर, न भीतर, न घड़ेमें, न कपड़ेमें, कहीं जा ही नहीं सकता।

जाना-आना ज्ञानमें शक्य नहीं है। चेतन कहीं न होवे तो जाये। 'कहीं' तो ज्ञानके भीतर है। कभी होवे तो कभी न जाये। 'कभी' तो ज्ञानके भीतर है। कुछ होवे तो कुछमें जाये, कुछ तो ज्ञानके भीतर है। भीतर नहीं है ज्ञान ही है। तो ज्ञानमें आना-जाना नहीं होता।

देखो एक और नियम आपको सुना देते हैं। ज्ञान नहीं होता। ज्ञेयका ज्ञान होता है, वस्तुका ज्ञान होता है। ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। ज्ञान कभी दृश्य नहीं होता, ज्ञान कभी जड़ नहीं होता। ज्ञान कभी देश-परिच्छित्र नहीं, काल-परिच्छित्र नहीं, वस्तु परिच्छित्र नहीं। ज्ञान कभी ज्ञेय होता ही नहीं। ज्ञानका विषय ज्ञान नहीं होता और ज्ञानके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

दो बात आपको सुनायो। 1. ज्ञान स्वयं जाना नहीं जाता, वह सबको जानता है, वह प्रकाशता है, प्रकाशा नहीं जाता; और 2. ज्ञानके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं। तब ज्ञान किसको प्रकाशे?

देखो, ज्ञानमें ज्ञानको प्रकाशित करनेका जो सामर्थ्य नहीं है और ज्ञानमें जो प्रकाशित होनेका सामर्थ्य नहीं है, यह अज्ञान (नहीं) आ गया भला। इसी बातको समझो, कि असलमें कोई दूसरा है ही नहीं तो ज्ञान-ही-ज्ञान है। ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई है नहीं और ज्ञानका स्वरूप है प्रकाशित करना तो किसको प्रकाशित करें? तो अपने आपको ही हजारों रूपोंमें प्रकाशित करता है। यह सब ज्ञान है। घड़ा ज्ञान है, कपड़ा ज्ञान है, मकान ज्ञान है, स्त्री ज्ञान है, पुरुष ज्ञान है। अपने आपको ही यह ज्ञानात्मक—स्वयं पश्यित, स्वयं दृश्यते—यह स्वयं देखता है और स्वयं देखा जाता है।

इसमें एक बात और आपको सुनाता हूँ, ज्ञान भ्रमण कैसे करता है? अब जरा भ्रान्तिकी बात सुनाता हूँ भला? भ्रमण करना कैसे;जैसे यह मालूम पड़ता है, हमारे हृदयमें जो ज्ञान है, वह आँखके रास्ते किताबमें गया और वहाँ जो काली-काली लकीरें अक्षरोंके रूपमें खिंची हुई हैं, उनसे टकरा करके फिर लौटा, तो मैंने कहा—वह क्या लिखा है? कि,

> यथोर्णनाभिः स्जते गृह्वते च। यद्भुतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

तो अब यह पीछे तो रहा ज्ञान कलेजामें और आगे रही किताब, हम कहते हैं ज्ञान कलेजेमें-से निकलकर आँखके रास्तेसे किताबपर गया और किताबमें लिखे हुए अक्षर हमारे हृदयमें आये, तब हमने पढ़ा। यह क्या हुआ? यह ज्ञानकी चहलकदमी हो गयी, ज्ञानका सैर-सपाटा। ज्ञानने सैर-सपाटा किया। क्या? कि कलेजेसे-निकलकर आँखमें, आँखसे निकलकर किताबमें, किताबसे लौटकर फिर कलेजेमें आया, यह ज्ञानका सैर-सपाटा हो गया।

तो आजकलके वैज्ञानिक भी यह बात मानते हैं और वेदान्ती भी यह बात मानते हैं कि असलमें ज्ञान आँखमें-से निकलकर किताबपर नहीं जाता। यह फोटोग्राफीका जो सिद्धान्त है कैमरा सिद्धान्त, उसमें कैमरा, निकलकर जिसका फोटो लिया जाता है, उसके पास नहीं जाता। जिसकी फोटो ली जाती है, उसकी परछाई पड़ती है कैमरेमें और वहाँ वह खिंच जाता है फोटो। कैमरा नहीं जाता, आदमीकी परछाईं जाती है।

अब देखो, ये जो अक्षर हैं, इनपर हमारा ज्ञान नहीं जाता, ये अक्षर आँखके रास्ते, हमारे जो संस्कार हैं कि ऐसी लकीर हो तो 'क',ऐसी लकीर हो तो ख—यह जो अध्यापकोंने जो हमारे चित्तपर संस्कार डाल दिया है, इन अक्षरोंकी फोटो पड़ती है हमारी आँखमें और आँखके रास्ते कलेजेमें और वहीं हम पढ़ते हैं। हमारी जो पढ़ाई होती है, वह जो फोटो पड़ता है, उसकी है। यह प्राप्तकारी और अप्राप्तकारी इन्द्रियोंके सम्बन्ध बड़ा भेद है। कोई-कोई समझते हैं कि कान और आँख अपने विषय देशमें जाकर ग्रहण करते हैं और कोई कहते हैं—नहीं, सभी विषय इन्द्रिय देशमें ही आते हैं।

गन्ध कब मालूम पड़ती है? जब नाकमें घुसती है। नाक गन्धके पास नहीं जाती, गन्ध नाकके पास जाती है। जीभ स्वादके पास नहीं जाती, स्वाद जीभके पास आता है। त्वचा स्पर्शके पास नहीं जाती, स्पर्श त्वचाके पास आता है। कान शब्दके पास नहीं जाता, शब्द कानके पास आता है। और, आँख रूपके पास नहीं जाती, रूप आँखके पास आता है।

इसका अर्थ हुआ कि देशको, हृदयको केन्द्र बना करके ज्ञान जब देहाभिमानी बन गया अपनेको देह समझने लगा, तो वहाँ आये हुए इन्द्रियोंके फोटोको ग्रहण करके ज्ञाता बन गया। है ज्ञान ही। यह इन्द्रियोंके बाहर रहकर ज्ञेय हो गया इन्द्रियोंका विषय होकर ज्ञेय हो गया और कलेजेमें बैठकर ज्ञाता बन गया। अब ज्ञानमें तो न देश है, न काल है, न वस्तु है। तो इसका अर्थ क्या हुआ? कि ज्ञानमें न कलेजा है, न आँख, कान, नाक है, न शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध है। तो ऐसा जो परिपूर्ण, अविनाशी, अद्वितीय ज्ञानतत्त्व है, उसमें न देह है, न इन्द्रिय है, न अन्त:करण है, न विषय है और न तो ज्ञानका भ्रमण है।

ज्ञान देहको अपने रहनेकी जगह बना करके, देहके बाहरसे विषयोंका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे ग्रहण करता है, यह भ्रम है, भ्रमण है।

यह भ्रम है कि ज्ञानके रहनेकी जगह कलेजा है और ज्ञानके ग्रहण करनेकी जगह विषय है। असलमें ज्ञान तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तुको अपने अन्दर प्रकाशित कर रहा है, छोड़ रहा है, उसको न कहीं आना है; न जाना है।

तो जब ज्ञान बैठा कलेजेमें, तो अहं हो गया और जब ज्ञान बैठा विषयमें तो घट हो गया और जब दोनोंका तादात्म्य हुआ तो अहं घटं जानामि-घटका ज्ञान हुआ।

यह घट क्या है ? बोले-प्रतीति है। इति माने ज्ञान। इंण् गतौ धातुसे इति शब्द बना। तो यह प्रतीतिमें जो इति है वह ज्ञानार्थक है, गत्यर्थक है और प्रति माने प्रतिघात; माने जब ज्ञान विषयसे प्रतिहत होकरके और शरीरसे प्रतिहत होकरके देहाभिमान और विषयसे प्रतिहत होकरके किसी वस्तुको दिखाता है, तो इसका नाम प्रतीति होता है। तो यह जो विषय है नहीं, इसकी प्रतीति है, मालूम पड़ना है। तो यह जो ज्ञानमें भ्रमण और प्रतीति है, यह ज्ञानके स्वरूपके बिल्कुल विपरीत भास रहे हैं। न ज्ञानमें भ्रमण है, न ज्ञानमें प्रतीति है, न ज्ञानमें विषय है, न ज्ञानमें देश है, न ज्ञानमें काल है, न ज्ञानमें ज्ञेयता है, ऐसा यह अखण्ड चैतन्य प्रत्यक् चैतन्य परिपूर्ण हो रहा है। तो—परिपश्यन्ति धीरा:। धीर लोग परिपश्यन्ति माने परित: पश्यन्ति, सब जगह यही देखते हैं। परि माने परित: पर्युपासते। आप लोगोंको याद होगा न, गीतामें—

अनन्याश्चिद्गतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

यह 'परि' जो है उपसर्ग है। सब जगह। सब जगह परमात्माको देखना। अच्छा, अब एक जरा-सी बात और करते हैं 'परि' जो उपसर्ग है, यह कहीं-कहीं वर्णनात्मक भी होता है। तो—

यद्भृतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

भूतयोनि माने कारणताका वर्णन करके, कार्य-कारण भावका निषेध करके धीर पुरुप उसका देखते हैं। पहले तो कार्यकारणकी स्थापना करके यह निश्चय करते हैं कि कार्यसे कारण भिन्न है और फिर अपने स्वरूपके रूपसे अक्षर ब्रह्मका साक्षात्कार करके कारणताका बाध कर देते हैं। न व्याप्य न व्यापक, न कार्य न कारण, एक अखण्ड सन्चिदानन्द घन ब्रह्म। लेकिन फिर भी यह सृष्टि हुई तो केसे? यह अक्षर जो है यह भूतयोनि कैसे? यही सातवें मंत्रमें प्रसिद्ध दृष्टान्तोंसे बताया जा रहा है।

तद् कथं भृतयोनित्वम्! इति उच्यते प्रसिद्ध दृष्टान्तैः। अब प्रसिद्ध दृष्टान्त देकरके इसे संमझाते हैं।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च

यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि

तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥ ७॥

यह सृष्टि कैसे बनी—यह विद्वानोंके सामने एक प्रश्न है। जो नोन लकड़ीमें ही लगे हुए हैं, उनके सामने तो नोन लकड़ीका प्रश्न है, जो बच्चेके लिए व्याकुल हैं उनके लिए शादीका प्रश्न है, जो धनके लिए व्याकुल हैं उनके लिए कमाईका प्रश्न है, लेकिन जो महाराज विरक्त हैं, वही तो सम्पूर्ण विश्वके इस प्रश्नको हल करनेमें लग सकते हैं।

तो देखो क्या बिंद्या बताया है—'ऊर्णनाभि:'—ऊर्ण माने ऊन। यह 'ऊर्ण' शब्दमें-से रेफ्का लोप हो जानेसे 'ऊन' शब्द बन गया और 'ऊण का ऊन हो गया।

यह ऊर्ण ही ऊन बन गया। तो यथोर्णनाभि:—जिसकी नाभिमें ऊन होता है, नाभि माने भीतर;उसको बोलते हैं—ऊर्णनाभि:। ऊर्णनाभि माने मकड़ी। यह जो जाला लगाती है हमारे घरोंमें जगह-जगह। चाहे कितनी भी सफाई रखो, कहीं- न-कहीं मिल जाता है। कितना भी सावधानी बरतो, यह मकड़ी जो है, यह जाला बना लेती है।

देखो, चिड़िया घोंसला बनाती है तो बाहरसे तिनके लाती है, और

पशुको जब अपने रहनेकी जगह बनानी होती है तो धरतीको खोद लेत हैं, नाखूनवाले जो पशु हैं, सिआर, साही, खरगोश, चूहे, साँप बिलमें रहते हैं। लेकिन यह मकड़ी न बिल बनावे न तिनका चुने, यह तो महाराज अपने भीतरसे जाले निकालती है—उगलती है। इसके थूँकमें ही ऐसी चिकनाई होती है कि वह उगलती जाती है, उसके शरीरमें से थूँक बनता है, वैसे सूत बनता जाता है और वह जाला बना लेती है। जब उसका मन होता है तो वह जालेको समेट भी लेती है। निगल जाती है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।

यह दृष्टान्त है कि किसी भी दूसरी वस्तुको काममें लिये बिना अपने आपसे ही मकड़ी जाला बना लेती है और अपने शरीरमें ही उसको निगल लेती है। बाहर फैला देना और फिर निगल लेना।

यथोर्णनाभिः सृजते—जैसे मकड़ी जाला बना लेती है और फिर उसको निगल जाती है। इसमें यह दृष्टान्त हुआ कि कुम्हार जब सृष्टि बनाता है तो माटीसे घड़ा बनाता है। माटी तो बाहरसे लेता है, लेकिन मकड़ी जब जाला बनाती है तो बाहरसे नहीं लेती है। ईश्वरने इसकी जीविकाकी यही विधि बनायी है।

आप जानते हैं जाला क्यों मकड़ी बनाती है? सिर्फ अपने रहनेके लिए नहीं, ऐसा बुनती है उसको जैसे मछुआ पानीमें जाल फैलाकर मछली पकड़ता है, वैसे वह मकड़ी जाला फैलाकर उसमें फँसनेवाले मच्छरोंको-कीड़ोंको खा जाती है। उसकी जीविका भी उसीसे चल जाती है। निगला और उगल लिया, निगला और उगल लिया। तो अभिन्न निमित्तोपादान कारण हुई न! बोले—भाई यह तो ठीक है परन्तु शरीरसे एक ही तरहका जाला उगलती है और निगलती है, और ईश्वरमें-से तो यह सृष्टि तरह-तरहकी होती है। तो यह परमात्मामें से सृष्टि तरह-तरहकी कैसे होती है? बोले—

यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

जैसे धरतीमें बीज पड़े होते हैं। देखो जब वर्षा होती है तो क्या तरह-तरहकी घास निकलती है। इसी प्रकार अक्षरमें बीज पड़े हुए हैं और इसमें यह सब औषधियोंकी तरह तरह-तरहके प्राणी, प्रजा निकलती है। बोले—तीक है! पृथ्वी तो जड़ है और जड़में-से तरह-तरहकी आंपिध निकलती हैं, तो वह अक्षर भी जड़ होवे? तो बोले कि नहीं, देखो, ये तुम्हार बाल बढ़ते हैं कि नहीं? कि बढते हैं।

तो जबतक जिन्दा रहते हो तभीतक न, मुर्दा हो जानेपर थोड़े ही बाल बढ़ते हैं। भेंड़के शरीरपर तो बाल बढ़ते हैं और जब उनका कंबल बना दिया जाता है, तब? कि बाल नहीं बढ़ते हैं। क्यों नहीं बढ़ते हैं? सिर पर रहें तो बाल बढ़ते हैं और काट दिये जायें तो न बढ़नेका क्या मतलब!

इसका मतलब है कि जबतक चैतन्य है, तभी तक बाल, केश-लोम बढ़ते हैं और नहीं हो तो नहीं बढते।

तो देखो; अभिन्न निमित्तोपादान कारणमें दृष्टान्त है ऊर्णनाभि और अनेक प्रकारकी सृष्टिकी उत्पत्तिमें दृष्टान्त है पृथिव्यामोषधयः और बिना चैतन्यकी सहायतासे (जड़से अपने आपकी नहीं हो सकती) चैतन्यके सहकारसे ही सृष्टि होती है, इसमें दृष्टान्त है—यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि। यह 'सततः 'का अर्थ है जीविता, जिन्दा पुरुषसे ही केश लोम निकलते हैं। तो अक्षर अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

अब किसी-किसीको भाई, अभिन्निनिमित्तोपादान कारण भारी पड़ता है। हमको ऐसा है संस्कार! यह देखो पन्द्रह वर्षसे तो प्रेम कुटीरमें सत्संग होता है वेदान्तका। सात-आठ वर्षसे तो मैं भी यहाँ रहता हूँ और हमको तो लोग जबरदस्ती दूसरे प्रसंगमें लगा लेते हैं, नहीं तो हम तो वेदान्तकी कथा सुनावें, भिक्तकी सुनावें! तो अभिन्निनिमित्तोपादान कारण समझमें आना चाहिए।

देखो निमित्त कारण उसको कहते हैं जैसे घड़ेको बनानेवाला कुम्हार, जैसे जेवर बनानेवाला सुनार, जैसे कपड़ा बुननेवाला जुलाहा और जैसे रसोईं बनानेवाले तुम। इसको बोलते हैं निमित्त कारण और उपादान कारण क्या है? जैसे कुम्हारके पास घड़ा बनानेके लिए माटी, सुनारके पास जेवर बनानेके लिए सोना, जुलाहेके पास कपड़ा बनानेके लिए सूत और तुम्हारे पास रसोईं बनानेके लिए आटा, दाल, चावल। उपादान माने सामग्री और निमित्त माने बनानेवाला। ऐसे समझो सामान्य रूपसे। अब यह सामग्री भी दो तरहकी होती है. एक वह सामग्री जो बनानेक बाद जरूरी नहीं रहती। जैसे रोटी बेलना हो तो रोटी बेलनेमें एक तो बेलनेवाला है और एक चौकी-बेलन है और एक आटा है गुँथा हुआ। तो गुँथा हुआ आटा जो है उसे उपादान बोलेंगे; क्योंकि वह रोटी बननेके बाद भी रोटीमें रहेगा। माटी उपादान है; क्योंकि वह घड़ा बननेके बाद भी घड़ामें रहेगी। सोना उपादान है; क्योंकि वह जेवर बननेके बाद भी जेवरमें रहेगा। लेकिन कुम्हार तो घड़ेमें नहीं रहेगा और रसोईं बनानेवाला रोटीमें थोड़े ही घुस जायेगा।

तो निमित्त कारण हुआ बनानेवाला, उपादान कारण हुआ मसाला। अब देखो सहकारी कारण क्या है? इसको भी निमित्त ही बोलते हैं। तो चौकी-बेलन, रोटी बनानेके लिए जरूरी है; लेकिन वह रोटीमें घुसता नहीं। कुम्हारके पास चाक, घड़ा बनानेके लिए जरूरी है, पर वह घड़ेमें घुसता नहीं। सुनारके पास टांकी जो है, हथौड़ा आदि सब जरूरी है जेवर बनानेके लिए, लेकिन वे जेवरमें घुसते नहीं।

तो बनी हुई चीजमें जो चीज मसालेके रूपमें घुसी रहती है उसका नाम उपादान होता है और जो बनानेवाला होता है उसका नाम निमित्त कारण होता है।

और सहकारी कारण कौन होते हैं! जैसे चाक है, सूत है, चौकी है, बेलन है, टाँकी है, हथौड़ा है—ये सब सहकारी कारण हैं। इनसे चीज बनती है।

अब यह जो सृष्टि रूप घड़ा बना हैं, पानी पीनेके लिए घड़ा है, पहननेके लिए जेवर है, खानेके लिए रोटी है, यह जो बना है न, इसमें चौकी-बेलन, आटा और कुम्हार-ये सब अलग-अलग नहीं हैं, एक ही है। माने ईश्वरने ही बनाया और अपने आपसे ही बनाया और मददगार जो है, पहले मानते हैं कि कर्म सहकारी कारण हैं। बोले—विचार करके देखो तो ये सहकारी कारण भी उससे जुदा नहीं है। तो—

आपै देखे आपु दिखावे, आपै देखने हारी। आपै अमृत आपु अमृत घट, आपै पीवन हारी। आपै ढूँढ़े आपु ढुँढ़ावे आपै ढूँढनहारी। इसको बोलते हैं अभिन्ननिमित्तोपादन कारण। तो यह भी आपको सुना दें कि शैव, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैतवादी, सब ईश्वरको इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान मानते हैं। मध्वाचार्य-द्वैतवादी भी मानते हैं कि यह जगत् ईश्वरमें से ही निकला है—

तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।

अब दोनोंमें-द्वैतवादियोंमें और अद्वैतवादियोंमें फर्क क्या है ? द्वैतवादी मानते हैं कि जो कारण है वह बनता है, बदलता जाता है और बनता जाता है। शंकराचार्य मानते हैं कि बदलता नहीं है; बिल्कुल एक-रस रहते हुए ही सबके रूपमें मालूम पड़ता है। वही ईश्वर, वही प्रकृति, वही जगत्, वही जीव, वही कर्म, वही पशु, वही सबके रूपमें। यह ज्ञानके प्रत्याघातसे मालूम पड़ता है, प्रतीति है।

ज्ञानका प्रत्याघात क्या हुआ? कि तुमने अपनेको देह मान लिया। अपनेको देह क्यों मान लिया? कि कभी अपने बारेमें सोच-विचार नहीं किया। यदि तुम अपनेको ब्रह्म जानते, अपनेको देह न जानते, तो यह ज्ञानका घात-प्रत्याघात न होता और घात प्रत्याघात न होता तो नानात्वमें-प्रत्यक्षको भ्रान्ति नहीं होती। इसलिए यह ब्रह्मज्ञान ही सम्पूर्ण अनर्थों से छुड़ानेवाला है।

देखो भाई! कथा तो है उपनिषद्की तो अगर मनमें कोई बात आये और न कहें न, तो बीचमें से कोंचती रहती है। इसलिए आप लोग थोड़ा धैर्य धारण करके सुनें। जो नये श्रोता हैं और जिनको वेदान्तका संस्कार न हो, ऐसे कोई हों, तो यदि थोड़ा थैर्य धारण करके वे पाँच-दस दिन सुनें तो उनको ऐसा समझमें आवेगा कि इसका मजा आने लग जाये। जैसा माखनचोरीमें मजा आता है वैसे यह ब्रह्मकी रासलीला है। यह सर्व ब्रह्म। सर्वब्रह्म क्या है? यह ब्रह्मकी रासलीला है।

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवं माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।

एक ब्रह्म क्या क्रीड़ा कर रहा है जगत्में, इसको देखकर ज्ञानी लोग ऐसे मस्त रहते हैं कि सम्पत्ति और सुखकी भी कोई परवाह नहीं करते हैं। यह ऐसी ब्रह्म लीला है। अच्छा फिर इसको कल सुनावेंगे!



प्रवचन : 7, मंत्र-7

अक्षर तत्त्वका जगत्कारणत्व-2

ईश्वर यह सृष्टि कैसे बनाता है, यह प्रसंग चल रहा है। आपको ध्यान होगा—

यथोर्णनाभिः सुजते गृह्णते च

यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि

तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

ईश्वर कैसे सृष्टि बनाता है ? यह बताया कि—

तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।

एक अखण्ड परमात्मा सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। माने जैसे रोटी बनती है, तो रोटी भी वही है, रोटी जिस आटेसे बनी है वह आटा भी वही है, जिस चौकी-बेलनपर वह बेला गया, वह चौकी बेलन भी वही है, जिस माताने उसको बेला वह माता भी वही है। सहकारी कारण है चौकी और बेलन, निमित्त कारण है माता, उपादान कारण है गेहूँका आटा-पंचभूत। तो यह सब चीज ईश्वर है।

अब इस पर यह शंका हुई कि-

ब्रह्म न कारणम् सहाय्य शून्यत्वात्।

ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है। क्यों? कि उसके पास कोई मदद करनेवाली चीज नहीं है, कैसे? कि कुलालमात्रवत्।

जैसे कुम्हार तो होवे, परन्तु न माटी होवे, न चाक होवे, न सूत होवे, न डण्डा होवे, न चलानेकी जगह होवे, तो बेचारा अकेला कुम्हार घड़ा कैसे गढ़ेगा?

माताजी तो घरमें है, परन्तु आटा ही नहीं है, चौकी-बेलन ही नहीं है और हाथ ही नहीं है, तो कैसे रोटी बनेगी? तो ब्रह्म जो है वह तो अकेला है, अखण्ड है, उसकी मदद करनेके लिए कोई दूसरी चीज नहीं है, तो वह सृष्टि कैसे बनावेगा? तो ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता और फिर अभिन्न निमित्तोपादान कारण, वही बनानेवाला और वही बननेवाला, वही बनाया जानेवाला; बनानेवाली माता, बननेवाला आटा और बनायी जानेवाली रोटी और बनानेके औजार सब वही है। ऐसी तो सृष्टि कहीं देखनेमें नहीं आती। बोले कि आती है। कहाँ आती है? तो यथोणंनाभिः सृजते गृह्वते च—जैसे मकड़ी, ऊर्णनाभिः है, जिसके मुँहसे ऊर्ण बनता है। काहेका ताना, काहेका बाना, काहेकी भरनी—वहाँ देखो जुलाहा तो है। (अन्य कुछ सहाय्य नहीं है) जुलाहा कौन है? कि मकड़ी; लेकिन न वहाँ रुई है न सूत है, न ताना है न बाना है और न तो वह मशीन है जिसपर वह कपड़ा बनता है। लेकिन ऐसा जाला बुनती है मकड़ी बिना मददके कि क्या पूछना! ऐसे ही ईश्वर बिना सहायताके सृष्टि बना लेता है।

बोले ठीक है, फिर भी हम शंका करते हैं कि ब्रह्म जगत्का उपादान कारण नहीं है। क्यों नहीं है? बोले—

जगतः तदभिन्न त्वात्।

यह जो जगत् है यह तो ब्रह्मसे अभिन्न है। यस्मात्कारणात् यत् कार्यं न भवति तस्य कार्यस्य तत् उपादान कारणं न भवति।

हम कहते हैं—भाई जब कार्य भिन्न ही नहीं है, तो कारण भिन्न कैसे होगा? स्वरूप ही किसीका कारण नहीं होता। खुद हम अपने बाप-ऐसा कैसे होगा? खुद तो कोई अपना बाप नहीं होता है। खुद तो कोई अपना कारण नहीं होता है। तो जब ईश्वर और जगत्में भेद ही नहीं है, तो ईश्वर बाप और जगत् बेटा, जगत् कार्य और ईश्वर कारण—यह कैसे बनेगा?

यह दूसरी शंका हुई। दूसरी शंकाका निवारण क्या किया कि— यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

पृथ्वीमें जितनी औषिध होती है—औषिध माने खाली जड़ी-बूटी नहीं समझना। जितनी घास है न, जौ, गेहूँ, मटर, चना, जो चीज एक बार धरतीमें पैदा होती है और फल देनेके बाद फिर धरतीमें मिल जाती है। वह सब औषिध हैं। आजकल लोग घरोंमें भी बोते हैं, आपके घरमें फूल-पौधा लगता है, यह गेंदेका फूल आप लगाते हैं अपने घरमें, बड़ा प्रसिद्ध है, ता यह धरतीमें-से बीजके सहकारसे पंचभूतसे गेंदेका पौधा पैदा हुआ, हरा हरा, और उसमें पीला-पीला अथवा लाल-लाल फूल लगा, उसके बाद उसको मत तोड़ो, रहने दो, तो फूलमें से बादमें क्या होगा? गेंदेका फूल गिरकर मिट्टीमें मिल जायेगा फिर मिट्टी और गेंदेका जो तना है वह भी मिट्टीमें मिल जायेगा, मिट्टी हो जायेगा। आप जौ बोकर देख लो, गेहूँ बोकर देख लो, चना देख लो, मटर देख लो, यह सब क्या होगा? मिट्टीमें-से पैदा हुई, मिट्टी ही रही। मिट्टीके सिवाय दूसरी कोई चीज तो मिली नहीं। तो देखो यहाँ क्या हुआ कि एक ही जो चीज है उसीमें कार्य-कारणका व्यवहार हो गया कि नहीं? ये जो घास-पात पैदा हुए वे तो कार्य और पंचभूत जो हुआ सो कारण, और असलमें वह पंचभूत और वे चीज अलग-अलग नहीं, एक ही कारण है। ऐसे ही परमेश्वरमें यह समूची सृष्टि पैदा होती है, दीखती है और उसमें मिल जाती है। कार्य-कारणका भेद नहीं है।

पहले दृष्टान्तमें यह बात बतायी कि ईश्वरका कोई मददगार नहीं है और दूसरी यह बात बतायी कि एक ही वस्तुमें कार्यकारणका भाव कहीं-कहीं देखनेमें आता है।

अरे ऐसे समझो; आप जो जेवर पहनते हैं, यह क्या है? कि कार्य है। कंगन बना हाथके लिए, तो बनाया गया न! कर्णफूल बना कानके लिए, तो बनाया गया, हार बना गलेके लिए, तो जंजीर बनायी गयी। लेकिन वहाँ सोना ही सब आभूषणके रूपमें है कि नहीं? वहाँ कार्य होनेपर भी वह कारणसे अभिन्न ही है, कारणरूप ही है। कार्य-कारणका व्यवहार होनेपर भी एकतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। एक ही ईश्वर है, यह दूसरी बात समझायी।

अब तीसरा प्रश्न इसमें खड़ा हुआ क्या? कि—

जगत् न ब्रह्मोपादानकं तद्विलक्षणत्वात्

ब्रह्म जो है वह ईश्वर रूप ब्रह्म रूप उपादानसे पैदा नहीं हुआ। यह जो जगत् दिख रहा है इसका मसाला ईश्वर नहीं है, ब्रह्म नहीं है।

क्यों नहीं है ? कि जिसका जो कार्य होता है, उससे विलक्षण नहीं होता, उसका स्वरूप ही होता है। जैसे सोनेसे जेवर बना, या मिट्टीसे पौधे पैदा हुए, ठीक है। तो जैसा उपादान वैसा ही कार्य, लेकिन ईश्वर कैसा और जगत् कैसा? कि लो, ईश्वर एक है और जगत् अनेक है। ईश्वर चेत् है और जगत् जड़ है। ईश्वर द्रष्टा है, जगत् दृश्य है। ईश्वरमें जन्म-मरण नहीं है और जगत्में जन्ममरण है। अत: ईश्वरसे विलक्षण होनेसे ईश्वर जगत्का उपादान नहीं है। बापका लक्षण कुछ तो बेटेमें आना चाहिए।

एक ब्राह्मणी थी। उसका एक लड़का था। वह अपनी जेबमें एक कैंची रखता था। जहाँ देखे, कि कहीं गाय या बछड़ा बैठा हुआ है, जाकर कहीं बछड़ेका कान ही काट दे, कहीं गायकी पूँछ ही काट दे।

अब महाराज गाँवमें कई बार पकड़ा गया, दंड दिया गया, मारा गया, पीटा गया, माना ही नहीं। तो फिर यह हुआ कि यह ब्राह्मणीका बेटा होकर गायकें प्रति इतनी शत्रुताका भाव रखता है, इसका कारण क्या है? तो महाराज उस ब्राह्मणीको पंचायतमें बुलाकर बहुत धमकाया गया कि आखिर तुम्हारे बेटेमें यह संस्कार कहाँसे आया?

ब्राह्मणीने स्वीकार किया कि यह मुसलमानका बेटा है।

तो आखिर बापका गुण कुछ तो बेटेमें आना चाहिए। यदि यह संसार ईश्वरका बेटा है; सोनेका प्रभाव जेवरमें बिलकुल ज्यों-का-त्यों होता है, मिट्टीका प्रभाव उससे बनी औषिधयोंमें बिलकुल ज्यों-का-त्यों होता है। तो ईश्वरसे यह दुनिया बनी और उसका प्रभाव इसपर क्यों देखनेमें नहीं आता?

तो मालूम पड़ता है कि ईश्वरके लक्षणसे दुनियाका कोई लक्षण मिलता ही नहीं। जब दुनियाका कोई लक्षण नहीं मिलता तो इसको कैसे कहें कि यह ईश्वरकी सन्तान है! तो फिर इसका उत्तर देते हैं—

> यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। यथा सतः जीवतः पुरुषात् मृतानि केशवोमानि

'देखो; ईश्वर है चेतन, जगत् है जड़। चेतनसे जड़ कैसे पैदा हुआ? बोले—अरे तुम हो जिन्दा और तुम्हारे नाखून मुर्दा पैदा होते हैं। भला बताओ तो, तुम जिन्दा और तुमसे लगे हुए ये नाखून मुर्दा कैसे पैदा हुए? तुम जिन्दा और ये बाल जो हैं ये मुर्दा, इनको काटनेमें कोई तकलीफ ही नहीं होती। शरीर जिन्दा। जिन्दा शरीरसे नाखून पैदा हो गया। तो यथा सतः पुरुपात् इसका अभिप्राय क्या हुआ? कि जिस उपादानसे सृष्टि पैदा होती है, जिस निमित्तसे सृष्टि पैदा होती है, उससे विलक्षण सृष्टि भी कभी-कभी देखनेमें आती है।

तो देखो; जैसे पुरुष शरीर एक है और इसमें नाखून अनेक हैं, बाल अनेक हैं; जैसे शरीर जिन्दा है और बाल और नाखून मुर्दा हैं। शरीर गोरा है, अब यह गोरे लोगोंसे पूछो कि क्यों भाई मेरे! तुम तो इतने गोरे चिट्टे हो और तुम्हारे शरीरमें यह काला बाल कैसे पैदा हो गया? कोई कोयलेका खजाना है क्या तुम्हारे शरीरमें? कैसे पैदा हुआ? बोले—यह भी देखनेमें आता है कि जिस चीजसे जो चीज पैदा होती है, वह उससे विलक्षण भी होती है। यही सृष्टिकी अनिर्वचनीयता है, यह मायाकी अनिर्वचनीयता है, यह ईश्वरकी अनिर्वचनीयता है। इसी प्रकार अक्षर है अविनाशी, ब्रह्म अविनाशी और सृष्टि विनाशी। तुम बने ही रहते हो और बाल कितनी बार पैदा होते हैं? महाराज ऐसे भी शौकीन होते हैं जो दिन भरमें दो बार उस्तरा फिरा लेते हैं और फिर भी ये बाल हैं कि निकल आते हैं।

नारायण! पहले जब कभी उस्तरेसे बाल बनवाते न, तो नाई दुबारा रगड़ने लगते। उल्टा उस्तरा कि बिल्कुल खूंटी निकाल दें। तो हम कहते— बाबा जब कल इसको बढ़ना ही है तो आज यह रगड़के काहेको तकलीफ दे रहे हो! लेकिन शौकिन लोग तो दिन भरमें सौ बार रगड़ते हैं।

तो अविनाशी परमात्मामें-से यह माया कहाँसे निकल आयी ? यह माया काली है। तो बोले—यह परमात्माके शरीरका केश है।

ऐसे समझो कि यह नाखून है, ये दैत्य कहाँसे निकल आये? ये सब-के-सब नाखून हैं। नख हैं ये।

इसी प्रकार अविनाशीसे विनाशी, निर्विकारसे विकारी, चैतन्यसे जड़, द्रष्टासे दृश्य, एकसे अनेक, यह जो सृष्टि दिखायी पड़ती है, यह कभी-कभी ऐसा संसारमें देखनेमें आता है।तो,—

तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।

उसी प्रकार अक्षर परमात्मासे यह विश्व होता है—यह दुनिया होती है। बोले—अच्छा किस क्रमसे होता है, जरा क्रम बताओ। माने ईश्वरसे जब सृष्टि होती है, तो पहले कैसे होती है? तो यह बात बड़ी अद्भुत है कि सृष्टिमें, जैसे सपना हम देखते हैं। तो सपनेमें जो सृष्टि दिखायी पड़ती है, उसमें क्या पहले आकाश पैदा होता है, फिर वायु और फिर, अग्नि, फिर जल और फिर पृथ्वी! यह कोई क्रम सपनेमें देखनेमें आता है? सपनेमें तो यह क्रम नहीं दिखता है, एक साथ ही यह सृष्टि दीखने लगती है।

बोले—यह परमात्मामें जादूसे-मायासे जो सृष्टि होती है, इसमें क्या कोई क्रम हो सकता है ?

तो बोले कि देखों क्रम होता है कि नहीं होता है—यह बात तो तुम्हारी समझमें तब आवेगी, जब अपने आपको ब्रह्म समझ जाओगे। ब्रह्मको जो अलग समझता है, वह तो ब्रह्मको समझता ही नहीं; क्योंकि ब्रह्म भी होवे और अलग भी होवे; जो भी किसीसे अलग होगा वह ब्रह्म नहीं होगा। जो किसीसे अलग होगा वह परिच्छित्र होगा। जो मैं सो वह नहीं, जो वह सो मैं नहीं; तो कटा हुआ होगा। यहाँ होगा तो वहाँ नहीं, वहाँ होगा तो यहाँ नहीं। यह होगा तो वह नहीं, वह होगा तो यह नहीं। ब्रह्म भी होवे और जुदा भी होवे—यह बात तो हो नहीं सकती इसलिए जब आत्माके रूपमें ब्रह्मको जानोगे तब तो यह बात समझमें आवेगी कि सृष्टि होती है कि नहीं होती है भला!

बोले-अच्छा जबतक नहीं समझते हैं, तबतक क्या!

एक लड़का था उसने सन् तैंतीस-चौंतीसमें यह किठनाई हमारे सामने रक्खी थी। मैं था झूसीमें प्रयागराजमें। प्रयागराजमें मैं बहुत रहा हूँ, वहाँकी सब बात जानता हूँ। यहाँसे जानेवालोंको हम ऐसी-ऐसी बात वहाँकी बता दें कि जाकर देखकर वे आश्चर्य चिकत हो जायँ, भला। आश्चर्य है वहाँ, प्रयागराज कोई साधारण स्थान थोड़े ही है? वहाँ एक ऐसा आश्चम बना हुआ है जो बिलकुल मूलाधार चक्रसे लेकरके शून्य शिखर पर्यन्त भीतर जो मेरु दंड होता है, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना होती है, जो षट्चक्र होते हैं, जैसे उनके दल होते हैं, जैसे उनमें शाकिनी, हािकनी, डािकनी, अकारािद वर्ण होते हैं, जैसा मूलाधारसे शून्य शिखर तक होता है, कुण्डलिनीका जागरण कैसे होता है, यह बिलकुल उसी ढंगसे वह समूचा आश्रम ही बना हुआ है। अब वहाँ जाये कोई, उसको

देखकर कोई न आवे तो प्रयागराज जाकर उसने क्या देखा! अब यह कही कि वहाँ कोई सिद्ध महापुरुष रहते हैं, सो बात नहीं है, वह एक देखनेकी वस्तु बनकर रह गया है।

में प्रयागमें बहुत रहा हूँ। तो वहाँ एक दिन क्या हुआ कि मैं कोई पुस्तक बाँट रहा था। किसी सेठने छपवाई थी और हमको दे दिया था कि तुम बाँटो। तो एक लड़का आया लेनेके लिए। देखनेमें बड़ा अच्छा लगा, उसका शील स्वभाव, रूप, गुण। उसने कहा हमको दो। पुस्तक बड़ी थी और योग्य पुरुषको देखकर देना था। तो मैंने उससे कहा कि हम बिना कीमतके तुमको यह पुस्तक नहीं देंगे। सबको तो हम बाँटते हैं; लेकिन तुमको कीमतसे देंगे। उसने कहा कि ले लो, लड़का बहुत भला मालूम पड़ता था।

मैंने कहा—कीमत पैसा नहीं लेंगे। तब क्या लेंगे? कि तुम हमसे मित्रता कर लो, इस कीमत पर यह पुस्तक हम तुमको देंगे। तो वह लड़का मित्र हो गया। उसने कहा—अच्छा आओ, मित्र हो जाते हैं। तो पुस्तक मैंने दे दी। अब कई वर्षके बाद, जब मैं गीता-प्रेसमें आया और वहाँसे भी छोड़नेका समय आगया, उसके बाद एक दिन किसी कारणसे मैं प्रयाग युनिवर्सिटीके उसके होस्टलमें गया। उसने देखते ही पहचान लिया, बोला—हम तुम तो मित्र हैं. तुम्हें हमारे पास ठहरना पड़ेगा। अब उसके पास ठहरा तो मालूम हुआ कि वह लड़का, उस समय फिलॉसफीमें एम. ए. कर रहा था। तो रातको वह पलंगके नीचे बैठकर रोज पाँच हजार गायत्रीका जप करता था। ब्राह्मणका लड़का अभी जिन्दा है, सामवेदी उसका नाम था। उसने कहा—हमारे सामने यह कठिनाई है कि हमको यह तो समझमें आता है कि हम द्रष्टा हैं, लेकिन यह दृश्य मिथ्या है—यह समझमें नहीं आता और यह मुझमें कल्पित है यह भी समझमें नहीं आता। तो एक दृश्य है और मैं द्रष्टा हूँ, सबका द्रष्टा हूँ, यह भी हमको अनुभव होता है, लेकिन दृश्य नामकी चीज क्या है—यह हमारी समझमें बात नहीं आती, यह हमारी कठिनाई है।

अब देखो इसका कारण क्या था कि उसने आत्म विवेक तो किया कि मैं अन्नमय कोशसे, मनोमय कोशसे, प्राणमय कोशसे, विज्ञानमय कोशसे, आनन्दमय कोशसे न्यारा, मैं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे न्यारा, मैं इनका द्रष्टा मैं इनका साक्षी, लेकिन ये पाँचों कोश पैदा कहाँसे हुए, ये तीनों अवस्थाएँ आर्यी कहाँसे, ये पंचभूत किस एकमें-से पैदा हुए, उस ईश्वर तत्त्वका अनुसन्धान उसने नहीं किया। माने त्वं पदका अनुसन्धान तो उसने किया, परन्तु तत्पदका अनुसन्धान नहीं किया।

तो जो लोग प्रेमसे तत्पदका अनुसन्धान नहीं करते हैं, ईश्वरका अनुसन्धान नहीं करते हैं; तो यदि उनका अन्तः करण शुद्ध हो और पूर्वजन्मका वेदान्तका संस्कार होवे, तब तो बिना तत्पदार्थके विवेकके भी ये हमारे दृष्टिमात्र हैं, भ्रान्ति—सिद्ध हैं जैसे पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दिक्षण हैं न, ये द्रव्य नहीं हैं, पदार्थ नहीं है, हमको जैसे मालूम पड़ते हैं वैसे ही हैं। मालूम पड़नेके सिवाय पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दिक्षणका कोई स्वरूप नहीं है, इसमें न लम्बाई-चौड़ाई है, न वजन है, न उनकी कोई स्थिति है। यहाँसे जो पूर्व है, वही वहाँसे पश्चिम है, यहाँसे जो ऊपर है वही वहाँसे नीचे है। नीचे-ऊपर, पूर्व-पश्चिम केवल भास-सिद्ध हैं। जैसे सपनेके दृश्य हैं ऐसे ही ये केवल जाग्रत्में भी दृष्टि मात्रसे ही सिद्ध हैं। तो जैसे ये पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दिक्षण दृष्टि सिद्ध हैं, वैसे यदि पूर्व-पूर्व संस्कार होवे वेदान्तका, अनेक जन्मसे उपासना करके अन्तःकरण शुद्ध होवे, तो केवल त्वं पदार्थके विवेकसे भी यह बोध हो सकता है कि मुझ द्रष्टाके सिवाय यह दृश्य कुछ नहीं है, दृष्टिमात्र है। लेकिन यदि पूर्व-पूर्वका वेदान्त संस्कार न होवे, अन्तःकरणकी शुद्धि न होवे, तो इसका उपाय है तत्पदार्थका शोधन।

अब श्लोकके साथ इस बातको आरूढ़ कर दें। तो उसमें यह जरूरी होता है कि ये जितने शरीरधारी हैं, ये सब पंचभूतमें-से पैदा होते हैं और पंचभूतमें मिट्टी पानीसे, पानी गर्मीसे, गर्मी हवासे, हवा आकाशसे और आकाश अहंकारसे और अहंकार महत्तत्त्वसे और महत्तत्त्व अव्याकृतसे, अव्याकृत ईश्वरकी चिकीर्षतासे और ईश्वर चिकीर्षासे शून्य है।

इस प्रकार सृष्टिको लीन करके लय करके इस सृष्टिको ईश्वरमें मिलाना पड़ता है और जब ईश्वरमें मिलानेके बाद देखते हैं कि वह भी चेतन और हम भी चेतन, वह सन्मात्र निर्विकार और मैं भी सन्मात्र निर्विकार। जब यह बात देखते हैं, तब यह प्रश्न होता है कि आखिर हमारे और उसमें भेद क्या? जब भेद असिद्ध हो जाता है, तो मैं और वह एक। जहाँ मैं और वह एक हुए वहाँ सृष्टि हमारा स्वरूप हो गयी। तो जो हम सृष्टिसे अलग समझते थे, वह अलगावकी जो भ्रान्ति है, वह दूर हो जाती है। तो यह तत्पदार्थका ठीक अनुसन्धान न करनेके कारण, ऋजु बुद्धिके सरल बुद्धिके जो जिज्ञासु हैं; उनके चित्तमें-से यह बात निकलती है।

अब वह फिलॉसफीका एम. ए. तो कर रहा था, पाँच हजार रोज करे गायत्रीका जप, व्रत करे; वह कहे कि हम सब समझते हैं; पर यह बात समझमें नहीं आती थी कि यह दृश्य मिथ्या कैसे! यह दृश्य ब्रह्मसे अभिन्न कैसे? अपने सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, यह कैसे। मैं जिसको देखता हूँ, मैं उससे न्यारा हूँ। देहसे भी न्यारा हूँ, ठीक है। यह समस्या उसने उस समय रखी थी।

अभी वह है। वह बहुत बड़ा आदमी हो गया फिर। एक राज्यका स्पीकर हो गया। और उसकी समझ भी बढ़ती गयी, सत्संग नहीं छूटा। समझ उसकी बहुत बड़ी; लेकिन यह समस्या जैसे उस बालकके सामने थी, वैसे कई साधकोंके सामने आती है। तो इस समस्याको हल करनेका उपाय क्या है? इस समस्याको हल करनेका उपाय यह है, पहले सृष्टिके क्रमको समझकर, उसको लय किया जाये।

तो यह जो लय करनेकी प्रक्रिया है, उसके लिए यहाँ सृष्टिका क्रम बताते हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ ८॥ अब यह प्रसंग फिर कल प्रातःकाल करेंगे।



प्रवचन : 8, मंत्र 8-9

सृष्टि-क्रम

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमिभजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ ८॥ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ ९॥

मंत्रार्थ: — ज्ञान रूप तपसे ब्रह्म उपचयको प्राप्त होता है। वह सर्वज्ञ और सर्ववित है। उससे अव्याकृत रूप अन्न उत्पन्न होता है। उस अन्नसे प्राण (ज्ञान क्रिया शक्ति रूप हिरण्यगर्भ) उत्पन्न होता है। प्राणसे मन अर्थात् अहंकार उत्पन्न होता है। मनसे सत्य अर्थात् पंचभूतात्मक नाम रूप वाले शरीर और लोक तथा उनसे कर्म और अविनाशी कर्मफल उत्पन्न होता है।

कल आपको सुनाया कि कई जिज्ञासु दृक् और द्रष्टाका विचार तो बड़ी सुगमतासे कर देते हैं।

'विचार चन्द्रोदय' भी पढ़ों तो उसमें यह बात आपको लिखी मिलेगी कि घटका दृष्टा माने देखने वाला घटसे न्यारा होता है। ऐसे समझों कि जैसे यह फूलमाला है, इसको देखनेवाला मैं फूलमालासे जुदा हूँ। जो जिसकों देखनेवाला होता है वह उससे जुदा होता है। तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकों देखनेवाला मैं, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे जुदा हूँ। शरीरको जाननेवाला मैं शरीरसे जुदा हूँ। इसको ऐसे भी आप सोच लो कि जैसे हाथ है, आपको मालूम है यह ऊपर-ऊपर तो चाम है, भीतर खून दौड़ता है, चर्बी होती है, नसें होती हैं, हड्डी होती है। तो ये जो वजनदार चीजें होती हैं, ये सब पंचभूतसे बनी हुई हैं। इनकों अत्रमय कोश बोलते हैं। कोशकी संज्ञा, कोश कबतक है, जबतक इसमें मैं मौजूद रहे। नहीं तो यह मुर्दा है।

अच्छा यह हाथको फैलाना और समेटना-यह होता है कि नहीं! यह क्या है? बोले—इसमें प्राण है। हिलाना-डुलाना, फैलाना-समेटना, यह जो क्रिया हो रही है हाथसे यह प्राणकी उपस्थितिके बिना नहीं होगी। जैसे

किसीको जब पक्षघात हो जाता है तो देखो हाथ भी रहता है और उसको उठानेकी इच्छा भी रहती है, लेकिन हाथ नहीं उठता है। हाथ तो है अत्र और इच्छा है मन। मन भी है और हाथ भी है। लेकिन दोनोंके बीचमें कोई बिचौलिया जैसी एक चीज थी जो गायब हो गयी, हाथमें नहीं है। आप चाहते हैं कि हाथ उठे और हाथ नहीं उठता है। आप चाहते हैं पाँव उठे और पाँव नहीं उठता है। तो पाँव भी है और मन भी है, लेकिन उठता क्यों नहीं है? बोले—उसमें जो प्राणका संचार था, वह बंद हो गया।

अन्न तो है हड्डी, मांस, चाम और इसमें क्रिया करनेकी जो शक्ति है वह है प्राण और उसमें जो इच्छाशक्ति है वह है मन; विस्तार करके आपको सुनावे तो बहुत देर लग जायेगी।

अच्छा, यह इच्छा करनेवाला कौन है? इसको बोलते हैं कर्ता और इच्छा करनेमें, पूरी होनेमें जो सुख मिलता है उसको बोलते हैं भोक्ता। तो शरीरमें अत्र है, प्राण है, फिर मन है, उसके बाद विज्ञान है कर्ता प्रधान और आनन्दमय है भोक्ता प्रधान। माने मैं जब देहसे तादात्म्यापत्र होता हूँ तब मेरा नाम होता है अत्रमय पुरुष, जब मैं प्राणसे तादात्म्यापत्र होता हूँ तब मेरा नाम होता है प्राणमय पुरुष, जब मनसे तादात्म्यापत्र होता हूँ, तब मेरा नाम होता है मनोमय पुरुष और जब मैं विज्ञानसे तादात्म्यापत्र होता हूँ, कर्तापनसे, तब मेरा नाम होता है विज्ञानमय पुरुष और जब मैं आनन्दसे तादात्म्यापत्र होता हूँ तब मेरा नाम होता है भोक्ता पुरुष-आनन्दमय पुरुष।

अब देखो ये सब जो हैं, कमरेमें कमरा, कमरेमें कमरा: पहला सबसे बड़ा कमरा अत्रमय, उसमें दूसरा उससे छोटा प्राणमय, उससे छोटा मनोमय, उससे छोटा विज्ञानमय, उससे छोटा आनन्दमय और मैं जो सबका साक्षी हूँ, सबका द्रष्टा, वह सबसे न्यारा हूँ। जब मैं अपनेको पाँचोंसे तादात्म्यापत्र करता हूँ, तब मेरा नाम मनुष्य होता है और अत्रमयसे अपनेको हटा लिया तो प्राणमय, प्राणमयसे हटा लिया तो मनोमय, मनोमयसे हटा लिया तो विज्ञानमय, विज्ञानमयसे हटा लिया तो आनन्दमय। ये पाँचों कोश ही हैं।

कोश.माने भी आपको बता दें; क्योंकि मैं समझता हूँ शायद कोई नये-नये वेदान्त सुननेवाले होयें तो कोश माने उनकी समझमें नहीं आवेगा। यह रेशमका कीड़ा भीतर बैठकर रेशम बनाता है और ऊपर उसके परत- पर-परत, रेशमके घेरे होते हैं। रेशमकी रुई जो होती है वह परत-पर-परत बैठ जाती है और बीचमें कीड़ा बेचारा घिर जाता है।

अब वह कोश क्या हुआ कि वह जो रेशमका गोला है अण्डा, उसको बोलते हैं कोश और उसमें जो कीड़ा है उसको बोलते हैं पुरुष। ऐसे यह देह, प्राण, मन, कर्तापन और भोक्तापन—ये पाँच हैं एकमें एक, एकमें एक भीतर गुफा और सबसे भीतरी गुहाका जो निवासी है उसको बोलते हैं जीवात्मा।

वह हाथ जानता है, इसिलए हाथसे न्यारा है, वह हाथके सिमटने और फैलानेको जानता है, इसिलए कमसे न्यारा है वह इच्छा होने-न-होनेको जानता है, इसिलए उससे न्यारा है। और वह कर्तापन कब रहता है और कब नहीं रहता है? सुषुप्तिमें नहीं रहता है, उसको जानता है। और, आनन्दमय कब जाहिर होता है और कब नहीं होता है, इस बातको वह जानता है। इसिलए आनन्दमयसे भी न्यारा है।

तो यह जो तुम दुनियामें अपनेको 'मैं-मैं-मैं' कहते डोलते हो, मैं साढ़े तीन हाथका, मैं मन, डेढ़ मनका, मैं इतनी उम्रका, मेरी उम्र कितनी ? बोले— पचास-पचपन वर्ष, मेरा वजन कितना ? कि डेढ़ मन, दो ढ़ाई मन। मेरा विस्तार कितना ? कि पाँच फुट कि छह फुट!

तो यह जो पाँच-छह फुटके भीतर दो-ढाई मन वजनके भीतर और जन्मसें लेकर मृत्यु पर्यन्त सौ-पचास बरसके भीतर यह घेरेमें जो चीज है, यह जानी जाती है और मैं जो होता है, वह उसको जाननेवाला होता है। तो आप वेदान्तका यह नियम समझ लो कि जो जिसको जानता है, वह उससे न्यारा होता है। जैसे आप मोटरको जानते हैं तो आप मोटरसे जुदा हैं, आप मकानको जानते हैं तो आप मकानसे जुदा हैं। चश्मे-घड़ीको जानते हैं तो उससे जुदा हैं और अपने साड़ी, ब्लाऊजको आप जानते हैं, बाजारसे खरीदकर ले आते हैं, शरीरपर पहनते हैं और कभी उतारते हैं, तो आप उससे न्यारे हैं।

तो जैसे बाजारसे कपड़े खरीदकर पहने जाते हैं और पुराने होनेपर उतार दिये जाते हैं, वैसे यह शरीर भी अपने पाप-पुण्यकी कीमतपर खरीदा जाता है और समय आनेपर उतार दिया जाता है। तो आप इससे बिल्कुल न्यारे हैं। यह बात तो आपको बहुत बढ़िया ढंगसे समझायी जा सकती है कि यह शरीर जाना जाता है और आप जाननेवाले हैं और जाना जानेवालेसे जाननेवाला न्यारा होता है।

ठीक है! इसको यों बोलते हैं कि इस शरीरमें मैं द्रष्टा हूँ; लेकिन मेरे भाई तुम तो इसके द्रष्टा हो गये, अब कुछ सत्त्व भी है तुम्हारे अन्दर कि तुम ख्याली पुलाव हो? सत्ता भी है कि केवल ख्याल-ही-ख्याल है? यह बड़ी गम्भीर बात है कि कोई मन-ही-मन सोचे कि मैं द्रष्टा हूँ और समझे कि हमको ज्ञान हो गया, तो वह तो अपने ख्याली पुलावको ज्ञान बोल रहा है, यह तो बिल्कुल उसकी मानस कल्पना है कि मैं द्रष्टा हूँ।

यदि द्रष्टा सत्तासे एक नहीं होगा तो वह केवल बौद्धों में जैसा विज्ञानवाद है, विज्ञान मात्र ख्याल फुरफुरा रहा है कि मैं हूँ। यह ख्याल बन गया है कि ' मैं हूँ' और यदि सत्तामें ज्ञान न हो तो सत्ता जड़ होगी और यदि ज्ञानमें सत्ता न हो तो तो ज्ञान केवल मनकी फुरफुराहट। इसलिए सत्ता और ज्ञानकी एकता होना जरूरी है। तो सत्ताका अनुसन्धान करना चाहिए।

देखो, हम लोग जब वेदान्तकी बात करते हैं तो किसीको क्या अनुभव हुआ इसकी परवाह नहीं करते हैं भला! कोई सिद्ध महात्मा आकर कहे कि हम छत परसे गिर पड़े, श्रीर तो बेहोश पड़ गया और हम होशमें रह गये। हम चैतन्य हैं और यह शरीर जड़ है—ऐसा नहीं समझना। मूर्खताकी बात है। वह जो होश है उसका नाम चैतन्य नहीं है, बावरे लोग तो तरह-तरहकी कल्पना करते हैं।

एक दिन वृन्दावनमें सत्संग हो रहा था। तो श्री हरिबाबाजी महाराज बहुत विनोद करते हैं सत्संगमें। पढ़ते-पढ़ते आया कि श्री गिरिराज गोवर्धनजी महाराज जो हैं, वे तो चिन्मय हैं। तो बाबा रुक गये पोथी रख दी और सत्संगियोंसे पूछा कि भाई यह गिरिराजजीको चिन्मय लिखा हुआ है, तो गिरिराजजी तो पत्थर दिखते हैं वे चिन्मय कैसे हैं? वे तो पहाड़ हैं, चिन्मय कैसे? बतलाओ! सब लोग अपना-अपना अनुभव बताओ। एकने बताया कि एक महात्मा गोवर्धनकी परिक्रमा कर रहे थे, तो उनके मनमें यह शंका हुई कि यह चिन्मय नहीं, यह तो पत्थर है। इतमें एक दिव्य पुरुष गोवर्धनमें-से

निकलकर आया बोले—ऐ! ऐसी शंका मत करो, गिरिराजजी चिन्मय हैं और उसने एक पत्थरका टुकड़ा उठाया और दूसरे पत्थरपर पटक दिया और खूनकी धारा बहने लग गयी। बोले—देखो गिरिराज चिन्मय हैं।

अब उन सज्जनकी यह धारणा है कि रक्तकी धारा जहाँ बहे, उसका नाम चिन्मय। आपको सुनाते हैं।

अच्छा, दूसरेने सुनाया कि एक सज्जन रातमें गिरिराजमें एक जगह जब गये तो नीचे धरतीमें से आवाज आवे-राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम! बोले—भाई यहाँ आवाज कहाँसे आती है? तो खोज की, वहाँ कोई आदमी नहीं था। फिर खोज करनेपर मालूम पड़ा कि एक हड्डीका टुकड़ा वहाँ पड़ा हुआ है और उसमें-से आवाज आ रही है राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम! बोले—वाह-वाह-वाह, यह चिन्मय है, क्योंकि इसमें-से आवाज आ रही है राधेश्याम!

तो भाई अपने बेटेका नाम अगर चिन्मय रख लोगे कि जिसमें खून हो, उसका नाम चिन्मय, तो तुम्हारा देह ही चिन्मय हुआ। जिसमें-से आवाज निकले सो चिन्मय तो घण्टाघरका घण्टा भी चिन्मय और मिलोंमें जो भोंपू बजते हैं बड़े जोरसे, वे भी चिन्मय, क्योंकि उनमें आवाज आती है।

तो यह आवाज आना या खून निकलना इसका नाम चिन्मय नहीं होता है।

बोले—अच्छा भाई, देखना है, सुनना है, सेन्द्रिय होना है, इन्द्रियों सिहत होना, इसका नाम चिन्मय है। बोले—नहीं, विज्ञानकी जब उन्नित होगी, तब इन इन्द्रियोंका निर्माण कर लिया जायेगा विज्ञानके द्वारा और यन्त्रके द्वारा ऐसा पुरुष बनाया जायेगा। अभी बन गये हैं ऐसे पुरुष जो बिलकुल गृणितका प्रश्न यदि उनको दिया जाता है कि गणितका यह सवाल हल करो तो मशीनसे बने हुए जो पुरुष हैं वे उस सवालको हल करके बता देते हैं।

हम एक बैंक और बीमा कम्पनीके कारखानेमें गये थे कलकत्तेमें, तो वहाँ उन्होंने बताया कि गणितकी जाँच मशीन करती है कि यह गणित ठीक हुआ कि नहीं हुआ और अरबोंका हिसाब मिनटोमें निकालकर बता देती है मशीन। नारायण कहो, अब आगे वैज्ञानिक उन्नित होनेवाली है. लोग शरीर बना लेंगे, कान बना लेंगे। तो हमारे चेतन और जड़की जो परिभाषा है. वह इन्द्रियवाला होना, इसका नाम चेतन और इन्द्रियवाला न होना, इसका नाम जड़-ऐसा नहीं है। सेन्द्रियको चेतन और निरेन्द्रियको जड़ नहीं बोलते। हमारे जड़ और चेतनकी परिभाषा है, इस बातको यदि आप ठीक पहलेसे ही ध्यानमें नहीं रख लोगे, तो वेदान्त सुन लो अद्वैत सिद्धि खण्डन-खण्ड-खाद्य पढ़ लो और सम्पूर्ण वेदान्त ब्रह्मसूत्र पढ़ लो, यदि उसकी परिभाषा मालूम नहीं होगी, तो बात समझमें आवेगी नहीं।

तो हमारे जड़-चेतनकी परिभाषा यह है कि जिसको जाननेके लिए दूसरेकी जरूरत हो उसका नाम जड़ और जो खुदको भी जाने और दूसरेको भी जाने उसका नाम चेतन।

चेतनता जो है, वह जाननेका नाम, ज्ञानका नाम चैतन्य है। तो यदि यह ज्ञान हजार-हजार वस्तुओंके दर्शन होनेपर भी और हजार-हजार वृत्तियोंके उदय होनेपर भी सत्स्वरूप नहीं है, तो क्षणिक है और बौद्धोंके द्वारा स्वीकृत विज्ञान नामवाला यह पदार्थ है; और यदि यह ज्ञान सत्स्वरूप है, माने अबाध्य है, हजारों विषय सामने दौड़ रहे हैं और उनको प्रकाशित करनेवाला एक। हजारों वृत्तियाँ सामने दौड़ रही हैं, उनको प्रकाशित करनेवाला एक। तो ऐसे ज्ञानको चैतन्य बोलते हैं। जो स्वयं प्रकाश हो और सबको प्रकाशित कर उसका नाम चेतन और जो स्वयं प्रकाशित न होवे, दूसरेके द्वारा प्रकाशित होवे उसका नाम जड़।

तो देखो जाननेवालेके रूपमें आप अपना अनुभव करो कि मैं जाना जानेवाला नहीं, जाननेवाला हूँ।

आपको जो बात मैं सुना रहा हूँ, आप अपने आप किताब पढ़ोगे तो जल्दी यह बात आपके ध्यानमें नहीं बैठेगी। इसीसे जो लोग केवल तर्कसे या युक्तिसे वेदान्त सिद्ध करना चाहते हैं वे गलत रास्तेपर हैं, और जो लोग मशीनसे वेदान्तकी परीक्षा करना चाहते हैं वे भी गलत रास्तेपर हैं। और जो किसी दिन कोई अवस्था हो जानेसे, कोई स्थिति हो जानेसे वेदका प्रतिपादन करते हैं, वे भी गलत रास्तेपर हैं। आपको वेदान्तकी बात सुनाता हूँ। तो इस द्रष्टाको आप ऐसे केन्द्रपर पहुँचा दो कि जहाँ यह हजार-हजार विषयोंको और वृत्तियोंको देखता हुआ भी स्वयं एक रस और निर्विकार है, इसमें कोई विकार नहीं है और स्वयं एकरस है। ऐसी स्थितिमें द्रष्टाको नहीं अपने आपको (ब्रह्म अनुभव करेंगे)। द्रष्टा इसलिए नहीं कहते हैं कि कहीं आप किसी दूसरेको द्रष्टा मानकर उसकी स्थितिका ध्यान न करने लग जायँ कि द्रष्टा की ऐसी स्थिति होती है। ऐसा नहीं है।

एक जगह सत्संग होता था, सैकड़ों आदमी बैठते थे। बोले—भाई ध्यान कर लो! कि हाँ ध्यान कर लिया। कि क्या ध्यान हुआ? बोले—हम द्रष्टा साक्षीका ध्यान कर रहे हैं। कि द्रष्टा साक्षी कैसा होता है? कि द्रष्टा साक्षी चैतन्य है, नित्य है, ध्रुव है, एक रस है, निर्विकार है—ऐसे हम द्रष्टा साक्षीका ध्यान कर रहे हैं।

बोले—जिसका तुम ध्यान कर रहे हो वह तुम्हारे मनका ख्याल है, वह द्रष्टा साक्षी नहीं है। द्रष्टा साक्षी ध्यानका विषय नहीं होता। द्रष्टा साक्षी ध्येय, ध्यान और ध्याता, तीनोंका प्रकाशक और स्वयं प्रकाश होता है।

अच्छा! अब आपको दूसरी बात सुनावेंगे। यह त्वं पदार्थका शोधन है। यह ज्ञान नहीं है, इसका नाम है खोज। शोधन माने होता है खोज। मैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, विश्व तैजस् प्राज्ञ इनका द्रष्टा हूँ।

अच्छा! अब एक आपको कल्पनाकी बात सुनाते हैं। क्या कल्पनाकी बात सुनाते हैं कि समझो खाली शरीर ही नहीं, मिट्टी हो, पानी हो, आग हो, हवा हो, आसमान हो, अहंकार हो, प्रकृति हो, (आप सबके द्रष्टा हो)।

अच्छा!! आप समझ लो ईश्वर हो, तो जब ईश्वर आकर आपके सामने खड़ा हो जायेगा-देखा जायेगा, आपके अनुभवसे जब ईश्वरकी सिद्धि होगी, तो आप उसके द्रष्टा होंगे और वह ईश्वर ईश्वर नहीं होगा, दृश्य होगा।

वेदान्तमें द्रष्टा उसको कहते हैं जो कीड़ेसे लेकर ईश्वरतक और तृणसे लेकर अव्याकृत प्रकृति पर्यन्त सबका द्रष्टा होता है, उस द्रष्टाको वेदान्तकी परिभाषामें चैतन्य द्रष्टा बोलते हैं। एक सज्जन थे कर्णवासमें, समाधि लगाते थे गुफामें बैठकर। एक दिन बड़े खुश होकर लौटे, और बोले-स्वामीजी! आज तो हमको ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया।

भाई, ब्रह्मका साक्षात्कार तुमको कैसा हुआ?

बोले—िक मैं तो आँख बंद करके गुफामें बैठा था और सारी गुफा चमक गयी जैसे उसमें सूर्योदय हो गया हो, सूर्यकी राशनी छा गयी।

मैंने कहा—भाई सूर्यकी रोशनी तुमने देखी थी (यह तो ठीक है) लेकिन यह आत्मदर्शन नहीं है। इसका नाम आत्मदर्शन नहीं है। तुम तो न्यारे हुए न, यह अद्वैत दर्शन कहाँसे हुआ?

तो बोले—फिर यह देह क्या है ? देहमें पाँच चीजें देखनेमें आती हैं— मिट्टी, पानी, आग, हवा और अवकाश। तो इसको जरा अपने कारणकी ओर फेंको। यह ईश्वर वस्तुका चिन्तन वेदान्तमें जरूरी है, नहीं तो तत्-त्वं-असिमें से तत् गायब हो जायेगा।

ये जो युक्तिवादी वेदान्ती होते हैं, कहो तो हम नाम लेकर बता दें। पर यह है कि कभी-कभी किसीकी श्रद्धा होती है तो ठेस लग जाती है, इसलिए नाम नहीं लेते हैं।

एक दिन मैंने बताया कि एक महात्मा समुद्रके किनारे बैठे और बीस वर्ष उन्होंने ध्यान लगाया और ध्यान लगाकर बोले कि जहाँ मैं पहुँच गया, वहाँ कृष्ण भी नहीं पहुँचे थे। तो अब उनका जो बेटा होगा, जो चेला होगा वह वहाँ पहुँचेगा जहाँ वे नहीं पहुँचे हैं। बिल्कुलं।

क्योंकि; जो वस्तुका ज्ञान होता है वह सबको एक सरीखा होता है, उसमें कोई बड़ा-छोटा नहीं होता। श्रीकृष्ण जिस सत्यको जानते हैं, उसी सत्यको अगर मैं नहीं जानता हूँ तो मैं असत्यको जानता हूँ।

और स्वयं परब्रह्म परमात्मा अपनी दृष्टि जैसा सत्य है, अगर वैसा ही, वहीं सत्य हमारी दृष्टिमें नहीं है, तो मैं असत्य जानता हूँ। सत्य हमेशा एक होता है और वह सबके अनुभवमें एक होता है। उसमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी लिहाज करके बोलनेकी जरूरत नहीं है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज बोलते थे—मेरे मनमें-से जो कल्पनाके

स्फुलिंग उड़ते हैं—मेरे मनमें-से जो कल्पनाकी चिनगारियाँ उड़ती हैं, वह एक-एक चिनगारी अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड बनाती हैं और ब्रह्मा- विष्णु- महेशको बनाती हैं और तुरन्त बुझ जाती हैं। हमारे मनमें उठनेवाली जो चिनगारियोंकी धारा है, वे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा-विष्णु-महेशको बनाती हैं।

ये युक्तिवादी लोग कहते हैं—केवल मैं का अनुसंधान करो। तत्का अनुसन्धान करनेकी जरूरत नहीं है।

इसका मतलब यह हुआ कि वे वेदान्तवादसे जुदा हो गये। वह आत्मवाद हो गया, वह ब्रह्मात्मैक्यवाद नहीं हुआ। ब्रह्मात्मैक्यवाद दूसरी चीज है और वह है—ब्रह्म और आत्माकी एकता।

तो अब आपको सुनाते हैं यह जो देह हैं, इसमें पाँच भूत हैं। तो पाँचों भूतोंको मन-ही-मन, कार्यसे नहीं कारणसे अभिन्न देखो। इसीमें जो मिट्टी है सो धरतीसे अभिन्न, जो पानी है सो जलसे अभिन्न, जो तेज है, गर्मी है सो तेजसे अभिन्न, जो हवा है, गित है, वह वायुसे अभिन्न और इसमें जो अवकाश है सो आकाशसे अभिन्न। ये हम लोगोंके शरीर अलग-अलग नहीं हैं, ये पंचभूतोंमें क्लृप्त हैं—ये पंचभूतमें किल्पत हैं।

वस्तुका साक्षात्कार करनेके लिए तरह-तरहकी प्रक्रिया होती है। एक प्रत्यक्ष है, एक अनुमान है, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि भी हैं, एक शब्द सम्भव होता है, एक चेष्टा होती है, तरह-तरहकी प्रक्रिया है।

अच्छा, लेकिन अब आपको दूसरा सवाल करते हैं। आपको जब यह मालूम पड़ता है कि हमारी तो मोहब्बत हो गयी, हमारे दिलमें किसीसे मोहब्बत हो गयी। तो यह मोहब्बत आपको कैसे मालूम पड़ती है?

मोहब्बत इतिहाससे सिद्ध नहीं होती वह सम्भवसे सिद्ध नहीं होती, चेष्टासे सिद्ध नहीं होती, वचनसे सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अपनी चीज है न। वह तो अपने ही दिलको कुरेद रही है। बिना किसी इन्द्रियके, ऑंख-कान-नाक-जीभका प्रयोग किये बिना, दिलमें जो मोहब्बत बैठी है, वह कैसे मालूम पड़ती है बोले—उसका अपरोक्ष होता है।

हम छोटे हैं-यह आपको किस प्रमाणसे मालूम पड़ता है? आँखसे

आपने अपना सोना देखा है ? अच्छा ! नाकसे अपना साना सूँघा है ? जीभसे अपने सोनेका स्वाद लिया है ? यह आपको सोना कैसे मालूम पड़ता है अपना ?

बोले—भाई, हमको मालूम पड़ता है। जो चीज हमारी देखी हुई है, उसमें गवाहकी जरूरत? औजारसे हमने अपना सोना देखा है? खुर्दबीन लगाकर हमने अपने दिलकी मोहब्बत नापी है? तो माहब्बत कैसे मालूम पड़ती है? तो इसको साक्षीभास्य बोलते हैं।

ये घटपटादि जो पदार्थ हैं, ये आभास भास्य हैं, माने इन्द्रियोंको बीचमें रखकर हम घड़ेको, कपड़ेको, फूलको, घड़ीको, दूरबीनको, लाऊडस्पीकरको देखते हैं, इन्द्रियोंको बीचमें रखकर और हमारे दिलमें जो मोहब्बत होती है अथवा दिलमें जो दु:ख होता है, दिलमें जो राग होता है, द्वेष होता है, दिलमें जो स्वप्न होता है, दिलमें जो स्वप्न होता है, दिलमें जो सुपुप्ति होती है वह हम इन्द्रिय सहित होकर, इन्द्रिय वृत्तिमें प्रतिबिम्बत होकर हम उसको नहीं देखते, हम स्वयं उसको देखते हैं इसको साक्षी भास्य बोलते हैं।

अब जहाँ सरकार खुद ही देखती हो, वहाँ गवाहकी क्या जरूरत? कहते हैं किसी गाँवमें एक आनरेरी मिजस्ट्रेट थे। उनकी अदालतमें एक मुकदमा आया कि एक सब्जी खरीदनेवालेमें और एक सब्जी बेचनेवालेमें दुकानपर लड़ाई हो गयी थी। पुलिसने चालान कर दिया और मुकदमा आया अंग्रेजी मिजस्ट्रेटके यहाँ। तो दोनोंमें लड़ाई हुई कि पहले किसने गाली दी! पहले किसने चाँटा मारा? तो यह हुआ कि गवाह दोनों पक्षसे बोलने लगे। बेचनेवालेके पक्षसे गवाह कहें कि पहले ग्राहकने मारा और ग्राहकके पक्षसे गवाह बोलें कि पहले दुकानदारने मारा।

अब जो अंग्रेजी मजिस्ट्रेट था, वह बोला कि भाई, यह बात बिलकुल सच्ची है कि पहले दुकानदारने मारा। बोले—सरकार आपको कैसे मालूम हुआ? तो बोले—उस समय अदालत वहाँ आलू खरीद रही थी।

अदालत आलू कैसे खरीद रही थी? कि वे अंग्रेजी मजिस्ट्रेट जो हैं उनके भी तो घर था न, वे भी अपनी घर-गृहस्थीके लिए आलू खरीदने गये थे, उसी दुकानपर संयोगवश तो उन्होंने देखा था।

अब इसमें जब अंग्रेजी मजिस्ट्रेटने खुद अपनी आँखसे ही देख लिया,

तब उसको यह निश्चय करनेमें कि पहले किसने मारा, केवल कानूनी कारवाई पूरी करनी है, बात तो वह जानता ही है। बात तो उसको सब मालूम है।

तो यह जो साक्षी है यह अदालत जो भीतर बैठी हुई है, यमो वैवस्वतो नाम ईश्वर कहाँ बैठकर देखता है? तो ईश्वर दो तरहसे देखता है, यह तो मंत्र देखो तब पता लगेगा।

ईश्वर न तो इन्द्रियोंसे देखा जाता घड़ी, कपड़ा आदिकी तरह और न तो इन्द्रियोंकी तरह. मोहब्बतकी तरह, सपनेकी तरह, सुषुप्तिकी तरह साक्षी भास्य हो करके भी ईश्वर दिखायी पड़ता, क्योंकि वह तो साक्षी है। ईश्वरका स्वभाव जानना है, जाने जाना नहीं है। यह ईश्वरकी आदत जो है—आदत कहो, स्वभाव कहो, प्रकृति कहो, बिगड़ी हुई है बिल्कुल!

आप यह नहीं समझना कि हम ईश्वरकी शानके खिलाफ कोई बात बोल रहे हैं। क्योंकि ईश्वरकी शानके खिलाफ बोलना तो अपनी ही शानके खिलाफ बोलना है।

तो यह ईश्वर दो तरहसे देखता है—देखा जाना इसका स्वभाव नहीं है, देखना इसका स्वभाव है। ये जिज्ञासु जो जिन्दगीभर रोते हैं इसका कारण क्या है?

ईश्वरकी जो आदत है, जैसा स्वभाव है, जैसा स्वरूप हे, जैसी प्रकृति है, उसके खिलाफ काम उससे लेना चाहते हैं। उसका स्वभाव है देखना, वह देख रहा है और तुम कहते हो—तुम देखे जाओ। ये जिज्ञासु लोग ऐसे मरते हैं। भक्तका ईश्वर तो सगुण होता है, साकार होता है, वह आकर दिख भी जाये और यह निर्गुणियोंको क्या दिखेगा? तो यह ईश्वर देखा जाये, देखा जाये, देखा जाये! अरे जो देख रहा है उसका नाम ईश्वर है। अब तुम उसको उलटकर ईश्वर देखा जाये—ऐसा क्यों चाहते हो? यही है आत्माको ब्रह्म जानना। जाननेवाला नहीं, जाननेवालामें तो अन्त:करण वृत्तिकी उपाधि लगी हुई है, जाननेवालेमें जो चिन्मात्र है, जो ज्ञानमात्र है उसीका नाम तो ईश्वर है। अरे तुम्हारा नाम तो ईश्वर है। जानना तुम्हारा स्वभाव है, जानना तुम्हारी प्रकृति है, जाना जाना तुम्हारी प्रकृति नहीं है।

अच्छा हम आपसे पूछते हैं कि आपकी पत्नी, आपको पूरी तरहसे

जानती है ? आपने कुछ छिपाया है कि नहीं ? यह पुरुषकी प्रकृति है कि अपनी अत्यन्त प्रेमिका पत्नीसे भी कुछ-न-कुछ छिपाकर रखता है।

कैसे ? कि माँसे कहनेवाली जो बात होगी, वह पत्नीसे कैसे कहेगा ? अच्छा, पत्नीसे कही जानेवाली जो बात होगी वह माँसे कैसे कहेगा ?

जाना जाना जो है हमको पूरी तरहसे कोई जान ले, कहीं-न-कहीं अपना मैं सब जाननेवालोंसे छिपा रहेगा। आप देख लेना, सब जाननेवाले हमको जानते हैं यह भी हम जानते हैं।

यही दु:ख जो जिज्ञासुको होता है, तकलीफ जो होती है वह यही कि एक ऐसी चीजको, जो सबको जान रही है, वह उसको उलटकर, उसका विपर्यय करके, ज्ञानस्वरूपको वह जब जेय बनावेगा, तो अज्ञान बना देगा न! जेय जो होगा, वह तो अज्ञान होगा, वह तो जड़ होगा। जो विषयी है उसको विषय बना देना, जो द्रष्टा है उसको दृश्य बना देना, जो स्व है उसको अन्य बना देना, यह कोई ईश्वरका उपकार नहीं है।

तो नारायण आओ, ये पितयाँ अपने पितसे बहुत प्रेम करती हैं। उनके प्रेमपर हमको कोई शंका नहीं है, लेकिन क्या वह अपनी सब बात अपने पितसे बता सकती है? ईश्वर स्त्रीकी बुद्धिमें एक धातु, एक चूर्ण मिलाता है स्त्रीको पैदा करते समय। कोई सिखाता नहीं है उसको यह स्त्रीकी बुद्धिमें चूर्ण ईश्वर डालता है अपनी ओरसे कि तुमसे अगर जिन्दगीमें कोई गलती हो जाये, तो अपने पितको मत बताना। यह कोई उसको सिखाता नहीं वह जानती है कि अगर हमारी गलती हमारे पितके सामने प्रकट हो गयी तो वे हमारी उपेक्षा कर देंगे, हमसे उदासीन हो जायेंगे। पितके सम्बन्धमें इतना विश्वास किसी भी पत्रीको नहीं होता कि वह अपनी गलती अपने पितके सामने बिलकुल ठीक-ठीक बता सके। यह इसलिए बताते हैं कि यह कोई कहे कि पत्री पितसे जानी जाती है—यह बात नहीं है और पित पत्रीसे जाना जाता है, यह बात भी नहीं है। मित्र मित्रसे जाना जाता है यह बात भी नहीं है।

तो, अपनेको कोई किसीसे छिपा नहीं सकता, कोई अपने आपसे अपनेको छिपा सकता है क्या? तो अपने आपका ज्ञान स्वरूप होना— यह स्वभाव सिद्ध है और अपने आपका ज्ञेय स्वरूप होना यह स्वभाव सिद्ध नहीं है। यह प्रकृतिके बिलकुल विपरोत **है। यह स्वभावके बिलकुल** विपरीत है।

यह सृष्टिके बड़े-बड़े रहस्य होते हैं भला! तो ईश्वरका रहस्य क्या है? ईश्वरका रहस्य है कि वह सर्वविद् है और सर्वज्ञ है।

सर्वज्ञ माने क्या होता है ? देखो जैसे दो आदमी बैठते हैं, माधवजीके दिलमें एक बात है, प्रबुद्धानन्दके दिलमें एक बात है, ओंकारानन्दके दिलमें एक बात है। इनके दिलकी वे (दूसरे) जानें, उनके दिलकी वह जानें-ऐसा होना शक्य नहीं है। अपने-अपने दिलकी सब जानते हैं, लेकिन ईश्वर इन सबके दिलोंमें रहता हुआ सबके दिलोंकी जानता है। सर्वज्ञ है ईश्वर। वह सर्वज्ञ कैसे बना ? कि ओंकारानन्दके दिलमें जो जीव है, उस जीवके रूपमें बैठकरके ओंकारानन्दकी सब जानकारीको ईश्वर जानता है और माधवजीके दिलमें उनका जीव होकरके उनकी जानकारी सब ईश्वर जानता है। और मच्छरके दिलमें बैठकरके मच्छरको जो ज्ञान है सो ईश्वर जानता है और सूर्यके दिलमें बैठकरके सूर्यको जो ज्ञान है, उसको ईश्वर जानता है और चन्द्रमाके दिलमें बैठकरके चन्द्रमाको जो ज्ञान है, उसको ईश्वर जानता है। माने सबके दिलमें बैठकरके चन्द्रमाको जो ज्ञान है, उसको ईश्वर जानता है। माने सबके दिलमें वत्नत्त् द्रष्टाके रूपमें, तत्त् जाताके रूपमें, तत्तत् आभासके रूपमें तत्तत् अन्त:करणमें प्रतिबिम्बत चैतन्यके रूपमें रहकरके ईश्वर सबको जान रहा है।

यह एक जानना हुआ, दिलमें रहकरके जानना और दूसरा जानना क्या है? कि अलग-अलग दिलमें रहकर नहीं जानना, मायामें रहकर जानना। अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य होकर सबको जानना। अन्त:करणमें प्रतिबिम्बित आभास चैतन्यके रूपमें सबको जानना।

मच्छरको यह मालूम होता है कि यह आदमी हमको मारेगा तो भागता है न, तो वहाँ ईश्वर जानता है कि मच्छरको हर लग रहा है।

यह देखो एक ज्ञान तो यह हुआ, विशेष-विशेष अन्तःकरणमें, सब अन्तःकरणमें रहकर ईश्वर सबको जानता है। और एक हुआ-अन्तःकरणोंकी जो समष्टि है—बीजावस्था वह भगवान्को मालूम पड़ती है।

भला वह कैसे मालूम पड़ती है? अन्त:करण तो है ही नहीं। ईश्वरके अन्त:करण नहीं होता। ईश्वर बिना आँखके देखता है, बिना कानके सुनता है, बिना नाकके सूँघता है, बिना जीभके बोलता है, बिना पाँवके चलता है, बिना हाथके करता है, उसकी ज्ञान शक्ति ही सब कुछ है।

तो वहाँ औजार क्या है ? कि वहाँ माया ओजार है । वहाँ माया ही करण है । जैसे जादूगरने सन्दूकमें रखी हुई चीज बता दी कि सन्दूकमें यह रखा है । तो कैसे बताया ? आँखसे देखकर बताया ? नहीं, उसके पास एक अचिन्त्य शिक्त है, जिसके द्वारा जादूगरने सन्दूकमें रखी हुई वस्तुको बता दिया । इसको बोलते हैं जादूगर। तो ईश्वर जादूगरकी तरह सारी सृष्टिको जानता है—यह एक ज्ञान है, इसको सामान्य ज्ञान बोलते हैं और ईश्वर जीवकी तरह सबको जानता है, विशेष ज्ञान है।

तो यहाँ (नवें मंत्रमें) जो सर्वज्ञ और सर्ववित् दो शब्द कहा गया न, एक जादूगरकी तरह सबको जानना, यह एक ज्ञान और सबके अन्त:करणमें रह करके अलग-अलग जानना सबको, यह विशेष ज्ञान।

ये दोनों ज्ञान ईश्वरको है। अब प्रत्येक जीवको जैसा काल, जैसा देश जैसी परिस्थित मालूम पड़ती है, वह सब ईश्वर जानता है। देखो इन्द्र कितना जानता है—यह भी ईश्वरको मालूम है और एक चींटी कितनी जानती है—यह भी ईश्वरको मालूम है और ब्रह्मा कितना जानता है—यह भी ईश्वरको मालूम है और, मायाके द्वारा सर्वको अपने स्वरूप रूपसे जानना—यह भी ईश्वरका ज्ञान है और जो ईश्वरका असली स्वरूप है, ब्रह्म, उसमें सर्व और ज्ञान-सर्व और वित्व-यह दो चीज नहीं है। ईश्वरमें ज्ञान और वस्तुका भेद नहीं है। तो एक ईश्वरका वह स्वरूप हुआ, जिसमें ज्ञान और ज्ञेयका भेद ही नहीं है। एक ईश्वरका वह स्वरूप हुआ जहाँ मायासे सामान्य रूपसे वह सबको जानता है और ईश्वरका एक वह स्वरूप हुआ जहाँ वह सब अन्त:करणोंमें पुरुष रूपसे प्रविष्ट होकर सब जीवोंकी बातको जानता है।

तो ईश्वरका त्रिधा ज्ञान हुआ—तीन प्रकारका ईश्वरका ज्ञान हुआ। सबके दिलमें बैठकर सबको जानना-माने सबका ज्ञान ईश्वरका ज्ञान, चींटीको जो मालूम है सो ईश्वरका ज्ञान है और पक्षीको जो मालूम है सो ईश्वरका ज्ञान, मनुष्यको जो मालूम है, सो ईश्वरका ज्ञान है, देवताको जो मालूम है, सो ईश्वरका ज्ञान है और एक मायासे ईश्वर जानता है कि जो सर्वका ज्ञान है सो मेरा ज्ञान है और एक-ईश्वर जानता है कि मैं ही मैं हूँ। न सर्व है, न करण है, न माया है, मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ।

यह जिज्ञासुको मारनेवाली चीज इसमें कहाँसे आती है ? वह महाराज छोटी-सी तो बुद्धि अगर उसकी बुद्धिमें घड़ा रखा जाये, सचमुचका घड़ा, तो बुद्धि फट जायेगी, अन्तः करणके एक कणमें बुद्धि समायी हुई, सचमुचका घड़ा रख दिया जाये तो फट जाये। यह जैसे रबड़की थैली हो न, ये बच्चे लोग क्या करते हैं। एक बार अकबर बादशाहके यहाँ कोई बच्चा रो रहा था। तो अकबरने कहा कि बीरबल! इसको चुप कराओ। बोले—कैसे चुप करावें साहब! यह ऐसी चीज माँगता है जो दी नहीं जा सकती। बोले—नहीं, कुछ भी माँगता हो, बादशाहका बेटा है, शाहजादा है, जो मांगे सो दो। तो बादशाहने पूछा—बेटा क्या चाहिए? बोला कि हमको एक दवात चाहिए लिखनेके लिए! बोले—िक लो मँगाओ, दवात। बादशाहका बेटा दवात माँगे और वह उसको नहीं मिले!तो झट दवात मँगा दी गयी।

उसके बाद फिर रोने लगा। अब क्या चाहिए? बोला—िक एक हाथी चाहिए। बोले कि क्या मुश्किल है, इसके लिए एक हाथी मँगा दो। हाथी मँगा दिया गया अब फिर रोने लगा, बोले—अब क्या! कि हाथीको दवातमें डाल दो। अब बादशाहने कहा कि बाबा, बच्चेको चुप कराना तो बहुत मुश्किल है।

वैसे ही ये जो जिज्ञासु लोग हैं वे पूछते हैं कि महाराज, हमारा अन्त:करण ईश्वरको ग्रहण करने योग्य कैसे होगा? शुद्ध कैसे होगा! बोले— इसमें-से काम-क्रोधादि दोष निकालो, शमदमादि षड्गुण इसमें डालो। यह तो आसान है। लो!

बोले—अच्छा महाराज! यह ईश्वर कैसा है? उसको मँगाओ। ईश्वरको मँगा दिया—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म'! अब फिर ये जिज्ञासु लोग कहते हैं कि 'यह जो सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म है, उसको हमारी वृत्तिमें डालो।'

नारायण! अब बोलो कि एक ओर तो देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छित्र, सजातीय-विजातीय स्वगत भेदसे शून्य ब्रह्म और फिर ये कहते हैं कि हमारी वृत्ति रूपी दवातमें इस ब्रह्मरूप हाथीको घुसेड़ो। नहीं घुसेड़ोगे तो हम रोवेंगे।

बोले—भाई, रोओ थोड़े दिन। जबतक तुम्हारी वृत्तिमें घुसेड़नेकी वासना बनी हुई है, यह वृत्ति महाराज जिसमें किल्पत है, उसमें वृत्ति नहीं घुसेड़ी जाती। अपना आत्मा जो है यह ब्रह्म है और इसमें वृत्ति और यह शरीर और यह करोड़ों अखण्ड-ब्रह्माण्ड जो हैं ये सारे-के-सारे किल्पत हैं।

माण्डूक्योपनिषदमें सर्वज्ञ शब्द सुषुप्तिमें जो प्राज्ञ है उसके लिए आया—

एष सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ ६॥

तो वहाँ जब 'सर्वज्ञ' शब्दका प्रयोग हुआ तो शंकराचार्यने उसकी व्याख्या की—यही सर्व है और यही सर्वज्ञ है। सर्वका जाननेवाला सर्वज्ञ नहीं, वही सर्व है और वही 'ज्ञ' है। माने अखण्ड ज्ञानस्वरूपमें ज्ञाता मैं और ज्ञेय सर्व-ऐसा भेद उसमें नहीं होता, अपने स्वरूप रूपसे ही सब उसको मालूम पड़ता है, इसलिए उसको सर्वज्ञ बोलते हैं। तो बोले—यहाँ तो वर्णन आया ईश्वर तप करता है। अच्छा तो आपने इसका अर्थ समझा होगा कि तप करना माने जैसे यह पंचाग्नि तापते हैं साधु लोग, ऐसे ईश्वर भी अपने पाँच ओर आग जलाकर बैठता होगा बीचमें।

तप माने यही नहीं होता। ये स्त्रियाँ अपने पतिको प्राप्त करनेके लिए कौन-सा तप करती हैं, आपको मालूम है ? ये रोती हैं—यह भी उनका तप है। जब खूब रो लेती हैं, अपने आप ही कल्पना कर लेती हैं, फिर रोती हैं और रोनेके बाद फिर जब उनका तप पूरा होता है, तब फल मिलता है।

एक जगह लिखा है शास्त्रमें, स्त्री शास्त्र भी हमने पढ़ा है, तुम यह नहीं समझना कि हम खाली वेदान्त ही पढ़ते हैं। हम रतनगढ़में थे तो हमने लाइब्रेरी-की-लाइब्रेरी चाट ली। वहाँ सूरजमल नागरमलकी एक बहुत बड़ी लाइब्रेरी है। उसको चाट गया हो बिल्कुल। तो उसमें कामशास्त्रकी जो पुस्तकें थीं न, वे भी मैंने पढ़ी थी कि उनमें क्या लिखा है।

तो ये स्त्रियाँ रूठती हैं क्यों ? आपको मालूम है ! यह इसलिए रूठती हैं,

यह लिखा है शास्त्रमें कि यह जब रोज साथ-साथ रहते, जब प्रेम बासी पड़ने लगता है तब उसको ताजा करनेके लिए रूठती हैं। प्रेमको ताजा करनेका एक ढंग है रूठना, कि वह बासी न पड़ जाये। यह स्त्रीका तप है। साधुका तप है पंचाग्नि तापना। गृहस्थ लोग देखो कोई चान्द्रायण करते हैं, कृच्छ्र करते हैं, सान्तपन करते हैं। तो ईश्वर जो तप करता है, वह तप है अपने ज्ञानमें सबको ले लेना। यही उसका तप है।

आप समझो कि अपने ज्ञानमें जब हम किसी चीजको लेते हैं वह अप्रकटसे प्रकट हो जाती है, अव्यक्तसे व्यक्त हो जाती है। समझो कि एक आदमी किसी स्त्री या किसी पुरुषका ध्यान कर रहा है, तो हृदयमें तो उसके ज्ञान है, ज्ञान तो उसका स्वरूप है और वह स्त्री और पुरुष जो है ध्यानमें वह ध्यान कैसे हुआ? ज्ञान ध्यान इसलिए हुआ कि ज्ञानमें स्त्री या पुरुष चढ़ बैठा। जब आप अपने ज्ञानमें किसी आकार विशेषको बसा लेंगे, तो वह आकारकी जो कटिंग है वह आपके ज्ञानमें आवेगी। तो कट जो है वह है तो आकारका और मालूम पड़ेगा ज्ञान में। तो वह जितना भी ध्यानमें आकार आवेगा, वह ज्ञानको काटता हुआ होगा। ज्ञानको काटता हुआ जो होगा, वही तो आकार बनेगा।

तो ईश्वरके लिए तप क्या है—जगत्के आकारको अपने ज्ञानमें धारण करना सोऽभिध्यायत्। श्रुतिमें आया ईश्वरने ध्यान किया। क्या ध्यान किया? ज्ञान तो था ही वह। ईश्वर ज्ञान था। ध्यान क्या किया? कि यह सृष्टि ऐसी। यही तप हो गया। यह तकलीफ है ईश्वरके लिए।

तकलीफ है क्या? ईश्वर अपने ज्ञानमें मग्न था, यह सृष्टिका ध्यान करनेकी क्या जरूरत थी? लेकिन तब वह फिर अवधूत नहीं रहा, आचार्य हो गया। जबतक सृष्टि नहीं रहती. है, सृष्टिका ध्यान ईश्वर नहीं करता है तबतक वह अवधूत महात्मा रहता है और जब ध्यान करता है तब? नारायण कहो, ध्यान करता है तो जैसे पितको पत्नीकी चिन्ता होती है और बापको बेटेकी, और भाईको भाईकी, राजाको प्रजाकी, वैसे चिन्ता चढ़ बैठती है ईश्वरके सिरपर। तो चिन्ता असलमें चिन्ता नहीं होती है (ध्यान होता है)। तो 'ज्ञानमयं तपः' का अर्थ है कि ईश्वरका तप क्या है? अपने ज्ञानमें इस विकारात्मक प्रपंचको लेना।

तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ १॥

जब अपने ज्ञानको ईश्वर ध्यान बना देता है। ज्ञानमें सृष्टि नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान ही है और ध्यानमें कुछ है। किसीका ध्यान होता है। ज्ञानमें कुछ नहीं है और ध्यानमें सब कुछ है। तो जब ईश्वर मायासे ज्ञानावस्थासे, ध्यानावस्थामें आता है तो भी वह है तो ज्ञानस्वरूप ही, लेकिन मायासे जब ध्यानावस्था स्वीकार करता है, तब उसमें यह सृष्टि आती है। तब उसका नाम क्या हो जाता है? कि अन्नं, वह अन्न हो जाता है, अव्याकृत हो जाता है। अब वह भोग करने योग्य हो गया-भोग्य हो गया।

अब जिसका ध्यान करेगा वह तो उसका भोग करेगा ही। भोग अकेला ही नहीं किया जाता भला, जैसे आप कहो कि हम गेहूँ की रोटीका भोग करते हैं; नहीं, आप रोटीका भोग करते हैं और रोटी आपके दाँतका भोग करती है, रोटी आपकी जीभका भोग करती है, रोटी आपके गलेका भोग करती है। रोटी आपके पेटका भोग करती है। धीरे-धीरे शरीर क्षीण हो जाता है। केवल भोग्य, कोई वस्तु नहीं होती।

तो जब ईश्वर उत्पन्न करनेकी इच्छासे व्याचिकीर्षामें आता है, द्विविध प्रकारकी सृष्टि बनावें ऐसा जब ज्ञान होता है, तब वह भोग्य दशाको प्राप्त हो जाता है उसके बाद वह एतद् ब्रह्म हिरण्यगर्भ होता है। उसके बाद नाना प्रकारके नाम होते हैं। यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है और ये नाना प्रकारके रूप होते हैं, यह गुलाब है और कमल है। यह स्त्री है यह पुरुष है।

तो सर्वज्ञ सर्ववित् प्रभु ज्ञानात्मक तपस्याके द्वारा अव्याकृत प्रकृतिको व्याकृत करते हैं और उसमें हिरण्यगर्भको प्रकट करते हैं और हिरण्यगर्भसे नाना प्रकारके नाम-रूप प्रकट होते हैं। मूल बात यह है कि पराविद्याका विषय यह है कि वह जो अक्षर वस्तु है अविनाशी, अपना आत्मा ब्रह्म उसको समझानेके लिए जो विद्या प्रवृत्त होती है, उसका नाम ब्रह्म विद्या होता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

॥ प्रथम मुण्डकका प्रथम खण्ड समाप्त॥



मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन

प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड

प्रवचन : 9, मंत्र 1 से 12 तक

अपरा विद्या पराविद्याभें कहाँ तक सहायक है?

जब शान्तिपाठ करते हैं, उसका मतलब यह होता है कि जब हम श्रवण करनेके लिए बेठें, तो अपना हाथ-पाँव-जीभ, सिर-ये सब हिलावें नहीं। माने स्थूल शरीरको शान्त करके बैठें।

एक शान्तिका अर्थ तो यह है। ॐ शान्ति:।

दूसरी शान्तिका यह अर्थ है कि हम अपने मनको भी न हिलावें और तीसरा अर्थ यह है कि भीतरसे अपने आप क्या निकलता है, इसकी ख्याल छोड़ दें!

यह ईश्वर अपने आप किसीको नहीं मिलता, इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है, जैसे धर्म अपने आप नहीं मिलता। अगर इस बातपर छोड़ दें कि शरीरसे जो कर्म होता है, उसको होने दो, हमको अपने आप धर्म कभी नहीं होता, धर्म तो करना ही पड़ता है।

इसी प्रकार तुम सोचो कि हमारे मनमें दोस्त आता है, दुश्मन आता है, श्रीमतीजीका ध्यान होता है। या श्रीमानका होता है, तो इससे ईश्वर मिल जायेगा? नहीं! अपने आप होनेवाले ध्यानसे ईश्वर नहीं मिलता।

ध्यान जो किया जाता है उससे ईश्वर मिलता है। कर्तृत्वके बिना धर्मका भी फल नहीं होता और उपासनाका भी फल नहीं होता।

बोले—हमारे तो अपने आप ही हो रहा है। यह अपने आपसे काम नहीं बनता है, उसको करना पड़ता है और अपने आप किसीकी अविद्या निवृत्ति भी नहीं होती है। जो श्रवण मनन निद्धिध्यासन करता है, उसीकी अविद्या निवृत्त होती है। अपने आप दुनिया बनती है, लेकिन इसको बिगाड़नेके लिए काम करना पडता है , इससे छुटकारा पानेके लिए साधन करना पड़ता है ।

कहो कि हम अपने मनसे साधन करेंगे—ऐसा सोचोगे तो मन संसारमें बाँधेगा। अपने आप जो कर्म होगा वही करेंगे तो विकार आवेगा।

मनमें विकार अपने आप आता है और उसको रोक करके पवित्रताकी भावना करनी पड़ती है। इसीसे मनमुखी कर्म जो होता है, वह धर्म नहीं होता और मनमुखी उपासना, उपासना भी नहीं होती। मनमुखी श्रवण-मनन— अपने आप पढ़ लिया और अपने आप सुन लिया, वह कुमार्गमें ले जानेवाला होता है।

गुरुमुखका धर्म, गुरुमुखकी उपासना, गुरुमुखका योग और गुरुमुखकी ब्रह्मविद्या-यही सफल होती है, यही शास्त्रकी मर्यादा है। स्वतंत्रतासे किया हुआ यह सफल नहीं होता है। यह मर्यादा नहीं है।

आपको पहले यह बात सुनायी थी कि वह कौन-सी वस्तु है जिसके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है। तो उसके लिए बताया कि वेद दो तरहका है—एक अपरा विद्या और एक परा विद्या। तो अपरा विद्या धर्म-कर्मके काममें आती है। तो परा विद्या वह है जिससे परमात्माका ज्ञान हो और अपरा विद्या वह है जिससे धर्म-कर्म होवे।

तो अभी ये जो नौ मन्त्र व्यतीत हुए हैं। इनमें परा विद्याका विषय अद्रेश्यं अग्राह्य आदिका वर्णन किया और उससे सृष्टिका विस्तार होता है, यह बतानेका अर्थ हुआ कि नामरूपमन्नं च जायते, तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते— इसका अर्थ हुआ कि परमात्मा अद्वितीय है, सारी पृथिवीके रूपमें भी वही प्रकट होता है, वही विश्वके रूपमें प्रकट है।

अब यह प्रश्न हुआ कि वह जो अपरा विद्या है, वह तो अविद्याकी एक शाखा है। इसका क्या मतलब! तो अपने मनसे हम जो कर्म करते हैं, अपने मनसे जो शत्रु मित्रादिका ध्यान करते हैं और अपने मनसे हम जो ज्ञान-संपादन करनेकी कोशिश करते हैं, वह अविद्याकी 'पातनी-शाखा' है और जो गुरुमुखसे, शास्त्रके अनुसार कर्म, उपासना और ज्ञान संपादन करते हैं, वह अविद्याकी 'पावनी-शाखा' है। माने अविद्याकी दो शाखा हैं—एक पातनी और एक पावनी। तो अपरा विद्या रूप जो ऋग्वेदादि हैं वे 'पावनी' शाखाके अन्तर्गत हैं और मनुष्यके मनमें जो स्वतंत्र विचारनेकी, कि हम ऐसा जेवर पहनेंगे, ऐसा पाउडर लगावेंगे, ऐसा बाल सँवारेंगे, ऐसा चमाचम चमकेंगे—यह अविद्याकी पातनी शाखा है—पतनकी ओर ले जानेवाली शाखा।

गुरुमुख शाखा जो है वह पावनी है और मनोमुख शाखा पातनी है और ये अविद्याकी दोनों शाखा हैं, पातनी भी और पावनी भी। और ब्रह्मविद्या जो है वह परा विद्या है। तो यह जो अपर विद्याका विषय है माने पावनी शाखा जिसको हम बोलते हैं—पावनी माने पवित्र करनेवाली, हृदयको शुद्ध करनेवाली—इसमें एक होता है कर्त्ता, एक होता है साधन, एक होता है कर्मका फल।

यह संसार तो हमेशा चलता रहता है और इसमें दु:ख बहुत हैं। जो भोगके मार्गमें चलेगा उसको रोग होगा और जो योगके मार्गमें चलेगा, उसको संसारसे वियोग और परमात्मासे संयोग होगा।

तो योग जो है वह संसारसे वियोग और परमात्मासे संयोगका साधन है और भोग जो है वह रोगका साधन है। अब येनेष्टं तेन गम्यताम्— तुम्हारी मर्जी जिस रास्तेपर चलनेकी हो, उसपर चलो।

देखो! ये ऐसे बताते हैं कि एक नदी बह रही है, अविच्छित्र प्रकृतिकी संसारकी नदी बह रही है, उसमें पाप बह रहा है, पुण्य बह रहा है, सुख बह रहा है, दु:ख बह रहा है, अनादि कालसे बह रहा है और यह प्रवाह रूपसे नित्य है। और एक जो आत्मदेव हैं, वे अजर-अमर अनन्त वह भी हैं। तो जब इन्होंने अपना सम्बन्ध संसारसे जोड़ रखा है, तो संसारी हो गये हैं और जब ये कहते हैं कि हमने संसारसे सम्बन्ध तोड़ लिया; जब जान लेते हैं कि संसारसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तो मुक्त हो जाते हैं।

देखो; एक बात आपको सुनाता हूँ। गंगा किनारे भोला बाबाजी महाराज बड़े प्रसिद्ध वेदान्ती थे। आपमें-से बहुत लोगोंने उनका नाम सुना होगा, आगराके आलूवाले बाबाके वे शिष्य थे और अनूप शहरमें अधिकांश रहते थे। 'वेदान्त छन्दावली' नामकी उनकी पुस्तक बहुत चली अपने समयमें, वेदान्तियोंमें बहुत लोकप्रियं हुई। तो जब उनकी मृत्यु हुई तो मैंने उड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा कि महाराज भोले बाबाकी मुक्ति हो गयी? तो बाबा बोले कि देखो, अज्ञानीकी दृष्टिमें सब बन्धन-ही-बन्धन है और ज्ञानीकी दृष्टिमें सब मुक्ति-ही-मुक्ति है। कोई बद्ध है नहीं और कोई मुक्त होता नहीं। कोई आत्मा बद्ध नहीं है और किसी भी आत्माकी मुक्ति होती नहीं। जो बन्धनकी धारा बह रही है उसमें जो पड़ा हुआ है वह बद्ध है और जिसने बन्धनकी धारामें-से अपने आपको मुक्त जान लिया वह मुक्त है। अपनेको बद्ध जानना ही बन्धन है और अपनेको मुक्त जानना-यही मुक्ति है। इसके सिवाय किसी भी आत्माका न बन्धन होता है न मुक्ति होती है। और न संसारका बन्धन होता है न मुक्ति होती है।

यह तो एक भ्रम है, भ्रम परम्परामें बन्धन है और ज्ञान परम्परामें मुक्ति है। तो यह जो संसारकी धारा बह रही है, इससे किनारा-कश हो जाना।

यह हमको बहुत बचपनकी याद है—िकनाराकश होना माने तटस्थ होना। तटस्थ होना माने नदीको बहने दो, तुम तो किनारेपर रहो। क्या डर है ? पहाड़पर बैठे हैं और नालेमें बाढ़ आगयी तो क्या बिगड़ गया! हम ब्रह्म स्वरूपमें बैठे हैं, अगर संसारका कोटि-कोटि प्रलय और सृष्टि हो जाये, तो उससे हमारा क्या बिगड़ता है ?

तो यह जो आत्मा है यह अनादि-अनन्त-अजर-अमर-अमृत-अभय-शुद्ध-प्रसन्न-अपने स्वरूपमें स्थित-परमानन्द-अद्वय है। यह परा विद्याका विषय है।

परा विद्यासे किसका प्रतिपादन होता है? अनादि-अनन्त-अजर-अमर- अमृत-अभय-शुद्ध-प्रसन्न-स्वात्म प्रतिष्ठा लक्षण परमानन्द अद्वितीय परमात्माका प्रतिपादन होता है परा विद्या द्वारा।

तो परा विद्याके विषयमें तो एक सूची-सी पहले मुण्डकमें (प्रथम खण्डमें) दे दी!

अब दूसरेमें अपर विद्याका जो विषय है—धर्म-कर्मका, उसको थोड़ा संक्षेपमें बताते हैं—क्योंकि उसकी परीक्षा करनी है। माने जाँच करनी है कि अपरना विद्या आत्मज्ञानमें कितनी उपयोगी है। किसीने कहा—भाई, परा विद्यासे आत्माका, ब्रह्म ज्ञान होता है, तो अपरा विद्याको बिलकुल छोड़ दो। तो कहते हैं कि अपरा विद्याको छोड़ना नहीं, अपरा विद्या भी अन्तः करण शुद्धिमें साधन है, इसिलए उसका भी उपयोग कर लेना, जाँच कर लो। तो आपको हम पहले एक बार ये जो कर्म प्रतिपादक मंत्र हैं; उनका अर्थ पहले सुना देते हैं।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि तेत्रायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नित्यं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके॥ 1॥

> यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्॥ २॥ यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास -

> > मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।

अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-

मासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति॥ ३॥

तदेतत्सत्यं—यह बात जो कही जा रही है, यह सत्य है। क्योंकि संसारमें जो अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकरके कर्म कर रहे हैं, उनके खिए यह झूठी चीज नहीं बिलकुल सच्ची है। यह क्या चीज सच्ची है? कि—

मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्—वेदके मन्त्रोंमें बड़े-बड़े महापुरुषोंने विस्रादियोंने जिन कर्मोंका दर्शन किया है यह कर्म करना चाहिए।

तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। वे सब-के-सब कर्म त्रेतामें बहुत प्रकारसे फैले हुए हैं।

अब देखो यहाँ त्रेता शब्दका बड़ा विलक्षण अर्थ है। त्रेता माने जिस कर्ममें 'होता', 'अध्वर्यु' और 'उद्गाता'—ये तीनों लगते हैं उस कर्मका नाम है त्रेता। इसीसे अग्निको भी त्रेत बोलते हैं। यह जब होम करते हैं, तो ब्रह्मा जो होता है वह तो अथर्व वेदका होता है, तो उसकी चर्चा यहाँ नहीं की।

अध्वर्यु, होता और उद्गाता—ये तीनको जब कर्मकाण्डी बैठते हैं और जो कर्मकाण्ड करते हैं, उनको बोलते हैं, त्रेता। अथवा (त्रेता माने) त्रेतायुग, उसमें बहुत प्रकारसे उनका विस्तार हुआ। हे मनुष्यो! तान्याचरथ नित्यं सत्यकामा यदि तुम किसी फलकी प्राप्ति चाहते हो तो उन कर्मीका आचरण जरूर करो।

एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके—इस लोकमें यदि फलके लिए तुम कोई काम करना चाहते हो तो तुम्हारे लिए यही पुण्यका मार्ग है कि शास्त्रोंक्त रीतियोंसे कर्म करो।

शास्त्रोक्त रीतिसे कर्म करनेका क्या अभिप्राय है कि अपने मनमुखी कर्म मत करो, वासनाके प्रवाहमें मत बहो, शास्त्रकी आज्ञासे अपने मनको रोक-रोक करके कर्म करो। यही तुम्हारे लिए मार्ग है—युष्माकं एष वः पन्थाः मार्गः कुकृतस्य। स्वयं निवितितस्य कर्मणः लोके फलनिमित्तम्।

इसका एक यह भी अर्थ है कि आपको जब संध्या-वन्दन न करना हो, तो ऐसे मत कहो कि हे बेटा! हमारे लिए तुम संध्या-वन्दन कर लो। मेरे लिए तुम संध्या-वन्दन करोगे तो मेरा अन्त:करण शुद्ध होगा। ऐसे मत बोलो।

बोले—हे बाबाजी! हमारे लिए आज आप ही भोजन कर लो। किसीसे बोले—तुम हमारे लिए शौच हो आओ।

तो जैसे दूसरेके लिए दूसरा टट्टी नहीं जा सकता, वैसे दूसरेके लिए दूसरा त्याग नहीं कर सकता और जैसे दूसरा दूसरेके लिए भोजन नहीं कर सकता, वैसे दूसरेके लिए कोई भगवान्का ध्यान भी नहीं कर सकता।

अपने जो कर्तव्य कर्म हैं, उनक़ो स्वयं करना चाहिए, इसीसे फलकी उत्पत्ति होती है, इसमें कर्मफलका भोग होता है।

तो सब कर्मोंमें मुख्य कर्म अग्निहोत्र है। क्योंकि अग्निहोत्रमें एक तो अपने जीवनमें बहुत सारे नियम लेने पड़ते हैं।

अपने मनको स्वतंत्र छोड़नेकी यदि इच्छा हो, तो भाई तुम्हारा रास्ता अलग। यदि तुम्हें, जो मनमें आवे सो ही करना हो और 'नेचर' (प्रकृति) की जो माँग हो सो ही पूरी करना हो तो तुम्हारे लिए धर्मका रास्ता नहीं है, फिर तो भोगका रास्ता है।

आजकल तो महाराज लोग डाक्टरोंके पास जाते हैं तो डाक्टर लोग कहते हैं कि भाई, यह काम तो नेचरकी माँग है, यह तो पूरा करना पड़ेगा। नेचरकी माँग पूरी करनेमें आदमी विकारकी ओर, नरककी ओर जाता हैं; और जब धर्मानुसार चलता है, तब उसके आत्म बलकी वृद्धि होती है, मनोबलकी वृद्धि होती है और वह परमात्माके मार्गमें, धर्मके मार्गमें चल पड़ता है।

जब होम करने बैठते हैं न तो एक तो देखो उसमें अपनी कमाईकी चीज लगानी पड़ती है, द्रव्य गया, द्रव्यकी शुद्धि हुई और एक उसमें कर्म करना पड़ेगा, सो भी शास्त्रोक्त रीतिसे, तो कर्मकी शुद्धि हुई; उसमें स्वाध्याय करना पड़ेगा तो मनकी शुद्धि हुई और उसमें देहकी मृत्युके बाद भी इसका फल मिलता है।—ऐसा विश्वास होनेसे देहातिरिक्त आत्मा है, यह फल हुआ।

तो यदा लेलायते हार्चि: — जब अग्नि प्रज्ज्विलंत होती है और जैसे कोई जीभ लपलपा रहा हो ऐसे जब अग्नि लपटोंको लपलपाने लगती हैं, खूब ईंधन डाल देनेके बाद अग्नि प्रज्ज्विलत हो रही है — यह 'हव्यवाहन' है। माने हव्यको देवता तक पहुँचाता है अग्नि।

हव्य माने हवनकी जो सामग्री है, उसका जो वाहन हो। मनुष्यके घरसे उठाकर देवताके घर जो पहुँचावे। उसका नाम हव्यवाहन। हव्यवाहन माने अग्नि। तदाज्यभागावन्तरेण—आज्य भागके बीचमें आहुति देना! बन तो गये अग्निहोत्रि, लेकिन दर्श नहीं किया, पौर्णमास नहीं लिया, चातुर्मास्य नहीं लिया। ये सब यागके विधान होते हैं।

ये जैसे पर्व आते हैं न, जैसे आज संक्रान्ति है, आज पूर्णिमा है। जैसे सन्ध्या वंदन नित्य कर्म है, वैसे संक्रान्तिक दिन जो काम किया जाता है, उसको नैमित्तिक कर्म बोलते हैं। नित्य नैमित्तिक कर्म न करनेसे प्रत्यवाय होता है। काम्य कर्म न करनेसे प्रत्यवाय नहीं लगता। जैसे बेटा पैदा करनेके लिए कोई यज्ञ करना है, अगर वह आप नहीं करें तो कोई पाप नहीं लगेगा। लेकिन सन्ध्या वन्दन न करें तो पाप लगता है। संक्रान्तिक दिन स्नान न करें, दान न करें, जप न करें तो पाप लगता है। यह संक्रान्ति जो है यह नैमित्तिक कर्म है। यह फल प्राप्तिके लिए नहीं होता, यह कर्त्तव्यको पूर्ण करनेके लिए होता है।

लोग कहते हैं निष्काम कर्म, निष्काम कर्म। अब संक्रान्तिक दिन स्नान तो करेंगे नहीं, बोले—यह हमको बतायें कर्म निष्काम कैसे होने लगे! अरे भाई! संक्रान्तिक दिन निष्काम स्नान करो। संक्रान्तिक दिन दान तो करेंगे नहीं; बोले—दान करनेसे क्या फल होगा पहले यह बताओ, तब दान करेंगे।

तो पाँवसे चलकर गंगाजी जाओगे और वहाँ दान करोगे धनका, वहाँ थोड़ी ठण्ड सहोगे, तपस्या होगी, वहाँ मनमें पिवत्रताका भाव आवेगा यह क्या फल नहीं है ?

तो अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्नयण माने शरत्काल और उसमें जो इष्टियाँ की जाती हैं। और घरमें जो भोजनके समय आ जाय उसको खिलाना। अतिथि। रोज थोड़ा हवन करना। रोज बलिवैश्वदेव करना और वह भी विधिपूर्वक करना।

यह काम जो नहीं करना है, बोले—आसप्तमांस्तस्य लोकाह्निनस्ति— उसको पाप लगता है महाराज! उसके सात लोक, सात पीढ़ीको तकलीफ पहुँचती है, अपने कर्तव्यका पालन न करने से।

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूप्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥४॥
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो

यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ 5 ॥ यह अग्नि देवताकी सात जीभ होती है। एक जाभका नाम है काली, दूसरीका नाम कराली, तीसरीका नाम मनोजवा, चौथीका सुलोहिता, पाँचवींका धूम्रवर्णा, छठीका स्फुङ्गिनी, सातवींका विश्वरुचि देवी।

ये कौन हैं ? यह तो अग्नि देवताकी लपलपाती हुई जीभ हैं, जो आहुतिको ग्रहण करके देवताके पास पहुँचाती हैं। धुँएमें हवन नहीं करना। भ्राजमानेषु—जबतक अग्नि प्रज्ज्वलित न हो, तबतक उसमें होम नहीं किया जाता। तो जब अग्नि प्रज्ज्वलित होवे, आपको सुनायेंगे यह प्रसंग पूरा होनेपर कि ज्ञानाग्निकी उत्पत्तिकी जो स्थिति है, ज्ञानकी आग जैसे पैदा होती है और वह अविद्याको भस्म करती है, इसी प्रकार यह यज्ञाग्नि भी प्रकट होती है और पाप-पुण्यका दाह करती है, पापको जलाती है।

जो इस कर्मकाण्डको समझ लेता है उसको ज्ञान काण्ड समझनेमें सुविधा होती है। तो जब यह प्रज्ज्वलित अग्नि हो और समयसे आहुतियाँ दी जाँय, तो ये अग्निकी लपटें सूर्यरिश्म बन जाती हैं और सूर्य-रिश्मके द्वारा उस जीवको वहाँ ले जाती हैं, यत्र देवा नां पित: एकोऽधिवास:। जहाँ देवताओं निवास स्थान हैं इन्द्र देवता जहाँ निवास करते हैं, वहाँ ले जाती हैं।

एह्रोहीति तमाहुतयः सुवर्चसः। सूर्यस्य रिश्मिभर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्यः

एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥६॥

ये आहुतियाँ जो हैं, वे सुन्दरी स्त्री बन जाती हैं—अप्सरा जैसी बन जाती हैं और यजमानको कहती हैं आइये! आइये!! आईये!!! स्वागत है आपका और, सूर्यकी किरणोंके रथपर चढ़ाकर ये यजमानको ऊपर ले जाती हैं और बड़ी मीठी-मीठी, प्रिय वाणी बोलती हैं और—अर्चयन्त्यः बड़ा स्वागत-पूजा करती हैं और कहती हैं देखो, आपने जो अपने जीवनमें पुण्य किया था, उससे यह स्वर्गलोक आपको प्राप्त हुआ है। यहाँ 'ब्रह्मलोक' का अर्थ है स्वर्गलोक।

अब कहते हैं जो ज्ञान संपादन न करे और केवल कर्ममें ही लगा रहे उसका क्या होगा? बोले— प्लवाहोते अदृढा यज्ञरूपा— ये यज्ञ जो हैं ये नौका तो हैं; परन्तु ऐसी नौका नहीं हैं जो संसार सागरके पार पहुँचा दें। 'अदृढ' हैं— कमजोर हैं।

अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म—क्योंकि इनमें उस यज्ञ कर्मका वर्णन है जिसमें अट्ठारह व्यक्ति काम करते हैं। एक तो यजमान और दूसरे यजमानकी पती—ये दो और सोलह ऋत्विक जिसमें काम करते हैं — ब्रह्मा, ब्राह्मणच्छिस आग्नीघ्न, प्रस्तोता, उद्गाता, होता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थापा, नेष्टा, उन्नेता—ये मिल करके जिस यज्ञ कर्मको करते हैं, वह स्वर्गतक पहुँचानेके लिए तो काफी है-नाव है। लेकिन; कहो कि उससे ब्रह्मविद्या प्राप्त हो जाये तो ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होती—

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

वे मूढ़ कहते हैं कि इसीमें परम कल्याण है—यावत् जीवन अग्निहोत्रं जुहोमि जब तक जिन्दा रहे आगमें आहुति डालते रहे। बोले—जो इसीको श्रेय बोलते हैं उनको फिरसे बुढ़ापा और फिरसे मौत माने जन्म-पर-जन्मकी प्राप्ति होती है।

अविद्यामन्तरे वर्तमानाः

स्वयं धीरा: पण्डितं मन्यमाना:।

जङ्गन्यमानाः परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥

वे तो अभी अविद्याकी-अज्ञानकी एक शाखामें बर्त रहे हैं। वे कहते हैं कि हम बड़े भारी पण्डित हैं और देखो कितने व्रत करते हैं, कितने होम करते हैं, कितनी तकलीफ उठाते हैं, परन्तु उनको चोट-पर-चोट लगती है। वे तो उस आदमीके पीछे चल रहे हैं जो खुद अंधा है। जैसे अन्धेके पीछे उसकी लाठी पकड़कर या अन्धेका शरीर पकड़कर चलनेवाला अन्धा, तकलीफ पाता है, इसी प्रकार जो परा विद्याको-ब्रह्मज्ञानको जो नहीं जानते हैं, ऐसे कर्मकाण्डियोंके पीछे भी जो जीवनभर चले, उसको बड़ा दु:ख उठाना पड़ता है। तो—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्थी इत्यभिमन्यन्ति बाला:।

यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-

त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ १ ॥

ये लोग बहुत करके अविद्यामें ही जीवनभर बर्ताव करते हैं और समझते

हैं महाराज कि हम बड़े कृतार्थ हैं, हमने इतने यज्ञ किये, हमने इतनी धर्मशाला बनवायी, हमने इतना अस्पताल बनवाया।

बनवाना बहुत बिंद्या है। हमने इतना होम किया, बड़ा भारी अभिमान है। बाल-बच्चे हैं, वे घर-घरौंदा बनाकर खेलते हैं और जब खेलकर आते हैं तो कहते हैं—'आज हमने ऐसा घर बनाया, आज हमने ऐसा पुल बनाया।'

ये सब-के-सब बच्चे हैं। ये जो कर्मी हैं, ये रागके कारण परमात्माके स्वरूपको नहीं जानते हैं, इनका राग देहमें लगा है, संसारमें लगा है, इसलिए उसको नहीं जानते हैं। तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते—इसलिए आतुर होकर, दुःखी हो कर स्वर्ग लोकसे फिर गिर जाते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे

मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥ 10॥ जो लोग समझते हैं कि हमने यह श्रौत यज्ञ कर लिया और हमने एक बावली बनवा दी, हमने एक कुँआ बनवा दिया, हमने एक तालाब बनवा दिया, तो लौकिक दृष्टिसे, सामाजिक दृष्टिसे, भौतिक दृष्टिसे वह बहुत बड़ी चीज है, लेकिन ये बेचारे सत्यको तो जानते नहीं, परमात्माको तो जानते नहीं, तो अज्ञानान्धकारमें ही तो वे भटक रहे हैं। तो इनको अपने सत्कर्मका जो अभिमान होता है उस कर्तापनके बलपर ये स्वर्ग प्रस्थमें जाते हैं।

देखो ऐसा है कि जैसे एक ढेला हम हाथमें लें और जोर लगाकर ऊपरको फेकें, तो हमारे हाथमें जितना बल होगा, उतनी दूर वह ऊपर ढेला जायेगा और जहाँ हमारे हाथसे लगाया हुआ बल खत्म हो जायेगा, वहाँसे वह ढेला फिर नीचे आ जायेगा।

हम लोग बचपनमें पोखरीके किनारे, नदीके किनारे खड़े होते और ढेला फेंकते कि देखें किसका कितनी दूर जाता है, किसका ढेला पार पहुँचता है। लेकिन ढेला जब हमारी ताकतसे जायेगा, तो कहीं -न-कहीं गिरेगा न! जब राकेट ताकतसे छोड़ा जायेगा, तो आज चाहे सौ वर्ष बाद, चाहे हजार वर्ष बाद, उसको फिरसे गिरना ही पड़ेगा। क्योंकि उसमें वेग जितना होगा, उतना ही तक तो वह ऊपर टिकेगा, इसलिए कर्मसे जो शिक्त उत्पन्न होती है। वह सीमित होती है और कर्मके बलपर चाहे आप जितनी ऊँचाई पर उठें, फिर वहाँसे गिरना पड़ता है। जो कर्मके बलपर-ऊँचे उठेगा वह गिरगा भी। तो कभी-कभी तो यहीं गिरेगा, इसी धरतीपर और कभी-कभी हीनतरं—कुँएमें गिर जायेगा, नदीमें गिर जायेगा, समुद्रमें गिर जायेगा। क्या ठिकाना है कि वह गिरनेपर यहाँसे कहाँ जायेगा? इसलिए बाबा, सकाम कर्मका ख्याल छोड़ो।

बोले—ऐसे महात्मा होते हैं जो निष्काम कर्म करते हैं। बोले—निष्काम कर्मसे तो परमात्माकी प्राप्ति होगी! तो

तपःश्रद्धे ये ह्यपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति

यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ 11॥

जो लोग संन्यासाश्रम ग्रहण करके एकान्त जंगलमें रहते हैं और खूब तप करते हैं और श्रद्धापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, शान्त भी हैं, वेदान्तके विद्वान्-पण्डित भी हैं; अनुभव नहीं है और भिक्षा माँगकर खाते हैं। तपस्या है, श्रद्धा है, अरण्यमें वास है, मनोवृत्ति शान्त है, वेदका पाण्डित्य है और भिक्षाचरण है; बोले—उनका अन्तःकरण शुद्ध होता है—विरजाः और वे सूर्यद्वारसे, जहाँ अव्ययात्मा पुरुष ब्रह्माजी रहते हैं उस ब्रह्मलोकमें वे जाते हैं, उनकी भी सद्योमुक्ति नहीं होती; उनकी भी होवे तो, यदि जिज्ञासा होवे, मुमुक्षा होवे तो क्रममुक्ति हो जाये और नहीं तो,

आब्रह्म भुवन्नालोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

उनको भी वहाँसे लौटकर आना पड़ता है। इसलिए क्या करना चाहिए?

बोले—भाई! यह जो परा विद्या है, इसमें कर्तापनको निवृत्त करना है और यह कर्तापनकी निवृत्ति स्वयं करके तो नहीं होगी, स्वयं कर्तासे नहीं होगी, इसमें वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा कि आखिर चीज कैसी है, तो इसके लिए अब यह परा विद्याका विषय उपक्रम करनेके लिए कहते हैं गुरुकी शरणमें जाना चाहिए।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो

निर्वेदमायात्रास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्याणि:श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ 12॥

यहाँ तक पहुँचनेके लिए यह बाँच गया और इस तरह हुआ कि ग्यारह और नौ-बीस मन्त्र इस तरहसे हो गये। हमारे दस, बारह दिन तो हो भी गये हैं तो दो-दो मन्त्रका हिसाब बैठना चाहिए। तो दो-दो मन्त्रका हिसाब जब बैठेगा, तब न यह ग्रन्थ पूरा होगा।

तो देखो हमारा स्वभाव ऐसा है कि मूल ग्रन्थ जहाँ जिस वस्तुकी प्रशंसा करता है, वहाँ हम उस वस्तुकी प्रशंसा करते हैं, और मूल ग्रन्थ ही जहाँ जिसकी निन्दा करता है, वहाँ यदि हम उसकी प्रशंसा करने लग जायें तो हम तो ग्रन्थके अभिप्रायके विरुद्ध बोलेंगे न! यहाँ ग्रन्थका अभिप्राय यह बतानेमें नहीं है कि स्वर्ग सत्य है उसको चाहना चाहिए। यहाँ वेदका अभिप्राय यह नहीं है कि सकाम कर्म करना चाहिए। यहाँ वेदका अभिप्राय यह नहीं कि निष्काम कर्मसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है।

जहाँ ऐसा प्रसंग आयेगा कि मनुष्य धर्म करे तो उसको स्वर्ग मिलता है और स्वर्गकी खूब प्रशंसा हो, वहाँ हम आपको कर्म विज्ञानके अनुसार यह बात समझा सकते हैं कि कर्म करनेसे मनुष्य किस प्रकार स्वर्गमें जाता है। उस प्रसंगमें तो हम समझा देंगे यह बात। अब यहाँ अगर अभी यह समझावें तो एक बार तो हम युक्तिसे सिद्ध करें कि कर्ममें, अग्नि होत्रमें, धर्ममें, पौर्णमासमें बड़ी शक्ति, अपरा विद्यामें बड़ी शक्ति और फिर जब आगे आवे परा विद्याका विषय और उससे वैराग्यका वर्णन आवे तो निन्दा करनी पड़े। तो—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो

निर्वेदमायात्रास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणिःश्रोत्रियं ब्रह्मनिष्टम् ॥ 12 ॥

बोले—देखो भाई, 'कर्मीचतान् लोकान् परीक्ष्य'-जैसे ईंट चुन-चुनकर मकान बनाते हैं। बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। मिट्टीसे ईंटा बनाना, उसको पकाना, पकाकर दीवार चुनना, मकान बनानेमें कितना परिश्रम होता है! यह महाराज पैसेकी लालच होनेके कारण आदमीको मालूम नहीं पड़ती। वह समझता है हमको पैसा मिलेगा, पैसा मिलेगा। लोभ दृष्टि होनेसे और पैसा मिलेगा तो भोग मिलेगा, पैसा मिलेगा तो हम बड़े आदमी हो जायेंगे। यह जो ख्याल है कि पैसेसे हमको बहुत महत्त्व मिलेगा, उस महत्त्वकी लालचमें आकर मनुष्य यह नहीं सोचता कि कंकड़ चुन-चुन महल बनानेमें कितना परिश्रम होता है।

अब समझो किसीको भोगमें राग न हो और पैसेका लोभ न हो, फिर देखो क्या आनन्द आता है। तद् यथा इह कर्मिचतो लोक:क्षीयते एवमेवा-मुत्र पुण्य चितो लोकाक्षीयते—श्रुति कहती है कि जैसे यहाँ कंकड़ चुन-चुनकर बनाया हुआ महल एक न एक दिन ढह जायेगा। आप इंजीनियरसे पूछ लो, यह जो ईंट बन रही हैं इस भट्टेमें भला बम्बईमें यह नहीं देखा जाता, वे तो मकान देखते हैं आप इंजीनियरसे जाँच कराकर मालूम करा सकते हो कि यह जो ईंट बनायी गयी है, यह कितने दिनतक टिकेगी? किस ईंटकी उम्र कितनी है-यह इंजीनियर बता देगा। यह जो सीमेण्टका प्लास्टर होता है, यह कितने दिनतक टिकेगा, यह जो लकड़ी लगायी गयी, यह जो लोहा लगाया गया, यह कितने दिन टिकेगा?

लोग तो बनावट-सजावट देखकर मकान खरीदते हैं, उसके मसालेपर ध्यान थोड़े ही देते हैं। तो यह जो संसारका मसाला है—

> कंकड़ चुन-चुन महल बनाया लोग कहें घर मेरा। न घर मेरा न घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा॥

इसी प्रकार कर्म करके जो लोक बनाया जाता है, उसकी जरा परीक्षा करो, उससे तुमको क्या मिलेगा? स्थूल शरीरके लिए भोग्य सुख मिलेगा कि सूक्ष्म शरीरके लिए भोग्य सुख मिलेगा कि परमात्माका आनन्द मिलेगा?

परीक्षा करोगे तब मालूम पड़ेगा निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन—यहाँ

'ग्राह्मण' शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है—परीक्ष्य लोकान् कर्म चितान् ब्राह्मणः। ब्राह्मण लोग कर्मकाण्डमें ज्यादा फँसते हैं। इसलिए उनका उद्धार करनेके लिए यहाँ 'ब्राह्मण' शब्दका प्रयोग है। अरे ओ ब्राह्मण! कहाँ फँसा है? मालूम है तुमको तेरे माँ-बाप कहाँ गये! तेरे दादा-परदादा कहाँ गये? अरे ब्राह्मण! तुमको भी वहीं जाना पड़ेगा।

किं ते धनेन किमु वा किं वा दारैर् ब्राह्मण यो मरिव्यसि!

अरे, ओ ब्राह्मण! यह धन तेरे किस काम आयेगा। ये हाथी-घोड़े तेरे किस काम आवेंगे! ये स्त्रियाँ तेरे किस काम आवेंगी? अरे तुझे मरना है, मरना है, ब्राह्मण! यो मरिष्यसि। पितामहास्ते त्वगता—पिता च।

तुम्हारे बाप-दादा जहाँ गये, वहाँ तुमको जाना पड़ेगा। तो ये कर्मसे बनाये हुए जो लोक हैं, ये ध्वंसि हैं। निर्वेदं। यह निह उपसर्ग पूर्वक जो 'विद्' धातु है, यह वैराग्य वाचक है—निर्वेदं आयात्।

फँसो मत दुनियामें। यह कोई चीज काम नहीं आनेवाली।

मरेंगे मिर जायेंगे कोई न लेगा नाम।

उजड़ जाय, बसायेंगे छाँडि बसन्ता गाम॥

हाड़ जैर जस लाकड़ी केस जैर जस घास।

सब जग जरता देखकर भया कबीर उदास॥

मरना पड़ेगा एक दिन, यह बात पक्की है बिलकुल, यह अन्तिम सत्य है। यह आँख मीचनेसे काम नहीं चलेगा।

सुनते हैं एक चिड़िया होती है उसके ऊपर जब उसको मारनेवाला झपटता है तो आँख बंद करके वह चिड़िया धरतीमें सट जाती है; समझती है कि हम नहीं देखेंगे तो हमको बिल्ली कहाँसे देखेगी!

लेकिन तुम भले आँख बंद कर लो, मौत तुम्हारी ओरसे आँख बंद करनेवाली नहीं है।तो, निर्वेदमायात्-मनमें—

भोगेरोगभयं कुलेच्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं। सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥ धन बहुत बढ़ जायेगा, तो इन्कम टैक्सके अधिकारी, पुलिस और छापामारका 'वित्ते नृपालाद् भयं'—बड़ा भय आवेगा। भोग करोगे, रोगका भय है। कुलकी प्रतिष्ठाकी बात करोगे तो कलंक लगनेका डर है।

दुनियामें ऐसी कौनसी चीज है, जिसमें डर नहीं है ? तो यह जो कर्मसे बनायी जाती हैं जितनी चीजें, इनकी परीक्षा करो। ढेला फेंको और सोचो कि वह सीधा सूर्यका उल्लंघन करके चला जायेगा, तो तुम्हारे हाथके ढेलेमें इतनी ताकत नहीं है। तुम्हारे कर्मसे बनायी हुई वस्तुमें इतनी शक्ति नहीं है कि तुमको परमात्माकी प्राप्ति हो जाये। इसलिए जो सत्यके जिज्ञासु हैं परमात्माकी प्राप्तिके इच्छुक हैं, उनको वैराग्य करना चाहिए—

नास्त्यकृतः कृतेन।

'अकृतः मोक्षः'—मोक्ष बनावटी नहीं है। अतएव 'कृतेन नास्ति' वह कर्मसे सिद्ध नहीं होता।

कहते हैं कि यह मुक्ति जो है यह कर्मसे होती है कि नहीं होती है? बोले—कर्मसे अगर मुक्ति होगी तो जब कर्मकी शक्ति क्षीण हो जायगी, तो मुक्तिसे लौटना पड़ेगा।

स्वामी दयानन्दजी महाराजने मुक्तिसे लौटना माना है, तो इसलिए माना है कि वे कर्मसे मुक्ति मानते हैं। तो जब कर्मसे मुक्ति मानते हैं तो लौटना तो पड़ेगा ही। पूर्व मीमांसा वाले स्वर्गसे लौटना मानते हैं तो स्वर्ग कैसे मिलता है? बोले—कर्मसे मिलता है। तो जहाँ कर्मसे जाओगे वहाँसे लौटना तो होगा ही।

बोले—भाई! उपासना करेंगे हम, उपासना करते-करते ईश्वर प्रसन्न होगा, ईश्वर प्रसन्न होकर हमको मुक्ति दे देगा। तो जब मुक्ति तुमको तोहफेमें मिलेगी, ईश्वरकी कृपासे, अनुग्रहसे, तो कभी ईश्वर हुकुम कर देगा कि ऐ सुनो, यहाँ आओ, ऐ जय विजय इधर आओ।

क्या बात है महाराज, क्या आज्ञा है!

बोले—देखो, हमने तुमको मुक्त बना करके वैकुण्ठमें रखा है, अब हमारी आज्ञा मानो, तुम जाओ मर्त्य लोकमें।

ऐ सनत्कुमार! आज्ञा महाराज!

बोले—देखो ! हमने कृपाकरके तुमको मुक्त किया है। जाओ धरतीपर।

तो जबनक मुक्ति अपने कर्मके फल स्वरूप मिलेगी, या किसीके दिये मिलेगी तबतक उसके लौट जानेकी शंका रहेगी।

अच्छा! जब मुक्ति स्वतः सिद्ध है, अपने आत्माका स्वरूप है और ज्ञानसे भी मुक्ति सिद्ध होती है, तो मुक्ति तो सिद्ध ही है उसके लिए प्रयत्न करनेकी क्या जरूरत है?

बोले—यह जो मुक्ति तुम्हें अज्ञात हो रही है न, अज्ञात होनेसे अप्राप्त हो रही है। तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेसे मुक्ति आती नहीं है, मुक्ति पैदा होती नहीं है। जैसे आँखसे मौजूद घड़ी दिखलायी पड़ती है, वैसे ज्ञान होनेपर पहलेसे जो आत्मा मुक्त है न, वह आत्माकी मुक्ति मालूम पड़ती है, मुक्ति कर्मसे पैदा नहीं होती।

नास्त्यकृतः कृतेन। यदि मुक्ति पैदा हो तो मुक्ति नष्ट हो जाये और स्वतः सिद्ध हो तो साधन व्यर्थ। बोले—नहीं, स्वतः सिद्धताका ज्ञान इष्ट है। वृत्ति ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है और अविद्याकी निवृत्ति मोक्ष है और मोक्ष आत्माका स्वरूप है। बोले—तो वृत्ति ज्ञानरूप प्रयत्नसे मोक्षकी प्राप्ति हुई तो अनित्य है न।

बोले—न, न, यह अभिप्राय नहीं है उसका। यह वृत्ति जब आत्मासे उपरत होती है, तब अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है और अविद्याके अत्यन्ता भावसे उपलक्षित जो आत्मा है, वह तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वयं है।

बोले—इसको समझनेके लिए क्या करना चाहिए! अपनी अक्लको बड़ी माननेसे काम नहीं चलता। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

यह मोक्षका एक विज्ञान है। इसकी एक साइंस है, इसकी एक कला है।

यह कला क्या है? कला क्यों कहते हैं? इसलिए कहते हैं कि ज्ञानका जो फल है, वह मरनेके बाद नहीं होता, इस जीवनमें ही होता है। इसलिए इसको विज्ञान बोलते हैं। विज्ञानका दृष्ट फल है। इसी जीवनमें जिन्दा रहते– रहते मुक्त हो जाओगे इसलिए इसका नाम है विज्ञान। परन्तु यह विज्ञान लाइब्रेरीमें स्टडी करनेसे नहीं मिलता है। बोले—आजकल क्या कर रहे हैं? कि वेदान्तकी स्टडी कर रहे हैं।

एक सज्जन बोले—िक हमने आडयारके पुस्तकालयमें रहकर, तंजौरके पुस्तकालयमें रहकर ऐसे-ऐसे ग्रन्थोंका स्वाध्याय किया है जो अभी तक प्रकाशित ही नहीं हुए हैं। वेदान्त तो हमने पी लिया है।

बोले-अच्छा? वेदान्त पी लिया तुमने तो उससे निकला क्या?

निकला यह कि अब मैं समाज सेवा करनेके लिए निकला।

मैंने पूछा कि तुम्हारे कोई ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु हैं, जिनसे तुमने मुक्तिका स्थान, मुक्तिकी दिशा पूछी है? मुक्ति कहाँ रहती है? बोले कि वाह इतनी किताबें पढ़ लीं, अब हमको गुरुकी क्या जरूरत है?

यह महाराज किताब पढ़-पढ़कर आदिमयोंका दिमाग एक दिशामें नहीं चलता किसी लेखकके विचार कैसे हैं ? किसीकी मित कैसी है, किसीकी गित कैसी है ?

देखो! तुम्हारे मन्त्रसे बड़ा सृष्टिमें कोई मन्त्र नहीं है, जिसका तुम जप करते हो। तुम्हारे गुरुसे बढ़कर कोई गुरु नहीं है। तुम्हारे इष्टसे बढ़कर कोई इष्ट नहीं है और तुम्हारी आत्माके सिवाय दूसरा कोई सत्य नहीं है।

तो यह बात कहाँसे मालूम पड़ेगी? कि गुरु मेवाभिगच्छेत्—तो इसमें 'स' पदका अर्थ है जहाँ 'निर्वेदं आयात: स'—जिसको वैराग्य हुआ है वह आवे।

एक महात्माकी हँसी सुनाते हैं। एक सज्जन आये एक महात्माके पास बोले—महाराज हमको संसारसे वैराग्य हो गया है। प्रतिष्ठा हमको शूकरी विष्ठा मालूम पड़ती है और ब्रह्मलोक हमको शोक मालूम पड़ता है। बोले—सब संसारसे तुम्हारा वैराग्य! हाँ। बोले—भाई, तुम्हारे पास कुछ है! नकद नारायण है? बोले—हाँ महाराज, दस हजार रुपया है। बोले—िक पहले हमारे सामने रखो। अर्पण करो, तब तुमको वेदान्तका उपदेश करते हैं। उसने कहा— महाराज, यह नहीं रहेगा तो खायेंगे कैसे? बोले कि भले मानुस तुमको ब्रह्मलोक और स्वर्गसे तो वैराग्य है और प्रतिष्ठा तो चाहिए नहीं और यह सारा भोग जो है यह तुमको रोग लगता है। अरे भाई, पैसा दे देनेके बाद तुम्हारा शरीर छूट जायेगा, मर जायेगा, इतना ही तो होगा न, तो अब तुमको इसमें मोह क्यों फँसा है ?

यह तो लोगोंको भ्रम होता है कि हमको वैराग्य है। तो जब चित्तमें सच्चा वैराग्य होवे, जिसको तुम बिलकुल शूकरीविष्ठाके समान छोड़नेको राजी हो, वह यदि तुम्हारे गुरुजीके खेतकी खाद बन जाये!

बोले—नहीं महाराज, इसके लिए हम तैयार नहीं हैं। तो गुरुमेवाभिगच्छेत् को देखो।

स एव गुरुं अभिगच्छेत्—वही पुरुष गुरुकी शरणमें जाये जिसके मनमें वैराग्य हो। यह 'एव' जो है न, गुरुंके बाद 'एव', उसको स एव' के साथ लगाओ। 'स एव गुरं अभिगच्छेत्'। किसलिए जाये? कि—

तद्विज्ञानार्थं एव गुरुं अभिगच्छेत्। केवल परमात्माको जाननेके लिए ही गुरुके पास जाये। और, गुरुमेव अभिगच्छेत्—केवल गुरुके पास ही जाय। अपने प्यारे-प्यारीके पास न जाय। दुनियामें जब प्यार हो जायेगा, तो ईश्वरकी ओर कैसे चलेंगे! तो—स एवाभिगच्छेत्। तद्विज्ञानार्थं एव अभिगच्छेत्। गुरु मेवाभिगच्छेत्। अभिगच्छेत् एव।

विधिपूर्वक जो करके शरणागत होवे।

बोले—महाराज। गुरुजीकी सेवा चाहिए कुछ? तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। पहलेके गुरु लोग जो थे, जंगलमें रहते, ठण्ड लगती न, तो लकड़ीकी जरूरत होती—समझो कि आग तापेंगे, धूनी जलती रहनी चाहिए, तो कहीं आग जलती, अग्निहोत्र होते, ऐसे समझो, तो वहाँ सिमधाकी जरूरत पड़ती—सिमत्पाणि:। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सिमधा, हाथमें चला लेकर जाये गुरुजीके पास। गुरुजीके लिए आवश्यक सामग्री मालूम पड़ती हो, उनको कमण्डल चाहिए कि उनको लंगोटी चाहिए, कि उनको खानेके लिए रोटी चाहिए; यहाँ 'सिमधा' शब्दका अर्थ है गुरुजीके लिए उसकी सेवामें उपयोगमें आनेवाली सामग्री। सिमत्पाणि:। वैभव नहीं, सिमत्पाणि:।

अब गुरुजी कैसे हों? तो गुरुजीके लिए दो शब्द बताया—श्रोत्रियं ब्रह्मिनष्टम्। जो पहले ब्राह्मणः है, उसको भी ध्यानमें रखना।

देखो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी हो, जिसके मनमें सत्यके ज्ञानकी इच्छा होती है, उसको कोई रोक नहीं सकता। लेकिन ब्राह्मण उनमें अगुवा है।

'छित्रणोयान्ति' जैसे बोलते हैं, राजाके ऊपर छाता लगा हुआ और उसके पीछे दस जने और जा रहे। एक ही छाता, छत्र तो एक है और राजाके पीछे-पीछे दस जने जा रहे हैं। तो क्या बोलते हैं? छित्रणोयान्ति। वह देखो छातावाले जा रहे हैं। इसको अजहत लक्षणा बोलते हैं। छत्री एक है—राजा और उसके साथ जो और बहुतसे हैं, राजाको छोड़े बिना और बहुतोंका उसमें ग्रहण हो गया। इसका नाम अजहत-लक्षणा हुआ।

इसी प्रकार जब ब्राह्मणका नाम लेते हैं, तो ब्राह्मणका अर्थ होता है स्वयं ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्मके जो अनुयायी हैं। माने जो वैदिक हैं, वेद धर्मावलम्बी हैं, वे वेदान्तकी जिज्ञासाके लिए जाँय। किसके पास जाँय? कि, श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं। गुरुजी महाराजमें दो गुण होने चाहिए। क्या? एक बोले—श्रोत्रियं—वेदको उन्होंने गुरु मुखसे श्रवण किया होवे।

काशीमें एक संन्यासी थे। उनके नामके साथ वेदान्त वारिधि, वेदान्त विद्यानिधि, वेदान्तविद्यामृत-वर्षी, ऐसे उपाधि लगती। तो मैंने उनसे पूछा कि महाराज, यह सब उपाधि आपको कहाँ मिली है? बोले—हट! हम किसीकी दी हुई नहीं लेते हैं। हम तो अपने आप ही जोड़ लेते हैं अपने नामके साथ। तो मैंने उनसे पूछा—यह जोड़नेकी भला क्या जरूरत है? बोले कि हम जब गुजरातमें जाते हैं विचरण करनेके लिए, तो वहाँ जिसके नामके साथ उपाधि न जुड़ी हो, उसके पास गुजराती लोग जाते ही नहीं हैं। महा—महामण्डलेश्वर न हो, महा—महा आचार्य न हो, कोई-न-कोई पाँच दस उपाधि न जुड़ी हुई हो तो गुजराती लोग प्रेम नहीं करते। हमको भी कभी—कभी जाना पड़ता है, तो हमने देखा कि भाई दूसरा कोई तो हमको उपाधि देता नहीं है, तो हम अपने आप ही जोड़ लें अपने साथ। जैसे शरीर अध्यारोपित है अपनेमें, वैसे ही यह वेदान्त बारिधि भी, वेदान्तविद्या अमृतवर्षी—ये सब उपाधि।

तो उपाधि जोड़नेसे कोई वेदान्तका विद्वान् नहीं हो जाता भला! काशीमें

जब हम लोग जाते हैं—तो ऐसे-ऐसे वेदान्ताचार्य मिलने आते हैं, जिनके सैकड़ों शिष्य वेदान्ताचार्य हैं, यूनिवर्सिटीके वेदान्त विभागके जो प्रधानाचार्य हैं, पण्डित रघुनाथ शर्माजी, वे, जब मैं काशी जाता हूँ तब वे दो-तीन बार मुझसे मिलनेके लिए आते ही हैं।

वेदकी शक्ल नहीं देखी और उनके साथ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ! तो उसका नाम श्रोत्रिय-ब्रह्म निष्ठ नहीं होता। श्रोत्रिय उसको कहते हैं जिसने मन्त्र संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदिका गुरु मुखसे अध्ययन किया। लेकिन अध्ययन करनेसे काम नहीं बनता।

ब्रह्मनिष्ठं—सचमुच जो विवेक-वैराग्य, शम दमादिसे सम्पन्न होकर, मुमुक्षा-जिज्ञासासे सम्पन्न होकर, श्रवण-मनन-निर्दिध्यासन करके आत्म-ज्ञान प्राप्त करके जो अपने ब्रह्म स्वरूपमें निष्ठावान है, उसको ब्रह्मनिष्ठ बोलते हैं।

एकबार एक जन आये उड़ियाबाबाजीके पास बोले—महाराज गुरु बनानेकी क्या जरूरत? बोले कि हट, भाग जा। पूछनेकी क्या जरूरत? जब गुरु बनानेकी जरूरत नहीं है तो पूछनेकी क्या जरूरत है? क्यों हमसे पूछता है?

देखो, गुरु किसके नहीं होते? आपको बताते हैं। भला! गुरु उसके नहीं होते जिसका अहंकार सबसे बड़ा होता है। वह कहता है हमारे सरीखा विद्वान्, हमारे सरीखा बुद्धिमान, हमारे सरीखा समझदार दूसरा है कहाँ कि हम उसको गुरु बनावें? यदि अभिमान न होता तो वह किसीसे पूछ-पूछकर तो आगे बढ़ता न!

अच्छा भाई, गुरु किसके नहीं हैं ? कि जिसका कोई मददगार नहीं है। गुरु न होना माने सहायक न होना, मददगार न होना। परमार्थके रास्तेको पानेवाला न होना। और गुरुका न होना माने अभिमानी होना, मनोमुखी होना। अपने मनके अनुसार चलना।

तो देखो अगर धरतीपर कहीं चलना हो तो नक्शा देखकर गाड़ी चल सकती है भला! रोडवेजका नक्शा ले लो, और सड़कपर देखते हुए मीलके पत्थर, चलते.-चले जाओ। तो लौकिक गति होवे तो नक्शेसे काम चलेगा, लेकिन यह जो परमार्थका मार्ग है इस पर नक्शेसे काम चलनेवाला नहीं है, क्योंकि इसमें तो कहीं चलना नहीं है। मुख्य बात इसमें यह है कि जिस चीजको हमें पाना है, वह खोयी नहीं है।

अच्छा, जिस चीजको हमें पाना है, वह कहीं दूसरी जगह नहीं है। जो चीज हमको पाना-है वह दूसरे समयमें नहीं है। जो चीज हमें पाना है वह किसी दूसरे रूपमें नहीं है। अरे वह तो हमारा स्वरूप ही है। तो इतने दिनतक अनादिकालसे अबतक हमारा स्वरूप रही और हमको नहीं मिली, नहीं मालूम पड़ी, तो जबतक कोई बतावेगा नहीं कि अरे बाबा जिसको तुम ढूँढ़ रहे हो, वह तुम्हीं हो। यह बात जबतक कोई समझावेगा नहीं तबतक पता उहीं चलेगा। यह बात सिद्ध है कि अनादिकालसे लेकर अबतक अपने परिश्रमसे, अपने प्रयत्नसे यह मिली नहीं है, इसलिए समित्याणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्—समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठके पास जाना चाहिए।

अब ब्रह्मनिष्ठ क्या करेगा जाने पर? तो यह बात तेरहवें मन्त्रमें बतायी—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।। 13।।

इस मन्त्रमें एक बड़ी मुश्किल सी बात है। क्या कि लोग गुरुकी जाँच पड़ताल तो करते हैं। यह ऐसा ही है कि जैसे हाईस्कूलमें कोई पढ़ने जाये या कालेजमें पढ़ने जाये, तो अपने प्रोफेसरसे कहे कि ऐ प्रोफेसरजी आओ पहले यहाँ बैठो! क्या चाहते हो बेटा? कि हम यह चाहते हैं कि तुम हमारे सामने परीक्षा दो कि तुम हमको पढ़ाने लायक हो कि नहीं?

यह जब चेला गुरुकी परीक्षा लेता है तो जैसे कोई हाईस्कूलका विद्यार्थी प्रोफसरकी परीक्षा लेनेके लिए गया हो, वह तो कोई सिहष्णु ब्रह्मनिष्ठ होवे तो सह ले और नहीं तो इन लोगोंको कहे कि महाराज निकल जाओ।

एक घटना आपको सच्ची सुनाता हूँ। काशीमें स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज थे, वे जरा बड़े ठाट-बाटसे रहते थे। बड़ी भारी तो उनकी कोठी है, दशाश्वमेध घाटपर। विशुद्धानन्द मठ और रहने-सहनेका ढंग उनका बहुत बढ़िया। तो महाराज एकदिन एक दरभंगाके राजा आये, बोले—महाराज, आप बताओ संन्यासीका लक्षण क्या होता है! रातका समय था, नौ दस बज गये थे। उन्होंने कहाँ—है कोई यहाँ! महाराज चेले आ गये। वे बोले कि इसका कान पकड़ो और कान पकड़कर दरवाजेके बाहर कर दो।

महाराज बाहर कर दिये गये। जाड़ेका दिन, काशीकी ठण्ड, रातभर ठिठुरहते रहे। प्रात:काल हुआ, जब फिर मठका दरवाजा खुला, तो देखते हैं चेला लोग कि राजा साहब खड़े काँप रहे हैं। मालूम पड़ा तो उनको बुलाया कि देख यही संन्यासीका लक्षण है कि तेरे सरीखे राजाको तृणके बराबर नहीं समझते हैं, तू हमको संन्यासी समझता है! हम संन्यासी नहीं, हम ब्रह्म हैं। यह तेरी मूर्खता है जो तू हमको संन्यासी समझता है।

तो महाराज ये ब्रह्मनिष्ठ लोग जो हैं, उनके लक्षण तो लोग बहुत पूछते हैं, चेलेमें भी तो कुछ लक्षण होने चाहिए।

तो बोले—भला अपनेमें लक्षण कौन मिलाने जायेगा। बोले—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्

प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ 13 ॥

कैसा चेला आया, तब गुरुजीने उसको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। अब वह चेलेका लक्षण और ब्रह्म विद्या, यह आपको कल सुनावेंगे।



प्रवचन : 10, मंत्र 12-13

परा विद्याकी प्राप्ति-विधि : गुरुशरणागित

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो

निर्वेदमायात्रास्त्यकृतः

कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणि:श्रोत्रियं

ब्रह्मनिष्ठम्।।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्

प्रशान्तचित्ताय

शमान्विताय।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥

(1.2.12-13)

अच्छा अब आप 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्' पर एक बार और ध्यान दो। जैसे आगे चलते-चलते कभी मुड़कर पीछे भी देख लेते हैं। इसको 'सिंहावलोकन न्याय' बोलते हैं संस्कृत भाषामें। शेर चलता है तो थोड़ी दूर जानेके बाद देखता है पीछे।

आओ 'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्' पर थोड़ा विचार करें। यह जो वेदान्तमें कर्मकी निन्दा और ज्ञानकी प्रशंसा सुननेमें आती है, तो यह जो संसारी लोग उसका विरोध करते हैं वह बिलकुल नासमझीसे करते हैं। वेदान्तमें जो बात कही गयी है वह बिलकुल ठिकवा-ठिकन्त है। उसमें कहीं पाव-रत्ती भी दोष नहीं है। उसका विभाग है, उसको ठीक समझना चाहिए।

एक आदमी आकर हमसे पूछता कि महाराज हमको मकान बनाना है, कैसे बने? तो देखो पहले हम ऐसे जब मकान बनवाना चाहते न, तो उनके बुलाने पर उनके घर जाते और जाकर अपने सामने नपवाते, कील गड़वाते, ज्योतिषके अनुसार उसका पिंड निकलवाते कि इतना लम्बा हो, इतना चौड़ा हो चारों कोण आपसमें मिलते हों, सब बताते। किस दिन मुहूर्त करे, कैसा बनावे; लेकिन बनानेका काम मिस्त्री करता था। मैं इष्टिका न्यास करवा देता था, नींव डलवा देता था, पर मकान बनानेवाला मकान बनाता था।

अब आज समझो कोई मकान बनानेकी बात पूछे तो हम कहेंग इंजीनीयरके पास जाओ वह जैसी सलाह दे, उसी सलाहके अनुसार कारीगरसे मकान बनवा लो।

अब यदि हम उस आदमीको यह उपदेश करें कि तुम इन्द्र देवताका ध्यान करो तो तुम्हारा मकान बनकर तैयार हो जायेगा, तो यह गलत बात है। मकान बनेगा पैसा खर्च करनेसे, जमीन खरीदनेसे, ईंट खरीदनेसे, सीमेण्टसे, कारीगरसे, मकान बनानेका साधन वह है। इन्द्रदेवताका ध्यान मकान बनानेका साधन नहीं है।

लेकिन, जब कोई आकर पूछे हम स्वर्गमें कैसे जायेंगे महाराज? तब उसको कारीगरके पास तो नहीं भेजेंगे न! इंजीनियरके पास भी नहीं भेजेंगे। उसको कहेंगे कि तुम भाई कर्मकाण्डकी रीतिसे इन्द्र देवताको याद करो तो इन्द्र देवताकी प्रसन्नतासे तुम्हें स्वर्गकी प्राप्ति हो जायेगी।

इसी प्रकार कोई आकर पूछे कि महाराज हम वैकुण्ठमें कैसे जायेंगे? तो उसको इन्द्रदेवताका यज्ञ नहीं बतावेंगे, उसको बतावेंगे कि वह नारायण भगवान्की भक्ति कैसे करे, तब वह वैकुण्ठमें पहुँचेगा।

यह बात हम जानते हैं कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, ज्ञानके बिना आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार नहीं होता। लेकिन मकान बनवानेवालेको इंजीनियर और मिस्त्रीके पास जानेकी सलाह देते हैं, स्वर्गमें जानेके लिए इन्द्रकी पूजा करनेकी सलाह देते हैं, वैकुण्ठमें जानेके लिए नारायणके भजनकी सलाह देते हैं, और कोई कहे महाराज समाधि कैसे लगेगी! हे भगवान्! वह जप करते-करते कैसे लगेगी? उसके लिए तो प्राणायाम करो, प्रत्याहार करो, धारणा करो, ध्यान करो, तब समाधि लगेगी, तब द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान होगा।

तो सबकी अपनी प्रक्रिया होती है। आप देखो, प्रमाणसे वस्तुका साक्षात्कार होता है—यह सर्व सम्मत निर्णय है। प्रमाण माने आँख (रूपके लिए)। यहाँ 'परीक्ष्य' शब्द (ही) लिखा है—इसमें प्रमाण क्या है? हमारी आँख हम देख रहे हैं, 'परीक्ष्य' लिखा हुआ है। जिन लकीरोंको देखकर सब नागरी लिपि जाननेवाले 'परीक्ष्य' शब्द पढ़ेंगे, वही लकीरें हमारे सामने खिंची

हुई हैं और मैं नागरीलिपिमें उसको परीक्ष्य देख रहा हूँ। तो हमारी आँखसे सिद्ध है कि परीक्ष्य है।

बोले—भाई! कोई अन्धा हो और उसको 'परीक्ष्य' पढ़ना हो तो क्या करेगा? तो अन्धेकी लिपि (ब्रेल)में जब परीक्ष्य लिखा होगा, तब वह अपना हाथ उसपर घुमावेगा और स्पर्शसे वह देख लेगा कि यहाँ लकीर ऐसी खींची हुई है। लकीरोंका स्पर्श होगा। वह भी कर्म नहीं होगा, स्पर्श होगा और स्पर्शसे उसको ज्ञान हो जायेगा कि यह 'परीक्ष्य' लिखा हुआ है।

तो किसी भी वस्तुका साक्षात्कार प्रमाणके बिना नहीं होता। हमको याद है एक बार सेठ जयदयालजीसे किसीने पूछा कि आप कहते हैं कि निष्काम कर्मसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है तो यह कर्म क्या कोई प्रमाण है ?

प्रमाण माने वस्तुको देखनेका करण। रूपको देखनेकी आँख, शब्द सुननेका कान, गन्ध सूँघनेकी नाक, रस लेनेकी जीभ, स्पर्शकी त्वचा। यह कर्म जिसको बोलते हैं, वह कर्म किस वस्तुके दर्शनमें असाधारण करण है ? यह क्या कोई प्रमाण है ? कर्म साधारणकरण है कि असाधारण करण है, क्या है ?

तो देखो यह बात हुई जैसे रूपका साक्षात्कार आँखसे ही होगा। तो एकने कहा कोई तुम्हारी आँखसे तो रूप दिखता नहीं है, डाक्टरकी शरण ग्रहण करो तो वह कृपा करके तुमको रूप देखनेकी शक्ति दे देगा। वह डाक्टर दुनिया दिखा देगा प्रत्यक्ष।

बोले—डाक्टर अपनी आँखसे दिखायेगा कि हमारी आँखसे दिखायेगा! डाक्टर भी जब हमको दुनिया दिखाना चाहेगा, तो हमारी आँख बनाकर, उसमें दवा डालकर आपरेशन करके, चश्मा लगाकर, हमारी ही आँखको इस हालतमें ले आयेगा कि हम उस वस्तुको देख सकें।

अब आपको दूसरी बात सुनाते हैं, बोले—भाई, हम कर्मके द्वारा खूब संकीर्तन करेंगे, संकीर्तन कर्म है। जीभसे बोलना भी कर्म है, हाथसे झाँझ बजाना भी कर्म है, पाँवसे नाचना भी कर्म है। तो हृदयमें होवे ईश्वरका भाव, जीभसे उच्चारण करें श्रीमन्नारायण..... और हाथसे बजावें झाँझ और पाँवसे नाचें। बोले—इससे परमात्माका दर्शन कैसे होगा? तो बोले— इससे होगा ईश्वर प्रसन्न और प्रसन्न होकर हमको ईश्वरका साक्षात्कार करायेगा। बिलकुल ठीक है, और हमको ही साक्षात्कार करायेगा न! हाँ हमको करायेगा। तो हमारी आँखसे करायेगा, हमारे ज्ञानसे करायेगा? िक अपने ज्ञानसे करायेगा? जबतक ईश्वर हमको ज्ञान नहीं देगा, तबतक हम आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार कैसे कर सकेंगे? तो अन्तिम बात तो यह हुई िक चाहे डाक्टरके द्वारा बनायी हुई आँख होवे, चाहे बिना रोगकी अपनी निरोग आँख होवे, चीज जब दिखेगी तब अपनी आँखसे दिखेगी, वह दूसरेकी आँखसे नहीं दिखेगी।

बोले—कर्म ज्ञानकी प्राप्तिमें साधन है कैसे? कि अपने धर्मका अनुष्ठान करनेसे, निष्काम भावसे, उसकी कोई कीमत तो लोगे नहीं; निष्काम भावसे जब स्वधर्मका अनुष्ठान करोगे तो उससे ईश्वर प्रसन्न होगा और ईश्वर प्रसन्न होकर तुम्हारी आँखमें जो मैल आगयी है, (मैल क्या है? कि विषय-वासना)! उसको दूर कर देगा। और उसमें एकाग्रता अर्थात् एक वस्तुके विचारकी जो योग्यता है, यह शक्ति देगा। माने जैसे आँखमें-से मोतियाबिन्द निकालकर उसपर चश्मा लगा दिया जाता है, इसी प्रकार ईश्वर हमारी बुद्धिमें जो राग-द्वेषादि रूप मोतियाबिन्द है, इनको दूर करके, वासनाको दूर करके, मैलको दूर करके उनपर एकाग्रताका, शमदमादि सम्पत्ति रूप चश्मा जब हमको दे देगा, तब हम अपनी बुद्धिके द्वारा परमात्माका ज्ञान प्राप्त करेंगे, यह बात निश्चित है भला! जबतक एक तृणके साथ भी तुम्हारा द्वेष रहेगा, तबतक तुमको ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होगी। द्वेष ईश्वरकी प्राप्तिमें सबसे बड़ा दोष है।

तो परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान्—आप कर्मसे मकान बना सकते हो, आप कर्मसे स्वर्ग प्राप्त कर सकते हो, आप ज्ञान मिश्र कर्मसे स्वर्ग प्राप्त कर सकते हो, आप कर्मसे संसारमें जितनी उन्नति होती है, वह सब प्राप्त कर सकते हो। आप कर्मसे समाधि लगा सकते हो, आप कर्मसे ईश्वरको प्रसन्न कर सकते हो। यह सब कुछ ठीक है, लेकिन कर्म प्रमाणरूप नहीं है, इसलिए कर्म आपकी बुद्धिको शुद्ध करेगा और उस बुद्धिके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार होगा। जबतक बुद्धि शुद्ध नहीं होगी, तबतक परमात्माका साक्षात्कार नहीं होगा।

जैसे देखो, कभी आपको निशान लगाना हो, तो आप दोनों तरहकी शुद्धि कर लो। बंदूकसे गोली मारनी हो किसी चीजपर, तो अगर आँख आपकी ठीक न बैठती हो तो एक दिन पहलेसे आँखमें दवा डालकर उसको साफ कर लो। और बंदूकमें कोई मैल हो तो उसको भी साफ कर लो, यह तो ठीक है लेकिन बंदूक साफ होनेसे या आँख साफ होनेसे लक्ष्यवेध नहीं होगा। लक्ष्यवेधके लिए तो लक्ष्यपर दृष्टि पहुँचनी पड़ेगी। अगर लक्ष्य वेधके लिए लक्ष्यपर दृष्टि नहीं पहुँचेगी तो लक्ष्यवेध नहीं होगा।

तो बन्दूक साफ करना भी साधन है, आँख साफ करना भी साधन है और यह लक्ष्य कहाँ है, यह भी साधन है। लेकिन निशाना तो लगाना पड़ेगा न! लक्षणा तो करनी पड़ेगी तब तो लक्ष्यको पहचानोगे। तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि ये लक्षण है, इस लक्षणसे लक्ष्यको पहचान होती है। महावाक्य तो गोला है, गोली है उस लक्ष्यको वेध करनेके लिए।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्। 2-2-4

आपको एक-दो बात सत्संगकी सुन्नाते हैं। एक बार एक महात्माके पास गये। महात्मा लोग कितने सिंहष्णु होते हैं—यह बात आपको सुनाता हूँ। मैंने कोई बात ऐसी कही जो वैदिक लोग, ब्राह्मण लोग अपने मुँहसे नहीं बोलते हैं। तो महात्माने कहा कि ऐसा कहनेसे तो बौद्धमतकी प्राप्ति हो जायेगी।

तो मैंने कहा—हम सत्यके जिज्ञासु हैं। हमें किस मतकी प्राप्ति होगी, इसकी कोई परवाह नहीं है। यदि बौद्धमत सत्य होवे तो उसको हम स्वीकार करनेके लिए तैयार हैं, आप तो हमारा जो प्रश्न है उसका उत्तर दीजिये, उसका समाधान कीजिये और यदि उसका कोई समाधान न हो तो हमें मानना पड़ेगा कि बौद्धमत सत्य है।

बड़े ही प्रसन्न हुए। बोले कि अच्छा, सत्यके प्रति तुम्हारी इतनी प्रीति! इतनी निष्ठा है! समाधान किया उसका।

नारायण! एक बार वे कोई प्रक्रिया बता रहे थे। कोई होगी आभाससवाद, अवच्छेदवाद, एक जीववाद, अनेक जीववाद, प्रतिविम्बवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, हजारों प्रक्रिया तो हैं। वेदान्तमें तो रोज नई प्रक्रिया है। अपन तो रोज ही एक नया ढंग निकाल लेते हैं। क्योंकि चीज पहचानी हुई हो तो दाहिनेसे, बायेंसे, सामनेसे, पीछेसे, कैसे भी निशाना जुड़ जाता है।

हमने एक आदमीको देखा, आँखपर पट्टी बाँधकर, वाणसे निशाना लगाते। तो लोगोंने कहाकि इसमें चालाकी है, यह नाकके पास इसने बाँधनेके बाद भी थोड़ा खुला रख छोड़ा है। फिर हमने देखा कि वह, हाथ अपना पीछे किया और धनुषबाण दूसरेने उसके हाथमें पकड़ाया और पीछेकी तरफ बाण मारके निशाना लगा दिया। नारायण, अभ्यास था उसका।

तो वे कोई प्रक्रिया सुना रहे थे। हमने कहा कि महाराज, यह प्रक्रिया तो आपकी झूठी है, आप झूठ बोल रहे हो। बोले कि अच्छा तुम सच बोलकर बताओ। यह नहीं बोले कि तुम हमको झूठा बोलते हो! देखो किसीको झूठा कहना तो बड़ा भारी तिरस्कार है। यह कोई मामूली अपराध थोड़े ही है!

वे बोले कि तुम सच बोलकर बताओ। अरे जीभपर जब आवेगा तो वह झूठा हो गया और जूठेको ही तो झूठा बोलते हैं। तो यह परमात्मा जो है यह वाणीका विषय नहीं होता। परम सत्य है वह, वाणीका विषय नहीं होता। उसको समझानेके लिए बीसों प्रकारकी झूठी कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं। उनमें-से मैंने एक झूठी कल्पना करके अगर तुमको यह बात समझायी, तो क्या मुश्किल है!

यह देखो परमात्माकी बात आपको सुनाते हैं। तो कर्म इस लोकमें उन्नतिका साधन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। आपके दु:ख मिटे और सुख मिले और बड़ी भारी प्रगति हो, उन्नति हो, सम्पूर्ण विश्वमें जैसे उन्नत देश हैं, उससे भी आप ज्यादा उन्नत हो जायें इस लोकमें कर्म करके; नया स्वर्ग बना लें। जैसे विश्वामित्रने नया स्वर्ग बना लिया था, त्रिशंकु राजाके लिए।

अच्छा, तो आपको सुनाते हैं। भले नया स्वर्ग बना लो, नया ब्रह्मलोक बना लो, लेकिन अगर आपको किताब पढ़नी है, तो आँख चाहिए। बिना आँखके किताब नहीं पढ़ सकते। अगर किसी वस्तुको देखना है, समझना है, तो आपको बुद्धि चाहिए। वह भले समाधिसे बुद्धि परिमार्जित होवे, कर्मसे, उपासनासे बुद्धि परिभार्जित होवे, लेकिन शुद्ध प्रज्ञा होनी चाहिए, ज्ञानकी प्राप्तिके लिए। इसलिए कर्मंचितान् लोकान् परीक्ष्य—कर्मसे जो लोक मिलते हैं उनका परीक्षण कर लो। 'परीक्ष्य' माने जाँच-पड़ताल करके। **बाह्मणो निर्वेदमायात्**—ब्राह्मणको भी निर्विण्ण होना चाहिए। निर्विण्ण होनेका अभिप्राय क्या है ? धातु यह निर् पूर्वक विद् धातु वैराग्यके अर्थमें होती है, तो विरक्त होना चाहिए।

अब विरक्तका अर्थ आप लोग यह नहीं समझ लेना कि नंगे हो जाना, लंगोटी पहन लेना, जंगलमें जाना। यह जो संसारमें तुम्हारा राग द्वेष हो रहा है, यह जो सौतको देखकर जलन होती है, यह जो सौतियाडाह है कि तुम्हारे मकानसे ऊँचा किसीका मकान न हो. तुमसे ज्यादा किसीका पैसा न हो, यह जलनवाली जो मनोवृत्ति है पुरुषके हृदयमें होवे तो भी और स्त्रीके हृदयमें होवे तो भी यह जलनवाली वृत्ति और प्रेम—ये दोनों एक साथ नहीं हो सकता। एक ही तो दिल है और सो भी नन्हा-सा और उसीमें कहो कि एक ओर आग जलेगी और एक ओर अमृत रखेंगे, एक ओर फूल खिलेगा और एक ओर आग जलावेंगे, एक ओर प्रेमका फूल खिले, एक ओर ज्ञानका फल लगे और एक ओर आग जलती रहे।

यह महाराज आप जानते हैं नारायण भगवान् रहते हैं क्षीरसागरमें भला! गरम नहीं, ठण्डा दूध है और शेष शैय्यापर। शंकर भगवान् रहते हैं कैलाश पर्वतपर, हिमालयपर।

आगमें रहनेका अभ्यास तो न नारायणको है, न शंकरको है। तुम अपने दिलमें आग भी जलाना चाहते हो और अपने इष्टदेवंको रखना चाहते हो—यह बात नहीं हो सकती। संसारका जो राग-द्वेष है वह छोड़ना पड़ेगा।

अब आपको दूसरी बात इसमें सुनाते हैं।

निर्वेदं आयात्—आयात्का अर्थ है आये। यह 'यात्' धातु है. संस्कृतकी और 'आ' उपसर्ग लग गया—आयात्। आयात्=आवे। क्यों आवे? यह 'आये' क्यों कहा? इसलिए कहा कि जानबूझकर विरक्त होना पड़ता है। यह कोई कहे कि जब हमारे जीवनमें वैराग्य आवेगा, तब हम ईश्वरका भजन करेंगे। वैराग्य माने कपड़ा बदलना नहीं होता है,

> 'मन न रँगाए, रँगाए जोगी कपड़ा' मुखड़ा क्या देखे दर्पण में? तेरे दया धर्म नहिं मनमें।

यह मनुप्य जो बोलता है अपने हृदयको जाहिर करता है। जैसे वमन होता है, कै जैसे होता है, तो बोलनेको संस्कृत भाषामें व्याहार बोलते हैं।

जो बाहरसं भीतर जाये सो आहार, मुँहके रास्ते। और मुँह ही के रास्ते भीतरसे बाहर निकले उसका नाम है व्याहार। आहारके विपरीत माने भीतरसे वाहर निकलना। एक होता है बोलना। तो जैसे आपको कभी वमन हो, लोग बहुत छिपाते हैं महाराज। एक सज्जन कहतें थे कि हम एकादशी करते हैं। अब संयोगवश एक दिन उनको के हो गयी, तो वह चावल-दाल निकला उनके मुँहसे के में। अरे नारायण, पहले दिनका खाया हुआ था? कि नहीं पहले दिनका खाया हुआ नहीं था, पहले दिनके खाये हुए की तो के होती नहीं। वह तो आजके ही खाये हुएकी के होगी भला!

तो यह आदमी जो बोलता है, क्या बोलता है? जो बात उसके मनमें भरी रहती है वही बोलता है।

तो आप यह कहो कि हम लंगोटी पहन लें तो विरक्त, हिमालयमें महाराज यह श्रद्धालु लोग, भोले-भाले, ज्यादा जाते हैं, तो वहाँ अंगोछा बिछाकर बैठनेवाले बहुत मिलते हैं।

हम आपकी बात नहीं कहते, आप तो बहुत धनवान हैं, हम साधु लोग जब जाते हैं बदरीनाथ, गंगोत्री, तो यह नहीं कि रास्तेमें अंगोछा बिछाकर बैठनेवाले ही नहीं, जो आश्रमधारी लोग हैं, वे हमको यह बात कहते हैं कि देखो हम बारह महीना यहाँ रहते हैं तो इन्हीं चार महीनोंमें जो लोग आते हैं, वे जो दे जाते हैं उससे हमारी गुजर-बसर होती है, तो वे हमसे आशा रखते हैं कि हम उनको कुछ देकर आवें।

तो यह जो आशा और तृष्णा है चित्तमें, यह जब घटे तब वैराग्य होवे। महाराज किसीको टाइटिल दे दिया जाय कि ये कौन हैं? कि ये विरक्त शिरोमणि हैं। यह विरक्त धुरन्धर, विरक्त धुरीन, विरक्तालंकारकी टाइटिल लगनेसे कोई विरक्त नहीं होता। यह वैराग्य-विवेकपूर्वक धारण करना पड़ता है—क्या अर्थ है, क्या अनर्थ है, क्या सुख है, क्या दुःख है, इसको जीवनमें धारण करना पड़ता है। राग-द्वेष जो हैं ये माता-पितामें-से आते हैं, ये अपने पूर्व जन्मके संस्कारसे आते हैं और ये राग-द्वेष अपने आप आते हैं। लेकिन

राग-द्वेषका मिटना अपने आप नहीं होता, उसके लिए साधन करना पड़ता है।

काम वासना स्वयं आती है और ब्रह्मचर्य धारण करना पड़ता है। टट्टी पेशाब खुद आते हैं, यज्ञ-याग करना पड़ता है। तो वैराग्य सद्गुण है, यह सम्पत्ति है, इसको जीवनमें कोशिश करके धारण करना पड़ता है—

ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

अब देखो यहाँ ब्राह्मणः पद् जो है इसका भी थोड़ा अर्थ बता देते हैं। ब्राह्मण माने जो वेदशास्त्र सम्पन्न हो। पहले ऐसा कोई ब्राह्मण नहीं होता था जो वेद-शास्त्र सम्पन्न न हो। यह जाति इसिलए बनायी गयी, यह वर्ण ही इसिलए बनाया गया कि जो हमारे ज्ञानका खजाना है, उसको कंठस्थ रख करके उसकी रक्षा करे। सीमाकी रक्षाके लिए जैसे सेना नियुक्त होती है, वैसे संस्कृतिकी रक्षाके लिए जिन लोगोंकी नियुक्ति की गयी, उनको ब्राह्मण बोलते हैं। बोले—भाई पीढ़ी-दर-पीढ़ी वेद पाठ करो, लेकिन वेदकी रक्षा करो।

आपको मालूम होगा पहले यह नियम था कि जबतक पढ़ न ले, कम-से-कम एक वेद पढ़ न ले, तबतक ब्राह्मणका विवाह नहीं होता था।

> वेदानधीत्य वेदौवा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥ 3-2

मनुस्मृतिमें यह बात बिलकुल साफ आयी कि पहली बात तो यह कि चार वेद पढ़ो, तीन पढ़ो, दो पढ़ो, एक पढ़ो, लेकिन कम-से-कम अपनी शाखाके वेदका अध्ययन किये बिना विवाह मत करो, यह ब्राह्मणोंके लिए पहले नियम था। एक अपनी शाखा कम-से-कम पढ़ो। तो स्वाध्याय विधिका अनुष्ठान करके जिसने वेदकी—अपनी शाखाका अध्ययन कम-से-कम किया हुआ है, वह ब्राह्मण।

तो बोले—भाई ब्राह्मण लोग तो स्वर्ग चाहेंगे ब्रह्मलोकमें जायेंगे; कि नहीं, उसी ब्राह्मणको यह बात विवेक करके समझना चाहिए—नास्त्यकृतः कृतेते। 'कृतेन कर्मणा अकृत: मोक्षो न लभ्यते।'

मोक्ष नित्य है कि अनित्य? यदि कर्मसे मोक्ष होवे तो अनित्य होगा। मोक्षके बारेमें आपको सुनावें। बौद्धमतमें ऐसा माना जाता है कि यह जो परिच्छित्र अहं रूप आतमा है इसका जबतक उच्छेद नहीं होगा, तबतक मोक्ष नहीं होगा। इस आतमाका माने अहंका, परिच्छित्र अहंका उच्छेद होनेसे मोक्ष होता है। यह बौद्ध-मत है।

जैनमत है कि त्रिरत्नके अनुष्ठानसे सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् संकल्प और सम्यक् समाधि—इनके अनुष्ठानसे जब जीव बिलकुल निर्दोष हो जाता है, अष्टादश दूषण रहित, तब वह मुक्त पदवीका भाजन होता है।

न्याय-वैशेषिकमें मानते हैं कि सप्त-पदार्थी अथवा षोडश पदार्थीक ज्ञानसे नि:श्रेयसका अधिगम होता है।

सांख्य-योगमें मानते हैं कि जब द्रष्टाको विविक्त कर लेते हैं— तत्त्वान्यथाख्याति हो जाती है, अन्त:करणके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मैं द्रष्टा; और, अपनेको विभु जान लेते हैं, तब मुक्ति होती है।

पूर्वमीमांसामें प्रकृतिके साथ जो सम्बन्ध है, इसके विलयका नाम मोक्ष है अथवा स्वर्गादि लोककी प्राप्तिका नाम मोक्ष है। दो मत हैं मीमांसामें।

चार्वाक् जो है वह मोक्ष मानता ही नहीं और जो साकार उपासक हैं— गणेशके, सूर्यके, विष्णुके, वे अपने-अपने इष्टदेवके लोकमें जानेको मोक्ष मानते हैं।

आपको क्या सुनावें, भिन्न-भिन्न मतोंमें मोक्षको भिन्न-भिन्न प्रकारका मानते हैं। तो वेदका सिद्धान्त यह है कि जो उत्पाद्य होवे सो मोक्ष नहीं। जैसे घड़ा बनाया, तो घड़ा उत्पाद्य है, तो घड़ा फूट जायेगा। वैसे ही मोक्ष नित्य नहीं होगा, यदि पैदा किया जायेगा। बनाया जायेगा तो मोक्ष नहीं। उत्पाद्यका नाम मोक्ष नहीं। उत्पाद्यका नाम मोक्ष नहीं। उत्पाद्यका नाम मोक्ष नहीं। उत्पाद्यका नाम मोक्ष नहीं। जैसे कोई मन्त्र आपको नहीं आता है और जाकर गुरुजीरो पूछ आये, तो आप्य हो गया या घड़ा आपके घरमें नहीं है, जाकर दूसरेके घरमें उधार ले आये।

संस्कार्य भी मोक्ष नहीं है। जैसे आपके घरमें प्रणीता है, प्रोक्षणी है और जल डालकर संस्कार किया—शुद्ध किया—ऐसे कबतक शुद्ध रहेगा? इसका नाम भी मोक्ष नहीं है। विकार्य भी मोक्ष नहीं है। जैसे चावल पकाया, वैसे वह पकाया हुआ भी मोक्ष नहीं होता है।

पैदा किया हुआ मोक्ष नहीं, प्राप्त किया हुआ मोक्ष नहीं, संस्कार किया हुआ मोक्ष नहीं, विकार किया हुआ मोक्ष नहीं। और वेदोंने कहा कि आत्माके विनाशसे भी मोक्ष नहीं। जैसे घड़ेको फोड़ दिया तो क्या घड़ेका उससे मोक्ष हो गया? तो उत्पाद्य, आप्य, विकार्य, संस्कार्य और विनाश्य—ये पाँच विकार जिसमें लंगे हुए हैं, उसको मोक्ष नहीं कहते हैं। मोक्ष नामकी वस्तु स्वतः प्राप्त नित्य आत्माका स्वरूप है।

तो बोले—यह तो कृतेन—कर्मसे इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तब? कि तद्विज्ञानार्थं—मोक्षका एक विज्ञान है। मोक्षके लिए क्रिया नहीं है, मोक्षके लिए विज्ञान है।

तो विज्ञान भी दो तरहका होता है, 1. स्वविज्ञान और 2. अन्यविज्ञान। तो यन्त्रगम्य जो विज्ञान होता है, माने यन्त्रसे जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह अन्य विषयक होता है, स्वविषयक नहीं होता। बोले—भाई! मनोविज्ञान तो है। कि मनोविज्ञान भी अन्य विषयक है, मन भी अन्य है। तो स्थूलविषयक अन्य विज्ञान, सूक्ष्मविषयक अन्य विज्ञान और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म धातुका विज्ञान। ये जो अणु होते हैं इनको फोड़कर शक्तिका साक्षात्कार करते हैं।

अणु संयोजनात्मक विज्ञान, अणु वियोजनात्मक विज्ञान। यह बाह्य पदार्थोंका विज्ञान दूसरा होता है। यह भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। पत्थरके दुकड़ेमें अल्मूनियम कैसे बनता है, यह कैसे चीजोंको तोड़करके भिन्न-भिन्न प्रकारके रसायन निकालते हैं—यह विज्ञान है। और 'मैं कौन हूँ'—यह स्वात्मविषयक विज्ञान है।

तो बाबा, अकृतिक्जानार्थं — जो चीज बनानेसे नहीं मिलती, स्वयं सिद्ध है; तत् माने अकृत; वह जो अकृत है, उसका विज्ञान प्राप्त करनेके लिए गुरुमेवाभिगच्छेत्।

यह गुरुमें जो एव है उसका अभिप्राय भी थोड़ा आप ध्यानमें लाओ। कल भी आपको कई बात सुनायी थी, आज दूसरी बात सुनाता हूँ।

गुरुमेवाभिगच्छेत्—इसका अर्थ है कि कोई पढ़ा-लिखा होवे, ज्यादा

विद्वान्-बुद्धिमान होवे तो वह कहेगा कि हमको गुरुकी क्या जरूरत है, हम तो गुरु बननेवालोंकी परीक्षा ले सकते हैं, उनके कान पकड़कर उनको शिक्षा दे सकते हैं।

कई लोग बोलते हैं—ऐ स्वामीजी! आप हमारी बात समझते नहीं हो! अच्छा देखो, यह कहा उन्होंने कि समझते नहीं हो, लेकिन इसे जरा पिण्डीकृत कर दो, तो इसका अर्थ क्या हुआ? कि तुम नासमझ हो। इसीलिए वकील लोग जब बहस करते हैं जजके सामने, तब यह नहीं कहते हैं कि आपने हमारी बात समझी नहीं, ऐसे नहीं बोलते हैं। वे बोलते हैं—मैं अपनी बात आपको समझा नहीं सका।

तो बोलनेका भी एक ढंग होता है। गुरुमेवाभिगच्छेत्।

वेद शास्त्रसे सम्पन्न बुद्धिवाले जो पुरुष हैं उनके मनमें होता है अभिमान। बुद्धिकी उपाधि लग गयी, विद्याकी उपाधि लग गयी, पदकी उपाधि लग गयी। किसी-किसीको महाराज धनकी उपाधि लग जाती है। बोले—अब इतने धनी होकर हम जायें और वहाँ टाटपर बैठकर कथा सुनें? यह क्या है? कि यह धनकी उपाधि लग गयी। यह उपाधि है।

बोले—हम इतने पण्डित होकर दूसरेका सुनने आये तो लोग क्या कहेंगे!

हम सुनते हैं कि काशीमें हमारे एक सिद्ध पण्डित थे, हम लोग उनसे पढ़ते थे। सिद्ध थे—इसमें तो हमको कोई शंका नहीं है। हमने सिद्धियाँ बहुत देखी हैं और उसमें कोई चालाकी नहीं होती भला! इसिलए हम आपको बताते हैं, आप अविश्वास जो करते हो, वह उस दिशामें न जाननेके कारण करते हो। सिद्धिसे परमात्मा नहीं मिलता, उनका कोई महत्त्व नहीं है यह बात ठीक है, लेकिन सिद्धियाँ नहीं हैं—यह कहना तो सत्यसे इनकार करना है।

उन पण्डितजीके पास आककी बनी हुई चौकी थी, उसपर बैठते। उस समय उनसे चाहे जिस शास्त्रकी जो बात पूछो, वह तुरन्त उसका उत्तर देते थे। नाम था उनका पण्डित राम परीक्षण शास्त्री। जब हमारी परीक्षाका दिन आता था तो उससे कोई महीने-दो-महीने पहले हम जाते और सारी पुस्तक उनसे बँचवा लेते थे। वे बाँचकर सुनाते थे। बड़े ही सिद्ध पुरुष थे। तो वे कहते थे, काशीके बड़े-बड़े विद्वान् जब हमारे पास आते हैं, गोपीनाथ कविराजका नाम लेते थे, ये आते हैं तो सिरपर चदरा ढँकके, काँखमें पोथी दबाकर रातके समय आते हैं, ताकि कोई देखे महीं कि इतने बड़े विद्वान् होकर पढ़ने जाते हैं। तो विद्वान्में अभिमान होता है।

यहाँ एक धनी माता हैं मुम्बईमें, वे किसीका कथा-प्रवचन सुनने नहीं जाती हैं। वे कहती हैं जिसको सुनाना हो वह आकर हमारे पास सुनावे, हम सुनने नहीं जायेंगे।

ये जो बड़े-बड़े प्रोफेसर हैं, प्रिंसिपल हैं, वे बुद्धिके अभिमानसे ग्रस्त हैं। तो गुरुमेवाभिगच्छेत् का अर्थ है कि चाहे विद्या किसीकी कितनी भी हो और बुद्धि किसीकी कितनी भी हो, प्रतिष्ठा किसीकी कितनी भी हो, यह स्वाध्याय विधिसे प्राप्त नहीं है। यह जिज्ञासा विधिसे प्राप्त है। माने वेदका जो अध्ययन है वह तो है स्वाध्यायाध्येतव्य; अपनी शाखाका वेद; वेदके पण्डितके पास जाकरके पढ़ना चाहिए—

ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोध्येयोज्ञेयश्च।

महाभाष्यकार बोलते हैं। लेकिन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् यह तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म—यह ब्रह्म जिज्ञासा सब ब्राह्मणोंके लिए नहीं है, जो ब्राह्मण विरक्त हुआ, उसके लिए है और जिसको कर्मसे बनाये हुए लोकमें रुचि नहीं है उसके लिए है, जिसके मनमें केवल ब्रह्मज्ञानकी इच्छा है, उसके लिए है। तो विद्या-बुद्धि सम्पन्न होनेपर भी इसमें गुरुकी जरूरत है। क्यों जरूरत है? कि देखो, इसमें बात यह है कि अपना जो परिच्छिन्न अहं है उसको काटनेका सवाल है।

तो अपने हाथसे अपना गला काटना, वह भारी तलवार अपना गला काटना आपको मुश्किल मालूम पड़ता है कि नहीं ? परन्तु—

सद्गुरु मार्ख्यो तीर निकस गयो पार।

यह तो यदि कोई अपने हाथमें तलवार लेकर अपना गला काटनेकी हिम्मत रखता हो तो इस मार्गमें आये। यह सूरमाका मार्ग है, यह कमजोरोंका मार्ग नहीं है। देखो मोक्षमें होता क्या है ? कि यह जो अहं महिष है अहंकाररूपी भैंसा इसकी बिल चढ़ानी पड़ती है। यह महाविद्या इस अहंकी बिल लेती है। तो इसके लिए चाहिए कोई ऐसा पुरोहित जो एक हाथ मारे जोरसे और गला कटके फिंक जाय। जिसको गला कटवानेमें हिचिकचाहट हो, उसके लिए यह रास्ता नहीं है। उसमें धनकी पोटली साथ नहीं जायेगी। इसमें प्रतिष्ठा साथ नहीं देगी, इसमें विद्या साथ नहीं देगी, इसमें बुद्धि साथ नहीं देगी। इसमें अहंरूप महिषका गला काटना पडता है।

आपको वह मन्त्र सुनावें—यमेवैष वृण्ते तेन लभ्यः। परमात्मा जिसको पसन्द करता है, वही उसको प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ वैष्णव लोग यह करते हैं कि परमात्मा जिसको वरण करता है कि यह हमारी पत्नी होने योग्य, पार्षद होने योग्य, हमारा भक्त होने योग्य, हमारे लोकमें रहने योग्य, परमात्मा जिसको वरण करता है, वह उसको प्राप्त कर सकता है।

ऐसा अर्थ तो वैष्णव लोग करते हैं और शंकराचार्य इसका अर्थ करते हैं कि एष साधक: यमेव परमात्मानं वृणुते तेन वरणेन लभ्य:। यह साधक जब वरण करता है कि मैं परमात्माको पाना चाहता हूँ तो इसकी जो प्रबल इच्छा है वह ईश्वरको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं और-ईश्वर उसको मिलता है।

एक वैष्णवाचार्य थे, उन्होंने कहा कि इसका यह दोनों अर्थ नहीं है; रामानुजाचार्यजीने जो अर्थ किया सो भी नहीं है, शंकराचार्यजीने जो किया सो भी नहीं है। इसका अर्थ क्या है? कि देखो परमात्मासे तो ब्याह करना है। परमात्मामें क्या कमी है कि वह आकर वरण करेगा कि तुम चलो हमारे घरमें, तुम्हारे बिना कोई कमी है! क्यों किसीको वरण करेगा!

तो परमात्माके तो इच्छा नहीं है कि वह आकर किसीको वरण करे और जीवमें यह सामर्थ्य नहीं है कि परमात्माके पास पहुँच जाय। तो यहाँ 'एष' पद्का अर्थ पुरोहित है। आचार्य है, गुरु है। जैसे कन्याको वरके हाथमें देना होता है, तो पिता या स्थानीय आचार्य जैसे कन्याका हाथ पकड़ कर वरके हाथमें दे देता है, ऐसे जो जीवको उठा कर अपने हाथमें, अपनी बुद्धिमें ईश्वरको अर्पण कर दे, उस आचार्यको यहाँ 'एष' कहा गया है। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। एष-आचार्यः यमेव—शिप्यं वृणुते तेन परमात्मा लभ्यः।

अच्छा! गुरु कृपा करे, प्रसन्न हो तो परमात्माकी प्राप्ति होती है। आप यह नहीं समझना कि अहंकी गाँठ काटनेवालेको हत्या लगेगी। यह ऐसी एक अहं ग्रन्थि है, अगर होती सच्ची, तब तो इसपर तलवार चलानी पड़ती, पर यह तो है नहीं। यह बात शिष्य तो जानता नहीं; चेला तो जानता नहीं। चेला तो समझता है कि यह जो छोटा-मोटा मैं हूँ, यही सब कुछ हूँ। और, गुरु जानता है कि यह जो अपनी अल्पता, परिच्छिन्नताकी गाँठ, परिच्छिन्न अहंकी गाँठ जो इसके दिलमें पड़ गयी है, झूठी है।

तो शिष्यकी दृष्टिमें तो गुरु सच्ची तलवार लेकर उसकी अहंकी ग्रन्थिपर चलाता है, क्योंकि गाँठ सच्ची है तो सच्ची तलवारसे कटेगी। तो चेलेकी दृष्टिमें तो वह तलवार होती है सच्ची, लेकिन गुरुकी दृष्टिमें तो वह तलवार, ब्रह्मातिरिक्त जो कुछ है सो तो है मिथ्या। तो वह विद्यारूप तलवार भी मिथ्या है। तो तत्त्वमस्यादि रूप जो मिथ्या तलवार है, वही गुरु चलाता है और, वह जो मान्यतासे; भ्रान्तिसे जो अहंग्रन्थि मालूम पड़ रही है, वह मिथ्या ग्रन्थि है। तो मिथ्या ग्रन्थिपर सच्ची तलवार क्यों चलाना! मिथ्या गाँठपर मिथ्या तलवार चलायी और कट गयी।

असलमें बिलदान नहीं हुआ। असलमें तो जो अहं, नशेमें अपनेको जेलखानेमें मान रहा था जैसे कोई शराबी हो और होय तो अपने घरमें और मान यह रहा हो कि हम तो जेलखानेमें बंद हैं। तो उसको कहाँ ले जाना पड़ेगा? अपने घरमें तो है और शराबके नशेमें मान रहा है कि हम तो जेलमें हैं। तो महाराज उसको झूठ-मूठ आँख हाथ बंद करके थोड़ा इधर-उधर घुमा दो और उसका नशा उतारनेकी जरूरत है। अगर उसका नशा उतर जाये तो क्या देखेगा वह? उसको घर पहुँचानेकी जरूरत नहीं है, उसका नशा उतारनेकी जरूरत है।

तो यह अहं ग्रन्थि असलमें है नहीं यह तो परमब्रह्म परमात्मा है देखो। तो नशा उतारनेका काम तुम खुद कैसे करोगे, जब नशेमें होओगे ? उसके लिए वैद्यकी जरूरत है न, डाक्टरकी जरूरत है। इसी प्रकार यह नशेमें भूलकर जो अपनेको सुखी-दु:खी, पापी-पुण्यात्मा, परिच्छिन्न मान रहे, यह संसारके चक्करमें फँस रहे तो इसके लिए बाबा गुरुमेवाभिगच्छेत् चाहे जितनी विद्या हो, जितनी बुद्धि हो, जितना शास्त्र हो वह तो अहंकारकी ग्रन्थिको बढाता है।

एक बात और बताते हैं धर्मानुष्ठानका भी बड़ा अभिमान होता है। हमने देखा झूसीमें एक सज्जन थे, उनको साठ रुपया पेंशन मिलता था, सन् चौंतीसकी बात है। उनका नाम तो बाजपेयीजी था। कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बिलकुल मैला कपड़ा कमरमें लपेटकर रखते, ज्यादातर नंगे रहते और गंगा किनारे स्नान करते सबेरे उठकर, अग्नि-होत्र करते, गायत्रीका अनुष्ठान करते और फलमूल खाकर रहते। अब वेदान्तकी कोई बात उनकी समझमें न आवे, बड़ा विरोध करते। उड़िया बाबाजी महाराज जब ग्रये झूँसी, मैंने उनसे पूछा यह ब्राह्मण तो बड़ा धर्मानुष्ठाननिष्ठ है, पर साधुओंका विरोध करता है, वेदान्तका विरोध करता है, इसका क्या कारण है?

तो बाबाने कहा—इसको जो साठ रुपये पेंशनके मिलते हैं इससे यह समझता है कि मैं तो अपनी कमाईका खाता हूँ, इसलिए श्रेष्ठ धर्मात्मा हूँ और ये बाबाजी लोग भिक्षाकी रोटी खाते हैं, दूसरेकी कमाई, इसलिए ये हमसे किनष्ठ हैं, छोटे हैं।

तो अपनेमें बड़प्पनका जो अभिमान है अपने धर्मका अभिमान, अपनी कमाईका अभिमान, इस कमाईके कारण दिल जो छोटा हो रहा है इसीके कारण न इसको साधु अच्छा लगे, न वेदान्त अच्छा लगे। यह धर्मानुष्ठान भी अभिमानका कारण है।

तो भाई, गुरुके पास जाना। अब गुरुमें भी देखो, गुरु भी दो तरहके देखनेमें आते हैं, एक अशास्त्रीय रुचिवाले गुरु, एक शास्त्रीय रुचिवाले गुरु। इनको हम पहचानते हैं। एक महात्मा ऐसे हैं कि यदि शास्त्रकी कोई बात उनको सुनावें तो खिल जाते हैं, वाह-वाह-वाह, बड़ा आनन्द दिया, बड़ा आनन्द दिया और एक महात्मा ऐसे हैं कि उनको गढ़कर कहानी सुनावें।

यह कई दृष्टान्त हम आपको ऐसा भी सुनाते हैं जो तुरन्त ही गढ़ देते हैं, वह पहलेका होता नहीं है। तो नारायण कहो, उनको गढ़ी हुई कहानी अगर सुनावें तो वे बहुत खुश होते हैं। तो शास्त्रीय रुचिवाले जो होते हैं, वे नियन्त्रणके मार्गपर चलते हैं और अशास्त्रीय रुचिवाले जो होते हैं वे कल्पनाके मार्गपर चलते हैं। तो शास्त्रीय मार्ग अनुशासनका मार्ग है। गुरु और शास्त्रकी आज्ञा मान करके जिन्होंने साधना की है शास्त्रीय अनुष्ठाननिष्ठ (वे शास्त्रीय गुरु हैं)।

यह कल्पना करनेमें हम आपको क्या सुनावें। आजकल ऐसी-ऐसी बात सुननेमें आती है वेदके मन्त्रोंकी ऐसी व्याख्या, पुराणोंकी, दर्शनोंकी, केवल उत्प्रेक्षामूलक, जिसको सुनकर लोग खूब खुश हो, श्रोता हँस जाये तो समझो बड़ा बिढ़या व्याख्यान हुआ। ताली पीटें खूब, आहा, क्या बिढ़या! तो झूठी-झूठी कल्पनाएँ गढ़-गढ़कर वेदमें-से शास्त्रमें-से निकालते हैं। तो गुरु ऐसा होना चाहिए जो श्रोत्रिय हो, सम्प्रदाय परम्परासे विधिपूर्वक वेदका अध्ययन किये हुए हो। और निष्ठा उसकी कहाँ हो? कर्मनिष्ठ होवे, उपासना निष्ठ होवे, योगनिष्ठ होवे कि ज्ञाननिष्ठ होवे! अभी मैंने जितना आपको नाम लिया ना, ये सब साधन हैं।

देखो, कर्म भी साधन है। कोई कर्मनिष्ठ होगा तो साधननिष्ठ होगा। उपासना निष्ठ हुआ तो साधन निष्ठा हुई। योगनिष्ठ हुआ तो भी साधन निष्ठा हुई। ज्ञान निष्ठा हुई, दिनरात शम दमादिका अनुष्ठान करते हैं और श्रवण-मनन निद्धिध्यासन करते हैं—

अमानित्वं, अदम्भित्वं, अहिंसा, क्षान्तिरार्जवम् धारण करते हैं। ज्ञान माने ज्ञानका साधन।

यह तो साधन निष्ठा है। अच्छा बोले—समाधि चाह रहे हैं, यह क्या है? कि यह साध्यनिष्ठा है। बोले कि हर समय नारायणका दर्शन होता रहे, यह क्या है? कि यह साध्यनिष्ठा है। हर समय समाधि लगी रहे, हर समय रामकृष्ण दिखते रहें—इसका नाम साध्यनिष्ठा है।

एक साधनिष्ठा होती है और एक साध्यनिष्ठा होती है कि ये तो दिन-रात स्वर्गमें ही रहते हैं—यह साध्यनिष्ठा हुई। दिन-रात राम, कृष्ण, नारायण, शिव इनके सामने रहते हैं—यह साध्य निष्ठा हुई। दिन-रात समाधि लगी रहती है—यह साध्य निष्ठा हुई। तो साधन निष्ठा जुदा होती है, साध्य निष्ठा जुदा होती है। और ब्रह्मनिष्ठा क्या होती है? वह सिद्ध परमार्थ निष्ठा है। जो स्वयं सिद्ध, परमार्थ वस्तु है—ब्रह्म; अरे कर्म भी वही, उपासना भी वही, योग भी वही, ज्ञान भी वही, स्वर्ग भी वही, नरक भी वही, ब्रह्मलोक भी वही, विक्षेप भी वही, समाधि भी वही। साधन निष्ठाका नाम ब्रह्म निष्ठा नहीं है और साध्य निष्ठाका नाम भी ब्रह्म निष्ठा नहीं है। साधन और फलसे मुक्त, साधन और फल दोनों दशामें एक सरीखी जिसमें साधन-असाधनका भेद नहीं और साध्यसिद्धका भेद नहीं—ऐसी ब्रह्म निष्ठा है, वह बड़ी विलक्षण वस्तु है!

तुम यह पहचान लो कि कपड़ा कैसा पहनना चाहिए, काला कि पीला, उसका कलर पहचानो। हीरा, मोती, सोना, चाँदी पहचान लो कि ऐसा होता है, खाना-पीना किस होटलका बढ़िया होता है ? यह तुमको जानकारी होगी।

जहाँ ब्रह्म जिसको बोलते हैं वह कालसे अपरिच्छित्र अविनाशी, देशसे अपरिच्छित्र परिपूर्ण, वस्तुसे अपरिच्छित्र अद्वितीय, प्रत्यक् चैतन्याभित्र, आत्मासे अभित्र जिसमें दूसरा नहीं, जिसमें टाइम नहीं, जिसमें जगह नहीं; माने जो सब टाइम, जो सब जगह, जो सब वस्तु, जो भी प्रतीत होती है, जो सब है—

सोवत जागत पड़े उताने कहे कबीर हम वही ठिकाने 'सम्पूर्ण जगदेव नन्दन वनं'

ब्रह्मनिष्ठाका अर्थ? जहाँ कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है एक, जहाँ कुछ प्राप्तव्य नहीं है—दो; जहाँ कोई त्यक्तव्य शेष नहीं है—तीन; जहाँ कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं है—चार, उसका नाम ब्रह्मनिष्ठा होता है। ऐसे ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना, उसकी शरणमें जाना।

अब आनेपर गुरुजीसे यह कहना नहीं बनता कि तुम इसको वेदान्तका उपदेश करो और इसको मत करो।

अब एक दूसरा प्रश्न पैदा करते हैं। ब्रह्मनिष्ठ तत्त्वज्ञ विधेयर्थ नहीं है। माने उसको वेद विधान करे कि हे ब्रह्मज्ञानीजी, तुम इसको उपदेश करना और इसको नहीं करना। अगर वेद भी उसको आज्ञा दे, कानून बनावे उसके लिए, तो महाराज दोनों भस्म हो जायेंगे। हमने एक दिन सपना देखा कि हमारे सामने कोई बड़े महापुरुष प्रकट हुए, सिद्धासन लगाकर, पीठकी रीढ़ सीधी और सिर बिलकुल ऊँचा, चेहरेपर आनन्द-शान्ति टपक रही हो, फिर बोले कि तुम यह करो, यह करो, करनेकी पाँच-सात बात बतायी। सपनेमें मैं भी था, तो हमारे भीतरसे निकला कि यह तो मिथ्या है। यह जो महात्मा दिख रहा है, यह तो बिलकुल झूठा, मेरे स्वरूपमें किल्पत, बाधित है, यह आज्ञा देनेवाला कौन! मैं तो ब्रह्म हूँ। ब्रह्मको कोई आज्ञा देता है? वह कोई विधिनिषेधका विषय होता है? नारायण, अब देखता क्या हूँ कि ज्ञानकी आग प्रज्ज्विलत हुई और उसमें वे जो महात्माजी बैठे थे और वह सिंहासन और वहाँका वह सम्पूर्ण दृश्य ज्ञानकी आगमें जल रहा है, भस्म हो गया। तो, महात्माको कोई आज्ञा देनेवाला सृष्टिमें नहीं होता है कि ऐसा करो और ऐसा मत करो।

तब बोले भाई अधिकारी योग्य शिष्यको ही उपदेश करे। यह बात तो बता रहे हैं। बोले—यह जो बात बतायी गयी है वह गुरुके लिए आज्ञा नहीं है कि ऐसे शिष्यको उपदेश करना। यह क्या है? यह गुरुके स्वभावका वर्णन है कि प्राय: ऐसा शिष्य जब उनके सामने आता है, तब उससे तत्त्व ज्ञानकी चर्चा करते हैं।

ं एक आदमी आता है महाराज, संक्रान्तिके दिन, कि हमको थोड़ी घी-खिचड़ी दे दो और गुरुजी महाराज कहें बैठो, तत्त्वमिस—तुम साक्षात् ब्रह्म हो।

यह गुरुजीका स्वभाव नहीं है कि आया माँगने खिचड़ी और उसको कहें कि तू ब्रह्म है।

एक आया-महाराज! हम मुकदमेंमें फँसे हुए हैं, इस संकटसे छूट जायँ। गुरुजीने कहा—तत्त्वमिस बेटा—तू ब्रह्म है। ऐसा गुरुजीका स्वभाव नहीं है।

गुरुजीका स्वभाव यह है कि जो ब्रह्म ज्ञानकी इच्छासे उनके यहाँ आता है उसको वह ब्रह्म ज्ञानका उपदेश करते हैं। यह उनका स्वभाव है, यह उनका स्वरूप है, इसलिए जब कोई तत्त्वज्ञानके लिए उनकी शरणमें आता है— उपसन्नाय सम्यक्—भली-भाँति शरणमें होवे। भली भाँति शरणका अर्थ क्या होता है ? उसमें अपनी किसी चीजका मद न होवे, अपने धनका मद न हो, अपने वंशका मद न हो, अपनी पत्नीका मद न हो, अपने पुत्रका मद न हो, अपनी बुद्धिका मद न हो, अपनी विद्याका मद न हो, उपसन्नाय सम्यक्।

अरे यह अहंकारको तो झुकाना पड़ता है। सम्यक् उपसन्नायका क्या अर्थ है ? कि शरणागितमें कोई त्रुटि न होवे।

उपसन्न माने शरणागत।

उपसन्न होगा तब उपनिषदका पात्र होगा। यह उपसन्नमें क्या है, आपको बतावें! यह 'उपसद्' शब्द है, 'उप' उपसर्ग है और 'सद्' धातु है। उसीसे 'त' प्रत्यय होनेपर 'उपसन्नः' शब्द बना और उपनिषद कैसे बनता है? उसमें उपसर्ग एक ओर बढ़ गया। उपसद् जो था उसकी जगह 'न' उपसर्ग और आगया—उपनिषद और यह जो 'त' प्रत्यय हुआ, यह उसमें 'त' प्रत्यय नहीं है क्रिप् प्रत्यय है। तो उपनिषद् जिस धातुसे बनता है, उसी धातुसे 'उपसन्न' भी बनता है। पर इसमें उपसर्ग एक कम है, और प्रत्यय दूसरा है। उपनिषद् किसको प्राप्त हो? कि उपनिषन्नको प्राप्त हो। जो आकर गुरुजीके पास बैठे। पास बैठना माने देहके पास बैठना नहीं। मनसे दूर होवे और देहसे पास होवे, तो ज्ञान नहीं होगा। मनसे पास बैठे, बुद्धिसे पास बैठे, अहंके पास बैठे। सो भी शरीरके पास नहीं। हम देख रहे हैं आप लोगोंको भला।

पास बैठनेका क्या अर्थ होता है ? गुरुकी स्थिति जहाँ है ! देखो तुम तो गुरुको देख रहे हो, हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्रकी इस पोटलीके रूपमें। यह शिष्यके द्वारा गुरुका सबसे हीन रूप जो देखा हुआ है उसका नाम शरीर है।

तुम गुरुजी जहाँ बैठे हैं, 'चौकी तहाँ हमार'! कहाँ? झण्डा गाड़ो जायके, हद बेहदके पार। जहाँ गुरुजी बैठे हैं पहले अपनी बुद्धिमें देखो कि ये ब्रह्मरूपसे बैठे हैं और अपनी बुद्धिको ब्रह्मके पास बैठानेकी कोशिश करो माने देखो ज्ञानके द्वारा जो ब्रह्मके पास पहुँच गया, गुरुजी ज्ञानके द्वारा उसकी ब्रह्मताका साक्षात्कार करा देते हैं।

गुरुके पास बैठना माने ज्ञान रूपसे गुरु जहाँ बैठा है, ज्ञानरूपसे चेला वहाँ बैठ जाय, तब यह उपसन्नता आवेगी-उपनिषण्णं! गुरुमें है ज्ञान और चेलामें है ध्यान, अब गुरुका ज्ञान ध्यानी चेलेमें उतर आवेगा और यदि चेलेमें उपनिषण्णः उपनिषद्, यह 'उप' माने अत्यन्त, सामीप्य,'नि'माने नितराम् और 'षद्' माने तीन बात होता है—

विशरणगत्यवसादनेषु।

विशरण—जो मनमें अहंकाराद हैं उनको विशीर्ण कर दे। माने अधिकारी बना दे।

गति-गम्यति, ब्रह्मका ज्ञान करा दे।

अवसादयति अविद्यां — अविद्याको ध्वस्त करता है।

दोषोंको विशीर्ण करता है, ब्रह्मका ज्ञान कराता है और अविद्याको ध्वस्त करता है। ये तीन बात जो करे उसको बोलते हैं उपनिषद् और अत्यन्त सामीप्यसे करे, बिलकुल अविद्याका लेश न रहने दे। ब्रह्मज्ञानमें कोई त्रुटि न रहने दे। दोषका सर्वथा निवारण, ब्रह्मका अधिगमन और अविद्याकी निवृत्ति—ये तीन बात जिससे होवे उसको उपनिषद् बोलते हैं।

तो अब शिष्यमें भी तीन बात होगी—अपने दोषोंको तो विशीर्ण करे।
गुरुकी स्थितिको समझे और अपनी अविद्याको दूर करे। तब क्या होगा? कि
उपसत्र होगा। उपनिषण्ण। उपनिषद्से उपनिषण्ण हो जायेगा और 'नि'
उपसर्गको छोड़ देंगे तो दन्त्य सकारका मूर्धन्य सकार नहीं होगा, उपनिषण्ण
होगा 'नि' उपसर्ग निकाल देनेपर शिष्यके लिए यह उपनिषद्का अधिकारी है।
तो इसमें दो बात रहती है।

सम्यक् प्रशान्तिचत्ताय शमान्विताय। अब यह बात आपको कल सुनायेंगे!



प्रवचन :11, मंत्र 12-13

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो

निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवामिगच्छेत्

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ 12॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्

प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।

ये नाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ 13 ॥

परीक्ष्यलोकान्कर्मचितान्—इसमें भी जिज्ञासुके लक्षण बताये हुए हैं। आप ऐसा नहीं समझना कि तस्मै स विद्वानुपसन्नाय में तो जिज्ञासुके लक्षण बताये हुए हैं और परीक्ष्यलोकान्कर्मचितान् में किसी और के।

तो इसमें पहली बात तो यह है कि अपनी शाखाका जो वेद है उसका अध्ययन करना जरूरी है। दूसरी बात यह है कि कर्मकाण्डसे जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उनकी परीक्षा करना जरूरी है। क्योंकि अविद्यावान माने जो अपने आत्मा और परमात्माकी एकता नहीं जानता, उसीके लिए कर्मोंका विधान है और उसीके लिए कर्मफल रूपसे स्वर्गका विधान है।

तो यह जो अपरा विद्याका विषय है वह अविद्यावानके प्रति विहित है। और विचार करके देखों तो उनसे जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, दक्षिण मार्गसे, उत्तर मार्गसे, उनमें जो विधि है, निषेध है, जो नरक-स्वर्गादिकी प्राप्ति है, ठीक-ठीक उनको समझना। प्रत्यक्षसे, अनुमानसे, उपमानसे, शस्त्रसे, संसारमें जितनी भी गति है, प्रकृतिसे लेकरके तृण तक, व्याकृत अव्याकृत बीजां कुरवत् कारण कार्ये।

उनमें अनेको प्रकारके अनर्थ लगे हुए हैं और वे सब-के-सब जैसे केलेका छिलका उतारते जाओ तो अन्तमें कुछ सार नहीं मिलेगा इसी प्रकार सृष्टिमें यदि खोज करके देखो तो माया, मरीचि, उदक—मृगतृष्णाका जल, गन्धर्वनगर स्वप्न, जल बुद्बुद फेनके समान! और प्रतिक्षण ध्वंस होनेवाले इन दोपोंको बिलकुल बिना सोचे, बिना विचारे, बिना देखे मनुष्य कर्ममें प्रवृत होता है और इनको इकट्टा करता है। तो विचार करना चाहिए।

तो इसमें क्या बात आयी, इसमें विवेक नामका जो साधन बताया जाता है कि विवेक करना चाहिए, तो परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो — ब्राह्मण अपनी शाखाका वेद अध्ययन किये हुए हो, पंडित हो और उसके बाद उसके मनमें विवेक हो। और निर्वेदमायात्—वैराग्य हो।

यह अधिकारीके लक्षण बताते हैं। विवेकी हो और वैराग्यवान हो। एक बात और कि वह समझता हो, जो चीज बनायी जाती है वह बिगड़ जाती है, इसलिए जो सच्ची चीज है उसको हम समझेंगे।

हमारे गाँवके पास एक बड़े सिद्ध महापुरुष रहते थे। वे पहले तो उपदेश करते ही नहीं थे, चालीस वर्ष रहे वहाँ, कभी उपदेश नहीं किया, हमारे गाँवसे कोई चौदह मीलकी दूरीपर गंगा किनारे रहते थे, गंगाजी उनका निवास था, उपदेश किसीको नहीं करते थे। हम लोग तीन व्यक्ति जब चालीस वर्ष रहनेके बाद, उनके पास गये थे तो उन्होंने कहा—आज पहले-पहल हमारे पास परमार्थकी जिज्ञासासे कोई व्यक्ति आया है। नहीं तो कोई बेटाके लिए आता है, कोई धनके लिए आता है, कोई रोगकी निवृत्तिके लिए आता है, आज जिज्ञासु आया है।

उन्होंने बताया था कि 'गुरु, (गुरु कहते थे सबको) बिना किये जब इतना हो गया तो और करनेसे यह घटेगा नहीं, यह और बढ़ेगा।' इसलिए—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

विवेक होवे कि क्या नित्य है और क्या अनित्य है।

'विवेक' शब्दका अर्थ बहुत कम लोग जानते हैं। विचिर पृथग्भावे धातु है। तो विवेक शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है बीनना। जैसे तिल और चावल दोनों आपके घरमें एकमें मिल गये हों, तो घरकी माता सूपमें तिल और चावल मिलाकर, चावल थालीमें अलग कर दिया और तिल अलग कर दिया तो इसको क्या कहेंगे? कि तिल-तन्दुलका विवेक हुआ। जब दृध और पानीको हंस अलग करता है तब उसको क्या बोलते हैं ? 'नीरक्षीर विवेक' बोलते हैं।

दो चीजं जहाँ एकमं मिल गयी हों, वहाँ दोनोंको जुदा-जुदा करनेका नाम विवेक है। अब दो अच्छी और बुरी एकमें मिल गयी हों तो! कंकड़ और चावल एकमें मिल गये हों तब क्या करोगे? कि कंकड़ और चावल दोनों अलग करके कंकड़को फेंक दोगे और चावलको रख लोगे। तो विवेकके बाद वैराग्य माने क्या होता है? देखो माने इस संसारमें नित्य क्या है, अनित्य क्या है, धर्म क्या है, अधर्म क्या है—इस बातको पहले समझना फिर अनित्यको और अधर्मको पहचानना और माने नित्यानित्य, धर्माधर्मको पहचानना और वैराग्य माने अनित्यको और अधर्मको छोड़ना।

अब उसके बाद यह निश्चय हुआ कि कर्मसे तो प्राप्ति होगी नहीं; कर्मसे साक्षात्कार नहीं होता, वस्तुका विज्ञान तो करणसे होता है। इसीलिए बोलते हैं—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

इस सृष्टिमें ज्ञानसे बढ़कर पिवत्र और कुछ भी नहीं है। तो वह ज्ञान कहाँ मिलेगा? कि गुरुमेवाभिगच्छेत्—गुरुजीके पास जाना। यह गुरुजी कौन है? गुरुजी उसको कहते हैं, गुरु माने भारी। जैसे देखो एक तो तिनके पड़े रहते हैं, पत्ते पड़े रहते हैं धरतीपर, हवा आती है और उनको उड़ा ले जाती है और जो भारी चीज पत्थर पड़ा रहता है, उसको हवा नहीं उड़ाती है। तो यह जो संसारकी धारा बह रही है या संसारका आँधी-तूफान चल रहा है, इसमें जो हर्ष आनेपर, शोक आनेपर, सुख आनेपर, दु:खकी बाढ़ आनेपर, जो चट्टानकी तरह बिलकुल अपनी जगहपर रहे, सो गुरु है। जो सुखसे-दु:खसे विचलित न हो, जो अनुकूलसे, प्रतिकूलसे व्यथित न हो, जो दुनियाकी आँधी-तूफानमें उड़ न जाये, उसका नाम गुरु।

अब गुरु शब्दको देखो, साधारण अर्थ बताते हैं। एक जगह श्रीमद्भागवतमें आया है कि यशोदा मैयाने श्रीकृष्णको क्या किया? बोले— अवागुरत्, माने धमका दिया। गुर्राई श्रीकृष्णपर बड़े जोरसे, ऐसा काम करते हो? तो जो चेलेकी गलतीपर उसके ऊपर गुर्राये, उसका नाम गुरु। माने अपने

चेलेको अगुरत। संस्कृतमें गुर् धातु कई तरहसे होता है—गृ-निगरणे—जो शिष्यके दोषको निगल जाये। गृ शब्दे जो उसको उपदेश करे।

कोई नौ तरहसे संस्कृतमें गुरु शब्दकी व्युत्पत्ति होती है।

तो गुरुके पास जाये। गुरुके बारेमें भी कई बात बतायी हुई है। वह कुलीन भी होना चाहिए। कुलीन होवे और सद्गुरुका शिष्य होवे, परम्परा उसकी ठीक होनी चाहिए। विवेक-वैराग्य सम्पन्न होवे, ब्रह्मनिष्ठ होवे, श्रोत्रिय होवे।

श्रोत्रिय अकेले हो तो अनुभव नहीं करा सके और अनुभवी होवे केवल, तो समझा नहीं सके। तो समझानेके लिए श्रोत्रिय होना जरूरी है और ब्रह्मका साक्षात्कार करानेके लिए ब्रह्मनिष्ठ होना जरूरी है।

और,उसके पास जाये, गुरु उसको देखे कि आ गया भाई, बहुत दिनसे तुम्हारा इन्तजार कर रहे थे।

गुरु लोग भी इन्तजार करते हैं कि हमारे पास कोई सद्शिष्य आवे। जैसे पिता इसकी प्रतीक्षा करता है कि हमारे वंशमें कोई योग्य पुत्र होवे जो हमारे कुलधर्मको, हमारी सम्पत्तिको सँभाले, इसी प्रकार गुरु भी प्रतीक्षा करता है कि हमारे कोई योग्य शिष्य आवे। तो,

> तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ 13॥ संसारसे निर्विण्ण माने—ऊब गये संसारसे, अरुचि हो गई संसारसे। कई लोग कहते हैं कि 'महाराज, न इधरके रहे, न उधरके।'

बिलकुल तुम इसी योग्य हो। क्यों? कि जब इधर भी तुम्हारी रुचि है, उधर भी रुचि है, तभी तो कहते हो। इधर रहते तो भोग मिलता, उधर होते तो मोक्ष मिलता तो इधर रहनेमें यदि भोगकी लालसा न होती, तो तुम अपनेको दुविधामें क्यों डालते कि न इधरके रहे न उधरके रहे। वह तो सचमुच भोगकी लालसा तुम्हारे अन्तःकरणमें बैठी है। तो अभयं शिवं अकृतं नित्यं पदं यत् तिद्वज्ञानार्थं—जो अभय है, परम मंगलमय है अकृत्रिम है, नित्य है, उस पदका विज्ञान प्राप्त करनेके लिए, विशेष अधिगम प्राप्त करनेके लिए, अनुभव पर्यन्त ज्ञान प्राप्त करनेके लिए, विशेषेण अधिगमार्थ: । सामान्य ज्ञानसे काम नहीं चलता।

आजकल क्या करते हैं, हमने देखा, गुरुजी महाराज तो युक्ति-पर-युक्ति देकर अपना दिमाग थका करके समझा रहे हैं, घण्टे भर लगाया और चेलेने अन्तमें कहा कि इसका सार तो इतना ही हुआ न महाराज!

अब वे समझते होंगे कि हम बड़े समझदार हैं, हमने सार बता दिया। जिस बातको समझानेके लिए गुरुजीको घण्टे भर बोलना पड़ा, उसका तुम्हें गणित निकालकर समझाना पड़ा, तो गणित तो निकालने आया नहीं, और उसका हल याद कर लिया और बता दिया कि इसका नतीजा तो यही हुआ न! नतीजा नहीं, उसके लिए बुद्धिको थोड़ा काम करने देना चाहिए। बुद्धिका काम करना साधन है, हलपर पहुँचना साधन नहीं है। हलपर पहुँचना तो फल है। हल निकालनेकी जो युक्ति है उसपर दिमाग थोड़ा पचे; बुद्धि थोड़ी उसपर लगे तो मालूम पड़े कि तुम्हारी बुद्धि संसारके बारेमें विचार न करके ईश्वरकी साधनाके बारेमें विचार करती है। इस सम्बन्धमें श्रीशंकराचार्य भगवान्ने कहा है कि, शास्त्रज्ञोऽिप स्वातन्त्र्येण ब्रह्मं ज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्—शास्त्रज्ञ होनेपर भी स्वतन्त्रतासे ब्रह्म ज्ञानका अन्वेषण न करे, गुरुकी शरणमें रहकर ही करे।

केवल अद्वय ब्रह्ममें जिसकी निष्ठा हो उसको ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं। जैसे जपनिष्ठ तपोनिष्ठ होता है—ऐसे।

फिर विद्वान् क्या करे, वह बताते हैं। कल या परसों आपको सुनाया था कि ज्ञानी पुरुषके लिए विधान नहीं होता है। जो कोई आवे, अधिकारी आवे, अनिधकारी आवे, ज्ञानी पुरुषको कोई हुकुम नहीं दे सकता, न वेद, न शास्त्र, न पुराण, न ईश्वर, क्यों? बोले—हुकुम दिया जाता है कर्ताको, जहाँ कर्तृत्वाभिमान है। जो सिपाही बनकर खड़ा है, उसको इन्सपेक्टर हुकुम देगा कि चौराहेपर खड़े हो जाओ और जिसने वर्दी उतार दी, इस्तीफा दे दिया, न चोटी, न जनेऊ, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय, न संन्यासी, न वानप्रस्थ। यह ब्रह्मज्ञानी जो है, वह शुद्धरूपसे ब्रह्म होता है, संन्यासी, उदासी नहीं होता। वह वैष्णव,

गाणपत्य, सौर, शाक्त नहीं होता, वह ब्राह्मण नहीं होता, वह तो शुद्ध ब्रह्म होता है—अकर्त्ता, अभोक्ता, उसको कोई हुकुम देनेवाला नहीं।

तो यह विद्वान्के स्वभावका वर्णन करते हैं इसिलए यहाँ प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् जो है न, 'प्रोवाच', यह नहीं कहा कि 'प्रब्रूयात्' ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्याका उसको उपदेश करे—ऐसा नहीं है। प्रोवाच तां तत्त्व तो ब्रह्मविद्याम्—उसके स्वभावका वर्णन किया।

अब शिष्यमें क्या-क्या गुण होना चाहिए वह बताते हैं-

उपसन्नाय ध्यानेन।

महाराज, एक ऐसा जिज्ञासु था कि जब उसके मनमें कोई प्रश्न उठता, तो अपने गुरुजीका ध्यान करता। ध्यान करता तो गुरुजी झट उसके हृदयमें प्रकट हो जाते और उसके प्रश्नका उत्तर दे देते। उपसन्नाय। उपसन्नायका अर्थ यह होता है कि वह शिष्य ध्यान करे कि गुरुजी महाराज शरीरसे तो इस समय यहाँ बैठे हैं, अपने मनसे कहाँ बैठे हैं, क्या सोच रहे हैं! बोले—ब्रह्मविद्याके बारेमें सोच रहे हैं। कि भाई अच्छा, गुरुजीकी बुद्धि तो ब्रह्माकार हो रही है पर वह कैसी होती है? जरा ध्यान करो—ब्रह्माकार बुद्धि तो ब्रह्म ही होती है। उपसन्नका अर्थ हुआ कि तुम अपनी कल्पनासे गुरुजीकी स्थितिके बारेमें जितना समझ सकते हो, वहाँ तक पहुँच जाओ।

एक घटना घटित हुई। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजकी मृत्यु जब हुई, तो एक महात्मा थे आश्रममें, वे बहुत रोते थे कि हमारे गुरुजी नहीं रहे। तो उनको स्वप्न हुआ रातमें। उड़िया बाबाजी महाराज स्वप्नमें प्रकट हुए और बोले कि पलटू! मैंने पन्द्रह वर्ष तुमको यह सुनाया कि मैं शरीर नहीं हूँ और तुम शरीर नहीं हो, यही तो तुमको बताया और तुमने मुझे पन्द्रह वर्षके उपदेशके बाद भी शरीर ही माना तो मेरे उपदेशको क्या तुमने धारण किया?

स्वामी विवेकानन्दजीने कहा कि तुम मुझको जो देखते हो, वह मैं नहीं हूँ। मैंने तुमको जो उपदेश दिया है कि मैं ऐसा हूँ, वैसा मैं हूँ। तुम जो अपनी आँखसे मुझे देख रहे हो, हाथवाला, पाँववाला, सिरवाला, वह मैं नहीं हूँ। मैंने तुमको अबतक बताया है कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं शरीरधारी नहीं हूँ तो, विधिवत् उपसन्नका अर्थ क्या हुआ? सिमत्पाणि होकर जाये, अभिमान

छोड़कर जाये, सचमुच सीखनेक लिए जाय और गुरुकी स्थितिको ठीक-ठीक समझे।

तो देखो एक आपको यह तो सुना चुका कि विवेक करे और वैराग्य होवे और मोक्षकी प्राप्ति कर्मसे नहीं विज्ञानसे होती है इस बातको समझे और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाये और जानेके बाद उसके अन्तः करणमें गुण क्या होवे? तो आपलोग तो ब्रह्मका विचार करते हैं और हमें तो आज साधनका विचार सुनाना पड़ेगा। तो प्रशान्तिचत्ताय शमान्विताय—यह शमदमादि सम्पत्तिका ग्रहण हुआ।

एक सज्जन आये हमारे पास वेदान्त पढ़नेके लिए, एम. ए. थे और प्राचार्य थे—प्रिंसिपल थे। तो मैंने उनसे कहा—भाई, वेदान्तका कुछ संस्कार है? तो बोले—पहलेसे तो नहीं है महाराज, आप बताओ तो हो जायेगा। तो मैंने कहा—अच्छा तुम 'पंचदशी' ले लो हिन्दीकी और उसको एकबार पढ़ जाओ, तो थोड़े संस्कार पड़ेंगे, फिर हम बतावेंगे।

अब वे तो महाराज पंचदशी लेकर बैठे और दो दिनमें पूरी पंचदशी पढ़ गये और आकर बताया कि हमने पंचदशी पढ़ ली, अब आप बताओ कि ब्रह्म क्या है!

तो नारायण, दो दिनमें जो पंचदशी पढ़ जाय, उसने तो कहानी पढ़ी होगी, पंचदशी थोड़े ही पढ़ी होगी। आपको सुनाते हैं, आपने पढ़ा होगा। श्रम, दम, उपरित, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, प्रशान्तिचत्ताय शमन्विताय प्रशान्ति चित्तसे यहाँ 'शम' लेना और 'शम'से 'दम' लेना।

तो यह 'शम, दम, उपरित, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान' क्या होता है ? तो बोले कि मनको शान्त रखनेका नाम शम है, इन्द्रियोंको काबू रखनेका नाम दम है, कर्मों उपराम होनेका नाम उपरित है, दुःखोंको सहन करनेका नाम तितिक्षा है, गुरुजनोंपर, वेदान्तके वचनोंपर श्रद्धा रखना श्रद्धा है, और अपने मनको समाहित रखनेका नाम समाधान है।

अब आपसे हम पूछते हैं कि शम और समाधानमें क्या फर्क है ? छह क्यों रखे, पाँच ही क्यों नहीं रखे ? जो शम वही समाधान, जो दम सो उपरित, इन्द्रियोंको काबूमें कर लेना और कर्मसे उपराम होना इन दोनोंमें क्या फर्क है ? ये छह क्यों है ? चार ही क्यों नहीं हैं।? ये पाँच ही क्यों नहीं हैं ? इनकी संख्या छह ही क्यों रखी गयी ? बोले—हमने पढ़ा तो बहुत है—साधन चतुष्ट्य सम्पन्न—विवेक होवे; वैराग्य होवे, शमदमादि सम्पत्त होवे और मुमुक्षा होवे—ये चार साधन होवें तो, साधन चतुष्ट्य सम्पन्न अधिकारी मानते हैं और इससे अन्त:करणकी शुद्धि होती है—ऐसा मानते हैं।

अच्छा, अब देखो, आपको सुनाते हैं—श्रम:—शम माने शान्ति; शान्ति क्या? कि जब मनमें काम, क्रोध होता है, तब अशान्ति होती है। स्त्रीकी प्राप्तिके लिए, पुरुषकी प्राप्तिके लिए अशान्ति होती है।

एक आदमी कहता है महाराज, हम चाहते कुछ नहीं हैं और हमारे मनमें बड़ी अशान्ति है।

अरे भाई खिंचाखिंची नहीं होगी तो अशान्ति कहाँसे होगी? छीना-झपटी अगर न हो, एक आदमी बीचमें खड़ा हो और दो जने पकड़कर खीचें जैसे चले जाओ महाराज किसी तीर्थमें—प्रयागमें चले जाओ, चार पण्डे मिल गये, दोने पकड़ा कि इधर चलो हमारे गद्देपर और छीना झपटीमें महाराज; तो जबतक तुम्हारे मनमें द्विविधा नहीं होगी—दुविधा नहीं होगी— द्वैत नहीं होगा, डाउट (Doubt) नहीं होगा जबतक तुम्हारे मनमें, तबतक तुम्हारे मनमें अशान्ति कैसे होगी? चाहे मानो चाहे मत मानो, यदि तुम्हारे मनमें अशान्ति है, तो तुम्हारे मनका खिंचाव थोड़ा संसारकी ओर है, थोड़ा ईश्वरकी ओर है।

'दुविधामें दोऊ गये, माया मिली न राम'

न इधरके रहे, न उधरके रहे। माने इधर भी कुछ है, मूल्यांकन बना हुआ है, इसीलिए अशान्ति होती है।

तो विवेक जब तुमने किया और विवेक करके बुरेसे जब वैराग्य कर लिया तो तुम्हारे हृदयमें दुविधा नहीं होनी चाहिए, मनमें बिलकुल शान्ति होनी चाहिए। एक रास्तेपर खड़े हो गये।

एक लड़कीके मनमें तबतक दुविधा हो सकती है जबतक उसको दस लड़के दिखाये जायें कि इसमें-से किसके साथ तुम ब्याह करना चाहती हो! तो उसके मनमें कभी आवेगा इससे करें, कभी आवेगा इससे करें, यह ठीक रहेगा कि यह ठीक रहेगा; लेकिन जब नक्की हो गया, सगाई हो गयी, वाग्दान हो गया, जब विवाह हो गया तब दुविधा काहे की? अब तो खड्गझंझारी, एक तरफ खड़े हैं। अब दुविधा क्यों?

तो मनमें शांति आती है विवेक करके सत्पक्षको स्वीकार कर लेनेसे। विवेक करके उसमें जो बिलकुल ठीक वस्तु है, नित्य है, धर्म है, उसको स्वीकार कर लो, मनमें शान्ति आजायेगी।

अच्छा देखो एक बात और सुनाते हैं। यहाँ जो शम है वेदान्तके प्रसंगर्में, वह जरा ज्यादा निखरा हुआ है, निखार है उसमें। एक गृहस्थका शम होता है कि मनमें काम-क्रोध न होवे। तो देखो गृहस्थके लिए थोड़ा काम विहित है। अपनी पत्नीके साथ यदि गृहस्थ ऋतुगमन करता है, तो वह कोई अपराध तो करता नहीं, विहित काम है। अच्छा, और समझो कि अपने बच्चेने कोई गलत काम किया, तो उसके ऊपर क्रोध आगया, तो अपने बच्चेको सन्मार्गमें चलानेके लिए जो क्रोध आता है, वह विहित है।

अच्छा! अपनी पत्नी धर्मके विरुद्ध आचरण न करे इसके लिए कभी उसकी गलती देखकर क्रोध आ गया, मनमें, तो गृहस्थको पाप नहीं लगता है, क्योंकि गृहस्थ जीवन सम्बन्धके साथ चलता है।

तो सम्बन्धके साथ जब चलता है तब उसमें थोड़ा काम भी होगा, थोड़ा क्रोध भी होगा, थोड़ा लोभ भी होगा और शास्त्रमें उसका विधान है। यदि गृहस्थके मनमें अपनी रहनी-सहनीको ठीक करनेके लिए थोड़ा लोभ है, तो लोभ होना पाप नहीं है, पाप तो तब होगा जब वह चोरी करेगा, बेईमानी करेगा। मनमें लोभका रहना पाप नहीं है।

गृहस्थके मनमें थोड़ा काम आया, पत्नी-पतिके प्रति और थोड़ा क्रोध आया, स्त्री बच्चेके प्रति, तो कोई पाप तो है नहीं। तब भी यही माना जायेगा कि वह गृहस्थ बड़ा शान्त है, किसीसे दुश्मनी नहीं जोड़ता है, पराये धनका लोभ नहीं है, वह तो प्रशंसा करने योग्य है।

अब देखो, वेदान्तका जिज्ञासु हो करके गया, तो उसका मन ब्रह्म विचारमें लगाना चाहिए, तब वहाँ शम क्या होगा? अपने पति, अपनी पत्नीके प्रति भी जब कामवासना न हो, तब शम कहा जायेगा और अपने घरके लोग भी बिगाड़ करें और उनके प्रति क्रांध न आवे तब शम कहा जायेगा—क्योंकि वहाँ किसके ऊपर काम है, किसके ऊपर क्रोध है; इसपर विचार नहीं है वहाँ तो यह है कि अपने मनमें यदि काम-क्रोध होगा, चाहे वह किसीके प्रति भी होवे, चाहे अपने ही प्रति गुस्सा आ जाये कि हाय-हाय, हमने आज यह गलती क्यों की! तो देखों; गृहस्थ धर्ममें काम करनेवालेके लिए अगर अपने से गलती हो जाये, तो अपने ऊपर गुस्सा करना, खराब नहीं है। इसमें पाप तो लगेगा ही नहीं बिलकुल। लेकिन किसीको वेदान्त विचार करना हो और वह अपने ऊपर गुस्सा करके बैठे कि हमने यह गलती क्यों की, तो वेदान्त विचार बिलकुल नहीं होगा। अपने ऊपर गुस्सा होवे, तब भी वेदान्त विचार नहीं होगा। पत्नीपर गुस्सा होवे, पुत्रपर गुस्सा होवे, तब भी वेदान्त विचार नहीं होगा। पत्नीपर गुस्सा होवे, पुत्रपर गुस्सा होवे, तब तो कहाँसे होगा!

अपने ही लिए यदि कोई काम होवे उसके मनमें, कि आज बाल नहीं बनवाया और चेहरा रूखा-रूखा मालूम पड़ रहा है, चिकनाई चेहरेमें नहीं है, हाय-हाय आज तो हमारा शृंगार ठीक नहीं हुआ। अब वेदान्त विचार करनेके लिए जाओ और अपने शरीरकी रुखाई, बालकी खूँटीका ख्याल करो, कि हमारा बाल तो आज चिकना नहीं है। तो याद करो गालकी, ब्रह्मकी याद नहीं आवेगी, ब्रह्मका विचार नहीं होगा।

तो वेदान्तीके लिए जो शम है वह गृहस्थके शमसे गहरा होता है, यह हमारा कहनेका अभिप्राय है। गृहस्थके लिए तो किसी-किसी दशामें काम, क्रोध, लोभ, मोह इनका विधान है, परन्तु जिज्ञासुके लिए चित्तमें तो यह बिलकुल नहीं चाहिए। तो किसी-किसी दशामें काम, क्रोध, लोभ, मोह इनका विधान है, परन्तु जिज्ञासुके चित्तमें तो यह बिलकुल नहीं चाहिए।

अब देखो 'दम' की बात बताते हैं। दमका अर्थ होता है दमन। मनको दान्त करनेका जो उपाय है उसको दमन बोलते हैं। 'द' और 'मन'—मनको दान्त करनेका, सधानेका, मन रूपी घोड़ेको सधानेका जो उपाय है उसको 'दमन' कहते हैं।

भाई! आप यह सोच सकते हो कि ब्रह्म अविनाशी है, परिपूर्ण है, अद्वितीय है, प्रत्यक् चैतन्याभित्र है; लेकिन मनीरामके बारेमें भी तो कभी-कभी थोड़ा सोच लिया करो।

दमनका क्या अर्थ होता है? दमका अर्थ होता है इन्द्रियोंको कात्रूमें रखना, निग्रह करना। तो उसमें भी गृहस्थ धर्ममें, ब्रह्मचारी धर्ममें जो इन्द्रिय निग्रह है: ब्रह्मचारी यदि मोन होकर बैठे, तो गुरुजीन कहा—ब्रह्मचारीजी जरा सुनियं तो! और वह न बोले तो ऐसे ब्रह्मचारीका मुँह नहीं देखना चाहिए। कि गुरुजी तो बोलें और ब्रह्मचारी मौन रहे, यह तो ऐसा ही है कि गुरुजी बेचारे खड़े हैं और ब्रह्मचारी सो रहा है। उसकी जुबान सो रही है। एककी जुबान बोल रही है एककी सो रही है। इसीलिए बताया है—पत्नी दण्डः पृथक् शय्या—पत्नीको दण्ड देना हो तो पृथक् शय्या करे-दूसरी जगह सोवे। और, गुरौ मौनं समाचरेत्—गुरुको दण्ड देना हो तो उससे मौन ग्रहण कर ले। गुरुको कुछ कहे नहीं। मित्र दण्डः अभोजनम्—मित्रको दण्ड देना हो तो उसके घर खाना-पीना बंद कर दे। तो मित्रको दण्ड देनेके लिए खाना-पीना बंद करना, पत्नीको दण्डित करनेके लिए अलग सोना, गुरुको दण्ड देनेके लिए उससे मौन हो जाना।

तो ब्रह्मचारीका दमन यह नहीं है कि वह गुरुसे मौन हो जाय।

अच्छा! गृहस्थका दम क्या है? गृहस्थका दम यह है कि वह शास्त्रोक्त रीतिसे अपने घर-गृहस्थीका सद्-व्यवहार करे। वानप्रस्थका दम क्या है? तो अपने कायको, मनको, वाणीको दण्ड दे रहा है—दमन कर रहा है। जिज्ञासुका जो दमन है वह क्या है कि जहाँ भोग विहित भी है वहाँ भी दमन करना। बोले—भाई शास्त्रमें घी खानेमें कहीं कोई पाप लिखा है? घी खानेमें तो पाप नहीं लिखा है, हल्वा खानेमें पाप है? कि नहीं पाप तो नहीं है। बोले—भाई फिर भी जिज्ञासु घी ज्यादा खाना पसन्द नहीं करेगा, खीर ज्यादा खाना पसन्द नहीं करेगा। पाप तो नहीं है इसमें, लेकिन जीभको तो वशमें करना है, मन जो स्वादकी ओर जाता है उसमें तो उसको नहीं जाने देना। केवल पाप न होना ही प्रवृत्तिके लिए काफी नहीं है, यह देखना है कि वह हमारे लक्ष्यकी प्राप्तिमें सहायक है कि नहीं है।

तो जो लक्ष्यकी प्राप्तिमें सहायक हो, ऐसा दमन।

अब देखो भोजन तो विहित है; पर जितनेसे जीवनका निर्वाह हो उतना ही भोजन करना। धर्मानुकूल होनेपर भी जो स्वाद वासनाको बढ़ानेवाला,

जिह्नाकी आदतको बिगाड़नेवाला, मनको संसारकी ओर ले जानेवाला जो भोजन है, वह नहीं करना चाहिए। तो 'दम' का अर्थ यह हुआ, पित-पत्नीके काम सम्बन्धमें पाप नहीं है, वह गृहस्थके लिए विहित है, लेकिन जब जिज्ञासु होकर चला, तब उसमें भी मजा नहीं है, उसमें भी स्वाद नहीं है उसकी भी असारताको वह समझ चुका है, वहाँसे भी उसकी निवृत्ति हो जाती है, इसका नाम दमन होता है।

उपरित—देखो उपरितका अर्थ क्या होता है! उपरितका अर्थ है बहुत काम फैलानेमें रुचि न होना। जैसे सेठ लोगोंके पास चाहे पैसा न भी हो, तो दूसरोंसे शेयर खरीदवा-खरीदवाकर अपना कारखाना बढ़ाते जाते हैं, बोले— दीवाला निकलेगा तो सबका निकलेगा हमारा क्या निकलेगा?

हमने सुना है कि व्यापारमें आजकल लोग अपना पैसा दस प्रतिशत भी नहीं लगाते हैं, दूसरोंके पैसेपर व्यापार चलता है।

तो कामधन्था बढ़ाना दूसरी बात है। बोले कि नहीं बाबा हम तो काम- धन्था बढ़ाते नहीं, हम तो जितना विहित है उतना ही करते हैं। बोले—सन्ध्या-वन्दन करते हैं? कि हाँ करते हैं। अग्निहोत्र करते हैं? कि हाँ करते हैं। थोड़ा यज्ञ करते हैं, थोड़ा दान करते हैं। तो बोले—उपरितका अर्थ यह है, निषिद्ध काम तो तुमने धर्मानुष्ठानके समय छोड़ दिया था, अब जिज्ञासामें उसकी भी जरूरत क्या है? जो बुरे कर्म हैं उनको छोड़कर तो पहले भलेमानुष बने थे। अब भलेमानुष बननेपर भी, धर्मात्मा होनेपर भी, धर्मानुकूल जो कर्म है, कि आओ एक बड़ा भारी उत्सव कर दें। उड़िया बाबाजी बहुत हैंसी उड़ाते थे, बोले—भाई, सिद्ध हो तो चाहे जो करे, कोई बात नहीं, उसको नहीं बोलते हैं, लेकिन कोई जिज्ञासु होवे, मुमुक्षु होवे; अब वह अगर हजारों आदमीको भोजन करानेका भार अपने ऊपर ले ले, कर्ममें विस्तार कर दिया; धर्मके विरुद्ध न होनेपर भी, अधर्म न होनेपर भी, उसको ब्रह्मिन्तनमें जितना उपयोगी है उतना ही कर्म करना चाहिए, यह उपरितका अर्थ है।

उसके लिए पाप यही है कि वह ब्रह्मचिन्तनका जो विरोधी है, उस कर्ममें लग रहा है। इसको 'उपरित' बोलते हैं। तितिक्षा—तितिक्षा करनेका अर्थ है कि कोई दु:ख आजाय तो सह लो। दु:ख उत्पन्न नहीं करना। यह नहीं कि आग जलाकर तापनेके लिए बैठ गये— पंचाग्नि। अब सारी शिक्त तो इसमें लग रही है, ब्रह्मविचार क्या होगा? वहाँ तो झरझर पसीना गिर रहा है, सिरपर आग रखी हुई है, आगे आग, बाँयें आग, दाहिने आग, पीछे आग, सूर्यकी आग, बालूकी आग, आगके बीचमें बैठे हैं; बोले—हम तितिक्षा कर रहे हैं। तितिक्षा नहीं कर रहे हो, ब्रह्मचिन्तनके लिए जैसी शान्ति चाहिए, उसको मिटयामेट कर रहे हो।

तो शास्त्रोक्त तितिक्षा भी नहीं चाहिए। अपने आप जो आवे सो सह लेना, उसके लिए नया नहीं पैदा करना। यह देखो, ये शिष्यके गुण हैं। ये जिज्ञासुके लक्षण हैं।

श्रद्धा—एकने कहा कि देखो भाई! हमको कोई ऐसी बात मत बताना, जिसपर श्रद्धा करनी पड़ती हो।

श्रद्धा माने क्या होता है जी ? उसीसे पूछो कि श्रद्धा करना क्या होता है ! तुमने श्रद्धा शब्दका अर्थ कहाँ पढ़ा है ! जरूर उसके दिमागसे नहीं निकला होगा, श्रद्धा शब्दका अर्थ। कहीं सुना होगा, कहीं पढ़ा होगा, तब श्रद्धा शब्दका अर्थ उसके दिमागमें बैठा होगा।

हम कहते हैं आप एक अक्षर ऐसा बताओ क ख ग घ......जो आपको बिना सिखाये आ गया हो। किसीपर आपने श्रद्धा करके तब तो क ख ग घ सीखा है।

चैतन्य महाप्रभुसे किसीने कहा—यह 'क' है और यह 'ख' है लिखो। बोले—'हम नहीं लिखेंगे।' बड़े चंचल थे। क्यों? 'कि पहले हमको समझाओ कि 'क' पहले क्यों, 'ख' बादमें क्यों? और 'क' की शक्ल ऐसी क्यों और 'ख' की शक्ल ऐसी क्यों?

महाराज, यह जो लोग अपनेको विचारवान् होनेका दम्भ करते हैं श्रद्धा तो उनके रोम-रोममें धँसी हुई है।

अच्छा 'क' हम जो मुँहसे बोलते हैं न, उसकी क्या शकल है बताओ! उर्दूमें लिखते हैं 'काफ', अंग्रेजीमें 'के' नाम क है? तिमल, तेलगु, रिशयन, चीनी, हिन्दी, बंगला, उड़िया किस लिपिमें लिखी हुई शक्ल 'क'

की शक्ल है ? नारायण ! श्रद्धा करके मानते हैं कि यह शक्ल 'क' की है ।

अच्छा! इसका नाम नाक है और इसका नाम कान, इसका नाम आँख, इसका नाम जीभ, इसका नाम हाथ। आपने किस विचारसे ये नाम कुबूल किये हैं। अरे माँ-बापने आपको बता दिया; घरमें सब लोग इसी नाममें व्यवहार करते हैं। उनकी बात मानकरके आपने परम्परा स्वीकार कर ली। तो जिस वस्तुको समझानेके लिए जिस वस्तुका संकेत किया जाता है, अगर उसी संकेतसे उसको नहीं मानोगे, तो बात कैसे समझमें आवेगी?

एक भाषा होती है, एक महात्मा होता है, एक शास्त्र होता है, एक उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ होता है।

अच्छा! प्रत्येक चीजको यदि कोई आँखसे देखकर मानना स्वीकार करें कि हम देखेंगे तब मानेंगे, तो आप अपनी माँको मान सकोगे। किसके पेटमें तुम रहे हो, है कोई प्रमाण?

मैंने सुना कि कई अस्पतालोंमें नर्सोंको पैसे देकर लोगोंने बच्चे बदलवा दिये। अब बच्चोंको पता ही नहीं है कि हम किस माँके बेटे हैं ?

अच्छा! मान लो मॉक बारेमें आप बिलकुल पक्के हैं, तो बापके बारेमें कैसे पक्के हैं? मॉकी बातपर श्रद्धा न करो, अगर मॉपर आपकी श्रद्धा न हो तो किसी प्रमाणसे सिद्ध हो सकता है कि हमारा बाप कौन है? महाराज यह ईश्वर ही बेचारा ऐसा गरीब है कि लोग उसको सिद्ध करनेके लिए सबूतकी जरूरत समझते हैं। अपने बापकी सिद्धिके लिए किसीको प्रमाणकी, सबूतकी जरूरत नहीं है और बेचारे गरीब ईश्वरके लिए, बोले—प्रमाण चाहिए।

श्रद्धां के बिना नार यण, आप भोजन नहीं कर सकते, रसोइए पर श्रद्धा न हो, भोजन नहीं कर सकते। डाक्टरपर श्रद्धा न हो, दवा नहीं ले सकते। नाईपर श्रद्धा नहीं हो, बाल नहीं बनवा सकते। कहनेका अभिप्राय यह कि श्रद्धा चाहिए।

श्रद्धा भी किसपर! देखो, अभिमान निवर्तक वृत्तिका नाम श्रद्धा है। अपनी बुद्धिका, विद्याका, बड़प्पनका जो अभिमान है, उस अभिमानकी निवृत्ति होती है श्रद्धासे और वैध-कर्म-प्रवृत्तिकी निवृत्ति होती है उपरितसे और वैध-भोगकी निवृत्ति होती है दमसे और वैध-वृत्तियोंकी निवृत्ति होती है

शान्तिसे और, समाधान माने विक्षेपकी निवृत्ति।

बोले—भाई ये छहों चीज आजायें। एक तो लोक परीक्षा, 'कर्मचित् लोकपरीक्षा' माने विवेक, दूसरा वैराग्य; तीसरा-कर्मसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं, ज्ञानसे-यह निश्चय; चौथा-गुरुकी शरणमें जाना और ध्यानसे गुरुकी स्थितिका पता लगाना और शमदमादि साधनसे सम्पन्न होना।

अब बोले प्रशान्तिचताय शमान्विताय—चित्तमें प्रशान्ति चाहिए, शम चाहिए और शमान्विताय-दम चाहिए।

अब आपको सद्गुणोंके बारेमें एक बात सुनाते हैं—सद्गुणका स्वभाव यह है कि वह संताके साथ मिला रहता है। यह बात आप साधारण विचारसे समझ जायें। जैसे गन्थ गुण है, तो वह द्रव्याश्रित होता है। माने धरतीकी कोई चीज होनी चाहिए जिसमें वह रहे। गन्थ बिना वस्तुके नहीं रह सकता। गन्थ गुण है और पृथिवी द्रव्य उसका आश्रय है। रस गुण है और जल द्रव्य उसका आश्रय है। रूप गुण है और तेज द्रव्य उसका आश्रय है। स्पर्श गुण है वायु द्रव्य उसका आश्रय है। तो यह सद्गुण क्या है? सद्गुण है सत्ताका गुण। सत्ता माने अस्तित्त्व- आत्मा। सत्रूप जो परमेश्वर है उसका गुण।

तो आपको बतावें सद्गुण एक होता है और दुर्गुण बहुतसे होते हैं। सद्गुण एक ही है, दूसरा है नहीं, इसीसे यह आसान है। सद्गुण ब्रह्मास्त्र है। जैसे एक ब्रह्मास्त्रसे लाख-लाख दैत्यको मार सकते हैं, वैसे एक सद्गुणसे लाख दुर्गुणको मार सकते हैं।

अच्छा! आपको उदाहरण देकर समझाते हैं। समझो काम शत्रु है और ब्रह्मचर्य आपका मित्र है—सद्गुण है। तो काममें और ब्रह्मचर्यमें क्या फर्क हैं? और ऐसा समझो कि लोभ आपका शत्रु है और सन्तोष मित्र हैं, तो शत्रु मित्रमें क्या फर्क हैं? अच्छा! क्रोध आपका शत्रु है और अहिंसा मित्र हैं, तो दोनोंमें क्या फर्क हैं? इस फर्कको आप देखो। असलमें जब मनमें स्त्री होवे या पुरुष होवे तब काम और मनमें दुश्मन होवे तब क्रोध, मनमें धन होवे तब लोभ और मनमें शान्ति होवे तब?

देखो! स्त्री-पुरुषका मनमें न होना यह निष्कामता है माने तब क्या है?

कि ब्रह्मचर्य है। और मनमें धनका न होना यह जो निर्लोभता है, सन्तोष है, यह क्या है? कि शान्ति है और मनमें शत्रुका न होना माने क्रोधका न होना तब मनमें क्या होना? कि शान्ति होना।

तो जब मनमें शान्ति रहती है, तब उस समय सद्गुण रहता है और जब मनमें दुनियाकी कोई चीज रहती है, तब वह दुर्गुण बन जाता है। मनमें कुटुम्ब है, तो मोह है। मनमें कुटुम्बका मोह होना एक दुर्गुण है। मनमें धन होना-लोभ एक दुर्गुण है। मनमें वासना होना-स्त्री पुरुष होना यह काम एक दुर्गुण है। मनमें शत्रु होना क्रोध एक दुर्गुण है और देखो मनमें शान्ति रहना ही ब्रह्मचर्य है। मनमें शान्तिका रहना ही अक्रोध है। मनमें शान्तिका रहना ही सन्तोष है। मनमें शान्तिका रहना ही निर्मोह है। यह मनकी जो शान्ति है, यह विश्राम जो है यही सत्ता है।

कल आपको सुनाया था शायद कि जब हम शान्तिमें—विश्राममें रहते हैं, तब हमारे हृदयमें जो सत् है, वह स्फुरित होता है। तो सद्गुण एक है। क्या? मनकी शान्ति। और दुर्गुण हजार हैं। क्यों? कि उसमें विषय हजार हैं। वृत्तिके भेदसे दुर्गुण अलग-अलग नहीं होते, मन तो हमारा एक है, लेकिन उसमें शत्रु है तो क्रोध, उसमें स्त्री-पुरुष है तो काम, उसमें धन है तो लोभ। मन एक है और मन जब अपने आत्मामें बैठा है, शान्त है, तब सद्गुण है।

हमको कभी-कभी यह ख्याल होता है कि आप लोग ब्रह्मका विचार करते हैं न, तो आपको तो सत्यं ज्ञानमननं ब्रह्म सुनावें, यही बहुत बढ़िया है। अब यह मनकी बात आपको क्या सुनावें, यह मन तो बाधित है-मिथ्या है यह तो आपको कोई तकलीफ देता नहीं। यह साधनका विचार ही जबतक पक्का नहीं होता है तब साध्यका विचार कैसे होगा? और तब फलका विचार कैसे होगा? इसलिए वेदान्त ज्ञानका अधिकारी शिष्य जिज्ञासु कौन है? जिसका चित्त प्रशान्त होवे और जिसमें 'शम' होवे। शमो, मिन्नष्टता बुद्धः। बुद्धिका परमात्मामें निष्ठावती होना, इसका नाम शम है।

अब गुरुजीने देखा भाई हमारा शिष्य तो ध्यानसे हमारी स्थितिको पहचान रहा है, इसके चित्तमें शान्ति है, इसके जीवनमें दान्ति है। यह बात श्रुतिमें कही गयी हैं—

शान्तो दान्तः उपरतः तितिक्षुः समाहितः श्रद्धा वित्तो भृत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्। इसीको पट् सम्पत्ति योलते हैं। तो परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान्—यह विवेक है और निर्वेद मायात्—यह वैराग्य है और तद् विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत्—यह जिज्ञासा और गुरुपसदन है और, प्रशान्तिचत्ताय-शमान्विताय—यह पट् सम्पत्ति है।

अब गुरुजी महाराज उपदेश करेंगे क्या? वेदान्तमें कुछ खास बातें होती हैं। तर्कके ऊपर मनुष्यके जीवनको छोड़ देना, यह मनुष्य जीवनके साथ खिलवाड़ करना है। आप लोग बहुत भलेमानुष हो, आप स्वयं इस बातको समझ सकते हो, केवल तर्कके आधारपर अपने जीवनको छोड़ देना—यह जीवनके साथ खिलवाड़ है। तर्कके पास कोई रास्ता है? तर्कके पास कोई निष्ठा है?

तर्काऽप्रतिष्ठानात्—तर्ककी तो कहीं प्रतिष्ठा ही नहीं है। व्यासजी महाराजने कहा कि तर्क कभी एक जगह टिकाऊ हो ही नहीं सकता।

'वाक्यपदीय' जो व्याकरणका दर्शनग्रन्थ है, उसमें आता है—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः

कुशलैरनुमातृभिः।

अभियुक्त

तरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

बड़े यत्नसे बड़े-बड़े विद्वान् तर्कके द्वारा किसी वस्तुको सिद्ध करते हैं। एक बार सिद्ध हो जाती है चीज, फिर दूसरे बार उनसे भी बड़े विद्वान् और उनसे भी बड़े विद्वान् आते हैं, उनसे भी बड़े अनुभवी आते हैं और तर्कके द्वारा उनकी भी बातको काट देते हैं।

नैषा तर्केण मतिरापर्नेया।

कठोपनिषद्में यह बात कही गयी, तर्कसे इस बुद्धिको बिगाड़ना नहीं. श्रद्धापूर्वक वेदान्तश्रवण करना, क्योंकि तर्कमें निष्ठा नहीं है।

और, ये जो महात्मा लोग होते हैं न-

आविर्भूतप्रकाशानाम् अनुपद्गुतचेतसाम्। अतीतानागतं ज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥ वाक्यपदीयका ही है यह श्लोक। महाराज, जिनके हृदयमें प्रकाशका आविर्भाव हो गया है, जिनके हृदयमें कामक्रोधादि दुष्टोंका उपद्रव नहीं है, उनके लिए भूत-भविष्य, परोक्ष-अपरोक्ष सब करामलकवत् होता है, उनके लिए सब सृष्टि ऐसे ही दिखती है जैसे हाथमें आँवला, प्रत्यक्ष; ऐसे सारी सृष्टि दिखती है। इसलिए श्रद्धा पूर्वक वेदान्तका श्रवण करना चाहिए।

तो, यह आपको वेदान्तका मत बताया। बौद्धमत युक्ति प्रधान है। जैनमत भी तर्क प्रधान और महापुरुषोंके वचनपर श्रद्धा-आगम प्रधान बोलते हैं। परन्तु वेदान्तमत जीवनके साथ खिलवाड़ करनेवाला मत नहीं है, इसमें मनन है। परन्तु मनन कैसा? मनन ऐसा कि जो निश्चित अर्थकी उपलब्धिके लिए, निश्चित अर्थकी सिद्धिके लिए है।

देखो, बौद्धमतमें भी जगत् असार है और वेदान्त मतमें भी जगत् असार है।

दोनोंमें फर्क क्या? कि बौद्धमतमें असार जगत्को छोड़ देनेके बाद मिलता कुछ नहीं है और वेदान्तमतमें असार जगत्को छोड़ देनेके बाद आत्माका ब्रह्मरूपमें साक्षात्कार होता है।

इस जगत्का सार भोग नहीं है, इस जगत्का सार ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है, ब्रह्मनिष्ठ है।

तो अब आपको फिर कल सुनावेंगे!



प्रवचन-12, मन्त्र-13

विद्वान् तस्मै स उपसन्नाय—वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विद्वान्—स विद्वान्। 'स' पद्का क्या अर्थ हुआ ? श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विद्वान्।

उपसत्र—उपसत्र अर्थात् शरणागत। यह उपसत्रका अर्थ ऐसा है जैसे उपनिषद् ब्रह्मका प्रतिपादन करती है तो ब्रह्मके बिलकुल निकट होती है, उसी प्रकार शिष्य जो गुरुकी शरणमें जाता है, वह गुरुके विलकुल निकट हो, अन्तरंग हो। सम्यक् जो है वह 'देहरीदीपकन्याय' से दोनों ओर लगेगा। सम्यक् उपसत्राय, सम्यक् प्रशान्तिचत्ताय।शास्त्रोक्त रीतिसे शरणागत हो और भली-भौति प्रशान्तिचत्त हो।

एक बात याद आगयी प्रशान्तचित्तपर, हमलोग एक बार गोरखपुर गये, संन्यासी होनेके बाद, क्योंकि पहलेकी बात कहता तो जब 'गोरखपुर रहते थे'—ऐसा बोलते। बादमें जैसे गोरखपुर गये थे, श्रीमद्भागवतका दूसरा संस्करण प्रकाशित होना था, यह हिन्दी टीका सहित जो छपा है, तो पहले जब यह छपा था हमारे रहते हुए, तो बिना श्लोकके छपा था। भागवतांकके रूपमें केवल अर्थ-ही-अर्थ छपा था और दुबारा जब श्लोकके साथ छापना हुआ, तो प्रत्येक श्लोकके बाद उसको कैसे जोड़ा जाय इसके लिए हमको बुलाया था। तो हमारे साथ एक अवधूतजी भी गये थे—हंडियावाले; वे क्या करते कि भाईजीकी लड़की सावित्रीके छोटे-छोटे लड़के थे, कोई चार वर्षका, कोई छह वर्षका, उन सबको बुलाते और कहते—देखो पाँव ऐसे करो, पीठकी रीढ़ सीधी करो, आँख बन्द करो, बैठ जाओ। पाँच मिनट बैठाये रखते; बोले—इसका नाम क्या हुआ—तुमको मालूम है! बच्चे कहते क्या हुआ? कि यह ध्यान है। देखो तुमने पाँच मिनट ध्यान किया। तो जब वे बच्चे लौटकर भीतर जाते तो माँ-दादी उनसे पूछतीं, नानी पूछतीं कि बेटा क्या करके आरहे हो? कहते हम ध्यान करके आ रहे हैं।

तो क्या पाँव बाँधकर बैठनेसे और पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठनेसे उन बच्चोंका ध्यान लग गया? ध्यान नहीं लगा न। वह तो ध्यानका बाहरी रिहर्सल है। वह असली ध्यान तो नहीं है न।

तो यह जो आपलोग शान्ति पाठ करते हैं, यह शान्तिका बाहरी रिहर्सल है। यह शान्तिका अर्थ होता है कि बाहरी दुनियाको काट दो। अब जो सुननेके लिए तुम बैठे हो, वह समझनेके लिए बैठे हो, जिसका श्रवण मनन करनेके लिए बैठे हो, उसमें अपना मन लगे और इसके पहलेकी जो बाहरी दुनिया थी ना, उससे थोड़ी देर सम्बन्ध विच्छेद कर दो। अब यहाँ हम बैठे हैं, बाहरकी अशान्तिको बाहर भेज दो और अब यहाँकी शान्तिको धारण करो।

तो प्रशान्तिचत्तायके अर्थपर थोड़ा विचार करो। एक तो होता है चित्त। फिर चित्त होता है शान्त और फिर शान्त चित्त होता है प्रशान्त।

तो चित्त किसको कहते हैं? जैसे मनमें यह ख्याल हुआ कि सत्संगमें चलें। यह संकल्प हुआ। फिर एक विकल्प आया कि भाई अभी तो बच्चोंको स्कूल भेजना है या घरमें यह काम सम्भालना है, तो चलें कि न चलें—यह दुविधा हो गयी। तो पहले संकल्प हुआ चलनेका और विकल्प हुआ दुविधाका। उसके बाद निश्चय हुआ कि चलना चाहिए। उसके बाद यह हुआ कि अब चल रहे हैं। मोटरपर बैठ रहे हैं, पैदल चल रहे हैं। तो संकल्प, विकल्प, निश्चय और अहं क्रिया—ये चित्तकी चार अवस्था हुई। तो मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार—अन्त:करणकी इन चारों वृत्तियोंने काम किया।

अव आप यहाँ आगये, तो देखो, न चलूँ—यह संकल्प और चलूँ कि न चलूँ यह विकल्प भी नहीं है, चलना ही चाहिए—यह निश्चय भी नहीं है और मैं चल रहा हूँ—यह अहं क्रिया भी नहीं है। माने चित्तकी चारों अवस्थाएँ शान्त हो गयी हैं। लेकिन आप यहाँ आकर धुत्त होकरके बैठ जाओ, शान्तचित्त; समाधि लगाकर बैठ जाओ। तो सत्संग समाधि लगानेके लिए नहीं होता। समाधि लगाना हो तो एकान्तमें बैठकर लगाना। यहाँकी समाधि क्या है कि जो बात कही जाय न, जो सुननेको मिले, उसको ठीक-ठीक ग्रहण करें और धारण करें।

सत्संगमें अगर कोई आदमी रोने लग जाय और जोरसे चिल्लाने लग जाय या बिलकुल समाधि लगाकर बैठ जाय तो सत्संगकी दृष्टिसे उसकी अवस्था निकृष्ट हो गयी। सत्संग श्रवण-मननके लिए है। श्रवणके लिए है मुख्यरूपसे शास्त्रके तात्पर्यका निर्णय करनेके लिए है। और मनन एकान्तमें करना और निदिध्यासन बिलकुल एकान्तमें करना।

अब समझो कि एक आदमी उपदेश ग्रहण करनेके लिए, गुरुजीके पास गया। सम्यक् उपसन्नाय, भली-भाँति शरणागत हुआ और गुरुजी महाराजने उसके सिरपर अपना हाथ रखा और उसे अपना बनाया, उसकी रक्षाकी जिम्मेवारी अपने ऊपर ली और बोले कि अच्छा बेटा एक मन्त्र तुमको बताते हैं, सुनो इसका जप करना। शिष्यजी पीठकी रीढ़ सीधी करके ध्यानमें मगन होगये और गुरुजीका बताया हुआ मन्त्र ही नहीं सुना। यह मैं उदाहरणके लिए कहता हूँ।

तो वह जो ध्यान हुआ न, वह मन्त्र श्रवणमें विघ्न हुआ। यह. नहीं समझना कि वह ऊँची अवस्था हो गयी। वह उस समय किसी असुरने उनके चित्तमें ध्यान लगा दिया, कि उनको भ्रम होगया कि हैमारी ऊँची अवस्था

होगयी, क्योंकि जो काम उस समय करना था, मन्त्र-श्रवण करना था, वह मन्त्र श्रवणमें विघ्न उपस्थित होगया।

तो प्रशान्तिचत्तायका क्या अर्थ है? चित्तकी चारों अवस्थाओंका छूट जाना यह तो शान्तिचत्त होना और शान्तिचत्त होकर श्रवणके लिए उन्मुख होना—यह प्रशान्तिचत्त है।

प्रकर्षेण शन्तिचत्तः उपरतपंदिदोषाय।

शङ्कराचार्य भगवान्ने प्रशान्तिचतायका अर्थ क्या किया है कि अपना दर्प छोड़ दो।यह जो हर समय मनमें शीशा रहता है और उसमें अपना ही मुँह देखते रहते हैं न, दर्पण बोलते हैं न संस्कृत भाषामें दृप्यित अनेन इति दर्पण:। जिससे आदमीका घमण्ड बढ़े उसे दर्पण बोलते हैं। जो अपनी विशेषताके बारेमें बार-बार विचार करता रहता है उसका दर्प बढ़ता है। हृष्ट्रो दृप्यित दृप्तो धर्ममितिक्राम्यित—जब संसारका—हमारे पास बहुत पैसा है, हमारे बहुत अनुयायी हैं, हमारे बहुत स्त्री-पुरुष हैं, हमारे बहुत भोग हैं, हमारे बहुत मित्र हैं। एकने कहा—ऐ तुम क्या समझते हो, एक तुम ही हमारे मित्र हो! अरे हमारे हजार मित्र हैं, हम चाहें तो तुम्हारे सरीखे सौ और बुलालें और चाहें तो उन्हींमें रहें, तुम्हारा मुँह न देखें फिर।

अब भला जब वह भित्र सुनेगा, तो उसके चित्तपर इसका क्या असर पड़ेगा? कि यह तो हमको धमका रहा है, यही समझेगा न, तो यह अपने बहुत मित्र होनेका दर्प हुआ, मित्र बनानेका दर्प हुआ। तो—

उपरतदर्पादिदोषाय अर्थ है जब आप श्रवण करनेके लिए जायें, तो तुम्हारे बहुत कारखाने हैं, मान लिया, तुम्हारे बहुत मित्र हैं, मान लिया, भोगकी बहुत सामग्री है, अर्थ बहुत है और तुमने धर्म भी बहुत किया, बहुत यज्ञ किये हैं तुमने; लेकिन उनका अभिमान लेकर मत जाना।

देखो भैया, शंकरजीने नारदजीसे कहा कि नारद! देखो तुम विष्णुके पास जाना तो सही, लेकिन, यह मत कहना कि मैंने कामको जीत लिया है; नहीं तो विष्णु तुमसे नाराज हो जायेंगे।

शंकरजीका यह भाव था कि नारदजीपर भगवान् प्रसन्न रहें और कहीं इन्होंने हमसे बढ़कर अपनेको बताया; शंकर भी भक्त और नारद भी भक्त। लेकिन शंकरजीने सोचा कि नारदजीको इस समय अभिमान आगया है और ये जाकर बतावेंगे कि हमारे सामने शंकर क्या हैं? शंकरको कामके सामने क्रोध आगया और हमको क्रोध नहीं आया, हमने कामको जीत लिया, हम शंकरसे बड़े। तो उपरतदयादिदोषायका अर्थ है किसी भी कारणसे अपनेमें अभिमान लेकर मत जाना। यह प्रेम जो है न, यह रस है। यह ज्ञान जो है यह रस है। रसका प्रवाह किधर होता है? गंगाजीकी धारा किधर बहती है? अपनेसे ऊँचेकी ओर नहीं बहती है, नीचेकी ओर बहती है। प्रेमका रस, प्रेमकी धारा अभिमानीपर नहीं गिरती, अभिमानीपर प्रेमरस-ज्ञानरस नहीं गिरता है। इसलिए शंकराचार्य भगवान्ने प्रशान्तिचत्तायका अर्थ किया उपरतदर्पादिदोषाय—अभिमानादि माने चित्तके संकल्प-विकल्प, निश्चय और अहं क्रिया—इन चारोंसे मुक्त!

अच्छा एक बात और है, सत्संगमें जाना तो अपना निश्चय लेकर भी नहीं जाना। निश्चय माने दरवाजा बन्द, हम तो भाई एक पक्के निश्चयपर पहुँच गये हैं, परमात्मा हमको मिल गया, हमने जान लिया ऐसा। तो उसमें महाराज नई-नई बात जो मिलेगी, उसके लिए अपने चित्तका दरवाजा खुला रखना—प्रशान्तचित्ताय और, शमान्विताय—शम माने, आपको क्या बतावें, अगर संन्यास वेश न होता, यदि हम यह समझते कि हम कह देंगे कि संन्यासी होना अर्थ है शमान्वितायका और आपलोग ऐसा समझोगे कि गेरुआ पहनना अर्थ है, अगर यह बात आप भूलसे न ग्रहण करते हों तो हम 'शमान्विताय का अर्थ करते हैं संन्यासी।

कपड़ा पहनना संन्यासीका अर्थ नहीं है, संन्यास चित्तकी वृत्ति है। आप देखो कल जो सुनाया था, एक शरीरको कपड़ा पहनाकर संन्यास होता है—यह बहिरंग संन्यास है और एक मनका संन्यास होता है जिसमें कर्म और कर्मफलकी आस्था बिलकुल छोड़ दी जाती है। मानस-संन्यास उसका अर्थ होता है। और, यदि उस संन्यासको आप पकड़ लें कि संन्यास क्या होता है, आप समझ जायँ, तो हम बिलकुल खुलेमें कह देंगे कि बिना संन्यासी हुए परमात्माकी प्राप्ति किसीको नहीं होती। यदि संन्यास शब्दका अर्थ आप मानस संन्यास ग्रहण कर लें, तो हम बिलकुल खुले आम, डंकेकी

चोटपर इस बातको समझा सकते हैं कि बिना संन्यासी हुए किसीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

लेकिन हमको डर लगता है कि कहीं संन्यासीका अर्थ आप लोगोंने चुिंटया कटाना समझा तो? महाराज आजकलके बच्चे चुिंटया कटा ही देते हैं। और, कहीं आपने संन्यासी होनका अर्थ जनेऊ निकालना समझा तो हम ऐसे हजारों लोगोंको जानते हैं जिन्होंने पहनकर निकाल दिया है। और, कपड़ा रँगाना समझो, तो यह महाराज यहाँके लोग जो कुम्भके मेलेमें जाते हैं ना—

'कक्का जबलपुरकी ढकी रहन दो पोल'

तो शाही स्नानमें शामिल होनेके लिए कि हम साधुओंके साथ, नागाओंके साथ जाकर सबसे पहले बिना भीड़-भाड़के नहा लें, ये लोग गेरुआ ओढ़-ओढ़कर जाते हैं नहानेके लिए। तो अगर गेरुआ ओढ़नेसे ज्ञान होता तो इन लोगोंको हो जाता। भिखमँगे गेरुआ ओढ़ते हैं कि पैसा मिलेगा।

तो गेरुआ ओढ़नेसे, चोटी कटानेसे या जनेऊ निकालनेसे अगर संन्यास हो जाता, तब हम यही बात कह देते। लेकिन यहाँ शमान्वितायका अर्थ कल आपको समझाया था कि विहित जो काम है, माने शास्त्रोक्त; अपनी पत्नीके प्रति काम होना—शास्त्रोक्त है। अब उसको छोड़ो तो शम होवे। महाराज अपने जो स्वजन हैं या शत्रु हैं, उनके ऊपर क्रोध शास्त्रोक्त है तो उस क्रोधको भी छोड़ दो। अच्छां, जो शास्त्रोक्त रीतिसे वर्णाश्रम धर्मके अनुसार जो धनकी प्राप्ति होती है, वह लोभ तो शास्त्रविहित है न, उसको भी छोड़ दो। तो बात क्या हो गयी भाई? अपनी पत्नीको तो अपनी समझना ही चाहिए जब इसको भी छोड़नेसे चित्त शुद्ध होता है यह बात कही गयी तो आपको मानसिक रूपसे संन्यासी कहा गया कि नहीं कहा गया?

अब देखो शंकराचार्यने अगर कहीं लिख दिया कि भाई ब्रह्मज्ञानके लिए संन्यासी होना जरूरी है, तो हम जो कह रहे हैं उस बातको आप ध्यानमें रखो। गृहस्थके लिए पति-पत्नीका समागम धर्मके विरुद्ध नहीं है; लेकिन जिज्ञासु जो है, जो ब्रह्मनिष्ठ होने चला है, वह शास्त्र विधिके अनुसार जो पति-पत्नी समागम है, उससे भी जब विरक्त हो जाय तब वह शमन्वित कहा जायगा।

तो बातको घुमा फिराकर, द्राविड प्राणायाम करके भले बोलो, लेकिन बात यही हुई कि यह जो निवृत्ति परायणता है न, उपरामता है, वह ब्रह्मविद्याके लिए जरूरी है।

यदि परिच्छित्र वस्तुमें तुम्हारा आग्रह बना रहेगा, तो अखण्ड परमेश्वरकी प्राप्ति कैसे होगी? आप जानते हो यह जो हमारी आँख है न; हैं दो आँख, लेकिन एक साथ जो चीजको नहीं देख सकती। यह जैसे दो उँगली दिखती है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि हमारे मनको आँखसे दो अंगुली मालूम पड़ रही हैं, लेकिन यह प्रमाण परीक्षा करनेवाले जो लोग हैं, उन्होंने यह निश्चय किया है कि दोनों अंगुली एक साथ नहीं दिखती। यह मनकी गति इतनी सूक्ष्म है कि वह एक बार इस अंगुलीको, एक बार उस अंगुलीको देखकर, देखता है दो क्षणमें, लेकिन इतनी जल्दी-जल्दी देखता है कि ग्रहण नहीं होता कि दो बार देख रहा है।

ये पंखे चलते हैं न, जब बड़ी तेजीमें चलते हैं, तब आप देखना, यह नहीं मालूम पड़ता कि हमारी आँख और छतके बीचमें कोई पंखा नामकी चीज घूम रही है। क्योंकि इतने वेगसे चलते हैं कि उनकी गति आँख ग्रहण नहीं कर पाती।

यह बात क्यों सुनायी? यह बात सुनानेका अभिप्राय क्या है? कि मन एक साथ दो वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। जो अल्प वस्तुके ज्ञानमें लगेगा उसको अखण्ड वस्तुका ज्ञान नहीं होगा और जिसको अखण्ड वस्तुका ज्ञान होगा, उसको अल्पवस्तु छूट जायेगी।

तो यदि तुम्हें ईश्वरकी ओर चलना है, तो संसारी भावको छोड़ना पड़ेगा और संसारी भावको पकड़ोगे, तो ईश्वर छूट जायेगा। तो शमान्वितका अर्थ यह है कि संसारी भाव छोड़कर ईश्वरकी ओर चलो।

अब जरा आगेकी बात देखो—

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं—तो यह तो 'प्रशान्तचित्ताय' 'शमान्विताय' और 'उपसन्नाय' है—इन तीनोंको मिलाकर शंकराचार्य भगवान्ने जो अभिप्राय दिया है ना, तो उसका अभिप्राय क्या दिया है सर्वतो विरक्ताय इति एतत्। यह तीनोंका पिण्डीकृत अर्थ इसको बोलते हैं।

जैसे हमारे सत्संगी लोग हैं, उनके सामने हम घण्टेभर व्याख्यान दें, तो अन्तमें वे कह देते हैं कि आपका मतलब यही है न? और आधे मिनटमें उसका सार बोल देते हैं। गुरुजीका घण्टा भर और चेलेका आधा मिनट। माने समझानेकी प्रक्रिया बिलकुल गयी। समझानेकी प्रक्रियामें भी गुण होता है उससे सवाल हल करना आता है। किसी भी गणितके सवाल हल करनेकी प्रक्रिया होती है और उसका निकला निकलाया जवाब होता है। तो जब बच्चे जवाब याद कर लेते हैं, तो उनको गणित नहीं आता है। उनको तो गणित निकालनेकी प्रक्रिया सीखनी चाहिए। तो शंकराचार्य भगवान्ने इन तीनोंका एक अर्थ निकाला—'सर्वतो विरक्ताय'—अपने इष्ट, अपने लक्ष्य, अपने उद्देश्य, अपने आत्मदेवके सिवाय कहीं भी राग-द्वेष नहीं होते।

यह तो आपको हम कई बार सुना चुके हैं, यह 'विराग' शब्द जो है, जैसे 'मधुसूदन' बोलें संस्कृतमें, तो उसका अर्थ 'कैटभार्दक' भी होता है। जिसने मधुको मारा है उसीने कैटभको मारा है। इसी प्रकार जब संस्कृतमें 'विराग' शब्द बोला जाता है तो उसका अर्थ द्वेषरिहत भी होता है। क्योंकि जो रागको मारता है वह द्वेषको तो मार ही डालता है। क्योंकि राग-द्वेष सहचारी हैं न, तो सहचरितका अर्थ ग्रहण हो जाता है।

प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।

द्वेष छोड़ना मुश्किल नहीं है, राग छोड़ना मुश्किल है। क्यों? कि द्वेष तो कड़वा होता ही है उसको कौन पकड़कर रखना चाहेगा? परन्तु राग जो है वह जरा मीठा होता है, तो उसको लोग छोड़ना नहीं चाहते हैं।

तो जब 'विराग' शब्द बनता है संस्कृतमें, तो राग-द्वेष दोनों जिसमें नहीं हैं उसको बोलेंगे विराग। विगत रागः। और विराग पुरुषका जो भाव है, उसको वैराग्य बोलते हैं।

देखो! इसका एक बड़ा गूढ़ अभिप्राय है, प्रकट करते हैं आपको भला!

अपने आप किसीको वैराग्य होवे तो वह ग्रहण नहीं किया जाता है।

पुरुष जो विवेकपूर्वक अपने चित्तमें विरागका भाव उदय करता है और बैठाता है, उसको वैराग्य बोलते हैं। एक आदमी समझो गाँवमें रहता है, उसने कभी रसगुल्ला देखा नहीं है और सुना नहीं है और रसगुल्लेकी उसके मनमें इच्छा भी नहीं है। तो क्या बोलेंगे, रसगुल्लेसे उसके मनमें वैराग्य है?

नहीं, इसका नाम वैराग्य नहीं है। 'अराग' बोल सकते हैं उसको, अल्पराग बोल सकते हैं, अव्यक्तराग उसको बोल सकते हैं। लेकिन उसको वैराग्य नहीं बोल सकते। वैराग्य कब बोलेंगे? जब रसगुल्लेके बारेमें पूरी जानकारी होनेके बाद, उसमें कैसे छेना पड़ता है, उसमें कैसी चाश्नी होती है, उसका कैसा स्वाद होता है, उसका पेटमें जानेपर क्या परिणाम होता है, रसगुल्लेके बारेमें सारा विवेक होवे और फिर विराग! माने विरागस्य विगतरागस्य पुरुषस्य भावः वैराग्यम्।—विगतराग पुरुषका जो भाव है, उसको वैराग्य बोलते हैं—सर्वतो विरक्ताय। अब—

येन विज्ञानेन यया विद्यया परया। मुण्डक उपनिषद्के प्रारम्भमें प्रश्न यह किया गया था कि,

कस्मिन्न भगवो विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

जिस एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है, एक ऐसी चीज है जिसके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है। यह उपनिषद्की खास विशेषता है कि एकका विज्ञान हुआ और कुछ भी अविज्ञात नहीं रहा।

हम आज अपनी एक तारीफ करना चाहते हैं। श्रीमोकलपुरके बाबाजी महाराज अपने यहाँ आये थे, तो कहते थे देखो भाई, हम बकासुर होकर तुम्हारे यहाँ आये हैं—ऐसे बोलते थे। अपना नाम उन्होंने बकासुर रखा। हम लोगोंने पूछा—महाराज, बकासुरका क्या मतलब होता है? तो बोले कि बकासुरका मतलब यह है—खायेंगे खूब, आज एक हंडिया गुलाब जामुन मँगाओ और बकासुरका मतलब है कि बोलेंगे खूब। अबकी बार खूब बकेंगे, उपदेश खूब करेंगे और बकासुरका मतलब यह है कि अबकी दम्भ खूब करेंगे। बगुला दम्भ करता है न, अपनी तारीफ खूब बतायी। ये तीन बात उन्होंने बतायी—खायेंगे खूब, बोलेंगे खूब और अपना बड़प्पन बतावेंगे।

तो कभी-कभी बड़प्पन बतानेकी भी जरूरत होती है। आपको हम बताते हैं—हमने ईश्वरकी की उपासना है। श्रीकृष्णके मन्त्रका जप किया है, ध्यान किया है और इष्ट साक्षात्कार पर्यन्त मैंने उपासना की है।

उपासनाकी सफलता कहाँतक—इष्ट साक्षात्कार पर्यन्त। यह उपासनाकी सफलता है।

यह बात बतानेका अभिप्राय क्या है? कि संसारकी कोई भी वस्तु जो दिखायी पड़ती है, यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह श्रीकृष्ण भगवान्से ज्यादा सुन्दर नहीं है। ये जो हमको दिखते हैं सो भी और जो आगे दिखायी पड़ेंगे सो भी, तो अगर हमारी आँखको, हमारे मनको कोई यह चाहता हो कि हमारी सुन्दरता इनको खींच लेगी, तो वह बेवकूफ है। वह हमारी आँख, हमारे मनकी कीमतको नहीं जानता है।

श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा कि संसारमें मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है और मैं हूँ तुम्हारी आत्मा। ये शरीर तो केवल देखने भरके हैं, इनके भीतर जो एक वस्तु है—सद्वस्तु, चिद्वस्तु, आनन्द वस्तु, अद्वितीय वस्तु, वह तो शरीर भिन्न-भिन्न दीखनेपर भी एक ही है—तुरीयं त्रिषु सन्ततम्।

जाग्रदवस्थामें जितनी वस्तुएँ दिखती हैं उन सबमें तुरीय भरा हुआ है। स्वप्नावस्थामें जितनी वस्तुएँ दिखती हैं, उनमें तुरीय भरा हुआ है और सुषुप्ति अवस्थामें जो अज्ञानका अनुभव होता है उसमें भी तुरीय भरा हुआ है। सृष्टिमें, स्थितिमें, प्रलयमें, कार्यमें-कारणमें, द्रष्टामें-दृश्यमें और भोक्तामें—भोग्यमें एक अद्वितीय वस्तु परमात्मा भरी हुई है; उसका जब विज्ञान होता है, तो सबका विज्ञान हो जाता है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती है जो अज्ञात रह जाये। इसीसे कहते हैं कि एक तो ईश्वरके सामने मायाकी एक नहीं चलती। दूसरे—महात्माके सामने भी मायाकी एक नहीं चलती।

्तुम तो माया नाचो कूदो

हम हूँ बड़े नवानिया। इहां तुम्हारी दाल न गिलहै हम हैं पल्टू बनिया॥ एक होता है लपटू और एक होता है पलटू। तो यह जो जीव है न, यह संसारमें 'लपटू' होगया है — लिपट गया है और महात्मा कौन हैं? कि जो पलटू पलट गया है, दुनियाकी ओरसे पलट गया है। ईश्वरकी ओर चला गया उसका नाम पल्टू। तो—

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं येन विद्यया।

आपको एक विज्ञान, एक विद्या आपको बताते हैं। अक्षरं—जिस विद्यासे अक्षरका ज्ञान होता है। इसमें तीन शब्द हैं आप ध्यान दो। अक्षरं, पुरुषं, सत्यं वेद।

'येन विज्ञानेन अक्षरं पुरुषं सत्यं वेद।' एक ऐसा विज्ञान है जिससे अक्षर जाना जाता है।

अक्षर क्या होता है ? कि जिसको पहले बताया न, अद्रेश्यम्—अदृश्य है; अग्राह्मम्—अग्राह्म है; अश्रोत्रम्—इत्यादि जिसको पहले बताया, उसीका नाम अक्षर है। जिस परब्रह्म परमात्माके ज्ञानके लिए हम चले हैं इस रास्तेमें।

अक्षरं पुरुष शब्द वाच्यम्। तो बोले कि अक्षर कोई सातवें आसमानमें होगा? बोले—नहीं वह आत्मा है, पुरुष है।

यह देखो अक्षर जब कहते हैं तब मालूम पड़ता है, कि सम्पूर्ण जगत् विनाशी है और वह अविनाशी अक्षर कोई बहुत दूर होगा, आँख बन्द करके और हाथ उठाकर बतावें—'वो' अक्षर। बोले—नहीं, पुरुषंका अर्थ है— 'यह'। वह अक्षर जो है, वही पुरुष है। विश्वपुरुष वही है। तैजस् पुरुष वही है। प्राज्ञपुरुष वही है। और तुरीय पुरुष वही है।

तो विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, भेद उपाधिक कारण है और तुरीय निरुपाधिक है और सबमें वह अखण्ड है। अक्षर पुरुष है। तो अक्षरको अक्षर क्यों कहते हैं? बोले—अक्षरणात् क्षर संचरणे धातु है। जो अपने स्वरूपसे विचलित न हो, उसको अक्षर कहते हैं। अक्षतत्वात्—अक्षत होनेके कारण उसको अक्षर कहते हैं। अक्षीणत्वात्—उसको कोई मार नहीं सकता। और फिर बोले—क्यों? कि अक्षयत्वात्। तो अक्षरको अक्षर क्यों कहते हैं? अक्षरणात, अक्षतत्वात् अक्षरत्वात्। क्षिक्षये क्षयार्थकः क्षिधातुसे अक्षय और क्षि हिंसायाम्से अक्षत और क्षर संचरणेसे अक्षर। वह अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता—स्वयं या अन्यसे। माने कोई चीज ऐसी होती है जो खुद थोड़े दिनोंमें अपना

स्वरूप छोड़ देती है। देखो, पीतलकी चीज कितनी भी चमचम चमकती हुई, घरमें रखो आपको मालूम है समुद्रकी थोड़ी-सी हवा लगेगी, काली पड़ जायेगी। या बहुत दिन आप बिना हवाकी जगहमें भी रखो, तो उसके भीतरसे ही मैल निकल आवेगा और वह काली पड़ जायेगी। लोहेपर मोर्चा लग जायेगा। तो स्वयं जिसमें विकार न हो उसको अक्षर कहते हैं।

अक्षरणात्—उसमें नमक नहीं लगता, नोना नहीं लगता। भीतमें अगर 'नोना'—नमकीन पानी होवे, तो थोड़े दिनोंके बाद सफेद-सफेद उसमें उठ आता है। तो स्वयं इसमें कोई विकार नहीं है। अक्षत्वात्—जैसे मूसलसे चावलको जब पीटते हैं न, तब वह क्षत—पहले उसमें-से धानकी भूसी निकल जाती है और फिर वह अक्षत बन जाता है। यह आत्मा किसी चीजसे कूटनेपर भी नहीं बदल सकता, इसलिए इसको अक्षर बोलते हैं। अक्षयत्वात्—कालका इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसका विनाश नहीं होता, इसलिए इसको अक्षय, अक्षर कहते हैं।

अब बोले—पुरुषं, पुरुष माने अपना आत्मा है यह। यह ब्रह्म दूसरा कीई नहीं, अपना आत्मा है। तो पुरुषको पुरुष क्यों बोलते हैं? पुरुषको यूँ बोलते हैं कि पहले चेतन समझो। यदि केवल अक्षर कहकर छोड़ देते, तो कोई जगत्कें मूलमें अक्षर नामकी जड़ वस्तु होगी। आपको जड़ चेतनका भेद बतावें। वेदान्तकी यह रीति है कि जैसे यह रुमाल है, तो इसको जड़ बोलते हैं और इसको जो जाननेवाला है उसको चेतन बोलते हैं।

वैज्ञानिक लोग जड़-चेतनकी परिभाषा यह करते हैं कि आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, हृदय—ज्ञानेन्द्रियाँ जिसमें प्रकट हों, उसका नाम चेतन और ज्ञानेन्द्रियाँ जिसमें प्रकट न हों, उसका नाम जड़।

दर्शनशास्त्रमें, वेदान्तमें जड़-चेतनका भेद ऐसे करते हैं कि जो न अपनेको जाने और न दूसरेको जाने उसका नाम जड़ और जो अपनेको भी जाने और दूसरे भी जाने, उसका नाम चेतन।

तो पुरुषं कहनेका अभिप्राय क्या है।

तो इसमें बड़ा भारी फर्क पड़ता है। यह फर्क शब्द बोलते हैं न, पार्क्य, परकीयता। फर्क क्या है? कि परकीयता है, पारक्य है। जैसे हमारे सामने निरिन्द्रिय पदार्थ मालूम पड़ा, क्या? एक तृण है, तो हम कहेंगे कि यह जड़ है और हम चेतन हैं, क्योंकि हमारे आँख है। लेकिन एक स्त्री है, एक पुरुष है, एक पशु है, एक पक्षी है, उसको चेतन बोलेंगे। क्यों? कि उसके तो आँख है, कान है, नाक है, जीभ है। तो एक तिनका है, एक पत्थर है, उसका नाम तो हो गया जड़; वैज्ञानिक परिभाषामें और एक पशु, एक पक्षी इसका नाम हो गया चेतन, क्योंकि उसके इन्द्रियाँ हैं।

अब वेदान्तकी परिभाषाका अभिप्राय समझो। यह कहते हैं कि आँख, नाक, कान, जीभके ये खोडर बने हैं कि नहीं—इससे कोई मतलब नहीं, जो जाननेवाला है सो चेतन है और जो जाना जानेवाला है सो जड़ है। इसका अर्थ क्या हुआ? कि हमारा शरीर जो जाना जाता है सो भी जड़ है। माने स्त्री है, पुरुष है, पश्ची है, मनुष्य है, देवता है, ईश्वर है; ईश्वरका भी जितना अंश अन्यरूपसे जाना जाता है, वह अंश भी जड़ मायाका ही बनाया हुआ है, इसलिए जब इस परिभाषाके द्वारा हम चेतनको समझने लगते हैं तो जाननेवाला अपना आपा और अपने सिवाय जो कुछ है सो जाना जानेवाला। तो जाना जानेवाला दृश्य है, विकारी जाना जानेवाला जड़ है, जाना जानेवाला भोग्य है और जाननेवाला चैतन्य है। तो यह 'पुरुष' कौन-सा है? यह पुरुष जाननेवाला है।

जाननेवाला है अर्थात् अपना आत्मा है। एक तो अक्षर है माने विनाशी जगत्से विलक्षण है और दूसरे, पुरुष है, माने प्रत्यगात्मा है—अपना स्वरूप है। और, तीसरी बात क्या कही गयी? सत्यम्। वह सत्य है।

अब देखो; सत्यकी बात भी आपको सुनाते हैं, भिन्न-भिन्न मत हैं। हमारा एक बालक था वृन्दावनमें, उसका नाम था सज्जन। नाम ही था उसका सज्जन और इतना सज्जन था, दस-बारह वर्षकी उम्रमें वह वृन्दावनमें रहता था, उसके माँ-बाप भाई सब उड़ियाबाबाजी महाराजके पास आते थे। एक दिन आकर बोला—बाबा, बाबा; हमको बाबा बोलता था, बाबा, यह बात तो ऐसी हो गयी। मैंने कहा कि बेटा, कैसे तुमको मालूम हुआ कि यह ऐसी हो गयी! उसने कहा—बाबा, कागजपर छापकर शहरमें बँटाया गया था, मैंने सुना।

अब उसके लिए वही प्रमाण है कि कागजपर कोई बात छप गर्या तो वह झूठी नहीं हो सकती। कागजपर कोई बात छप गयी तो वह सच्ची हो गयी। ये मध्यकालीन जो सन्त हुए हैं न, इनका कोई जब अनुयायी मिलता है, तो एक दोहरा, एक साखी और एक शबद बोल दिया—

> सबदी साखी दोहरा किह कहनी उपखान। भगति निरुपिह भगत किल, निन्दिह बेद पुरान॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजका ही दोहा है, 'दोहावली 'में है कि किलयुगके जो भक्त हैं वे भिक्तका निरूपण कैसे करते हैं? साखीसे, सबदसे, दोहरासे, और कहनीसे और उपाख्यानसे वो चुटकुले, वो कहानियाँ सुनायीं, बोले—हो गया धर्मका निर्णय, हो गयी भिक्त।

बोले—नहीं, नहीं, श्रोता लोग भी महाराज बड़ी गड़बड़ करते हैं, उनको जबतक कहानी न सुनाओ, तबतक कहते हैं आज तो बस मूड ही खराब हो गया। बोर हो गये सुनते-सुनते, यह क्या बात सुनाते हो, न कहनी न उपाख्यान।

अरे बाबा कहानी सुनना हो तो रातको किसी बुढ़िया माईके पास बैठ जाओ और उसके मुँहसे कहानी सुन लो, तुम्हारी वासना पूरी हो जायेगी और नहीं तो, कहानी तो आजकल सब पित्रकाओंमें छपती हैं, अखबारोंमें, बड़ी-बड़ी किताबें छपी हैं, उनमें कहानी पढ़ लो। यह सत्संग होता है। यह कहनी उपाख्यान सुननेके लिए नहीं होता है। कहाँ जा रहे हो? बोले कहानी सुनने जा रहे हैं। यह कहानीके लिए तो नहीं होता है। तो—

साखी सबदी दोहरा किह कहनी उपखान। भगित निरूपिहें भगत किल निंदिहें बेद पुरान॥ यह गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजका बड़ा बढ़िया दोहा है। बुद्धके ऊपर उन्होंने कटाक्ष किया। बोले—

बेद निंदि निंदित भयो प्रगट बुद्ध अवतार।

हम मानते हैं कि बुद्ध अवतार हैं लेकिन वेदकी निन्दा उन्होंने कर दी। राम-राम-राम, वेदकी निन्दा! यह तो ठीक नहीं है। नाक-भौं सिकुड़ गयी। तो अय मत्यंकी वात आपको सुनाते हैं। यत् व्यवहारमें योलते हैं अस्तिको। जैसे देखो, घटः मत्। घटः सत्। घट सच्चा है, कपड़ा सच्चा है तो योले—भाई, घड़ेकी शक्त तो गोलमटोल आदमीके पेटकी तरह और कपड़ेकी शक्त उसको ढँकनेवाली, दोनोंकी शक्त तो अलग-अलग है न, वह माटीसे यना, वह सृतसे यना और दोनोंकी शक्त और नाम अलग-अलग, और तुम दोनोंको सच बता रहे हो, तो सच क्या चीज है? घड़ा सच, कपड़ा सच!

तो सच नामकी एक ऐसी चीज है जो घड़ेमें भी है और कपड़ेमें भी है। घड़ेकी शक्तसे न्यारी और कपड़ेकी शक्तसे न्यारी, घड़ेमें भी और कपड़ेमें भी। घटः सत्। घटः सत्। घटमें और पटमें अनुगत जो सत्ता है उसको सत् कहते हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्तिमें, सृष्टि, स्थिति प्रलयमें, पशु, पक्षी, मनुष्यमें जो अनुगत सत्ता है उसको सत् वोलते हैं।

अव इसमें भी भेद करते हैं—अस्ति प्रत्ययका विषय और अस्ति प्रत्ययका आश्रय; अब देखो बात तो टेढ़ी हो गयी। देखो समझनेकी कोशिश करोंगे तो वात समझमें आजायेगी। जैसे यह किताब है, तो इसको हम बोलते हैं—ग्रन्थ: अस्ति—यह ग्रन्थ है। तो हमारे मनमें यह वृत्ति हुई न कि यह ग्रन्थ है—ऐसा बोत्ता गया जीभसे और यह ग्रन्थ है—ऐसी वृत्ति बनी मनमें और मेजपर ग्रन्थ रखा हुआ है। तो मेजपर है ग्रन्थ, जबानसे बोला गया कि ग्रन्थ है और मनमें सोचा गया कि ग्रन्थ है। तो अस्तिरूप जो वृत्ति हुई कि है—ऐसी जो वृत्ति हुई, उस वृत्तिसे ग्रन्थ जाना गया; लेकिन उस वृत्तिसे जाना किसने? 'है'—यह वृत्ति हुई और 'है'—यह शब्द हुआ और 'है'—यह वस्तु हुई। तो 'है' जो वस्तु है, उसको तो 'है' का विषय बोलते हैं और 'है' जो बोला गया वह 'है' शब्द है। अस्ति माने है और मनमें जो आया कि 'है' वह अस्ति वृत्ति है उसको अस्ति वृत्तिका आश्रय बोलते हैं।

तो अस्ति वृत्तिके दो विभाग होते हैं माने सत्के दो हिस्से होते हैं। एक हिस्सा वृत्तिके द्वारा देखा जाता है और एक हिस्सा वृत्तिके पीछे रहकर देखता है।

तो सत् किसको कहते हैं ? देखो नास्तिक लोग सत्य उसको कहते हैं जो

वृत्तिके सामने होता है। तो वह तो वृत्तिके सिवाय कुछ है नहीं, वृत्ति होय तो होवे, और न होवे तो न होवे, इसलिए बौद्धोंने कहा कि घड़ा झूठा और 'घड़ा' जो बोला गया सो भी झूठा और घड़ेकी जो वृत्ति हुई मनमें, वह भी झूठी। ये तीनों मिथ्या हैं। घट वस्तु मिथ्या, घट शब्द मिथ्या और घटाकार वृत्ति मिथ्या। बौद्धोंने कहा—तीनों मिथ्या।

वेदान्तियोंने कहा—तीनों तो मिथ्या हैं यह बात हम मानते हैं। लेकिन घट वृत्तिमें होकर और जिह्वासे घट शब्द बोलकर यह पुस्तक मेजपर है और उसको देखनेके लिए आँख आपके शरीरमें है और उस आँखसे झाँकने वाली चीज दिलमें बैठी है और इस दिलको जो जाननेवाला है जरा उसपर नजर डालिये, वह कौन है जो दिलके झरोखेसे, आँखके झरोखेसे किताबको देखनेवाला है? तो वह तो वृत्तिको देखता है न, तो भूत-भविष्य-वर्तमान कालकी तीनों वृत्तियोंको देखता है। देशकी बहिरंग, अन्तरंग और अन्तराल तीनों वृत्तियोंको देखता है और, विषयमें घट, घटाकार वृत्ति और घटज्ञाता तीनोंको देखता है। वह जाग्रत्-स्वप्र-सुषुप्तिमें तीनोंको देखता है। वह सृष्टि-स्थिति-प्रलय तीनोंको देखता है। वह सबको बाध कर दे, तो उस बाधका भी साक्षी है। वह बाधाविधका भी साक्षी है। इसको बोलते हैं सत्य।

यह सत्य जिसको बोलते हैं दुनियामें महात्मालोग, उनकी नजर दूसरी। मैंने आपको सुनाया कल कि परसों, एक महात्मासे मैंने कहा कि आप झूठ बोलते हैं, तो वे बोले कि तुम सच बोलकर बताओ। नाराज हुए हों—सो बात नहीं, त्योरी चढ़ी नहीं, उनको हँसी आगयी, बोले—भाई, वाग् व्यवहार जितना होता है, उतना मिथ्याके विषयमें ही होता है, जरा उसके पीछे हटो, वह बोलकर बतानेकी चीज नहीं है, वह उँगली रखकर बतानेकी चीज नहीं है कि यह है किताब, यह रहा क ख लिखा हुआ। तो ब्रह्मविद्या किसका नाम है?

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।

बौद्धलोग व्यावहारिक सत्यको ही सत्य कहते हैं, वे पारमार्थिक सत्यको नहीं मानते हैं। वैज्ञानिक लोग भौतिक सत्यको ही सत्य मानते हैं। वे कहते हैं मानसिक सत्य भी भौतिक सत्यसे ही उत्पन्न हुआ है।

देखो, यही अन्तर है, वे कहते हैं मानसिक सत्य भौतिक सत्यसे उत्पन्न हुआ है। और अधिदैववादी—पौराणिक कहते हैं सारा अधिभूत मानसिक सत्यसे, अधिदैवसे उत्पन्न हुआ। देवीने जगत् बनाया, गणेशने जगत् बनाया, विष्णुने जगत् बनाया, नारायणने जगत् बनाया, शिवने जगत् बनाया। यह क्या है? ये मानस सत्य हैं। पौराणिक कहते हैं कि मानसिक सत्यसे भौतिक सत्यकी उत्पत्ति हुई। और, अधिभूतवादी कहते हैं कि अधिभूतसे मन पैदा हुआ। पहले पंचभूत बने, अन्नसे मन हुआ।

यह दोनोंका द्वन्द्व है, इसको द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद बोलते हैं। यह जो मार्क्सका सिद्धान्त है न, वह—मनकी अपेक्षासे भूत और भूतकी अपेक्षासे मन। आइन्सटीनका सापेक्षवाद जिसको बोलते हैं वह इस ढंगका है और, यह जो हमारा परमार्थ सत्यवाद है, वह बिलकुल न्यारा है। ये बौद्ध आदि जो हैं, वे कहते हैं आध्यात्मिकसे अधिदैव और अधिभूतकी उत्पत्ति हुई है और आध्यात्मिक जो है वह तो मिथ्या ही है बिलकुल। आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान दोनों मिथ्या है और वेदान्त कहता है कि आधिभौतिक सत्यसे आधिदैविक सत्यसे, आध्यात्मिक सत्यसे भी परे नितान्त अबाध्य अर्थका जो परमरूप है सच्चा रूप है, उस अबाधितको सत्य बोलते हैं।

अब देखो, त्रिकालबाधका सिद्धान्त सुना दें। हमारे वेदान्ती कहते हैं कि परमार्थको त्रिकालाबाध्य मत बोलो। क्यों? बोले—अबाध्य बोलो, त्रिकालाबाध्य मत बोलो। क्यों? बोले—माया त्रिकालाबाध्य है, वह भूतमें भी थी, भविष्यमें भी है और वर्तमानमें भी है। मायाके पेटमें–से काल पैदा हुआ है। अविद्याके पेटमें–से काल पैदा हुआ है। तो माया त्रिकालाबाध्य है। परमात्मा क्या है? अपना आत्मा क्या है? बोले—वह केवल अबाध्य है। माया तत्त्वज्ञानसे बाधित हो जाती है। कालमें माया अनुगत रहती है और माया विद्यासे तत्त्वज्ञानसे बाधित हो जाती है, परन्तु अपना जो स्वरूप है, वह ज्ञानसे भी बाधित नहीं होता न। इसलिए केवल इसको अबाध्य बोलो, त्रिकालाबाध्य मत बोलो।

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।

अब ब्रह्मविद्याका निरूपण शुरू होगा। प्रोत्राच माने प्रक्रिया, तत्त्रतः माने सच, सच, सच तानि तेषां भावस्तत्त्वम्। सईश्वरः। सजीवः। सइदं जगत्।

ऐसे कहो कि अहं च, स च, इदं च तानि। मैं जीव, वह ईश्वर और यह जगत्—इनका नाम है तत्। इन्हींसे जगत् तत् है, फैला हुआ है, इसलिए इनका नाम है तत्। और तीनोंका जो असली रूप है इनका नाम है तत्त्व।

इसमें जीव-जगत्-ईश्वर—तीनों समा जाते हैं और इसमें ये तीनों प्रकट होते हैं। इसका नाम है तत्त्व।

तो तत्त्वतः माने परमार्थं रूपसे परमार्थं सत्यका निरूपण, ब्रह्मविद्याका निरूपण अब प्रारम्भ करते हैं।

यहाँसे अब अगला मुण्डंक प्रारम्भ होता है—तदेतत्सत्यं। सत्यं प्रोवाच—सत्यका निरूपण किया। तो सत्य क्या है ?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

॥ प्रथम मुण्डकका द्वितीय खण्ड समाप्त॥



मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन

द्वितीय मुण्डक, प्रथम खण्ड

प्रवचन : 13, मंत्र 1-2

अक्षर तत्त्व और जीव तत्त्व

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः

सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावा

प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥ २.1.1

अब द्वितीय मुण्डकका प्रथम खण्ड प्रारम्भ करते हैं। यह बात पहले कही जा चुकी कि परिच्छित्र वस्तुका जो ज्ञान है वह अपराविद्याका विषय है। और, अपरिच्छित्र वस्तुका जो ज्ञान है, अक्षर वस्तुका जो ज्ञान है वह परा विद्याका विषय है।

देखो, अब अपर विद्या और परिवद्याका सीधा अभिप्राय समझाते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा या मनके द्वारा जो हम बाहरके विषयोंका अनुभव करते हैं न, तो यह अनुभव 'लोअर क्लास का अनुभव है जैसे आप अपर क्लास और लोअर क्लास बोलते हैं न; तो यहाँ लोअरको ही अपर बोलते हैं। जिसको दुनियामें अपर कहा जाता है, ऐसा समझो, उसको संस्कृत भाषामें लोअर कहते हैं। यह छोटी चीज है।

जैसे किसीको सोना लेना होवे और वह जाकर सिर्फ सोनेकी पालिश देख ले और सोनेकी असली जाँच न करे, तो वह खरीदनेवाला ठगा जायेगा।

कोई कपड़ा खरीदने जाये और वह डिजाइन तो देखे कि बहुत अच्छी, और रंगरूप देखे बहुत अच्छा; लेकिन वह कपड़ा सड़ियल है हाथ लगाया और फट गया, तो वह रंग और डिजाइन किस कामकी? इसी प्रकार ये जो तस्वीरें दिखायी पड़ती हैं न दुनियामें स्त्रीकी, पुरुषकी, पशुकी, पक्षीकी, ये सब तो डिजाइन हैं, रंगरूप हैं, शक्ल सूरत हैं। इनके भीतर जो कपड़ा है, जो माल मसाला है न, वह अक्षर तत्त्व है। जो जेवरका रूप देखे और सोनाकी असलियतकी परीक्षा न करे, उसको पारखी तो नहीं बोल सकते। तो यह जो विद्वान् है वह पारखी होता है और असली जो वस्तु है उसकी परीक्षा करता है।

तो आप सुनते होंगे यह संसार असार है—ऐसा वर्णन करते हैं। इसमें तो कहते हैं महाराज, किसीने एक बिल्ली पाल रखी थी। तो जब घरके बाहर जाने लगा तो बिल्लीका ख्याल नहीं रहा, वह अपने घरमें बन्द करके चला गया। अब बिल्ली बेचारी एक दिन रही, दो दिन रही, बिना खाये-पीये कैसे रहे? तो उसकी नजर पड़ गयी, सफेद-सफेद चीज कुछ ऊपर रखी हुई है, तो ख्याल हुआ कि मक्खन होगा, तो वह उछली उसको पकड़ने। अब वह एक दिन-दो दिन-तीन दिन उछलती रही, छलांग मारती रही पहुँचे नहीं; पर उसके मनमें आशा बनी रही कि एक-न-एक दिन मैं पहुँच जाऊँगी और यह मक्खन लेकर आजाऊँगी। छह दिन- रात वह ऐसे करती रही। घरका मालिक आया तो उसने देखा कि बिल्ली तो छलांग मारकर उस सफेद चीजको पकड़नेकी कोशिश कर रही है। तो उसके मनमें आया कि थोड़ा और देखें कि यह क्या करती है! तो बिल्लीको आया जोश और बड़े जोरसे छलांग भरी और पहुँच गयी उस सफेद चीजके पास। तो वह निकला तूल-रुइया, मक्खन नहीं था। अब वह छूते ही बेचारीको मालूम हुआ कि यह मक्खन नहीं है, गिरकर मर गयी।

तो यह जो संसारमें हमलोग तथ्य ढूँढ़ते हैं, यह जबतक संसारमें धोखेमें रहते हैं, ठगीमें रहते हैं, जबतक दुनियादारीकी चीजोंको समझते नहीं, तबतक हम इसमें सार ढूँढ़ते फिरते हैं, यह खायेंगे तो मजा आवेगा, यह पीयेंगे तो मजा आवेगा। यह संसार तो निस्सार है। यह तो पाउडरके दूधको कितना भी मथो, अब उससे घी कहाँसे निकलेगा? वैसे यह असली दूध नहीं, नकली है, यह पाउडर है। दूध मथोगे तब उसमें-से सार निकलेगा, संस्कृतमें उसीको सार 'सारी' बोलते हैं। सारी निकलेगी-मलाई निकलेगी, घी निकलेगा उसमें-से।

तो अच्छा भाई इस संसारमें सार क्या है? स च संसारो यत्सारो पहले शंकराचार्य भगवान्ने यह कहा था कि प्रतीतरूपेण तु कदली गर्भवत् असारः। जैसे प्याजका छिलका उतारते जाओ या केलेके तनेका छिलका उतारते जाओ, मनमें रहेगा कि बादमें कुछ मिलेगा, कुछ मिलेगा, पर प्याजमें छिलकेके सिवाय और क्या है? केलेके तनेका छिलका उतारते जाओ, छीलते जाओ उसमें क्या है? इसी प्रकार यह संसारकी दशा है—असार है।

लेकिन असलमें संसारका नाम-रूप तो असार है, परन्तु जिससे यह संसार निकला है वह परमात्मा ही इसका सार है।

यन्मूलादक्षरात् सम्भवति—जिस अपनी जड़से यह प्रकट हुआ है और यस्मिश्च प्रलीयते—जिसमें यह लीन होता है, वह जो अक्षर नामका पुरुष है वह सत्य है। उसका यदि विज्ञान हो जाये तो मनुष्यको सबका विज्ञान हो जाये और वही पराविद्याका विषय है।

तो उसीका वर्णन करना है। अब अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं— तदेतत्सत्यं—एक तो संसारमें लोग मानते हैं शरीर ही सत्य है भला, और जब शरीर मरता है, तब बोलते हैं—'रामनाम सत्य' है।

उनसे पूछो कि राम नाम सत्य है कि तुम सत्य हो ? मानें शरीर सत्य है कि राम नाम सत्य है ?

'राम नाम सत्य है'—यह बात मरनेपर लोग बोलते हैं। अगर जिन्दा रहनेपर बोलें 'रामनाम सत्य है' तो कल्याण हो जाये। वह मरनेपर दूसरोंको बोलनेके लिए छोड़ जाते हैं। अरे अपना 'राम नाम सत्य है' खुद ही बोल लो।

एक दिन ग्वारिया बाबा नन्दकुमार शरण ब्रह्मचारीके पास आये। वृन्दावनके बड़े अच्छे महात्मा थे। तो बोले—'ब्रह्मचारी! तुझे सभा करनेका बड़ा शौक है।'

नन्दकुमार शरणजी खूब सभा करते थे वृन्दावनमें, हमारे बड़े मित्र थे। हमारे लिए भी कितनी सभा उन्होंने की होंगी। दसबीस सभा तो वृन्दावनमें हमारे लिए की होंगी, मानपत्र दिलवाया होगा, पहले शुरू-शुरूमें, संन्यासी होनेके पहले। तो ग्वारिया बाबा उनसे बोले कि देख सभा करनेका तो तुझ बहुत शौंक है और मैं मर जाऊँगा तो तू शोंक सभा जरूर करेगा; लेकिन शोंकसभा करेगा तो मुझे क्या मजा आवेगा? तो मैं दो-तीन दिनके लिए कहीं छिप जाता हूँ, तृ एक पर्चा बँटवा दे कि ग्वारिया बाबा मर गया और शोंकसभा कर ले। तो मैं छिपकर देखूँगा कि मेरी शोंकसभामें लोग कैसे-कैसे व्याख्यान देने हैं, हमारी क्या-क्या तारीफ करते हैं?

अब मरनेके बाद रामनाम सत्य बोलें और जिन्दामें न बोलें, नारायण ! तो यह बात है—तदेतत्सत्यं। तो देखो यह बात सच्ची है।

अब जो कहने जा रहे हैं, यह अन्तरंगका अनुसन्धान है। यह अपर विद्या नहीं है, यह पर विद्या है। तो संसारमें जो शरीर है, जो कर्म है और जो इसका फल स्वर्ग है और जो कर्मसमुच्चित ज्ञानका फल है, ब्रह्मलोक और उपासना समुच्चित ज्ञानका फल है बैकुण्ठादि। उपासना समुच्चित ज्ञानसे विष्णुलोक, साकेतलोक, गोलोक और सकाम कर्मसे समुच्चित ज्ञानसे स्वर्गलोक और निष्काम कर्म समुच्चित ज्ञानसे ब्रह्मलोक। तो ब्रह्मलोक पर्यन्त तो स्वयं लोटना पड़ता है और बैकुण्टसे स्वयं नहीं लोटना पड़ता, भगवान् लौटाते हैं। क्योंकि भगवान् कहते हैं कि वाबा, जब मैं ही कभी-कभी संसारमें जाया करता हूँ, अवतार लेता हूँ, तो तुम भला कैसे नहीं चलोगे? तुम्हें भी मेरे साथ चलना पड़ेगा, चलो लक्ष्मी, चलो जय-विजय, हुकुम देकर सबको वहाँसे ले आते हैं।

तो ये सब सत्य जो हैं वे आपेक्षिक सत्य हैं। इस लोकमें जो सुख है उससे ज्यादा स्वर्गमें, स्वर्गसे ज्यादा ब्रह्मलोकमें, ब्रह्मलोकसे ज्यादा बैकुण्ठमें। लेकिन यह जिस सत्यका वर्णन करने जा रहे हैं—तदेतत्सत्यम्। यह निरपेक्ष सत्य है, कर्मफल लक्षणवाला सत्य नहीं है, यह तो परविद्या विषयक परमार्थ सत्य, लक्षण सत्य है। तदेतत्सत्यम्। जो चीज जैसी हो उसको वैसा बताना।

बोले-ये दुनियामें जितनी चीजें हैं, ये कैसी हैं?

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। जैसे खूब अग्नि प्रज्ज्वलित हो। अग्निका एक नाम संस्कृत साहित्यमें पावक है और ज्ञानका नाम पावन है।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तो यह पावन और पावक असलमें दोनों एक ही अर्थमें हैं। जो पावन शब्दका अर्थ है संस्कृतमें, वही पावक शब्दका अर्थ है—पुनाति इति पावक:। कोई भी चीज आगमें डाल दो, पवित्र हो जाये। इसी प्रकार ज्ञानकी आगमें कोई भी चीज डाल दो, उसका मैल जल जायेगा और वह शुद्ध होकर आ जायेगी। तो सुदीप्तात्पावक:।

अब आप अपने ध्यानमें बिठा लो कि यह असलमें अग्निका तो वर्णन है बाहरी रूपसे और ज्ञानका वर्णन है यह अन्तरंग रूपसे। तो यदि पावक ही कहना हो तो इसको चिद्धिन कहो। ज्ञानाग्नि कहो। पावन पावक है यह। सब मैल जलानेवाली चीज। इस ज्ञानकी आगमें अगर ईश्वरको भी डाला जाये—ईश्वर कहो, जीव कहो—तो क्या होगा कि ईश्वर ईश्वर तो रह जायेगा, परन्तु उसमें जो आरोपित माया है, वह जल जायेगी इस ज्ञानकी आगमें और इस आगमें अगर जीवको डाल दिया जाये, ता जीवका जो आध्यात्मिक रूप है वह तो रहेगा, माने आगमें डालनेपर आग ही रहती है और बाकी चीज जल जाती है। तो ज्ञानाग्निरूप जो ईश्वर है वह शेष रहेगा और ज्ञानाग्निरूप जो आत्मा है वह शेष रहेगा और, माया और अविद्याका मल भस्मे हो जायेगा। इसीसे इसको पावकसे समझाना प्रारम्भ किया न केवलं जीवं अविद्या मलात्युनाति किन्तु ईश्वरमिप मायामलात्युनाति—यह पावक केवल अविद्या-मलसं ही जीवकी स्था नहीं करता है, बल्कि यह ज्ञान माया-मलसे ईश्वरकी भी रक्षा करता है। इसलिए इसका नाम पावक है।

बोले—पावक भी छोटा-मोटा नहीं, आग जलने दो। इसीसे भक्तलोग भी कहते हैं कि हृदयमें ईश्वरके लिए प्रेमकी आग जले। प्रेमकी आग दूसरी होती है, कामकी आग दूसरी होती है। कामकी आग पावन नहीं है, धुँआधार है; कामकी आगमें धुँआ उठता है और प्रेमकी आग बिल्कुल अंगारा-निर्मल। और ज्ञानकी आग तो महाराज पूछना ही क्या! ज्ञानके अतिरिक्त ईश्वरका स्वरूप नहीं, ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त जीवका-जीवात्माका स्वरूप नहीं।

अच्छा तो अग्निसे जैसे 'सहस्रश: स्वरूप: विस्फुल्लिंगा प्रभन्ते '—जैसे

पावकसे, पावक भी साधारण नहीं, सुदीप्त; ज्ञान भी मामृली नहीं, सुदीप्त। जैसे हवासे धौंकनी चलाकर आगको तेजकर देते हैं, वैसे महावाक्यसे उस ईश्वराग्निको प्रज्ज्वलित किया जाय—सुदीप्त अग्नि, प्रदीप्त ज्ञान।

यह आप लोग रोजं पाठ करते हैं ना, तेजिस्वनावधीतमस्तु —हम जो अध्ययन कर रहे हैं, वह तेजस्वी होवे। माने अविद्या निवारण समर्थ भवतु— अविद्याकी निवृत्तिमें वह समर्थ होवे। तो वह पावक भेदभ्रान्तिको भस्म करनेमें समर्थ है, उसको सुदीप्त बोलेंगे।

ये जितने चिदाभास हैं—सहस्त्रशः। विस्फुल्लिङ्गाः माने चिदाभासाः। प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्।

शंकराचार्य महाराजने कहा कि प्रज्ञानकी जो किरणें हैं; तो प्रज्ञानकी किरणें क्या हैं ? बोले—चिदाभास हैं।

यह जो एक-एक शरीरमें, हर शरीरमें जो अहं-अहं-अहं फुर रहा है ना, यह ईश्वरकी किरण फुर रही है। यह चित्तका चिदाभास फुर रहा है। स्वयं चेतन तो अ-फुर है और यह जो फुरता हुआ है अहं-अहं-अहं: जैसे देखो दाल जब चढ़ाते हैं न, बटलोहीमें पानीमें डालकर आगपर जब चढ़ा देते हैं तो फुदकती है। जबतक कच्ची रहती है तबतक फुदकती है न, और पक जाती है तो फुदकना बन्द हो जाता है।

यह हमने गाँवमें देखा गुड़ पकाते हैं। तो जब गन्नेका रस चढ़ाते हैं न, तो वह पहले उफनता है। कबतक उफनता है? जबतक कच्चा रहता है।

कची चीजमें उफान आता है, पकी चीजमें उफान नहीं आता। यह जो बार-बार भावावेश होता है न मनुष्यको; कभी कामावेश होता है, कभी क्रोधावेश होता है, कभी लोभावेश होता है, यह संकीर्तनावेश भी, पटापट गिर रहे हैं, चश्मा बचाकर गिर रहे हैं; बिलकुल चश्मा फूटे नहीं और गिरते हैं बड़े प्रेमसे। जोरसे चिल्लाते हैं और आँखसे आँसू गिरता है सचमुच, ढोंग नहीं है, परन्तु वह भावावेश है।

आपने सुना होगा—मुक्ताबाई, ज्ञानदेव, सोपानदेव और निवृत्तिनाथ; ये सब इकट्ठे हुए; तो यह हुआ कि आओ संतोंकी परीक्षा करें कि कौन पक्का, कौन कच्चा। तो मुक्ताबाई सबकी पीठ ठोंक-ठोंककर देखने लगी कि कौन कच्चा, कौन पक्का। जैसे घड़ेको भी खरीदते समय ठोंककर देखते हैं कि आवाज कच्चेकी है कि पक्केकी है। तो और कोई नहीं बोला। नामदेवजी बोले कि 'भला पीठ ठोंककर संतोंकी परीक्षा होती है?' तो मुक्ताबाईने कहा—और सब पक्के हैं, अकेला यही कच्चा है।

तो भावमें उफान कच्चाईका लक्षण है। पक्की चीज जो होती है उसमें उफान नहीं होता है। तो यह जो दाल फुदकती है यह क्या है? तो सबके हृदयमें अलग-अलग जो अहं-अह-अहं फुदक रहा है, यह क्या है? यह चेतन नहीं है, यह चिदाभास है। यह चेतनका औपाधिक रूप है। मालूम तो पड़ता है कि मैं चेतन हूँ, परन्तु यह असली चेतन तब होगा जब आकाशके घेरेको (काट कर हो)। आकाशमें जो घेरा बन गया न कलेजेका; तो, देखो ऐसा होता है कि आकाश कमरेके भीतर भी हैं, जिसमें हमलोग बैठे हुए हैं और खुला आकाश भी है जिसमें ग्रह, नक्षत्र, तारे घूमते हैं। अच्छा, हमारे पेटमें आकाश है जिसमें खाया-पीआ जाकर बैठता है और हमारे निलयोंमें भी आकाश है जिनमें-से हवा दौड़ती है, हमारे नाडियोंमें आकाश है जिसमें-से खून दौड़ता है। शिरा है, धमनी है, आन्त्र है यह पेटमें है; अब देखो आकाश तो एक ही है। एक नसमें-से वह घिरता है तो उसमें-से हवा चलती है, एक नसमें घिरता है तो उसमें पानी चलता है, एक नसमें घिरता है तो उसमें-से भोजन चलता है और, बाँसुरीमें वह छेद ही तो होता है-सुषिर। क्या बढ़िया मजा आता है। बाँसुरी बजाओ, उसमें-से जब हवा निकलती है; ये जो बाँसके जंगल होते हैं, उनमें किसी-किसी बाँसमें स्वाभाविक ऐसा छेद होता है कि वह जब जंगली हवा उसमें घुसती है न, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि बाँसुरी बज रही है। उसका नाम कीचक होता है संस्कृतमें। अमरकोशमें कीचक है।

तो अब देखो; एक ही तो आकाश है, वह कंठमें आकर मुँहमें-से आवाज निकलती है, पेटमें आकाश है तो भोजन रक्खा जाता है, खूनवाली नाड़ीमें आकाश है तो उसमें-से खून चलता है, हवावाली नाड़ी है, उसमें-से हवा चलती है, साँसवाली नाड़ीमें साँस चलती है। तो यह क्या? आकाश तो एक ही है, लेकिन इतने सुषिर, इतने छिद्र आकाशमें कैसे हो गये? ये

उपाधिक भेदसे हुए। देखां, एक छेद घरकी छतमें कर देते हैं कि घरकी मैल, धुँआ उसमें-से निकल जाय और एक नलमें होता है जिसमें से पानी निकल आवे। ये छिद्र अलग-अलग होते हैं न! एक छिद्र होता है खिड़कीं, उसमें-से रोशनी आती है। तो आकाश एक है कि अनेक है? आकाश तो एक है।

आकाश तो बिलकुल एक है, लेकिन खिड़कीके भेदसे, नलके भेदसे, आँखके भेदसे, नाकके भेदसे (अनेक लगता है)। नाकमें बैठकर आकाश गन्ध सूँघनेका साधन बन जाता है, कानमें बैठकर शब्द सुननेका साधन बन जाता है, आँखमें बैठकर वहीं देखनेका साधन बन जाता है। तो आकाश तो एक ही है; लेकिन उपाधि भेदसे उसके अनेक रूप हो गये। तो—

विस्फुलिङ्गाः—विस्फुलिङ्गा माने अग्नि कण, चिनगारी। छोटी लकड़ीमें चिनगारी, बड़ी लकड़ीमें चिनगारी, बड़ी और छोटी।

यह देखों कभी पड़ोसीके घरमें आग लग जाती है, तो वहाँसे चिनगारियाँ निकलती हैं। आप लोग तो शहरमें रहते हो न; हमने तो छप्परमें आग लगते देखी है, खिलहानमें आग लगते देखी है। जब गेहूँमें, जोमें, खिलहानमें आग लग जाती है, रोके नहीं रुकती है, छप्परमें आग लगती है, सर्वस्व भस्म हो जाता है। तो यह जैसी लकड़ी वैसी आग, जैसी उपाधि वैसी आग।

अव आप देखों जुँएमें चेतन है कि नहीं? जब आप हाथसे उसे छूनेकी कोशिश करते हैं, तो बेचारा भागता है। चींटीको दबाओं तो भागती है, चेतन है। चिड़िया आदमीको शेर समझती है। जैसे आदमी शेर देखकर भागता है, वैसे चिड़िया आदमीको देखकर भागती है। तो चिड़ियामें अलग चेतन, पशुमें अलग चेतन, मनुष्यमें अलग चेतन, पक्षीमें अलग चेतन, यह जो अलग-अलग चेतन मालूम पड़ता है, यह चिनगारी है।

चिनगारी है माने चिदाभास है। यह उपाधिक भेदसे अलग-अलग मालूम पड़ता है, इसमें अग्नित्वरूप जो सामान्य है, वह सबमें एक है। परन्तु परमात्मा जो है वह न सामान्य है न विशेष है। तो देखनेमें सब अहं-अहं-अहं। श्रीरमण महर्षिका वह श्लोक आपने सुना होगा।

अहमर्हार्मात साक्षाद ब्रह्मरूपेण भाति। विशहृदि मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा॥

ड्यते हुए मनसे या ढूँढ़ते हुए मनसे तुम अपने हृदयमें पहुँचो। डूयते हुए मनसे, ध्यान करते हुए या ढूँढ़ते हुए मनसे अनुसन्धान करते हुए— खोजते हुए अपने हृदयमें पहुँचो और देखो वहाँ अहं अहंकी तरह कौन फृदक रहा है।

तो वह जो सवका अहं-अहं अलग मालूम पड़ता है. वह आभास है, विस्फुलिङ्ग है और जो एक अखण्ड चिद् ज्ञानाग्नि है. वह क्या है? वह योले—अक्षर है।

तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।

अव कहते हैं कि हे सोम्य! यह आपका नाम है, जिज्ञासुका नाम है, श्रोताके लिए सम्बोधन है—हे सोम्य!

जिज्ञासुका नाम आग नहीं है, सोम है। आप इस बातको समझो। कोई कहे—हे गुरुजी ज्ञान वताओ नहीं तो हम आगकी तरह जला देंगे तुमको, क्या समझते हो। भस्म कर देंगे तुमको, नहीं तो दो ज्ञान।

महाराज रास्तेमें कहीं चलते हो न, कालवा देवी रोडपर कोई मिले और झुककर उन्होंने पैर छुआ; दूरसे प्रणाम करनेका है, छूकर प्रणाम करनेकी जगह नहीं है। यह विद्या है प्रणामकी, भला। कहाँ कैसे प्रणाम छूकर नहीं किया जाता। खाते समय, दातुन करते समय, लघुशंका-शौच, एवं चलते समय—यह सब छूकर प्रणाम करनेका अवसर नहीं है। अब महाराज चलते समय आकर घुटनेपर वह नाखून मारा, स्वामीजी ठहरो-ठहरो, आपसे एक प्रश्न करना है।

क्या प्रश्न करना है? यह आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं कि अलग-अलग हैं? अरे बाबा, यह प्रश्न हुआ कि यह डंडा मारना हुआ! अरे यह तो सिमत्पाणिं: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं जरा श्रद्धा-भिक्तसे पूछो भाई! तुम्हारे लिए बोलें क्यों? क्यों अपनी जबानको तकलीफ दें, क्यों गला खोलें? मालूम तो पड़े कि प्रेम है। अरे हमसे प्रेम न होय, परन्तु वस्तुसे तो प्रेम होय। उसके लिए थोड़ा समय निकालो, थोड़ा त्याग करो, थोड़ा तप करो, तब न! तो सोम्यका अर्थ है—सोम माने चन्द्रमा जो उगता है, जो सबके ऊपर चाँदनी बरसाता है। जिज्ञासुका हृदय कोमल होना चाहिए, जिज्ञासुका हृदय रसवर्षी होना चाहिए।

हमको मालूम है,यह सत्संगी लोग जब अपने घरमें किसीपर गुस्सा करते हैं न, तो घरवाले कहते हैं क्या सत्संग करता है, छह वर्षसे तो सत्संगमें जाता है और जरा-सी बातपर गुस्सा आ जाता है, अरे राम-राम-राम; सारा सत्संग धरा रह गया।

और, अगर सत्संगी कोई जूता चुराते पकड़ लिया जाय तो क्या होगा? तो सोम्यका अर्थ है रससे, चाँदनीसे, सामने वालेको अपनी आवाज ऐसी मीठी करो, अपनी दृष्टिको इतना कोमल बनाओ, अपने भावमें इतने प्रेम लाओ कि सामनेवाला ईश्वर दिखे—सोम्य। तुम्हारे हृदयमें जो रस है उसको बरसो तब वह बढ़ेगा और आग जलाओगे तो आग बढ़ेगी।

सोम्य माने सरल। वेदमें भी यह 'सोम्य' शब्द आता है भला। क्या? श्रद्धत्त्व सोम्य।—बेटा, श्रद्धा करो, श्रद्धा करो।

तो हे जिज्ञासुओ! सरल चित्तके श्रद्धालु जिज्ञासुओं!! जैसे आगसे हजारों आगकी तरहकी चिनगारी निकलती हैं, उसी प्रकार सृष्टिके मूलमें एक अक्षर तत्त्व है, उसका वर्णन कल कर दिया था। अक्षरः अक्षरणात्—जिसमें क्षरण नहीं होता, अक्षत् त्वात्। अक्षयत्वात्। इसी अक्षरसे ये विविध भाव निकलते हैं और उसीमें अभियन्ति। तत्रैव अभियन्ति और उसीमें जाकर समा जाते हैं। यन्ति माने जिसमें-से निकलते हैं उसीमें समा जाते हैं।

अब जैसे देखो किसीने कहा कि आकाशमें घटाकाश पैदा हुआ। घटाकाश नहीं पैदा हुआ, मिट्टीका घड़ा पैदा हुआ। आकाश तो जैसे पहले था, वैसे अब भी है कि मकानमें मठाकाश पैदा हुआ। नहीं! मठाकाश पैदा नहीं हुआ, मठकी उपाधि पैदा हुई और उससे यह घर गया। कि बाँसुरीमें वंशाकाश पैदा हुआ। नहीं, नाद्याकाश पैदा हुआ, हृदयमें हृदयाकाश, मुखमें मुखाकाश, यह नहीं; आकाश तो ज्यों-का-त्यों है, ये उपाधियाँ खुद घेरेवाली हैं और जब पैदा होती हैं तो अपने गुण धर्मको, घेरेको, आकाशपर आरोपित कर देती हैं। उप माने पास रह करके जो अपने गुणधर्मका दूसरेमें आधान कर

दे, उसका नाम उपाधि। 'उप' समीपे स्थित्वा। आधत्ते इति उपाधि:। उपाधि किसको कहते हैं ? समीप होकरके जो आधान करती है ?

धा धाध्यवा- धा धातुकी भू संज्ञा होती है और उससे फिर उपसर्गे गोष्ठी, ई प्रत्यय व्याकरणकी रीतिसे होता है। उप और आ—ये दो उपसर्ग हैं और धा धातु है, ई प्रत्यय है, तब उपाधि शब्द बना। जो पास रहकरके अपने गुणधर्मको अपने पड़ोसीमें संचारित कर दे, उसका नाम होता है उपाधि।

जैसे यह लाल फूल होता है, जपा-कुसुम जिसको बोलते हैं, इसको और स्फटिक मणिको एक साथ रख दो, तो स्फटिक मणि लाल लगेगा। यह देखों जो विल्लौरी पत्थर होता है, उसको अगर लाल डोरेमें गुहा दिया जाये न, पोहवा दिया जाय लाल-डोरेसे, तो जो डोरेकी लाली है, वह बिल्लौरी पत्थरमें भी मालूम पड़ेगी। स्फटिक मणिमें भी मालूम पड़ेगी।

स्फटिक मणि ऐसा नहीं समझना कि कोई सातवें आसमानकी होती है, बिल्लौरी पत्थरको ही स्फटिक मणि बोलते हैं। यह संस्कृतमें 'मणि' शब्द बहुत कीमती नहीं है, चुम्बकको अयस्कान्तमणि बोलते हैं और, यह जो कसौटी है न, यह स्वर्णकान्त मणि है। मणि—पत्थरकी एक तरहकी जाति है और बहुत कीमती अर्थमें इसका व्यवहार नहीं होता है।

तो नारायण, उपाधि किसको कहते हैं ? देखो घड़ा गोल पेटवाला बना दिया और बाँसुरी लम्बी है तो उसने आकाशको लम्बा बना दिया।

जैसे बल्ब हैं। लम्बा बल्ब बिजलीकी रोशनीको लम्बा बना दे और गोल बल्ब है तो रोशनीको गोल बना दे। अब रोशनी गोल है कि लम्बी है? तो जैसे उपाधिके कारण बिजलीकी रोशनी गोल या लम्बी मालूम पड़ती है, पीली, हरी, लाल या सफेद मालूम पड़ती है इसी प्रकार यह जो परमात्मा है यह हमारे अन्त:करणमें जैसा बीज है, उस बीजकी उपाधिके कारण वैसा मालूम पड़ता है।

अच्छा आप देखो एक ही खेत है, हमने तो बोकर देखा है, हमने खेती की है। एक खेतमें गन्ना बो दिया, गन्ना बोया जाता है चैत्रमें, फाल्गुनरें और बरसात आयी तबतक गन्ना सारे खेतमें नहीं हुआ, तो उसमें लाल मिर्च बो दिया। एक ही खेत और उसमें पटवा बो दिया—सन बो दिया जगह-

जगह, अरहर भी बो दिया। तो क्या हुआ? एक ही खेतमें गन्ना मीठा होता है, मिर्च बड़ा तिक्त होता है। एक ही जमीन है, एक ही पानीसे सींचते हैं। एक ही गर्मीसे पलते हैं, एक ही हवा सबको लगती है, एक ही आकाशमें बढ़ते हैं। अच्छा! सबके बीजमें भी पंचभूत है और पोषणमें भी पंचभूत है और स्थानमें भी पंचभूत है; लेकिन एक मीठा क्यों, एक शक्कर क्यों और एक तिक्त क्यों? यह भेद क्यों हुआ? बोले—बीजमें जो संस्कार है न, बीजकी उपाधिके भेदसे अलग-अलग हो गया।

इसी प्रकार यह चैतन्य जो परमात्मा है, वह स्त्रीका शरीर, पुरुषका शरीर, मच्छरका शरीर, चिड़ियाका शरीर, हाथीका शरीर, घोड़ाका शरीर, ऊँटका शरीर ये सब उपाधि है। और उनमें अन्त:करणमें जो कर्म संस्कार हैं, सूक्ष्म शरीरमें कर्म संस्कार हैं, वे उपाधि हैं। एक ही पंचभूतसे सबका शरीर बना। स्त्रीका शरीर बनानेके लिए भगवान्ने कहींसे कोमल पंचभूत नहीं मँगाया और पुरुषका शरीर बनानेके लिए कहींसे कठोर पंचभूत नहीं बनाया। और, स्त्रीके दिलमें कोमलता भरनेके लिए और पुरुषके दिलमें कठोरता भरनेके लिए कहींसे अलग–अलग उपादान नहीं मँगाया, बिलकुल पंचभूत वहींके वही, लेकिन उन–उन अन्त:करणोंमें जैसा संस्कार है, बीज है, उसके अनुसार, चैतन्य आकाशवत् एक है। तो जैसे छेद पैदा नहीं होता, बड़ा छेद, छोटा छेद, सुषिर; ये छेद पैदा नहीं होते, उपाधि पैदा होती है और छेदको छोटा बड़ा कर देती है। इसी प्रकार यह अन्त:करण और देहकी उपाधिसे यह चैतन्य छोटा बड़ा मालूम पड़ता है।

नामरूप कृत देहोपाधिक निमित्तसे ही जीवकी उत्पत्ति और जीवका प्रलय मालूम पड़ता है, असलमें तो वह अविनाशी परमात्मासे बिलकुल एक मिला हुआ है। उससे बिलकुल जुदा नहीं है।

तो; पहले उपाधिक सिंहत अक्षरका वर्णन किया। अब जरा उपाधिका निषेध करके अक्षरका वर्णन करो, तब परमार्थ स्वरूप जो है, वह प्रकट होगा। पहले कारणका आरोप कर दिया परमात्मापर और वर्णन किया। अब कारणका निषेध करके परमात्माका वर्णन करते हैं। इसीको अध्यारोपवाद बोलते हैं। पहले यह कहा कि सम्पूर्ण जगत्में देहकी उपाधिसे एक ही परमात्मा अनेक रूपमें भास रहा है। अब कहते हैं जरा उस परमात्माका ख्याल करो जिसमें यह देहकी उपाधि न होवे।

नामरूपबीजभृतादव्याकृताख्यात्स्वविकारापेक्षया परादक्षरात्परं यत्सर्वोपाधिभेदवर्जितमक्षरस्यैव स्वरूपमाकाशस्येव सर्वमूर्तिवर्जितं नेति नेतीत्यादि विशेषणं विवक्षत्राह—

> दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ 2.1.2

यह दूसरा मन्त्र आया। देखो, यह अबतक जो बात समझाई वह लौकिक-पद्धति हुई, अब जो अलौकिक वस्तु है उसको लौकिक पद्धतिसे कैसे समझावें।

असलमें जो अत्यन्त परोक्ष है, उसको प्रत्यक्ष करके कैसे दिखावें! शंकराचार्य भगवान्ने यह प्रश्न उठाया। बोले—परमात्मा अत्यन्त परोक्ष है कि प्रत्यक्ष है? पहले यह ही बता दो। बोले—देखो, जो पहचानते नहीं हैं परमात्माको, उनके लिए तो परमात्मा अत्यन्त परोक्ष है और जो पहचानते हैं, उनके लिए हाजरा-हजूर है। बस, पहचानने और न पहचाननेका भेद है।

देखो, एक आदमी जैसा कोई होगा, वैसा कोई पहचान सकता है। आप यह बात बिलकुल ध्यानमें रख लो। जिसके अन्तः करणमें धूर्तता होगी, वह दूसरेको कभी सच्चा समझ नहीं सकता, यही समझेगा कि इसके मनमें भी कोई धूर्तता होगी। चालबाज दूसरेको भी चालबाज समझता है।

पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते—जो खुद पापी होता है वह दूसरेको भी पापी समझता है। जो खुद कामी होता है वह दूसरेको कामी समझता है। जो खुद द्वेषी होता है वह दूसरेको द्वेषी समझता है। यह नियम है—पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते। पापीकी नजरमें सब जगह षाप ही होता है। अपना मन साफ करो।

कहते हैं—अपनी गाँठ मजबूत करो। हमारे गाँवमें कहावत है—अपनी गाँठ नीमन करो, नीमन करो माने मजबूत करो और पर-चोरी मत लगाओ, दूसरेको चोरी मत लगाओ।

तो अपने दिलको साफ करो—यह इसका रास्ता है। अगर परमात्माको

समझना होवे तो अगर तुम अपनेको हड्डी मांस चामवाला मानोगे, तो तुमको परमात्मा भी हड्डी-मांस चामवाला मालृम पड़ेगा और तुम अपनेको छोटा देखोगे तो तुमको परमेश्वर भी छोटा दिखेगा और तुम अपनेको अन्त:करणवाला, रागद्वेषवाला देखोगे तो परमात्मा भी तुमको राग-द्वेषवाला दिखेगा और यदि तुम अपनेको बहुत सूक्ष्मतम जीव देखोगे तो परमात्मा बड़ा जीव दिखेगा—एक जीव दिखेगा और यदि तुम अपनेको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त जानोगे तो परमात्मा भी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त दिखेगा। यह जैसे तुम होओगे, वैसे ही परमात्माको देख सकोगे। इसीलिए वेदान्तियोंने कहा कि भाई तुम अपना शोधन करो कि मैं कौन हूँ?

अभी तो तुमको यह मालूम पड़ता है कि मुझे गुस्सा नहीं आता, दूसरेको आता है। हे भगवान्! अगर तुमको गुस्सा नहीं आता है तो दूसरेका गुस्सा तुमको मालूम कैसे पड़ता है? तब तो यह मालूम पड़ेग़ी कि ये हमारी भलाई कर रहे हैं।

देखो बच्चेको माँ लगाती है न चपत, तो क्या होता है! अरे झट उसका आँचल उठाकर उसकी छातीमें मुँह दबा दे, यह तो हमारी माँ है।

तो, जबतक तुम्हारे मनमें काम न हो (दूसरेको कामी नहीं देख सकते)। एक देखो, जरा संसारी बात आपको सुनाता हूँ रासलीला हमारे यहाँ हो रही थी। तो रासलीलामें लोग बड़ी गड़बड़ करते हैं। वे जो स्वरूप होते हैं रासलीलामें और जो समाजी होते हैं, उनके साथ कोई सम्बन्ध न जुड़े और लीलामात्र देखकर आदमी ध्यान करे तब तो उससे लाभ होता है और यदि स्वरूपोंके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध हो जाता है और समाजियोंके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध हो जाता है और काम-क्रोधकी वृद्धि होती है।

हमको बहुत अनुभव है इस बातका। हमने ऐसे लोग देखे हैं जो पहले राधाजीको—सरूपको साक्षात् राधारानी पानते थे और जब गुस्सा आया तो वह पीटना शुरू किया, दोनोंमें वह दुश्मनी हुई, ऐसे-ऐसे लोग देखे हैं। हमारे सामने तो हजारों ऐसे दृष्टान्त हैं। तो लोग गड़बड़ी कर बैठते हैं भला! रासलीलाकी बात है; संसारी बात आपको सुनाता हूँ। एक स्त्रीने आकर एक दिन श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे शिकायत की। उसने कहा कि जब मैं रासलीलामें बैठती हूँ, तो अमुक पुरुष बराबर मेरी ओर देखता है। उसकी दृष्टि बहुत खराब है। ता बाबा हँसने लगे। वह बोली कि महाराज हँसते क्यों हैं! वह घूरता है और आप हँसते हैं! तो बोले कि तुमकों कैसे मालूम पड़ता है कि वह तुम्हारी ओर देख रहा है? तो बोली—महाराज मैं बार-बार देखती हूँ तो वह मेरी ओर देखता हुआ मिलता है। भलेमानुस! तू उसकी ओर क्यों देखती है? अरे तू देखना बन्द कर दे, वह देखता है तो देखने दे!

नारायण! यह आध्यात्मिक मार्ग जो है वह अपने मनको शुद्ध करनेका है। यह दूसरेके मनका ठेका लेनेका नहीं है। जो यह चाहता है कि हमारा मन तो ऐसा, बड़ा बढ़िया; दूसरेका मन ठीक किया जाय, वह संसारी है। अध्यात्मका मार्ग सोलहों आने अपने मनको शुद्ध करनेका है। तो यदि आप चाहते हो कि हम परमात्माके मार्गपर चलें, तो आप देखो परमात्माको ढूँढ़ो, बहुत बढ़िया—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

वह लौकिक नहीं है। जैसा तुम, संसारी समझते हो कि जैसा हम वैसा वो, ऐसा नहीं है। अगर ऐसा तुम समझते हो तो श्रद्धा भिक्तिके मार्गसे च्युत हो गये कि जैसा मैं वैसा वो। ऐसा मत समझो। तब? कि दिव्य भावका अनुसन्धान करो कि परमात्माका स्वभाव यह है, वह सबको जानता है, सबको प्रकाशता है। जैसे सूर्यकी रोशनीमें सब रूप-रंग दिखायी पड़ते हैं, वैसे केवल रूप-रंग ही नहीं, शब्द-स्पर्श, रूप-रस-गन्ध सब उसीमें दिखायी पड़ते हैं।

आपको क्या सुनावें, जब कभी ख्याल जाता है परमात्माकी विलक्षण लीला पर, यह समूचे आसमानको जब हम एक छेदवाली चीजमें-से देखते हैं, तो समूचा आकाश दिखता है? एक छेदवाली चीज लगा लें ऐसे लम्बी-सी, पोली-पोली और उससे देखें, तो क्या दाएँका आसमान दिखेगा? अरे बिलकुल थोड़ा-सा सामनेका दिखेगा।तो जैसे कोई बाँसुरीमें-से झाँके और चाहे कि हम सारे आकाशको देख लें तो यह शक्य नहीं है; वैसे हम इन इन्द्रियोंके छेदमें-से झाँकते हैं और सोचते हैं कि ईश्वरको देख लें, तो इन्द्रियों के छेद ईश्वरको देखने के बराबर नहीं हैं। ईश्वरको देखने के योग्य नहीं हैं। इनसे तो आप देख लो कि हीरा कैसा, मोती कैसा, सोना कैसा, चाँदी कैसी?

देखो एक वस्तु होती है प्रत्यक्ष। जैसे घड़ीका रूप जो है. वह आँखसे दीख रहा है और उसका स्पर्श त्वचासे हो रहा है और इसके गुण जो हैं— िकतने बजे हैं यह 'भाति-सिद्ध' है। जिसको घड़ी देखना आता है वही घड़ी देखकर मालूम कर सकता है कि कितने बजे हैं? बच्चेके हाथमें घड़ी जाये तो मुँहमें उठाकर डाल लेगा, या पटक देगा, या खिलौना समझेगा। घड़ीमें जो समय बतानेकी योग्यता है—शक्ति है, वह बच्चेको नहीं मालूम है। समय तो 'भातिसिद्ध' है। जिसको समय देखना आता है उसको समय मालूम पड़ेगा। सो भी घड़ी ठीक है तो और गलतं है तो नहीं मालूम पड़ेगा। तो देखो मनसे मालूम पड़ता है—संस्कारसे कि घड़ी बताती है। अब आप देखो इसका नाम हुआ—प्रत्यक्ष। कानसे, आँखसे, नाकसे, जीभसे संसारका प्रत्यक्ष ज्ञान होंता है।

अच्छा 'स्वर्ग है'—गह आपको कैसे मालूम है? इसका परोक्ष ज्ञान हुआ, अनुमानसे भाई यहाँ आदमी पुण्य करता है तो वहाँ जाकर स्वर्ग भोगता होगा। पाप करता है तो नरकमें जाता होगा। यह प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ पुस्तकका, परोक्ष ज्ञान हुआ स्वर्गका। अच्छा आपके मनमें काम है कि क्रोध है कि लोभ है! तो महाराज ढोंगी लोगोंको तो उसका भी पता नहीं चलता। जो प्रच्चा जिज्ञासु होता है, उसको पता चलता है कि हाँ हमारे मनमें काम आया, क्रोध आया, लोभ आया, क्योंकि इसमें बड़ी दिक्कत यह है, आपको बतावें कि जिस समय यह ख्याल होता है कि यह काम है, उस समय काम नहीं रहता है। उस समय तो 'यह काम है'—यह कामकी पहचान रहती है।

यह तो मनमें दो चीज कैसे रहेगी? यह काम है, कामके पहचाननेकी वृत्ति और कामना, माने स्त्री या पुरुषकी कामनासे, स्त्री या पुरुषका जो आकार आया मनमें सो; तो जो स्त्री-पुरुषका मनमें आकार आया, जब वह होगा इष्टके रूपमें, तब होगा काम और, जब यह मालूम पड़ेगा कि यह काम है, तो काम रहेगा नहीं। इसलिए महाराज चोर जैसे छिप जाता है न, घरके मालिकके आनेपर, वैसे 'यह काम है '—' यह काम है ' करती हुई जब वृत्ति—घरवाली आती है, तो चोर जो है वह छिप जाता है। तो इसलिए कामको लोग पहचान नहीं सकते। काम पहचाना जाता है कब ? यह देखो, कि जब ऐसी वृत्ति होती है कि मैं कामी हूँ। इसीको बोलते हैं यह साक्षी भास्य है 'काम'।

ऐसे ही क्रोधीको यह मालूम ही नहीं पड़ता कि यह क्रोध है। घड़ेकी तरह क्रोध थोड़े ही होता है? घड़ीकी तरह क्रोध थोड़े ही होता है? मैं-के साथ जोड़े बिना काम-क्रोधका पता ही नहीं चलता है और तब तो होगा कि हाय-हाय मैं बड़ा बुरा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी। जो तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी॥

तो यह बड़ा मुश्किल है। 'यह काम है 'की पहचान नहीं। यह देखो यह वेदान्तकी प्रक्रियामें यह सूक्ष्म वस्तु है। यह सामान्य रूपसे आप पढ़कर नहीं समझ सकते। 'यह काम है'—ऐसे कामकी पहचान नहीं होती। यदि यह काम है—ऐसी पहचान होवे तो 'यह घड़ी है' की तरह काम प्रत्यक्ष हो जायेगा। तब क्या होता है? कि 'मैं कामी हूँ' माने आभासके साथ एक होकरके काम भासता है। आभासरूप है। इसलिए यह साक्षी भास्य है। तब! साक्षीको काम, क्रोध, लोभका अपरोक्ष होता है।

अब यह साक्षी कौन है ? देखो एक तो वह है जो घड़ीको देख रहा है। मैं देह हूँ—ऐसा तो कभी होता ही नहीं है। मैं मनुष्य हूँ—ऐसा होता है; क्योंिक मनुष्य भावनात्मक है न!

मैं पशुसे व्यतिरिक्त मनुष्य हूँ। यह पशु भी देह है, मनुष्य भी देह है, पक्षी भी देह है, इसलिए मैं देह हूँ—ऐसा कहनेसे किसीसे व्यतिरिक्तताका बोध नहीं होता और, जितनी वृत्ति होती है, वह किसी-न-किसीसे व्यतिरिक्त करनेके लिए होती है। इसलिए मैं मनुष्य हूँ—यह वृत्ति तो होती है, परन्तु मैं देह हूँ—यह वृत्ति होनेसे पशुसे अलगाव कहाँ हुआ, मछलीसे अलगाव कहाँ हुआ, चिड़ियासे अलगाव कहाँ हुआ? और 'मैं मनुष्य हूँ'—कहनेसे पशवादिसे अलगाव हो गया। तो यह मनुष्य तो बिलकुल भावनात्मक है।

अच्छा, तो देखों. मैं घड़ीको जानता हूँ कि यह घड़ी है और में मनुष्यको जातना हूँ और मैं जाननेवाला कौन हूँ? तो अपनेको मनुष्य जानने वाला मैं जो है वह आभास है। अपनेको कामी जाननेवाला, क्रोधी जानने वाला, लोभी जाननेवाला मैं-मैं-मैं; अब इसको कौन जानता है? इसको साक्षी जानता है।

आपको बताते हैं यह साक्षी जो है। स्वर्ग नरक तो परोक्ष हैं और घड़ी किताब जो हैं ये प्रत्यक्ष हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह जो हैं ये साक्षीभास्य अपरोक्ष हैं। और साक्षी क्या है? दिव्यः दिव्य है। दिव्य है माने न वह घड़ी है, न वह मनुष्य है, न वह कामी, क्रोधी, लोभी है, न वह जाग्रत् स्वप्र सुषुप्त है, न विश्व-तैजस-प्राज्ञ है दिव्यता उसकी क्या है? दिव्यता यही है कि वह माया और अविद्याके सम्बन्धसे सर्वथा रहित साक्षात् अपरोक्ष है— तस्मात् दिव्यः।

उसको दिव्य क्यों कहते हैं ? बोले अमूर्त: अमूर्त है। बोले—कोई दूसरा होंगा नहीं, पुरुष:—वह पुरुष है। अप्राण: ह्यमना: शुभ्र: ऐसा तो वर्णन आया, अब यह सब बात आपको कल सुनावेंगे।

यह बहुत महत्त्वपूर्ण श्रुति मानी जाती है, मुण्डकोपनिषद्में यह अपने ढंगकी अपूर्व श्रुति है और गौड़पादाचार्य शंकराचार्य आदि जो महा-महा वेदान्ती हैं, वे बारम्बार—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः—उद्धृत करते हैं। इसके टुकड़े-टुकड़ेको उद्धृत करते हैं। इसलिए इस श्रुतिका भाव कल विस्तारसे सुनावेंगे।



प्रवचन : 14, मंत्र 2

जीवका निरुपाधिक स्वरूप=अक्षरतत्त्व

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ 2.1.2

तदेतत्सत्यं—साक्षात् अपरोक्ष आत्मसत्यका-परमार्थ सत्यका निरूपण करते हैं।

आपको कल सुनाया कि फूल या घड़ी देखना है, तो फूल भी होना चाहिए और रोशनी भी होनी चाहिए और आँख भी होनी चाहिए। रोशनी न होवे और आँख-फूल होवे तो फूल नहीं दिखेगा। अन्धेरेमें फूल कैसे दिखेगा? और रोशनी भी होवे और आँख भी होवे, पर फूल ही न हो, तो कहाँसे दिखेगा? अच्छा फूल भी होवे, रोशनी भी होवे, पर आँख ही न हो, तो फूल कहाँसे दिखेगा? तो फूल देखनेके लिए तीन चीजकी जरूरत हुई—फूलका होना, रोशनीका होना और आँखका होना। तो फूलको अधिभूत बोलते हैं और, जिसकी रोशनीमें यह आँख देखती है उसे अधिदैव बोलते हैं और, आँखको अध्यात्म बोलते हैं। तो अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत। अधिदैवकी सहायतासे अध्यात्म अधिभूतको देखता है।

अब यह बात केवल फूलके बारेमें नहीं है। दिशाकी सहायतासे कान शब्दको सुनता है। तो शब्द अधिभूत हुआ, दिशा अधिदैव हुई और कान अध्यात्म हुआ। वायुकी सहायतासे त्वचा स्पर्शको ग्रहण करती है तो त्वचा अध्यात्म है, वायु अधिदैव है और स्पर्श अधिभूत है। ऐसे आप सारी इन्द्रियोंकी उपलब्धिमें लगा लो। अब जहाँ प्रत्यक्षको गित नहीं होती, वहाँ अनुमान करना पड़ता है। तो अनुमान बिलकुल प्रत्यक्ष पराधीन है। मान माने प्रत्यक्ष और अनुमान माने प्रत्यक्षके पीछे-पीछे चलनेवाला मान। प्रत्यक्ष पराधीन और प्रत्यक्षताका साधन—दोनों बात है—अनुमानमें। प्रत्यक्षमूलक होता है और प्रत्यक्षफलक होता है अनुमान।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव और चेष्टा। नौ संख्या पर्यन्त प्रमाण होते हैं।

पहले रसोई घरमें अग्नि और धूमके सम्बन्धका ग्रहण है, व्याप्तिग्रह है, तब धुँआ देखकर पहाड़में अग्निका अनुमान हुआ और अग्निका फिर प्रत्यक्ष होगा। तो अनुमान जो है वह तो प्रत्यक्ष मूलक और प्रत्यक्ष फलक है। इसीसे कई मतवादी तो ऐसे हैं, चार्वाक् आदि, जो प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं, अनुमानको मानते ही नहीं। बौद्ध लोग दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। इससे फिर उनके पुनर्जन्मकी भी सिद्धि हो जाती है, कर्म संस्कार भी रहते हैं।

फिर उपमान एक प्रमाण होता है, सादृश्य ज्ञान।

अभावका जो ज्ञान हीता है उसको अनुपलिब्ध बोलते हैं (जैसे घटाभावका ज्ञान िक) यहाँ घड़ा नहीं है। और महाराज, कोई आदमी है तो खूब मोटा तगड़ा और उसके बारेमें मशहूर है कि दिनमें तो कभी खाते देखा ही नहीं मैंने इसको, तो अर्थापित प्रमाणसे सिद्ध है कि रातको खाता है। क्योंकि बिना खाये तो मोटा हो ही नहीं सकता।

ऐतिह्य माने इतिहासमें ऐसी घटनाएँ होती रही हैं। ऐतिह्य ऐतिहासिकोंका और सम्भव पौराणिकोंका यह प्रमाण होता है। और, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि— यह मीमांसकोंका, वेदान्ती लोग भी इसको मानते हैं।

नाट्य शास्त्रके जो ज्ञाता हैं, वे चेष्टाको भी प्रमाण मानते हैं। महाराज, यों आँख मार दी—यह कौन-सा प्रमाण है? आँख तरेरकर देख लिया, चुप हो गये कि भाई मना करते हैं बोलनेको। चेष्टासे भी बात समझमें आती है तो यह भी एक प्रमाण है।

तो नाट्यशास्त्रमें चेष्टाको प्रमाण मानते हैं और पुराण शास्त्रमें सम्भवको

प्रमाण मानते हैं। यह होना शक्य है कि नहीं, सम्भव है कि नहीं है? यदि सम्भव होना शक्य है, वैसा होना शक्य है तो पुराणमें जो बात लिखी है वह बिलकुल प्रामाणिक है। क्योंकि उस ढंगपर वह लिखी हुई है।

तो अब यह जो आत्मदेव हैं ये किस प्रमाणसे मालूम पड़ते हैं, जरा यह तो देखो; प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिहा, सम्भव, चेष्टा किससे?

ये जितने प्रमाण होते हैं, वे अन्य वस्तुको सिद्ध करनेके लिए होते हैं। स्वको सिद्ध करनेके लिए प्रमाणकी जरूरत कहाँ है?

प्रमाता च प्रमाणञ्च प्रमेयं प्रमितिस्तथा। यस्य प्रसादात्सिद्ध्यन्ति तत्सिद्धो किमपेक्ष्यते॥

अरे! मैं होऊँ तो मुझे प्रत्यक्ष होता है, मैं होऊँ तो अनुमान करता हूँ। मैं होऊँ तो सादृश्य ज्ञान होता है, मैं होऊँ तो शब्द श्रवण होता है, मैं होऊँ तो अर्थापित, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव, चेष्टा—सब मालूम पड़ती है और भी भीतर जो है सो। आत्माराम ही न होवें तो 'श्री गोविन्दाय नमो नमः 'फिर होगा क्या? यह तो आत्मदेवकी सत्तासे ही सबकी सिद्धि होती है, किसी प्रमाणपूर्वक आत्माकी सिद्धि नहीं होती है।

एकने स्वामी रामतीर्थसे पूछा—आत्मा ब्रह्म है—इसमें क्या प्रमाण है? ठोंक दी छाती रामतीर्थने, बोले—मैं प्रमाण हूँ। लो बात ही कट गयी बिलकुल।

तो असलमें प्रमाणको प्रमाणित कैसे करें ? तो आप देखो पद्धित जुदा-जुदा होती है। घड़ीको देखनेक लिए आँख; हमारे कमरेमें रातको रोशनी नहीं होती है, तो घड़ी दिखती नहीं है, टार्च जलाना पड़ता है। टार्च जलाकर देखा कि घड़ीमें कितने बजे हैं। लेकिन जब रोशनी जलती होती है, तो रोशनी है कि नहीं यह देखनेके लिए टार्च जलाना नहीं पड़ता। तो अधिभूत पदार्थके ज्ञानमें अधिदैव और अध्यात्म दोनों चाहिए, परन्तु अधिदैव पदार्थके ज्ञानमें अधिभूतकी जरूरत नहीं होती। सूर्योदय हो रहा है तो अब क्या टार्चसे देखेंगे कि सूर्य उग रहा है ? उसमें रोशनीकी जरूरत नहीं है। अध्यात्मसे अधिदैवका बोध हो जाता है। अच्छा तो देखो सूर्यको देखनेके लिए तो आँख चाहिए। अब आँख है कि नहीं, यह देखनेके लिए क्या चाहिए?

और भीतर चलो। तो यह आँख जो है यह साक्षीभास्य है। हमारे आँख है कि नहीं, यह हमको मालूम पड़ता है।

अब दूसरा कोई कहे तुम्हारे आँख है तब मालूम पड़ेगा? शीशेमें देखकर तब निश्चय करोगे कि हमारे आँख है? नहीं भाई, आँख है— यह स्वत: निश्चय होता है। तो बोले— अच्छा हम हैं कि नहीं?

न कश्चित् प्रतीयात् नाहमस्मि।

किसीको कभी यह भ्रम हो ही नहीं सकता कि मैं नहीं हूँ। पागल कह सकता है, लेकिन अनुभव उसको भी नहीं हो सकता।

वह तो कहते हैं कि एक कोई पागल था, तो रातको सड़कपर सो गया। सामनेसे आयी बैलगाड़ी, तो बैलगाड़ीवालेने कहा कि हट जाओ सामनेसे, सड़कपरसे। तो उसने जगकर पहले जाँच की कि मैं वही हूँ कि नहीं जो कल सोया था। तो देखा, वह नया जूता पहनकर सोया था। उसको याद आयी, पाँव देखा तो, पाँवमें-से कोई नया जूता निकाल ले गया था, और पुराना पहना गया था, वह तो पागल था। बैलगाड़ीवालेपर चिल्लाया कि ठहरो-ठहरो। क्या बात है भाई? अरे मैं वह नहीं हूँ जो कल सोया था। क्या हो गया? कि मैं तो नया जूता पहनकर सोया था, आज तो पुराना जूता है, तो मैं कलवाला नहीं हूँ।

यह तो पागल बोलेगा। यह चामका जूता महाराज चाहे रहे चाहे बदले। यह चाम शरीरका चाहे रहे चाहे बदले; मैं तो मैं ही है; वह नहीं बदलता है। तो ये आत्मदेव कैसे हैं? ये सम्पूर्ण प्रमाणोंके प्रमाण हैं। प्रमाण सब-के-सब साक्षीभास्य हैं।

देखो; प्रमेय जो है वह प्रमातृभास्य होता है, आभासभास्य होता है। सबके हृदयमें एक प्रमाता है, प्रमाण वृत्तिका अभिमानी। प्रमाणवृत्तिसे अविच्छित्र जो चैतन्य है, अन्तः करणाविच्छित्र चैतन्य है उसको प्रमाता बोलते हैं और अन्तः करण वृत्त्यारूढ़ जो चैतन्य है उसको प्रमाण बोलते हैं। यही अज्ञानका निवारण करता है और विषयमें जो चैतन्य है, घटमें जो चैतन्य है वह प्रमेय चैतन्य है।

प्रमेय चैतन्य, प्रमाण चैतन्य, प्रमातृ चैतन्य। तो जब प्रमातृ चैतन्य. प्रमाणवृत्तिमें आरूढ़ होकर, माने प्रमाण चैतन्य बन करके प्रमेय चैतन्यसे ऐक्यापत्र होता है तब घटका साक्षात्कार होता है—

अहं घटं जानामि।

इसका अर्थ है कि घट बाहर होकर ज्ञात नहीं होता। उसका अभिप्राय यह है कि जब घटाविच्छन्न चैतन्य और अन्तः करणाविच्छन्न चैतन्य—दोनोंका जब अभेद होता है तब 'अहं घटं जानािम'—मैं घड़ेको जानता हूँ—यह वृत्ति उदय होती है। बिना अभेदके ज्ञान होता ही नहीं।

यह वेदान्तियोंकी प्रक्रिया है।

ये आत्मदेव क्या हैं? यह बात बड़ी सीधी-सादी है लेकिन, जिनको संस्कार नहीं है, उनको समझनेमें किठन होता है। जबतक घड़ी हमारे भीतरके ज्ञानमें नहीं आवेगी तबतक घड़ी समझी नहीं जा सकती। बाह्य देशमें स्थित घड़ी नहीं समझी जाती। यह देखों जैसे फोटो कब आता है? बाहरके आदमीका फोटो नहीं आता, जब उस आदमीकी परछाईं पहले कैमरेमें पड़ लेती है, जब कैमरेमें जो शीशा है—काँच है, जो उसमें छायाको ग्रहण करनेवाली शक्ति है, जब आदमी छायारूपसे कैमरेमें पहुँच जाता है तब उसकी फोटो उतरती है। तो दुनियाकी कोई भी वस्तु जब अपनी परछाईं हमारे अन्त:करणमें डाल देती है और अन्त:करणाविच्छन्न चैतन्य और विषयाविच्छन्न चैतन्य दोनों जब एक हो जाते हैं, तब अन्तस्थ वस्तुका ही हमें ज्ञान होता है। बहिष्ठ वस्तुका ज्ञान नहीं होता और उस ज्ञानमें वह जो देश और कालका व्यवधान है, उसको हम भ्रान्तिसे सच्चा मान लेते हैं।

अच्छा! समझो, रस्सीमें साँपका ज्ञान होता है तो साँप रस्सीमें रहता है कि मनमें रहता है? तो रस्सीमें जो साँपका भ्रम होता है वह अन्तस्थ साँप है। बिह साँप नहीं है वह। जहाँ साँप दिख रहा है वहाँ नहीं है, जहाँसे देखा जा रहा है, वहाँ है। तो यह जो सम्पूर्ण, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड मालूम पड़ते हैं, वे जो अपनेसे बाहर देखे जाते हैं, वे बाहर नहीं हैं। ये अपने आत्मामें ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाविच्छन्न चैतन्य और अन्तःकरणाविच्छन्न चैतन्य, जब इन दोनोंका ऐक्य होता है, तब ब्रह्माण्डका ज्ञान होता है। इसलिए अनन्तकोटि

ब्रह्माण्ड जो हैं वे अन्त:करणावच्छित्र चैतन्यसे बिलकुल न्यारे नहीं हैं। इसीसे आत्माका निरूपण करते हैं।

थोड़ा मन लगानेकी जरूरत है भाई! सीखे बिना तो कुछ आता नहीं, यह आप जानते ही हो।

एक नयी बहू आयी घरमें, तो सासने पूछा कि बेटी, तुमको रसोईं बनाना आता है? तो बहू बोली—मैंने पाकशास्त्रमें एम. ए. पास किया है, हमको रसोईं बनाना नहीं आवेगा! तो बोली कि बहुत बिढ़या, खुशीकी बात है, तब बेटी! आज सूजीका हलवा बना दे। अब वे गयीं महाराज, कड़ाही चढ़ाई, घी चढ़ाया, अब सूजी लेकर भूननेके लिए, किताब खोलकर बैठ गयीं कि कितनी डिग्रीकी गर्मी हो, तो सूजी डालें? वह महाराज लकड़ी जल रही जो सूजी डाली, तो वह तो गर्मी बढ़ गयी थी, भस्म हो गयी। अब सास आयी, बोली कि अच्छा बेटी, यह किताबमें पढ़नेसे नहीं आता है।

यह कई लोगोंको किताबी ज्ञान भी होता है। छान्दोग्योपनिषद्में कथा है। नारदजी बोले कि—मंत्रविदेवास्मि—मैं केवल वेदके मन्त्रोंको ही जानता हूँ।

तां मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति।

मुझे आप शोकके परले पार पहुँचा दीजिये।

सासने कहा—बहू, अच्छा, रसोईं तो पीछे धीरे-धीरे सीख लेना, झाड़ू लगाना तो आता है न? अब वह बोली कि हमारा अपमान मत करो सासजी, हमको झाड़ू लगाना खूब आता है। अब वह महाराज, झाड़ू लगाया, कूड़ा इकट्ठा किया और ले जाकर खिड़कीसे जो फेंका सड़कपर, तो एक अप टू डेट सूट-बूट धारी जा रहे थे, उनके ऊपर पड़ा। नारायण! अब वह उनका टोप और कोट सब खराब हो गया। बड़े बिगड़े, ये कैसे फूहड़ लोग हैं, खिड़कीसे फेंकते हैं। सासने कहा—बेटी, बिना सीखे झाड़ू लगाना भी नहीं आता है और बिना सीखे कूड़ा फेंकना भी नहीं आता है।

तो जो कहते हैं न, हम किताबमें पढ़कर वेदान्तको समझ लेंगे, नारायण, मूर्ख हैं बिलकुल! किताबमें पढ़नेसे नहीं आवेगा, उसके लिए शमदमादि साधन सम्पन्न होकर गुरुपसत्ति करके वेदान्तका श्रवण, मनन, निर्दिध्यासन विधिपूर्वक करना पड़ता है। तो—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

तो 'दिव्य' शब्दका अर्थ हैं द्योतनवान्। यह (दिव्य शब्द) कान्त्यर्थक दिवु धातुसे हैं—चम-चम-चम चमकना, स्वतः प्रकाश, स्वतः प्रमाण। प्रमाणोंको चमकानेवाला, प्रमाणोंको रोशनी देनेवाला। यही आँखकी खिड़कीमें बैठ करके दुनियाके रूपको देखता है। यही कानकी खिड़कीमें बैठ शब्दको सुनता है, वही नाककी खिड़कीमें बैठ करके गन्ध सूँघता है। यही जीभकी खिड़कीमें बैठ करके स्वाद लेता है। यही द्रष्टा-श्रोता-मन्ता, ध्याता, विज्ञाता। बोले—यह कैसा है भाई?

अदृष्टं द्रष्टरि अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ।

यह अनदेखा देखनेवाला है। सबको देखता है पर खुद नहीं देखा जाता। सबको जानता है पर जाना नहीं जाता। सबको सुनता है पर सुना नहीं जाता। ऐसा है।

क्या श्रुति बोलती है। यह दिव्य है।

'दिव्य' माने ऐसी द्युति है इसकी, स्वयंज्योति। तो देखो घड़ीको देखनेके लिए बल्बकी रोशनी और बल्बको देखनेके लिए आँख और आँखको देखनेके लिए हम और हमको देखनेके लिए क्या चाहिए? अरे हम हैं कि नहीं हैं? इसको स्वयं ज्योति बोलते हैं। माने स्वयं प्रकाशमान, सबका प्रकाशक और स्वयं किसीसे प्रकाशित होनेवाला नहीं। यह दिव्य है। दिवि वा स्वात्मिन भवः स्वेमिहम प्रतिष्ठितः। यह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है और बिलकुल अलौकिक है। अपने आपको देखनेके लिए दूरबीन नहीं लेने जाना, खुर्दबीन नहीं लगाना। यन्त्रसे अपनी शोध मत करना। जो यह दिलका यन्त्र लगाकर दिलके पीछे बैठा वही है, यह दिलके सामने आनेवाले किसी यन्त्रसे नहीं दिखता है।

ऐसा समझो कि खुर्दबीनसे जब देखोगे तो आँखवाला आदमी खुर्दबीन लगाकर देखेगा कि बिना आँखवाला देखेगा? दूरबीनपर देखोगे कि दो मीलपर क्या चीज है, तो मान लो कि दूरबीन तो तुम्हारे पास होवे और आँख न होवे तो दूरबीनसे दिख जावेगा?

इसी प्रकार सब कुछ होवे पर मैं न होवे तो देखेगा कौन? बोले—मैं

अज्ञानी हूँ। तो 'मैं अज्ञानी हूँ'—इस बातको कौन जान रहा है? असलमें आदमीकी इस बातपर दृष्टि नहीं जाती कि किस दिन जिस किसी भी मुहूर्तमें मैंने अपनेको जीव माना कि मैं जीव हूँ तो कैसे माना? बिना सोचे-समझे, बिना पढ़े, बिना गुरुकी आज्ञाके—

अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।

एक अन्धेने दूसरे अन्धेको रास्ता बताया, एक अज्ञानी जीवने दूसरेको बता दिया कि तुम जीव हो। तुमने कहाँ देखा पाप, कहाँ देखा पुण्य, कहाँ देखा सुख, कहाँ देखा दु:ख, कहाँ देखा नरक, कहाँ देखा स्वर्ग, अपनी पिरिच्छित्रता कहाँ देखी? अपना जीवत्व कहाँ देखा? यदि तुम अपने जीवत्वको देखते हो तो तुम जीव हो, यह बात बिलकुल न्यारी है। जो जीवत्वको देखता है वह जीवत्वसे मुक्त है। वह तो जीव है ही नहीं। जो अपने ज्ञानीपना और अज्ञानीपनाको देखता है, वह तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनोंसे न्यारा है।

तो देखो इसीसे बताते हैं कि दिव्य: दिव्य है।

अब देखों दूसरा प्रश्न उठा कि देवता लोगोंको भी दिव्य कहते हैं। इन्द्र दिव्य है, वरुण दिव्य है, अग्नि दिव्य है, कुबेर दिव्य है। माने पाञ्चभौतिक तत्त्वोंसे बने हुए उनके शरीर नहीं हैं। रामका शरीर दिव्य है, कृष्णका शरीर दिव्य है, नारायणका शरीर दिव्य है, तो क्या आत्मा भी ऐसा ही दिव्य है?

अब देखो उसका निषेध करते हैं — ह्यमूर्तः । दिव्यः कस्मादमूर्तः । मूर्ति अस्यास्तीति मूर्तः । जिसमें मूर्ति होती है उसका नाम होता है मूर्त और अमूर्त जो बिलकुल मूर्त न हो — ऐसा ।

तो 'अमूर्त' शब्दका कई तरहसे अर्थ होगा मूर्ताद् व्यतिरिक्ताद् अमूर्तः। और नास्ति मूर्तं यस्मिन् सः — जो मूर्तसे विलक्षण है। जितना मूर्तिमान पदार्थ है दुनियामें।

अरे मूर्तिमान् शब्दका अर्थ आपको बतावें मूर्ति माने मूर्च्छित। यह मूर्च्छित शब्दका जैसे प्रयोग करते हैं न, वैसे मूर्ति माने मूर्च्छित। होश हवासमें जो न हो उसको मूर्च्छित बोलते हैं।

अब आजकल गृहस्थ लोग और साधु लोग भी; पाँच-सात साधु

किसीके घरमें आते हैं तो बोलते हैं—महाराज, कितने मूर्ति आनेवाले हैं? नारायण! ये मूर्ति मूर्च्छित ही हैं।

तो यह जो मूर्च्छित है माने जो कुछ प्रतिभासमान है, जड़ है। जड़में ही मूर्ति होती है, दृश्यमें ही मूर्ति होती है, द्रष्टामें मूर्ति नहीं होती है, इसलिए यह जो दिव्य अलौकिक पुरुष कैसा है? बोले—'अमूर्त' है।

दिव्य है; परन्तु इन्द्रके समान राममूर्ति, कृष्णमूर्ति, नारायणमूर्तिके समान मूर्तिधारी नहीं है, अमूर्त है—निराकार है। अमूर्तः। सम्पूर्ण मूर्तियोंसे वर्जित, सम्पूर्ण अभिव्यक्तियोंसे वर्जित। किसी इन्द्रियका विषय नहीं है वह। दिव्य है। दिव्यके साथ-साथ मूर्ति रहित है।

तो बोले-मूर्ति रहित तो देश भी होता है भला! यह देश जिसको आप लोग बोलते हैं कि यह भारत देश है, यह पाकिस्तान देश है, यह देश नहीं, यह तो धरतीपर अपने मनसे यह हमारा देश, यह तुम्हारा देश। यह तो समझो जो बलवान होता है वह अपनी सीमाको बढ़ा लेता है और जो कमजोर होता है, उसकी सीमा कमजोर पड़ जाती है। यह सीमा जो बढ़ती है न, दो-चार मील ज्यादा बढ़ गया अपना देश और दो-चार मील कम हो गया, कमजोर हुए तो दूसरेने कब्जा कर लिया और जोरदार हुए तो दूसरेपर कब्जा कर लिया, पर धरती तो धरती है, इसमें कोई (विभाजन नहीं)। देखो; आप लोगोंमें-से अधिकांश लोग जानते होंगे कि जिसको आजकल वर्मा कहते हैं, यह भारतवर्ष था कि नहीं ? आप लोगोंके बचपनमें जब बर्माका नाम बर्मादेश नहीं था, बर्मा भारतवर्षका एक प्रान्त था। यह पाकिस्तान बन गया, देखो। तो यह क्या है? यह देश नहीं। देश कहते हैं पूर्व- पश्चिम, उत्तर-दिक्खन, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, भीतर-बाहर, यह जो संवित् होती है न, यह जो ज्ञान होता है कि यह चीज हमारे देशके भीतर है, नाड़ी है, पीव हैं, रक्त है, भीतर है। लाउडस्पीकर वगैरह बाहर हैं। यह पश्चिम है, यह पूर्व है, यह ऊपर है यह नीचे। यह जो लम्बाई-चौड़ाई जितनी भी मालूम पड़ती है दुनियामें अन्तर्देश, बहिर्देश, अन्तराल देश—इनकी संवित्का जो हेतु है उसको 'देश' कहते हैं — प्राच्यादि व्यवहारहेतुः दिक्—प्राच्यादि व्यवहारका जो हेतु है उसको दिक् बोलते हैं।

अच्छा, भूत भिवाय वर्तमान जो कालका आधार है वह काल भी निराकार है। यह निराकार निराकार कहनेसे काम नहीं चलता है। द्रव्यों में आकाश निराकार है, देश निराकार है, काल निराकार है। तो यह परमात्मा निराकार होकर क्या देशके समान पिरपृण है? क्या कालके समान नित्य है? क्या आकाशके समान स्थूल वस्तुओं से रहित है? आकाश जो है वह वायव्यादि स्थूल पदार्थों से रहित है और देश जो है वह व्यापक है और काल जो है वह नित्य है।

नित्यता प्रधान निराकार काल और व्यापकता प्रधान निराकार देश और स्थूलता आदिसे राहित्य प्रधान, परन्तु वायव्यादिका कारणरूप जो द्रव्य है आकाश द्रव्य, वह निराकार है। बोले—नहीं, नहीं, ऐसा नहीं; पुरुष:—पुरुप है माने चेतन है। आपको यह बात कई दिन सुना चुका कि हम निरीन्द्रय पदार्थको जड़ और सेन्द्रिय पदार्थको चेतन नहीं मानते हैं भला! हमारे चेतनकी परिभाषा है कि जो दूसरेको भी जाने और अपनेको भी जाने, उसका नाम चेतन और, जो अपनेको भी न जाने और दूसरेको भी न जाने, उसका नाम जड़। जो अपने ज्ञानके लिए परमुखापेक्षी होवे उसका नाम जड़। कोई देखे किताब, वह अपने आपको जानती नहीं, दूसरेको भी जानती नहीं इसको कोई देखे तब जानी जाय (अत: किताब जड़ है)। तो वह जो देखनेवाला है, उसको चैतन्य बोलते हैं।

अब इस तरहसे आप देखो ईश्वरका भी अगर कभी दर्शन होय, तो जितना अंश दिखेगा उतना दृश्य होगा और, आत्माका भी कभी ज्ञान हो तो जितना अंश दृश्य होगा, वह दिखेगा। तो जिस अंशमें ईश्वर दृश्य नहीं होता और जिस अंशमें आत्मा दृश्य नहीं होता, वहाँ भेदका कोई कारण ही नहीं है, वहीं तो अभेद है, उसीको पुरुष बोलते हैं। वह कैसा है? कि स बाह्याभ्यन्तरो ह्याजः—वह अज है और वह दिव्य है, अमूर्त है। सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तते इति स बाह्याभ्यन्तर:। बाह्याभ्यन्तर: बाह्याभ्यन्तर व्यापक:।

वह बाह्य भी वैसा ही और अन्तर भी वैसा ही। यह देखो, आपको सुनावें, एक दिन मैंने स्वप्न देखा कि कुम्भका मेला लगा है। मैं तो समझो सन् छब्बीससे लेकर, विष्णु दिगम्बरने जिसमें गीताज्ञान यज्ञको किया था, तबसे लंकर इसी कुम्भमें नहीं गया हैं. नहीं तो प्राय: सब कुम्भमें गया हैं। पिछली अर्द्धकुम्भीमें नहीं गया था। तो देखा कुम्भका मेला लगा है। मीलों तो लम्बी जगह है. वह गंगा वह रही, वह जमृना बह रही, और दोपहरका समय है और हजारों आदमी त्रिवंणी स्नान कर रहे हैं, वाजार है, लाउडस्पीकर आपसमें टकरा रहे हैं। सभी शिविखाले चाहते हैं कि ज्यादा- से ज्यादा यात्री हमारे ही शिविखमें आवें और गृहस्थ लोग भी गेरुआ कपड़ा ओढ़ ओढ़कर कि हम झटमें नहा आवें, पृण्य हो जाय हमको, कुम्भमें जा रहे। अब समझो कोई वहाँ दान कर रहा, कोई ब्रत कर रहा, कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है, कोई गरीब है। तो समझो वहाँ एक सेटजी मिले थे कुम्भमें। हम बोले— सेटजी, तुम तो बड़े धर्मात्मा हो। बोले— महाराज पूर्व पुरुषोंका प्रभाव है। पूर्व जन्मका पुण्य है कि यह मेला मिला।

अव जग गयं। तव जाग्रत्में विचार करो कि वो जो सेठजी प्रयागके स्नानमें गये थे, तो उनके पूर्व पुरुपोंका पुण्य था? अरे वे तो सपनेमें पैदा हुए और सपनेमें मर गयं, उनके पूर्व पुरुप कहाँसे आये? उनके पूर्व जन्मका पुण्य था उस समय? कि नहीं था। अच्छा उनके अन्तः करणमें ऐसा था भाव, वह भाव भीतर था, और उनका शरीर बाहर था? उनका शरीर भी भीतर और उनका अन्तः करण भी भीतर समझो, अरे वहाँ तो बाहर-भीतरका जो भेद था वह कित्पत था।

यहाँ कलेजा है और यहाँ आँख है और यहाँ पाँव है, यह बाह्याभ्यन्तरका भेद किल्पत था न! तो जैसे कुम्भके मेलेमें मिलनेवाले सेठजीका पूर्वजन्म और उनके पूर्वपुरुष और उनके हृदयकी श्रद्धा और उनका वह दिया हुआ दान, उसमें कौन था जी? कि हमारी जो आत्मा है— संस्कारयुक्त आत्मा, वही कुम्भ मेलेके रूपमें, हमारा अन्तःकरण ही कुम्भ मेला, गंगा-जमुना, मण्डलेश्वर, सेठ और सेठका पूर्वजन्म और पूर्व पुरुष, अन्तरंग भाव और बहिरंग बात, बाहरसे रुपया दे रहा और भीतरसे श्रद्धा रख रहा। क्या सेठका अन्तःकरण हमारे अन्तःकरणसे जुदा कोई था? उस समय सेठका जो जीव था, वह क्या मेरे जीवसे कुछ जुदा था?

तो देखो, यह व्याप्य व्यापकता जो है न, यह कैसी होती है? स

बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। जैसे अजन्मा जीव अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही स्वयं कुम्भ मेला बनकर, देखनेवाला वही और दीखनेवाला वही। वहाँ व्याप्य व्यापक भाव बिलकुल है ही नहीं। श्रुतिमें यह बात कही—व्याप्यव्यापकता मिथ्या। जैसे स्वप्रमें व्याप्य व्यापकता मिथ्या है, वैसे यह जाग्रत् जो है, वह तो अपनेको देह मान लिया, असलमें तुम सेठजी बनकर यह व्यवहार कर रहे हो। यह जो सत्संगमें बैठे श्रोता हो, यह जो सत्संगमें बैठे वक्ता हो, यह जो दर्शक हो, वह तुम अपनेको वह नहीं मानते हो जो कुम्भका मेला देख रहा था; तुम अपनेको वह मान रहे हो, जो कुम्भमें सेठजी बना था या मण्डलेश्वरजी बना था या कुम्भमें जो यात्री बना था। तुम अपनेको वह मान रहे हो, जिसके दिलके भीतर वह कुम्भका मेला दिख रहा था।

तो यह जाग्रत्में कुम्भका मेला दिख रहा है, यह ब्रह्माण्ड घट है, इसमें अमृत भरा हुआ है। तो व्याप्य व्यापक भाव इसमें नहीं होता, चैतन्य उसको कहते हैं जो सबका साक्षी है। ब्रह्माण्डका साक्षी है, ब्रह्माण्ड बनानेवालेका साक्षी है, ब्रह्माण्ड भोगनेवालेका साक्षी है और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिसमें बने और बिगड़े और ज्यों-का-त्यों। तो—

ह्यजः—अजः—यह अजन्मा है। न जायते इति अजन्मा—यह कभी एक रूपको छोड़ करके दूसरे रूपको प्राप्त नहीं होता।

यह जन्म जो है न, इसकी बड़ी बिढ़या व्याख्या शास्त्रोंमें मिलती है। एक बार एक महात्मासे मैं गीताकी कथा सुन रहा, तो उसमें महाराज 'जन्म' शब्द आया। तो महात्माने समझाया कि देशसे देशान्तरकी प्राप्तिका नाम जन्म नहीं है। एक जगहसे दूसरी जगह जानेको जन्म नहीं बोलते हैं। भावसे भावान्तरकी प्राप्तिका नाम जन्म है। पुनर्जन्ममें देह तो नहीं है, देह होवे तब न देश देशान्तरकी प्राप्ति होवे। पुनर्जन्म जिसका होता है, वह सत्रह तत्त्वोंवाला लिङ्ग शरीर कोई स्थूल पंचभूतसे तो बना हुआ नहीं है, वह तो भावात्मक है। अभी तक यह भाव था कि मैं गृहस्थ हूँ और अभी महाराज कुछ पूजा-पत्री हुई, कुछ प्रायश्चित्त हुआ, 'सर्वतो विरजा होम' हुआ, पितरोंका श्राद्ध हुआ, देवताओंका होम हुआ, बोले अब मैं संन्यासी हूँ। इसका नाम पुनर्जन्म

हो गया। मैं गृहस्थ हूँ—यह एक जन्म और मैं संन्यासी हूँ—यह दूसरा जन्म।

अच्छा! देखो, एक आदमी अभी अपनेको मान रहा था कि मैं पापी हूँ। और लेकर एक दिन उसको करवाया उपवास और पिलाया पंचगव्य और कराया गंगास्त्रान और कराया गोदान और भगवान्का नाम लिवाया उससे, बस अब वह बोले—अब मैं निष्पाप हूँ, तो 'मैं पापी हूँ' यह एक जन्म था और 'मैं निष्पाप हूँ'—यह दूसरा जन्म है।

श्रीमद्भागवतमें इसकी बहुत बढ़िया व्याख्या है—

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद। विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥

11-22-39

जन्म कैसा होता है ? कि किसी भी विषयको आत्मतया जो स्वीकृति है, किसी भी दृश्य पदार्थको मैं मान बैठना जैसे स्वप्नमें, जैसे मनोरथमें, इसका नाम जन्म है।

और, मृत्यु क्या है ?

जन्तोर्वे कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्त विस्मृतिः। 11-22-38

श्रीमद्भागवतमें बताया कि यह जो पंचभूतात्मक शरीर है, इसमें जब स्मरणकी योग्यता नहीं रहती, तब इसको मृत्यु बोलते हैं।

तो जन्म क्या है? कि मैं ब्राह्मण हूँ—यह जन्म है। मैं हिन्दू हूँ—यह जन्म है। मैं मनुष्य हूँ—यह जन्म है। मैं पापी हूँ—यह जन्म है। मैं पुण्यात्मा हूँ—यह जन्म है। मैं सुखी हूँ—यह भी जन्म है। मैं दु:खी हूँ—यह भी जन्म है। मैं जाने-आनेवाला हूँ लोक-लोकान्तरमें—यह भी जन्म है। मैं परिच्छित्र हूँ—यह भी जन्म है।

बोले—अच्छा, परमात्माका जन्म नहीं होता—इसका क्या अर्थ है?

यह व्यावहारिक बात है। यह सातवें आसमानकी बात नहीं है। यह पापी आया और बदल गया, हम गाली देकर बोलते हैं। बनारसी लोग हैं कभी-कभी गाली भी दे देते हैं। मैंने सुना इधर तो गुजरातमें, महाराष्ट्रमें बड़े सभ्य लोग होते हैं, वे मुँहसे किसीको गाली नहीं निकालते हैं, लेकिन हम तो बनारसी लोग गाली देकर इस बातको बोल सकते हैं कि सबेरे एक बार ख्याल हुआ कि मैं पापी हूँ, पैदा हुआ और मर गया। फिर ख्याल हुआ में पृण्यात्मा हूँ—पैदा हुआ और मर गया। और, मैं सुखी हूँ—यह ख्याल पैदा हुआ और मर गया। मैं दु:खी हूँ—यह ख्याल पैदा हुआ और मर गया।

और, मैं! मैं न पैदा हुआ न मरा, ये 'सारे' पैदा होते हैं और मरते हैं। अब यह ब्रजकी गाली है, इसको मीठी समझना। ये 'सारे' (साले) पैदा होते हैं और मर जाते हैं और 'मैं' ज्यों-का-त्यों रहता है। तब क्या बालते हैं? कि अज:। न जायते इति अज:। यह पापी होकर कभी पैदा नहीं हुआ, यह पुण्यात्मा होकर कभी पैदा नहीं हुआ। सुखी होकर पैदा नहीं हुआ, दु:खी होकर पैदा नहीं हुआ, यह भावसे भावान्तर, एक भावके बाद दूसरा भाव आया और गया, तीसरा आया और गया, चौथा आया और गया और ये भाव जो है—सारे-के-सारे भाव—सर्वभाव, सम्पूर्ण भाव—ये सर्वभाव आते हैं और जाते हैं और अपना आपा वही है कि बदल गया? वह न कभी मरा न पैदा हुआ।

भावात्भावान्तर प्राप्तिः — ये भावसे भावान्तरकी जो प्राप्ति है उसमें आत्मा एकरस चैतन्य रहता है। इसमें न बाहर है न भीतर है। यह जड़ नहीं है भला। यह दिव्य है, अमूर्त है, पुरुष स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः वह बाह्यत्वेन प्रतीयमान है, जैसे सेठका शरीर और जो आभ्यन्तरत्वेन प्रतीयमान है उसकी श्रद्धा और परम बाह्यत्वेन जो प्रतीयमान है उसका आदान-प्रदान और जो परम आन्तरत्वेन प्रतीयमान है उसका पूर्व जन्म। यह बाह्य, आभ्यन्तर-परम बाह्य और परम आभ्यन्तर—ये सब-के-सब जैसे स्वप्रद्रष्टाको दृष्टिमें मिथ्या हैं, स्वप्न द्रष्टाके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ऐसे आत्मामें कोई सृष्टि नहीं है।

ये आत्मदेव बड़े मजेदार हैं।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २॥

ये प्राण और प्रज्ञाकी उपाधिसे रहित हैं ये अविद्याकी उपाधिसे रहित हैं। और ये मायाकी उपाधिसे रहित हैं—आप देखो, ये चार बात आगे कही जा रही हैं।

'अप्राण: 'माने प्राण क्रियाशक्ति, जिससे क्रिया होती है और 'मन' माने

प्रजार्शाक जिससे विचार और संकल्प होते हैं। तो परमात्मामें, आत्मामें न प्राण है और न प्रज्ञा है। और 'शुभ्र' माने अविद्याका मत्न नहीं है और 'परतः अक्षरात्'— जो सबके बीजमें अव्याकृत है, माया है, उससे भी परे हैं।

अव यह बात ये वता रहे हैं कि पहले जिसको अक्षर कहा था, सर्वकारण कारण, वह तो अन्याकृतोपाधिक है और परमात्मा जो है यह विलकुल निरुपाधिक है। इसमें न प्राण है न मन है, न अविद्या है न माया है। यह सबसे परे है।

अप्राणःका अर्थ है क्रिया शक्तिवाला जो प्राण है, उससे रहित। इसमें कोई सर्च्चारत्र-दुश्चरित्र नहीं होता है। आत्मा सर्च्चारित्र दुश्चरित्र नहीं होता।

युरा खाया, अच्छा खाया, खाता तो प्राण है और यह तो अप्राण है और सच पृछो तो प्राण भी एक भ्रान्तिसे बनाया हुआ पदार्थ है। जो हवा क्षण-क्षणमें बदलती है, आपको मालूम है कि नहीं? यह साँस जो आती-जाती है, यह तो दो क्षण रहती नहीं। यह किया और यह नहीं किया, यह खाया और यह नहीं खाया और यह शरीरके भीतर जब प्राण वायु रहती है तब हाथ उठता है और हाथ गिरता है, यह प्राण है। और मन जो है वह संकल्प, प्रज्ञा-उपाधि जिसको बोलते हैं—अन्त:करण; इसमें अन्त:करण नहीं है।

शुभ्र है माने अविद्याके मलसे रहित है और परतातक्षरात् जो सबसे परे अव्याकृतोपिध ईश्वर है, परब्रह्म परमात्माके आभाससे युक्त, संस्कारवान् जो भूत सूक्ष्म है, वेदान्तियोंकी भाषामें संस्कार युक्त भूत सूक्ष्मको ही अव्याकृत बोलते हैं। वह कोई प्रकृति नामका स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते हैं। तो उससे भी परे 'परतात् अक्षरात् परः' वह सबसे परे जो अक्षर है, उससे भी परे है। कौन है? अरे यह अपना आत्मा है भाई! यह आपका ही वर्णन है।

एक महात्मा सहते थे एक गाँवमें, एक दिन पंचदशी पढ़ रहे थे। कोई गृहस्थ सज्जन गये उनके पास, पूछा—महात्माजी, यह क्या पढ़ रहे हो? तो बोले कि मैं यह देख रहा हूँ कि इस किताबमें मेरी क्या-क्या तारीफ लिखी है? क्योंकि इस किताबमें मेरी ही तारीफ लिखी है। महात्माकी तारीफ लिखी है। परमात्मा हृदयमें रहे और जुदा होकर रहे, यह सामर्थ्य न तो परमात्मामें है (और न किसी शास्त्र वाक्यमें)।

परमात्मा यदि हमसे जुदा रहेगा तो दो गलती होगी परमात्मासे, क्या? हमसे जुदा होकर रहेगा और दृश्य होगा, तब तो परमात्माको जड़ होकर हमारे सामने रहना पड़ेगा। हम उसको जानेंगे और वह जाना जायेगा और यदि परमात्मा हमारे सामने न आवे, छिपकर रहे, अनुभवका विषय न होवे तो परमात्माको कल्पनाका विषय होकर रहना पड़ेगा, केवल कल्पित, उस परमात्माके बारेमें कोई प्रमाण ही नहीं होगा।

तो यदि परमात्मा हमसे अलग होकर रहे तो हमसे मोटा होनेपर तो दृश्य है और हमसे पतला होनेपर कल्पित है। इसलिए हमसे जुदा परमात्मा नहीं हो सकता और, हम यदि परमात्मासे जुदा होकर रहें तो क्या होगा? हम परिच्छित्र हो जायेंगे भला!

परमात्मा पूर्ण होगा और हमं उससे अलग हुए तो परमात्माकी पूर्णतामें हम अध्यस्त हो जायेंगे और हम मिथ्या हो जायेंगे। तो जब हम परिच्छित्र हो जायेंगे, हम अध्यस्त हो जायेंगे, हम मिथ्या हो जायेंगे, तो यह तो अनुभवके विरुद्ध है, इसको जानेगा कौन? इसलिए हम कभी परिच्छित्र नहीं, कभी अध्यस्त नहीं, कभी मिथ्या नहीं, हम परमात्मासे एक हैं। यह मानना जो है कि हम परमात्मासे जुदा और हमसे परमात्मा जुदा, यह बड़ी भूलकी बात है। इसी भूलको मिटानेके लिए यह श्रुति भगवती जो हैं, ये परमात्माके स्वरूपका निरूपण करती हैं।

अब आगे शामको।



प्रवचन : 15, मंत्र-2

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः — यह जो पुरुष है, यह कैसा है ? इसका वर्णन करते हैं। तो देखो वर्णन करनेके लिए नौ बात कही गयी है। आप गिन लो इस मन्त्रमें। पहली बात है दिव्यः। दूसरी बात है अमूर्तः। तीसरी बात है पुरुषः। चौथी बात है सबाह्याभ्यन्तरः। पाँचवी बात है अजः। छठी बात है अप्राणः। सातवीं बात है अमना। आठवीं बात है शुभ्रः और नवीं बात है परतः अक्षरात् परः।

माने यह वर्णनकी सीमा हो गयी, सबसे बड़ी संख्या नौ है। किसी भी बातको नौ प्रकारसे कह देना, माने सब प्रकारसे उसका वर्णन करना।

यह पुरुष कैसा है ? तो यह पुरुषका अर्थ है — अयं पुरुष:।

आप अपनेको पुरुष समझते हैं कि नहीं? पुरुष माने आत्मा। पूर्णत्वात् पुरुष:। जो शरीरमें और विश्वमें भरपूर है उसको पुरुष कहते हैं। पुरुष माने भरापूरा।

पूरुषुः वसति इति पूरुषः। पुर माने नगर।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन्।

यह नौ दरवाजेवाला जो पुर है इसमें वस्-निवासे वसतीति। वस्का उत् हो गया संप्रसारण विधिसे, पूरुषु वसति इति पुरुष:। जो इस शरीर रूप नगरीमें निवास करे उसका नाम पुरुष है।

पूर्णत्वाद्वापुरुषः — पूर्ण होनेके कारण इसको पुरुष कहते हैं।
पुरिशयो वा पुरुषः । यह पुरीमें शयन करता है इसलिए इसका नाम
पुरुष है।

यह सपना देखता है सोकर, यह निद्राका अनुभव करता है सोकर। यह जाग्रत्में भी भरपूर रहता है इसलिए इसका नाम पुरुष है। तो अब आप अपनेको पुरुष तो समझते हैं, परन्तु हड्डी मांस चामका बना हुआ पुरुष समझते हैं।

यह बात गलत है। अपने साथ यह गन्दी चीज मत जोड़ो। यह माननेमें ही तुम्हारे साथ यह जुड़ा हैं और बिना सोचे-समझे। अगर समझदारीसे काम लो तो यह जो लौकिक शरीर है, इसको लोकमें ही रहने दो।

श्रीमद्भागवतमें एक स्थान पर आया है—गृहेष्वतिथिवद् वसन्। घरमें कैसे रहे ? बोले—अतिथिकी तरह रहे। जैसे अतिथि घरमें रहता है, पर घरको अपना नहीं समझता। अतिथि पलंगपर सोता है, पर पलंगको अपना नहीं समझता। अतिथि घरमें खाता है लेकिन भोजनको अपना नहीं समझता। अतिथि घरमें खाता है लेकिन भोजनको अपना नहीं समझता। अतिथि बच्चेसे हँसता-खेलता है, पर बच्चेको अपना नहीं समझता। गृहेष्वतिथि वद् वसन्। घरमें कैसे रहना! कि अतिथिके समान रहना। और,

नृलोके नरतां न्यसेत्। अपने मनुष्यपनेको मनुष्य लोकमें रहने दे। अपने आत्मामें नहीं जोड़े। यह खानेवाला, यह पीनेवाला, यह चलनेवाला, यह हँसनेवाला, यह खेलनेवाला जो शरीर है न, इसको दुनियादारीमें रहने दे। इसको ब्रह्ममें ले जानेकी जरूरत नहीं है और ब्रह्मको इसमें लानेकी जरूरत नहीं है। यह शरीर तो अदिव्य है, भौतिक है, लौकिक है और तुम्हारी आत्मा इस शरीरसे बिलकुल न्यारी है, दिव्य है।

आत्मा अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है। यह जो तुम समझते हो कि हम जन्मने मरनेवाले हैं, हम रोगी-भोगी हैं, कोई समझता भोगी, कोई समझता रोगी, कोई समझता योगी। तो यह क्या रोगी क्या भोगी, क्या योगी! ये सब शरीर ही है। रोग भी शरीरमें, भोग भी शरीरमें, योग भी शरीरमें। ये सब उपाधि हैं, हाथ ही जोड़ने लायक है। बोले अच्छा, शरीर न सही; यह झगड़ा सारा शरीरका है, दुनियामें जितना झगड़ा है, वह सब शरीरका ही है।

शरीरको तो दिव्य बनानेकी पद्धित भी है। दोनों तरहकी पद्धित मिलती है शास्त्रमें। ऐसी भी पद्धित मिलती है कि आप भजन करो, नाम भी एक दिव्यताका साधन है, पिवत्र वस्त्र धारण करो, यज्ञोपवीती, बढ़िया चन्दन लगाया और अपने शरीरमें दिव्य न्यास कर लिया। तो शरीरको ही दिव्य बना लिया। और दूसरे—यज्ञयागादि करके परलोकमें जाते हैं, तो परलोकमें देवताका शरीर मिलता है, वहाँ भी शरीर दिन्य <mark>होता है। तो</mark> योलं—तय पृष्प ऐसा ही होगा।

हमने एक दिन्न महात्मा देखे, बड़े ही कर्मकाण्डी, देखनेमें माल्म पड़े दिन्न । यह शरीर क्या है ? देवताका शरीर है । परन्तु वे भी मर गये। मृश्किल तो यही है कि कई लोगोंने अपने इस शरीरको दिन्न बनानेकी कोशिश की, मर गये। हमारा शरीर दिन्न होगा, दिन्न होगा, कट गये।

हम लोग एक बार योगी अरिवन्दके आश्रममें गये, सन अड़तीसमें। तो अब जो सनातन देवजीके नामसे विख्यात है—मुनिलालजी, वह भी साथ थे, पिण्डत रामनारायण शास्त्री थे, पिण्डत रमाकान्त त्रिपाठी थे। तो शास्त्रीजीने पूछा कि यह जो योगी अरिवन्द कहते हैं कि शरीर दिव्य हो जायेगा, इसका क्या अभिप्राय है? तो अनिलवरण राय थे और निलनीकान्त गुप्त थे, यह अरिवन्दसे यह प्रश्न नहीं किया गया, दिलीप कुमार राय थे, यह शरीर दिव्य कैसे होता है? उन दिनों योगी अरिवन्दके पाँवमें चोट लग गयी थी, मोच आगयी थी पाँवमें, तो अनिलवरण रायने उसका यह समाधान किया कि शरीर दिव्य नहीं होता है, दृष्टि दिव्य होती है। मनुष्यकी नजर अगर दिव्य हो जाय, दृष्टि अगर दिव्य हो जाये तो शरीर दिव्य हो गया।

तो योगी अरविन्दके सिद्धान्तको पढ़ करके तो लोग समझते थे कि शरीर दिव्य हो जायेगा. संसार दिव्य हो जायेगा। वे कहते थे धरती-आसमान भी दिव्य हो जायेगा तो शास्त्रीजीका यह प्रश्न था कि ये बच्चे पैदा होंगे तो दिव्य कैसे होंगे? शरीरमें-से मल निकलेगा और ये जेरमें बँधे हुए बच्चे पैदा होते हैं, उनमें पीव लगी रहती हैं, मांस लगा रहता है, यह सब दिव्य होनेका क्या अर्थ है? कैसे सृष्टि दिव्य हो जायेगी? तो शास्त्रीजी तो गीताप्रेसके सबसे बड़े पण्डित थे। हम गीताप्रेसके पण्डित नहीं थे, हम तो कल्याण परिवारके सदस्य थे, हम तो कल्याणके संपादन विभागमें रहते थे, गीताप्रेसमें तो हमारा नाम ही नहीं।

नारायण, उसका यह समाधान किया शरीर दिव्य नहीं होता है, दुनिया दिव्य नहीं होती है. दृष्टि जिसकी दिव्य हो गयी उसके लिए सब दिव्य हो गया। बोले—इसमें तो हम लोगोंको कोई आपित्त नहीं, योग सिद्धान्तसे, सांख्य सिद्धान्तसे यह बात सम्पन्न होती है। बहुत बढ़िया!

तो दिव्य होनेपर भी किसी-किसीका यह ख्याल रहता है कि कोई मूर्ति अपनी बनी रहेगी, मैं कैसा होऊँगा? आप देखो जैन सिद्धान्तमें ऐसा मानते हैं, अपने वैष्णवोंके भिक्त सिद्धान्तमें ऐसा मानते हैं कि जब आत्मा दिव्य हो जाती है, तो भक्त लोग तो मानते हैं कि एक दिव्य शरीर मिलता है। उसमें हाथ होता है, पाँव होता है, आँख होती है जीभ होती है, वह दिव्य होता है और वह भगवान्के धाममें, भगवान्की सेवामें रहता है अथवा स्वर्गादि लोकमें रहता है।

बोले—नहीं, मूर्तिवाले दिव्यका हम वर्णन नहीं करते हैं, अमूर्तका वर्णन करते हैं। जैन सिद्धान्तमें निरूपण करते हैं कि अष्टादश दूषणकी निवृत्ति होनेके बाद, सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् संकल्प, सम्यक् समाधिसे अष्टादश दूषणकी निवृत्ति होनेके बाद जीव बिलकुल निर्मल उज्ज्वल, अष्टादश दूषण रहित तीर्थंकर हो जाता है।

तो यहाँ जो वर्णन है, वह परिच्छित्र मूर्तिका वर्णन नहीं है, अमूर्तका वर्णन है, जिसमें मूर्ति नहीं होती। भौतिक शरीर नहीं होता और मूर्ति माने आकार कोई नहीं होता और पुरुष आत्मा—वह पुरुष है।

कि अच्छा यह पुरुष है, पुरुष तो भीतर रहता है और सृष्टि बाहर रहती है नहीं, यह ऐसा है कि सबाह्याभ्यन्तरः। बाहर भी यही और आभ्यन्तर भी यही।

आपको जरा दृष्टान्तोंवाली बात बता देता हूँ। यह पुरुष और जगत्का सम्बन्ध क्या है ? चैतन्य और सृष्टिका सम्बन्ध क्या ? तो देहसे विवेक करनेके लिए यह बात बतायी जाती है कि अन्नमय नहीं, प्राणमय नहीं, मनोमय नहीं, विज्ञानमय नहीं। ऐसे।

असलमें तो दो तत्त्व नहीं है। यह आप समझ लेना, बिलकुल पक्का कि द्वैत नहीं है। ज्ञान-ही-ज्ञान है, चेतन-ही-चेतन है, वस्तु-ही-वस्तु है। तो बाहर और भीतरका भेद कैसे? तो पुरुषके स्वरूपको जब समझाते हैं तो दृष्टान्तोंका क्रम देखो। जैसे पृथिवीमें बहुत-सी औषिधयाँ बनती हैं, आप पढ़ चुके पहले—

यथा पृथिव्यां ओषधयः सम्भन्ति।

जैसं धरतीमें जौ, गेहूँ, मटर, चना, फूल, पौधा पैदा हुआ, उसमें पत्ते लगे, फूल लगे, फल लगे और फिर चकनाचूर होकर, फिर माटी होकर, फिर धूल होकर मिट्टीमें मिल गया। तो पहले मिट्टी था, बादमें मिट्टी, है वह बीचमें जो पेड़-पौधा बना, वह क्या था? वह भी मिट्टी थी।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्।

ब्रह्मसूत्रमें एक अधिकरण है प्रकृत्याधिकरण बोलते हैं उसको। प्रकृत्याधिकरणका अभिप्राय क्या होता है कि जिसको प्रकृतिके नामसे वर्णन किया जाता है वह प्रकृति भी ब्रह्म ही है।

अब आप सब समझ लो—'माया च ब्रह्मैव.' अविद्या च ब्रह्मैव, प्रकृति भी ब्रह्म है, अविद्या भी ब्रह्म है, माया भी ब्रह्म है। ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। क्योंकि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्—प्रतिज्ञा की गयी है कि एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होगा और दृष्टान्त दिया गया है—

यथा पृथिव्यां ओषधयः सम्भवन्ति।

प्रतिज्ञा है एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान और दृष्टान्त है 'यथा पृथिव्यां ओषधयः सम्भवन्त।' तो आप दृष्टान्तके लिए पाँचभूत पहले ले लो—पृथिवी जल अग्नि, वायु और आकाश—यही पाँच हैं न, तो इन पाँचोंका दृष्टान्त दो। जैसे घड़ा मिट्टीसे अलग नहीं है—यह क्या दृष्टान्त हुआ? पार्थिव दृष्टान्त। मिट्टीका ढेला लेकर चाहे चिड़ियाको मारो और चाहे मिट्टीका पार्थिव शिवलिंग बनाकर उसकी पूजा करो—ॐ नमः शिवाय, अक्षतां समर्पयामि, बिल्वपत्रं समर्पयामि। चाहे मिट्टीका पार्थिव लिंग बना करके उसकी पूजा करो और चाहे मिट्टीका ढेला बना करके उससे चिड़िया मारो, लेकिन महाराज मिट्टी तो मिट्टी ही है। यह पृथिवीका दृष्टान्त हुआ।

और नारायण जल! जल लेकर चाहे शंकरजीपर चढ़ाओ, हर-हर-हर महादेव और चाहे पनाला धोवो, नाली धोवो घरकी, जल तो जल ही है; बुलबुला होवे, फेन होवे, ज्वार होवे, भाटा होवे, तरंग होवे, गरम होवे, ठंडा होवे, जल तो जल ही है न। यह जलका दृष्टान्त हुआ।

अब तीसरा दृष्टान्त लो—अग्नि! बोले—छोटी लकड़ीमें छोटी, बड़ी

लकड़ीमें बड़ी, लोहेक गोलेमें गोल आग। तो बहुत लकड़ी हो तो बड़ी बड़ी लपट निकले और थोड़ी लकड़ी हो तो छोटी छोटी लपट निकले; कोई छोटी कोई बड़ी, कितनी भी लपट निकले, विस्फुल्लिंग जो है, वह अग्रिरूप ही है। यह अग्निका दृष्टान्त हुआ।

और भाई, हमलोग इतने हैं यहाँ बेठे, इतनमें ही पहले देख लो, सवकी साँस अलग-अलग चलती है, धौंकनी तो अलग अलग बनायी गयी, सवकी धौंकनी अलग- अलग चल रही है, लेकिन यह जो हवा साँसमें घुसती है, यह सवकी एक है कि नहीं? घुसती है, निकलती है। निकलनेपर भी एक हो जाती है और घुसती है तो एक ही हवा सबके भीतर घुसती है।

तो प्राणी अलग-अलग होनेपर भी प्राण एक है। कभी हवा तेज चलती है और कभी-धीमी चलती है। कभी सुगन्ध चलती है, कभी दुर्गन्ध चलती है। कभी धूल मिश्रित चलती है, कभी धृलिसे रहित शीतल मन्द सुगन्ध चलती है, लेकिन वायु तो एक ही है।

और अब वायुके वाद आकाशका दृष्टान्त आगया। यह घटाकाश और मटाकाश। पेटमें जगह है कि नहीं है ? अरे जगह न होय तो यह सेर भर अन्न कहाँसे जाकर अँट ? महाराज दो पोंड, चार पोंड तक वजन बढ़ जाता है भोजनके बाद, यह तो जैसा जिसका भोजन हो। उसमें सब्जी होती है, दाल है, चावल है, रोटी है, पानी है, सब मिलाकर चार-चार पोंण्ड हो जाता है। कई लोग तो हमने ऐसे देखे हैं जो पाँच-पाँच सेर मलाई और रबड़ी खा जानेवाले—अभी मथुरामें खानेवाले चौबे लोग हैं, तो पेटमें इतनी जगह कहाँसे निकलती है ?

यह कानमं थोड़ी जगह है, आँखमें थोड़ी जगह है, नाकमें थोड़ी जगह है। तो जगह भले अलग-अलग थोड़ी हो, छोटी हो, बड़ी होवे, लेकिन आकाश तो एक ही है न! बिलकुल आकाश एक है।

अच्छा ये पाँच दृष्टान्त तो हैं पाँचभूतोंके। अब आप और आगे देखो। यह आपका मन है न मन, उसमें कभी स्त्रीका ख्याल आया, कभी पुरुषका ख्याल आया, कभी दुश्मनका ख्याल आया, कभी दोस्तका ख्याल आया, कभी बच्चेका ख्याल आया, कभी बापका ख्याल आया, कभी गन्दी चीज आयी और कभी अच्छी चीज आयी लेकिन मन तो मन ही है। अच्छा सपना आया, तो कैसा भी सपना आवे, मन तो मन ही है। मनोराज्य कैसा हुआ? कि मन तो मन ही है। तो जैसे खिलोना बननेसे मिट्टीमें फर्क नहीं पड़ता, जैसे तरंग उठनंसे जलमें फर्क नहीं पड़ता, जैसे चिनगारी निकलनेसे आगमें फर्क नहीं पड़ता, जैसे अलग अलग साँस होनेसे वायुमें फर्क नहीं पड़ता और जैसे घटाकाण मठाकाश अलग-अलग होनेसे आकाशमें फर्क नहीं पड़ता, वैसे दोस्त दुश्मन, बच्चा वाप, अच्छा बुरा, सब आनेसे मनमें कोई फर्क नहीं पड़ता, मन तो मन ही है।

आपको एक चीज इस प्रसंगमें सुनाते हैं, अगर आप ध्यान देकर देखें तो यह जो हमारी आँख है, वह चीजको देखती है, चीजमें फँसती नहीं है। आँख ज्ञानेन्द्रिय है। वह तो तुम्हारे सामने दोस्त आवे तो दोस्त बता दे, दुश्मन आवे तो दुश्मन बता दे, औरत आवे तो औरत, मर्द आवे तो मर्द और दोस्ती-दुश्मनीका भाव तो मनमें रहता है, वह आँखमें थोड़े ही रहता है! प्रिय-अप्रियका भाव तो मनमें रहता है वह आँखमें थोड़े ही रहता है! तो यह जो ज्ञान होता है, वह किसीसे नफरत करनेके लिए नहीं होता और किसीमें फँसनेके लिए नहीं होता। ज्ञान तो जो चीज जैसी है, उसको वैसी दिखा देनेके लिए होता है। जैसा कपड़ा मिला वैसा पहन लिया, कभी फूल छू गया, कभी काँटा गड़ गया, कभी जलता हुआ कोयला शरीरपर पड़ गया और कहीं इत्रका फाह लग गया। तो त्वचाने क्या किया? त्वचाने तो सिर्फ तुमको बताया।

देखो; जीभ बता देती है कि यह खीर है और हल्वा है, लेकिन जीभ खीर हल्वेको अपने ऊपर रखती थोड़े ही है, वह आगे चालू कर देती है न! तो ज्ञानका स्वभाव केवल प्रकाशित करना है, फँसना नहीं है, यह बात आप समझ लो। तो जैसे इन्द्रियोंका स्वभाव आसक्त होना नहीं है, वैसे ज्ञानका स्वभाव भी आसक्त होना नहीं है। यह जो आसक्ति मालूम पड़ती है यह भ्रान्ति है।

अब यह बात बिलकुल सांसारिक दृष्टिकोणसे मैं आपको कह रहा हूँ। ये मनीराम जो हैं ये फँसे हुए मालूम पड़ते हैं, फँसते नहीं हैं। ये नये शिकारकी तलाशमें भले रहें, लेकिन नया शिकार मिलनेपर भी उसमें फँसते नहीं हैं। पाँच रुपया मिले महाराज तो तुरन्त दसपर जाय, दस मिले तो बीसपर जाय और बीस मिले तो सौपर जाये। कि यह क्यों छलकता है? अगर पाँच रुपयेमें इसकी आसिक्त है तो वहीं रहे पट्टा, टिक जाये वहींपर। तो इसका अभिप्राय है कि आँखोंके सामने जैसे हजारों चीज आयीं और चली गयीं, त्वचामें हजारों चीज आयीं और चली गयीं, त्वचामें हजारों चीज आयीं और चली गयीं, जीभपर अबतक कितनी चीजें आपने डाली हैं, मालूम है! याद भी नहीं कर सकते हो कि जिन्दगीमें क्या-क्या चीज खायीं, (वैसे ही मन कहीं आसक्त होता नहीं)।

कल एकने हमसे पूछा कि आज दोपहरको क्या-क्या खाया है! मैंने कहा—भाई अब जोर लगाना पड़ेगा दिमागपर कि क्या-क्या खाया है, काहेको इतने पीछे हटकर जायें! यह तो ऐसे ही जैसे दो फर्लांग आदमी बढ़ गया हो और एकने आकर पूछा कि दो फर्लांग पहले क्या चीज तुमने देखी है! तो उसने कहा—भाई याद तो नहीं है कि अच्छा लौट चलें। तो दो फर्लांग फिर गये बोले—अरे यहाँ तो यह इमलीका पेड़ है। यही देखकर तो हम गये थे। कि ठीक है। अरे तो यहाँ लौटकर फिर काहेको दो फर्लांग आना और दो फर्लांग जाना, चार फर्लांग चलाया। अब दोपहरमें क्या खाया है, इसकी याद करके क्या मरना! क्यों अपने दिमागको तकलीफ देना!

बोले—कल क्या खाओगे! अभी यही पता नहीं है कि कल खायेंगे कि नहीं खायेंगे? अरे कोई बड़े आदमी मर जायें तो भूखे रहना पड़े। तो अभीसे दिमागपर जोर लगाकर क्यों पीछे गयी हुई बातको याद करना, वहाँ लौट जाना।

मैंने सुना था, आपको बताते हैं कि एक मिनिस्टर थे केन्द्रीय; सरदार थे। तो वे सायंकाल लाहौरमें किसीके घर गये। घरवालेने खूब खिलाया-पिलाया, खूब आनन्द दिया। वर्षा हो रही थी। घर पास ही था कोई बहुत दूर नहीं था, एक दो फलाँग ही, सामने था। मेजबान बोले कि साहब अब आप यहीं सो जाओ। गाड़ी-वाड़ी चली गयी, ड्राईवर भी चला गया, अब यहीं सो जाओ, वर्षा बाहर हो रही है। तो बोले कि ठीक है यहीं सो जायेंगे। तो जब सोनेकी तैयारी वह आदमी करने लगा तो धीरेसे वहाँसे उठकर चले गये अपने घर और वहाँसे घर लौटकर भीगे हुए आये। तो उसने पूछा कि आप कहाँ चले गये थे? तो बोले कि सोनेकी पोशाक यहाँ नहीं थी तो मैं लेने चला गया था।

अरे बाबा, सोनेकी पोशाक लेने घर गयं तो वहीं सां जाते, फिर यहाँ लौटकर आनेकी क्या जरूरत थी!

अब देखो आपका मन जो है वह सरदार साहबसे ज्यादा अच्छा है, यह बात नहीं कही जा सकती। आपका मन सरदार साहबसे ज्यादा अच्छा नहीं है। पहले भिवण्यमें गया और फिर वहाँसे लौटकर वर्तमानमें आया और फिर भिवण्यमें गया और फिर कितना परिश्रम मन उठाता है, इसपर ध्यान दो। तो ये जो मनीराम हैं, अरे जो पीछे छूट गया वह पीछे छूट गया, जो आगे आवेगा, उसका मौजसे सामना करेंगे। अबतक ऐसा कौन-सा दु:ख है, जिसका हमने सामना नहीं किया है! हमने बड़े-बड़े रोग देखे हैं, हमको रोग हुए, ऐसे रोग हुए कि वैद्योंने, डाक्टरोंने कह दिया कि बस छूट गयी नाड़ी।

ऐसा वियोग देखा है जो बड़े प्यारे थे और मर ही तो गये न सब, अब वाप कहाँ हैं? अब भाई कहाँ हैं! बड़े-बड़े प्यारे लोगोंको मरते देखा है। तो ऐसा कौन-सा दु:ख है जिसका सामना करके हम जिन्दा नहीं निकल आये हैं? रोग देखा, संयोग देखा, वियोग देखा, चोर देखा, डाकू देखा, गरीबी देखी, अव ऐसा कौन-सा दु:ख है, ईश्वरके खजानेमें भी ऐसा कोई दु:ख नहीं है, जिसको हम भोगकर आगे न निकल गये हों? तो यह हमारा मन कोई मामूली मन थोड़े ही है इसको कमजोर नहीं समझना। मनमें कितनी बातें आती हैं और जाती हैं, दोस्त आता है जाता है, दुश्मन आता है जाता है, पत्नी आती हैं जाती है, पित आता है जाता है, धन आता है जाता है। इसका ख्याल होता है मन वही एक बिलकुल सपनेकी तरह। आपको, सपने जैसे आते हैं और बीत जाते हैं, वैसे सृष्टिके पदार्थ आते हैं और बीत जाते हैं।

एक बार एक सेठ आया, मैं रतनगढ़में था, आजकल वह बहुत मशहूर है इसिलए नाम नहीं लेते हैं। रिवाड़ीमें एक आश्रम है, परमानन्द आश्रम, तो वहाँ एक मोर पंखवाले रहते थे, बड़े मशहूर थे मोर पंखवाले। तो—सेठ तो बड़ी उम्रका था, बुड़ा था—बोला—मोर पंखवालेकी जो लड़की है एम. ए. पास, अमुक नामवाली, उसके साथ अगर मेरा ब्याह नहीं होगा तो मैं कुएँमें कूदकर मर जाऊँगा, मैं पागल हो जाऊँगा, मैं तो उसीके साथ ब्याह करूँगा। करोड़पति आदमी भला!

जब लड़कीके पास यह खबर गयी तो वह बोली कि मैं तो उस सेठपर थूकूँगी भी नहीं, ब्याह करनेकी तो बात ही क्या!

उस लड़कीका अच्छी जगह, दूसरी जगह ब्याह हो गया। अब सेठ जिन्दा ही हैं, न कूएँमें कूदे, न मरे। और यह बात मैं कबकी कह रहा हूँ, पच्चीसमें चार और जोड़ दो भला, उनतीस वर्ष हो गये। मैं रतनगढ़ मारवाड़में उन दिनों रहता था।

हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि यह जो मनमें मालूम पड़ता है कि इसके बिना मैं मर जाऊँगा, यह बिलकुल झूठ ही भ्रम होता है। तुम्हारी आँख भी असंग है। आँख असंग है, कान असंग है, जीभ असंग है, तुम्हारा मन असंग है।

आपको गुस्सा तो कभी-कभी आता ही होगा और न आता हो तो भगवान्की बड़ी कृपा है, न आवे, लेकिन जिस समय गुस्सा आता है उस समय आपके मनकी दशा क्या होती है? देखो! यह होता है कि यदि हम तकलीफ पहुँचाने वाले अपने दुश्मनको मार नहीं डालेंगे तो हमारा जिन्दा रहना व्यर्थ है। वह नहीं मरेगा तो मैं मर जाऊँगा। गाली देते हैं, हाथ फोड़ते हैं, मनमें खुद मरनेका संकल्प करते हैं। उस समय मालूम पड़ता है कि दुनियामें अगर कोई सच्ची चीज है तो क्रोध है। वह क्रोध क्यों सच्चा हो जाता है? क्योंकि आप उस क्रोधमें उतर जाते हैं। अगप और क्रोध दोनों एक हो जाते हैं। वह क्रोध अमर नहीं होता। क्रोध तो दो घण्टेके बाद उतर जाता है और फिर कहते हैं कि बड़ी गल्ती हुई भाई, तुम्हारे ऊपर मैंने ऐसा गुस्सा किया। यह रूठनेवाले जो लोग होते हैं न, स्त्रियाँ रूठती हैं तो अपने पितको क्या-क्या कह देती हैं और उसके बाद महाराज जब होश-हवासमें आती हैं तो कहती हैं गलती हो गयी। यह तो घर गृहस्थीमें ऐसा होता ही रहता है। तो जैसे घर-गृहस्थीमें ऐसा होता रहता है न, ऐसे ही मनमें भी होता रहता है।

मनकी सच्चाईको सच नहीं मानना। यह तो जब जो भाव आता है, काम आता है तो मालूम पड़ता है कि भोग नहीं करेंगे तो मर जायेंगे। क्रोध आता है तो मालूम पड़ता है शत्रुको नहीं मारेंगे तो मर जायेंगे। लोभ आता है तो यह होता है कि लाख रुपया मिलेगा नहीं तो मर जायेंगे। मोह आता है तो बोले कि बच्चेक विना मर जायेंगे, स्त्रीके बिना मर जायेंगे और जिन्दा रहते हैं सबके बिना। इसिलए ये सब के सब जो भाव हैं, ये मानसिक विवर्त हैं। ये स्वप्न हैं। कोई बात मनमें आगयी, इसिलए इसको सच्ची मत मान बैठना।

तो देखो पंचभृतका दृष्टान्त आपको पहले बताया था, क्या? मिट्टीमें खितोने, पानीमें तरंग, आगमें चिनगारियाँ, हवामें झोंके, साँसें अलग-अलग और आकाशमें घटाकाश, मठाकाश जैसे बनते-बिगड़ते रहते हैं, वैसे मनमें भी भाव बनते बिगड़ते रहते हैं, यह नहीं समझना कि मन वही हो गया। मनके आप एकरूपको कभी सच्चा नहीं समझना वह अनेक रूप धारण करता है, अब इस समय कह रहा है कि मैं दु:खी हूँ और फिर कहेगा कि मैं सुखी हूँ।

एक बार एक सज्जन मर गये, बिंद्या थे। तो बहुत लोग पहुँचाने गये श्मशानपर। मैं भी गया था। तो महाराज बड़ी मातमी सूरत बना कर लोग गये थे, हाय-हाय बड़ी हानि हो गयी, किसीकी आँखसे आँसू भी आया और बड़े सुस्त लोग नजर आवें। तो सचमुच दु:ख था उनको। यह नहीं कि दु:खकी कोई नकल कर रहे थे; लेकिन जब वहाँ जानेपर चिता बनी और कर्मकाण्ड हुआ और आग लगायी गयी और वे जलने लगे। इतनेमें दो-तीन घण्टे लग गये। अब दो- तीन घण्टे तक तो महाराज किसीकी मातमी सूरत नहीं रही पाँच-पाँच आदमी अलग-अलग बैठ गये और आपसमें कोई राजनीतिका चर्चा करने लग गये, कोई आपसमें ठहाका मारकर हँसने लग गये। यह क्या बात है? कोई दु:खी नहीं रह सकता, यह भ्रान्त धारणा है कि हमारा मन अब दु:खी हो गया, हमारा मन अब सुखी हो गया। ऐसा नहीं; यह तो जैसे हवाके झोंके आते-जाते हैं ऐसे ही मनके झोंके भी आते-जाते हैं। जैसे पानीमें बबूले बनते हैं और फूट जाते हैं वैसे मनके ये बबूले बनते हैं और फूट जाते हैं। मन तो मन ही है भला!

अब आगे देखो, बुद्धिमें भ्रम आता है। मनमें संकल्प-विकल्प आते हैं। जब जो संकल्प आता है, वह सच्चा मालूम पड़ता है, छूट जाता है, तो झूठा हो जाता है। उनको यह नहीं समझना कि उनमें कुछ हमारा बिगड़ गया। वह तो ऐसे ही है कि जैसे कोई आदमी जुआ खेलने बैठा। पाँच रुपया

आगया तो बहुत खुश हुआ और पाँच रुपया चला गया तो दु:खी हो गया कि हाय-हाय हमारे पाँच चले गये। बोले—जब आये थे भाई तुम खेलनेके लिए, तब कितना था? तो बोले कि कुछ नहीं था। अरे जब कुछ नहीं था तो जैसे आये थे, वैसे ही तो जा रहे हो। अब उस पाँच रुपयेके लिए दु:खी क्यों हो रहे हो? जब तुम पाताके पेटमें-से निकले थे, तो जितना लेकर आये थे, उतना ही तो लेकर जाना है। यह तो बीचमें यहाँ जुएके खेलमें मिल गया और मालिक बन गये, अब छूटनेके बाद रोते हो। यह मनीरामका खेल है, इसमें कोई सुख-दु:ख नहीं है।

अब देखो बुद्धिका भ्रम। ये मनमें जितने संकल्प-विकल्प, भाव-कुभाव, स्थितियाँ आती हैं, ये सब मनके विवर्त हैं। असलमें इसमें मनका परिणाम नहीं होता। यह भी मनका परिणाम नहीं है, यह मनका विवर्त है। क्योंकि देखो जब नींद आजाती है, तो क्या होता है? सब संकल्प-विकल्प कहाँ चले जाते हैं? वह सारी चिन्ता, वह सारा दु:ख कहाँ चला जाता है? यह तो मनमें भ्रान्तिसे दुनियाकी चीजोंको पकड़कर रखना। यह भी एक ख्याल ही है कि अब हम हमेशाके लिए दु:खी हो गये। उसके लिए हमेशा-हमेशा-हमेशा कुछ है, उसको पता नहीं है कि रातको ही हम हँसेंगे। उसको यह पता नहीं है कि दो घण्टे बाद ही हम हँसेंगे। उसका ख्याल बन जाता है, वह कहता है हम तो रोयेंगे, अब तो जिन्दगी भरके लिए हमारे रोना आगया। इस बातको समझो।

अब बुद्धिका भ्रम है कि हमको रस्सीमें साँप दिखता है। यह बौद्ध दृष्टान्त है। मनमें स्वप्न होता है यह मानसिक दृष्टान्त है।

पंचभूतके पाँच दृष्टान्त और स्वप्न और मनोरथ—ये दो दृष्टान्त जो हैं— ये मनके।

अब बुद्धिका दृष्टान्त देखो। बुद्धिका दृष्टान्त क्या है ? ऐसी कल्पना हो जाती है, ऐसा भ्रम हो जाता है कि हम समझते हैं कि बस अब मरे, अब दुःखी हुए। तो जैसे रस्सीको साँप समझकर आदमी डरता है, वैसे अपने आत्माको दुःखी मान करके, अब आगे भी हम दुःखी रहेंगे ऐसा डरता है। यह बुद्धिका भ्रम है। बुद्धि आज जिसको अच्छा समझती है, उसको कल बुरा समझती है। जिसको आज सच्चा समझती है, कल उसको झूठा समझती है। आपका क्या बतावें! दस वर्षकी उम्रमें हमारी बुद्धि कैसी थी, जरा ख्याल करके देखना। क्या सच्चा समझती थी! पन्द्रह वर्षकी उम्रमें क्या सच्चा समझती थी! उस समय यह मालूम पड़ता था, उस समय देखो सनातन धर्म सभाके संस्कार, सनातनी लोगोंके संस्कार, गाँधीजीसे द्वेष करा दिया लोगोंने; ऐसे लोगोंके बीचमें रहना पड़ा, जिन लोगोंने यह संस्कार डाला कि आजकल सबसे बड़ा पापी अगर कोई है दुनियामें तो गाँधी है। ऐसा संस्कार डाल दिया। और, उनके संगमें रहनेसे यह ख्याल होने लगा कि यह गलत। हम होंगे पन्द्रह वर्षके और गलती किसकी निकालें? कि गाँधीजीकी! और, गांधीजीकी गलती निकाल कहें कि उन्होंने यह गलती की, यह गलती की और धर्मके विपरीत काम कर रहे हैं। अब भला कहाँ हम पन्द्रह वर्षके और कहाँ गाँधीजीका उतना अनुभव! यह हमारे मनमें संस्कार ही तो बैठ गया, बुद्धिका भ्रम हो गया।

मानवीयजी थे, बोले—अरे राम राम राम! करपात्रीजीके सम्पर्कमें आये, बोले—अरे ये तो सबसे बड़ा अधर्म कर रहे हैं, ऐसा लगने लगा, बोले—आर्य समाजी लोग हैं, यह सबसे बड़ा अधर्म है।

जब जिनके सम्पर्कमें जाते हैं, उनकी मान्यता, उनके विचार, उनकी स्थिति, उनकी अवस्था अपने ऊपर हाबी हो जाती है और तब हमारी बुद्धि कहती है, ऐसा ठीक नहीं है, ऐसा ठीक है। अपनेको पापी मानकर कई बार रोया, अपनेको पुण्यात्मा मानकर कई बार हँसा। अपनेको वियोगी मानकर कई बार दु:खी हुआ, अपनेको संयोगी मानकर कई बार सुखी हुआ। और, असलमें नारायण यह जैसे रस्सीमें साँप होता है, जैसे सीपमें चाँदी होती है, ऐसे ही यह बुद्धिके भ्रमसे मालूम पड़ता है।

एष नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः

बाहर भी वही और भीतर भी वही, एकरस परमात्मा है। जीवनमें जो है, वही मृत्युमें है। संयोगमें जो है वियोगमें वही है। सुखमें जो है दु:खमें वही है और पुण्यमें जो है पापमें भी वही है।

एक महात्माने कहा-क्या तुम समझते हो कि ज़ब पाप करते हो, तब भैं

तुमसे जुदा रहता हूँ ? तुमको पाप करनेके लिए छांड़ देता हूँ और तुमसे जुदा होता हूँ ? ऐसा मत समझना। जब तुम पाप करके दुःखी होते हो, तो तुम्हारी अन्तरात्माके रूपमें बैठा हुआ परमात्मा भी दुःखी होता है। तुम्हारा दुःखी होना है। तुम जब रोते हो तो ईश्वर रोता है, तुम जब हँसते हो तब ईश्वर हँसता है। जब तुम दोनोंमें सम होते हो, तब ईश्वर सम होता है। तुम अपने स्वरूपको जैसा अनुभव करते हो, वही ईश्वरका स्वरूप है। इसके सिवाय ईश्वरका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है। तुम अपने आपको किस रूपमें अनुभव कर रहे हो? तो, सबाह्याभ्यन्तरः ह्यजः। बाहर भी वही, भीतर भी वही।

क्या खूब जाना है ये अनजाना बने बैठे हैं,
आपमें आपसे पर्दा ढके बैठे हैं।
यह कहूँ, तू कहूँ, मैं भी कहूँ,
वस्तु तो एक ही है, नाम धरे बैठे हैं॥

वस्तु बिलकुल एक है, नाम ही अलग है। यह स्त्री, यह पुरुष, यह पशु, यह पक्षी, एक परमात्मा अनेक रूपमें प्रकट, बाहर भी वही, भीतर भी वही।

बोले—फिर तो जन्मवाला होगा! तो कहते हैं, नहीं, अजन्मा है। न जायते इति। वह यह सब कुछ बनता हुआ भी कुछ नहीं बनता। आप देखना, अगर सचमुच आप दुःखी हो जाते हैं, तो नींदमें आपका दुःख कहाँ चला जाता है? नींदमें आप जिन्दा रहते हैं कि मर जाते हैं! अगर नींदमें मर जाते हैं तो कल जागना नहीं चाहिए और जिन्दा रहते हैं, और आप दुःखी हैं तो नींदमें भी दुःखी होना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि दुःखीपना जो है, वह एक मनका विवर्त है।

अच्छा, आप पापी हैं, आप पुण्यात्मा है तो सुषुप्ति कालमें आप पापी पुण्यात्मा अपनेको क्यों नहीं मानते? इसका मतलब ही हुआ कि आपकी मान्यता है। पुण्यात्मा मानके चाहे अभिमान कर लो और चाहे पापी मान करके जीव मान लो अपनेको, लेकिन ये दोनों अवस्था तो जाग्रत्-स्वप्नमें ही तो हैं। माने जब मनीराम हैं तभी तो परेशान करते हैं न! तो ये मनकी कल्पना ही हुई दोनों। दोनोंसे परे है यह अजन्मा अजायमानो बहुधा विजायते। ये सन्न कुछ हुए, बिना सब कुछ हो रहा है। बड़ी अद्भृत लीला है इस परमात्माकी।

यह आकाश पैदा नहीं होता। एक घड़ा पैदा होता है तो बोले— घटाकाश बन गया, एक बाँसुरी बनती है तो बोले कि सुषिर्—बाँसमें छेद पैदा हो गया। वह बाँसमें छेद पैदा नहीं हुआ छेद वाला आकाश तो पहले ही था, एक घेरा बन गया। तो बोले—यह परमात्मा ऐसे भी पैदा नहीं होता, उपाधिकी उत्पत्तिसे भी परमात्माकी उत्पत्ति नहीं होती। जितने भी विकार हैं, ये परमात्मामें नहीं हैं, अजन्मा शब्दका अर्थ यही है।

अजन्मा शब्दका अर्थ? एक तो बोलते हैं कि उपिधिक जन्मसे परमात्माका जन्म मानते हैं, बोले—घड़ा पैदा हुआ तो घड़ेके भीतर आकाश पैदा हो गया। घड़ेके भीतर तो आकाश पैदा ही नहीं हुआ, वह तो पहलेसे ही मौजूद है। इसी प्रकारसे बोले कि दोस्त पैदा हुआ तो क्या मन पैदा हो गया? दुश्मन पैदा हुआ तो क्या मन पैदा हो गया? दुश्मन पैदा हो गया? सुखीपना पैदा हुआ तो क्या आत्मा पैदा हो गया!

तो दूसरे बोलते हैं कि उपिधकी उत्पत्तिसे भी परमात्माकी उत्पत्ति नहीं होती। बल्क ऐसा बोलते हैं, गौड़पादाचार्यका तो ऐसा कहना है कि आत्मा अजन्मा भी नहीं। बड़ी अद्भुत बात है यह। बोले—यह अजन्मा शब्दका व्यवहार माने उच्चारण और परमात्मा अजन्मा है, ऐसी वृत्ति; मैं अजन्मा हूँ—ऐसा वाग् व्यवहार-वाणीसे बोलना और मैं अजन्मा हूँ—ऐसा बुद्धिमें ख्याल करना—ये दोनों किसलिए? बोले—जो हमको देह देखकर जन्मवाला समझता हो, उसको मना करनेके लिए हम मुँहसे बोलते हैं अजन्मा और हमारे मनमें जो भूल बन गयी है—ख्याल बन गया है कि मैं जन्म वाला हूँ उस ख्यालको मिटानेके लिए बोलता हूँ कि मैं अजन्मा। यदि भूल न होवे तो भूल मिटानेके लिए अजन्मा कहनेकी भी जरूरत नहीं है। तो केवल जन्मकी भ्रान्तिको मिटानेके लिए—

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।

गौड़पादाचार्यकी यह कारिका है कि कल्पित संवृतिसे माने जो मैं

जन्मवाला हूँ ऐसी भ्रान्ति हो गयी है, उस भ्रान्तिका मिटानेके लिए यह बात कही जाती है। यह तो पानीमें जैसे कोई गंदलापन आगया हो, तो निर्मली बूटी अथवा फिटकरी उसमें घुमा देते हैं। फिटकरी पानीका स्वभाव नहीं है, निर्मली बूटी पानीका स्वभाव नहीं है। इसमें तो जो आगन्तुक मेंल है, उसको मिटानेके लिए फिटकरीकी जरूरत है। इसी प्रकार अपने स्वरूपमें यह 'मैं अजन्मा हूँ' यह फिटकरी, यह मैं अजन्मा हूँ—यह निर्मली बूटी, इसकी जरूरत क्यों है? कि गंदलापन प्रतीत होता है कि मैं जन्मवाला हूँ। अगर मैं जन्मवाला हूँ, में मरणवाला हूँ, यह प्रतीत न होता हो तो मैं अजन्मा हूँ—यह बोलना भी गलत और मैं अजन्मा हूँ यह सोचना भी गलत। यह भी बोलने और सोचनेकी जरूरत नहीं पड़ती है कि यह अजन्मा जो है यह जायमानत्वकी भ्रान्तिका निवारण करनेके लिए है।

अप्राणो ह्यमना: शुभ्रो—तो इस तरहसे आप देखो दिव्य है, मूर्तिरहित है, परिपूर्ण है और उसमें बाहर-भीतरका भेद नहीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि आत्मा भींतर-शरीर बाहर। कि नहीं, उसमें बाहर-भीतरका भेद ही नहीं है।

यह बाहर-भीतरका भेद तो वहाँ होता है, जहाँ देशकी कल्पना रहती है और जन्म-मरणकी कल्पना वहाँ होती है, जहाँ काल रहता है। और, अपना जो आत्मदेव है, वह देशका प्रकाशक और कालका प्रकाशक, स्वयं-प्रकाश, देश और कालका अधिष्ठान और स्वयं है। उसमें बाहर नहीं, भीतर नहीं।

तो 'दिव्य' कहनेसे लौकिक शरीरका निषेध, 'अमूर्त' कहनेसे दिव्य मूर्तियोंका भी निषेध और 'पुरुष' कहनेसे सब जगह भरपूर और 'बाह्याभ्यन्तर' कहनेसे बाहर-भीतरका—देशका निषेध और 'अज:' कहनेसे कालका निषेध।

अब आगे करते हैं क्रियाका, प्रजाका, अविद्याका और मायाका निषेध।



प्रवचन : 16, मंत्र 2

(आत्मा) दिव्य है माने जैसा लौकिक शरीर है, वैसा नहीं है। अमूर्तः निराकार है। पुरुषः चेतन है और बाह्याभ्यन्तर वही है अर्थात् देशका सम्बन्ध उसमें बिलकुल नहीं है—बाहर-भीतर सब वही होना माने देशका सम्बन्ध नहीं होना और 'जन्म' नहीं होना माने जन्म-मृत्युका सम्बन्ध नहीं होना—कालका सम्बन्ध नहीं होना। अजः अर्थात् कालका सम्बन्ध नहीं है।

वस्तु जो है वह दो तरहसे पैदा होती है या तो स्वय उसमें विकार होवे और या तो किसी दूसरी उपाधिसे या निमित्तसे उसमें जन्म होवे।

तो यह जो आत्म देवता है, यह स्वयं तो विकारी है नहीं। क्यों नहीं है? कि यदि यह विकारी हो जाय तो विकारोंका साक्षी कौन रहे? माने कोई भी काम होता है, तो ऐसे कहते हैं भाई यह काम किसीने होते देखा है? इसका कोई गवाह है?

बोले—भाई, विकार जब होते हैं तो एक विकार हुआ, शान्त हुआ, दूसरा विकार हुआ शान्त हुआ, तीसरा विकार हुआ शान्त हुआ, अब ये तीन विकार हुए या विकार होकर शान्त हो गये, यह मालूम किसको पड़ता है?

समझो! एक बार दु:खी हुए और एक बार सुखी हुए। कल एक बार समाचार आया कि हमारे मित्र स्वस्थ हो गये, खुश हुए यह सुनकर। एक बार समाचार आया कि हरिबाबाजीकी तबीयत बहुत खराब है तो तबीयत खिन्न हो गयी। देखों, दोनों समाचारोंका असूर पड़ा, लेकिन किसमें यह समाचारोंका प्रभाव पड़ा—यह बात किसकों मालूम है? इसका साक्षी कौन है? इसका गवाह कौन है कि दो समाचार आये? और दोनोंका दो तरहका असर पड़ा, यह किसकों मालूम है? अगर कहों कि इसका गवाह कोई नहीं है, साक्षी नहीं है, तो साक्षीके बिना तो वे हार गये मुकदमा ही नहीं बना। साक्षीके बिना तो ये समाचार आये यह बात भी सच्ची नहीं निकली और उनका असर पड़ा, यह भी सच्चा नहीं हुआ। और, यदि साक्षी रहा तो उनसे बिलकुल अलग रहा और साक्षी कौन रहा, मैं ही रहा कि कोई दूसरा रहा? तो यह चेतन जो है, यह साक्षी है। कभी इसमें विकार देखनेमें आता ही नहीं—

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनः साक्षितानास्ति साक्षिणो दुःखिता तथा॥
यदि आत्मा दुःखी होवे तो मैं दुःखी हुआ—इसका गवाह कौन? जो दुःखी है वह साक्षी नहीं है, जो साक्षी है वह दुःखी नहीं है।

नर्ते स्याद् विक्रिया दुःखी साक्षिता का विकारिणः।

बिना अपनेको विकारी माने कोई अपनेको दु:खी नहीं मान सकता। अन्तःकरणवाला अपनेको मानोगे, इन्द्रियवाला मानोगे, कर्त्ता मानोगे, भोक्ता मानोगे, तब न अपनेको दु:खी मानोगे। तो बिना विकारी हुए अपनेको कोई दु:खी नहीं मान सकता और जो विकारी है वह दु:खी है; वह भला साक्षी कहाँ है ? तो—

धीर्विक्रिया सहस्त्राणां साक्षितोऽहमविक्रियः।

मैं बुद्धिके हजार-हजार विकारोंका साक्षी हूँ दिन भरमें हजार बात आवें और चली जायें और मैं ज्यों-का-त्यों।

तो आत्मा जो है वह साक्षी है, वह चेतन है, वह विकारी नहीं है। वह पापी नहीं होता, पापीका साक्षी रहता है। वह पुण्यात्मा नहीं होता, वह पुण्यात्माका साक्षी होता है। वह दु:खी नहीं होता वह दु:खीका साक्षी रहता है। वह सुखी नहीं होता वह सुखीका साक्षी रहता है। वह अज्ञानी नहीं होता वह अज्ञानीका साक्षी रहता है। वह परिच्छित्र नहीं होता, वह परिच्छित्रका साक्षी रहता है। तो, आपकां यह बात सुनाते हैं—दिशा जो कट गयी कि यह घड़ेके भीतर है और यह घड़ेके बाहर है, यह घड़ेके निमित्तसे आकाशमें भेद आया। वायुके निमित्तसे तरंग-बुद्बुदका भेद पैदा हुआ। यह तो औपाधिक है। इसीको बोलते हैं दूसरेका गुण. दूसरेका धर्म दूसरेमें गया। तो यह जो आत्मा है—आत्मदेव है, यह स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज:—बाहर भी वही, भीतर भी वही, निमित्त भी वही, निमित्ती भी वही। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु होवे तो उसके जन्मका कारण बने।

अब तीसरी बात देखो। असलमें जन्मका निषेध करनेसे मृत्युका निषेध तो हो ही गया। जैसे बन्ध्यापुत्र है वह कभी पैदा नहीं हुआ, तो कभी मरेगा? जो पैदा नहीं हुआ, वह मरेगा भी नहीं। तो यह हुआ बन्ध्यापुत्र। इसी प्रकार ब्रह्म चैतन्य कभी पैदा नहीं हुआ। बोले—पैदा नहीं हुआ, यह बात कैसे बोलते हो? तो समझो कि एक दिन ऐसा था, जब यह पैदा हुआ। तो पैदा हुआ, इस बातको किसने जाना? जो पहलेसे मौजूद था, उसने जाना कि यह पैदा हुआ। अच्छा! पैदा होकर इसने जाना? तो पैदा होकर इसने जाना, तब तो जाननेसे पहले यह था—इसमें कोई प्रमाण ही नहीं और पैदा होनेके पहले यह था और इसने जाना तो यह पैदा ही नहीं हुआ। यह तो पैदा होनेके पहले ही यह था।

आपको एक बात सुनाता हूँ। यह 'ज्ञान' जिसको बोलते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि फूलका ज्ञान पैदा हुआ, मालाका ज्ञान पैदा हुआ और मालाका ज्ञान नष्ट हुआ; परन्तु यह बात गलत है। माला वहाँसे यहाँ आयी और मालूम पड़ी मालाकी मृत्यु हुई। यह बल्बकी रोशनी जो यहाँ फैल रही, यह आँखकी रोशनी और माला हट गयी। मालाका जन्म हुआ और रोशनी फैल रही बल्बकी समझो चाहे आँखकी समझो तो रोशनी पहलेसे मौजूद है, इसमें माला आयी और हट गयी। रोशनी तो पहलेसे मौजूद है जिसमें यह दिखायी पड़ी। तो ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। अगर ज्ञानकी उत्पत्ति हो तो यह किससे मालूम पड़े? एक भ्रम है कि ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

आपको सुनावें! ईश्वरने सारी दुनिया बनायी, वेद ईश्वरने बनाये होंगे, यह बात हम मान सकते हैं, भला यथाकथंचित्। यथाकथंचित यह मान सकते हैं कि वेद ईश्वरसे पैदा हुए हैं परन्तु ज्ञान ईश्वरसे भी पैदा नहीं हो सकता। देखो यह तो 'पुरुषसूक्त में आप पढ़ते हैं—

तस्मात् यज्ञः सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते क्षीयते विनश्यति॥

'अजायत का क्या अर्थ होगा? ऋक् पैदा हुआ, साम पैदा हुआ, यज्ञ पैदा हुआ, ज्ञानके रूपमें वेद मौजूद था: उसका बाह्यरूप पैदा हुआ—ऐसा यथाकथंचित् मान सकते हैं। नैयायिक लोग मानते हैं कि ईश्वरने वेद बनाया पौरुषेय मानते हैं। मीमांसक लोग मानते हैं कि नहीं बनाया। अभी इसी उपनिषद्में आगे मंत्र आनेवाला है कि—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः

सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

तस्मादृचः यजूंषि—हो सकता है, परन्तु ईश्वरने कभी ज्ञान बनाया कि नहीं? इस बातपर विचार करो। यदि ईश्वरने ज्ञान कभी बनाया, तो ज्ञानसे बनाया कि अज्ञानसे बनाया? एक बात तो यह हुई। अच्छा, ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर अज्ञानी था क्या? दोनों बात नहीं बनेगी। न तो अज्ञानसे ईश्वरने ज्ञान बनाया और न तो ज्ञानके बनानेके पहले ईश्वर अज्ञानी था। तो ज्ञानका निर्माता तो ईश्वर नहीं होगा।

यह आत्मा यह ज्ञान स्वरूप है, इसलिए यह निर्मित नहीं है, कृत्तक नहीं है। और, जब यह अजायमान है तो क्या बात निकली कि न तो यह जन्म लेता है, न तो घटपटादिकी तरह अस्ति प्रत्ययका विषय होता है, न तो यह बढ़ता है, न तो बदलता है, न तो क्षीण होता है और न मरता है। छहों भाव-विकार इसमें नहीं होते हैं। यह आत्माका स्वरूप है। जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनष्यति—ये छहों प्रकारके जो भावविकार है, ये अनात्मामें होते हैं, आत्मामें नहीं। ये साक्षीमें नहीं होते हैं, ये दृश्यमें होते हैं।

ये आत्मदेव तो साक्षी हैं, ये तो अज हैं, बिलकुल प्रत्यय सिद्ध है। इसमें अक्ल लगानेकी बिलकुल जरूरत नहीं है। यह तो बच्चेको भी मालूम पड़ना चाहिए कि जिसको जन्म मालूम पड़ता है, उसका जन्म नहीं. जिसकां मृत्यु मालूम पड़ती है उसकी मृत्यु नहीं, जिसका बढ़ना मालूम पड़ता है वह बढ़ता नहीं। जैसे खजानेका पैसा घटनेसे आदमी अपनेको गरीब मान लेता है कि मैं हीन हो गया और खजानेमें पैसा बढ़नेसे आदमी अपनेको बड़ा मान लेता है कि मैं धनी होगया। तो घटा पैसा, बढ़ा पैसा और आदमीने भूलसे अपना बढ़ना, अपना घटना मान लिया; इसी प्रकार यह दूसरेका धर्म अपने ऊपर आरोपित कर लिया। तो दूसरा कोई निमित्त ही नहीं है। स बाह्याभ्यन्तरो हाजः तो यह बाहर भी है भीतर भी है, यह अजन्मा है।

अब देखो बताते हैं, इसीसे—अतः अजरोऽमरोः अक्षरो धुवो अभयः। इसलिए आपके नाम हैं ये—अजरानन्द, अक्षरानन्द, अमृतानन्द धुवानन्द, अभयानन्द—ये आपका नाम है।

संन्यासी होनेपर आपका यह नाम होगा सो बात नहीं है। गेरुआ कपड़ा पहननेसे और नाम नयनसुख रख देनेसे अन्धा कोई देखने थोड़े ही लगता है! आँख ऐंचा-तानी और नाम नयनसुख रख दिया, तो उससे क्या बनता-बिगड़ता है? यह आत्माका स्वभाव ही ऐसा है, आत्माका स्वरूप ही ऐसा है। क्या? अजरानन्द, अमरानन्द, अक्षरानन्द, ध्रुवानन्द, अभयानन्द।

सेठ जयदयालजी जब बोलने लगे थे न अपने सत्संगमें ऐसी बात, तो एक संन्यासी तुरन्त लिखने लग गये, किसीने पूछा क्या लिख रहे हो? कि लिख रहे हैं कि कभी संन्यासी बनाना हुआ, चेला बनाना हुआ, तो नाम सोचना नहीं पड़ेगा बिलकुल सोचे-सोचाये रखे हैं भला! लो अमृतानन्द! यह आत्माका स्वरूप है।

अब आगे बताते हैं कि जीवका जो धर्म है, उसमें एक प्राण और एक मन। तो प्राणन जो होता है, यह क्रियाशक्तिका नाम है। यह साँस जो हम खींचते और फेंकते हैं, इसको प्राण नहीं बोलते हैं संस्कृतमें। प्राणमय पुरुष होता है। यह जो उपनिषद्की भाषा है, इसमें प्राणका अर्थ केवल धौंकनी जैसे फूलती-पटकती है न, यह हमारी अंतिड़याँ जो फूलती-पटकती हैं, तो साँस निकलती है, यही नहीं है।

हम जब व्याकरण पढ़ते थे, शुरू शुरूमें, बच्चे थे तभी तो आगये थे काशीमें, बारह वर्षके थे, जब काशी आये। तां हमारे गुरुजी पढ़ाते। अब गुरुजीको लघुकौमुटीसे लेकर महाभाष्य पर्यन्त सब व्याकरण बिलकुल कंठस्थ ही था सोलहों आने। कभी पुस्तक देखकर पढ़ते ही नहीं थे, कंठस्थ पढ़ाते थे साग ही। वड़े-बड़े आचार्य लोग, सब, देवनायकाचार्य भी उन्होंसे व्याकरण पढ़ने थे। महाशयजी रामयशजी काशीके बहुत वड़े विद्वान्, उनसे व्याकरण पढ़ते थे। तो एक दिन हमसे पृछते हैं कि कही यह साँस चलती है, तुमको मालृम है, कैसे चलती है? एक बार बाहर निकले और एक बार भीतर आये. यह तुमको मालूम है ? मैं तो बारह-तेरह बरसका था, मैंने कहा-हमको तो नहीं मालूम है। तो बोले-देखो हृदयमें एक कमल है। बीचमें गद्दी है और पंखुड़ी हैं, उसकी पंखुड़ियोंपर हंस डोलता है तो जब पाँव रखता है, तब पंखुड़ी नीचे दबती है, तो उसके दबावसे साँस बाहर निकल आती है और जब यह पाँव उठाता है, तब पंखुड़ी उठती है और जगह खाली होती है, तो साँस भीतर चली जाती है। तो ऐसे उन्होंने बताया कि अपने हृदयमें एक कमल है और कमल पर एक हंस घृमता है, उसके पाँवसे दवकर साँस बाहर निकल आती है और पाँव उठानेपर फिर साँस भीतर चली जाती है। तो यह सोऽहं हंस: सोऽहं हंस: सोऽहं। यह जो ध्विन है, यह अजपा जाप हमेशा शरीरके भीतर होता रहता है। तो उस समय तो ऐसा मालूम पड़ता था कि हमार गुरुजीसे बढ़कर तो दुनियामें कोई होगा ही नहीं, क्योंकि उनको तो साक्षात् अन्नपूर्णा सिद्ध थी।

आपको एक बात उनकी सुनावें। सोलह वर्षकी उमरमें उन्होंने यह नियम लिया था कि आठ आना रोजकी फूलमाला अन्नपूर्णा देवीको चढ़ावेंगे। तो पन्द्रह रुपयेकी तनखाहमें वे पहले-पहले काम करते थे और वह आठ आनाका फूलमाला लेजाकर रोज चढ़ा देना और स्वयं खाने-पीनेका बन्दोबस्त अलग करना। उन दिनों पन्द्रह रुपया ज्यादा था, कम नहीं था। दरभंगा नरेश पन्द्रह रुपया महीना उनको देते थे। उसके बाद जब वे गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेजमें हुए तो उनको चार सौ रुपया महीना मिलता था। लेकिन वे रोज अन्नपूर्णीमें जाते थे और आठ आनेकी फूलमाला चढ़ाते थे। पचासी वर्षकी उम्र तक उनके जीवनमें यह त्रुटि नहीं हुई कभी कि वं आठ आनेकी माला अन्नपूर्णाको न चढ़ावें। और विद्या तो उनको जीभपर नाचती थी।

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी अधीतबोधाश्च।

उनके जीभके नोकपर सरस्वती नर्तकी बनकर रहती है, वह नाचती है। यह उनका स्मरण किया।

यह जो प्राण है न. सिर्फ साँसको प्राण नहीं बोलते हैं। यह जो हाथ उठानेकी शक्ति है. इसको प्राण बोलते हैं। यह जो पलक गिरती है, यह प्राण होनेसे गिरती है। प्राण नहीं हो तो पलक नहीं उठेगी, गिरेगी। प्राण नहीं हो तो हाथ नहीं उठेगा, गिरेगा। शरीरके भीतर जो क्रिया शक्ति है उसको प्राण बोलते हैं और जो संकल्पकी शक्ति है, प्रज्ञा शक्ति है, उसको मन बोलते हैं।

अब देखो आदमी जो है वह संसारमें अपनेको अवनत माने तो प्राण और मनसे और उन्नत माने तो प्राण और मनसे। आप देखना संसारमें जितनी विशेषता है इसीसे मानते हैं। विशेषता लोग अपनेमें कर्मसे मानते हैं। हमारे बाप बहुत बड़े, क्योंकि जज हैं।

एक सच्ची बात है। एक दिन एक जज साहब और एक और सज्जन दोनों रेलगाड़ीमें यात्रा कर रहे थे, इलाहाबाद जा रहे थे। दोनोंमें लड़ाई हो गयी, बर्थके लिए। बड़े आदमी थे पर लड़ गये। तो उन्होंने कहा—तुम जानते नहीं, मैं जज हूँ। यह कर्मका अभिमान हुआ, पदका अभिमान। तो सामनेवाला बोला तुम मुझे नहीं जानते मैं जजका बाप हूँ। दोनोंमें लड़ाई हो गयी, अब वे दोनों मौन, चुपचाप, एक दूसरेसे बोलें नहीं, लाल-लाल आँख; जब इलाहाबाद स्टेशनपर उतरे जज साहब तो देखते हैं कि एक जज और आया हुआ है, हाथ मिलाया। उसके बाद देखा कि वे जो बुड्डे, जिनसे उन्होंने लड़ाई की थी न, आकर उन्होंने उनके पाँव छूये और वे हँसने लगे, अब देख लिया न कि मैं सचमुच जजका बाप हूँ।

तो कोई कारखाना खोल लेता है कि हमारे बराबर कौन! कोई दस रुपया दान दे दे, बोले—हमारे बराबर कौन? तो लोग अपनेमें बड़प्पनका आरोप कर्मसं मानते हैं और किसीसे बुरा कर्म हो जाय तो अपनेको हीन मानता है। किसीके अन्दर ताकत कम हो, तो अपनेको हीन मानता है।

जो क्रियाशक्ति शरीरकं भीतर है, इसको प्राण बोलते हैं और जो प्रज्ञाशक्ति है शरीरके भीतर उसको मन बोलते हैं। हम बड़े विद्वान् हैं, हम बड़े विचारवान् हैं, हम बड़े दार्शनिक हैं, हम बड़े वैज्ञानिक हैं यह सब क्या है?

विश्वेश्वरैया थे मैसूरमं, भारतरत्न हैं। वृद्ध थे! कि उन्होंने एक ऐसा बाँध बनाया है जो पहले हिन्दुस्तानके इंजीनियरोंके लिए बनाना शक्य नहीं था। तो बुद्धिका जो वैभव है इससे आदमीमें बड़प्पन आता है और बुद्धिकी हीनता जो है उससे हीनता आती है।

अब वह ईश्वर जो है, वह ईश्वर कैसा? ईश्वर बुद्धिके वैभवसे वैभव-शाली नहीं है, यह बात आप समझो और ईश्वर क्रियाके वैभवसे वैभवशाली नहीं है।

ईश्वर जो है, वह तो बुद्धियोंका निर्माता है, वह तो सम्पूर्ण क्रियायोंका प्रेरक है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। ऐसे समझो। और, यह जो आत्मदेवता (जीवात्मा) है यह अल्पज्ञ है और अल्पशक्तिमान है। तो प्रज्ञा और प्राणकी उपाधिको हटाकर देखो, तो दोनोंमें जो निष्क्रिय और प्रज्ञातीत चैतन्य है, उसको एक बोलते हैं। माण्डूक्योपनिषद्में परमात्माका विलक्षण-निरूपण है—

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्।

देखो, आप लोग बड़े-बड़े विद्वान् हो, भिन्न-भिन्न भाषाओं के जानकार हो, आप दुनियाके किसी साहित्यमें ढूँढ़कर निकाल दो परमात्माका ऐसा वर्णन? यह वैदिक धर्मकी विशेषता है, इसके सिवाय यह बात और कहीं है ही नहीं भला! किसी वैज्ञानिक, किसी दार्शनिक, किसी धर्मग्रन्थमें परमात्माके इस स्वरूपका वर्णन नान्त: ग्रज्ञं न बहि: ग्रज्ञं नहीं है।

कैसा है वह परमात्मा? वह 'न अन्तः प्रज्ञं' वह स्वप्न द्रष्टा नहीं है। तैजस् नहीं है। 'न बहिः प्रज्ञं'—वह इन्द्रियोंसे बाहर देखनेवाला, वह जाग्रदवस्था विश्व नहीं है। 'नो भयतः प्रज्ञं'—वह सन्धि दशामें बैठा हुआ नहीं है, वह प्रज्ञाहीन नहीं है। वह प्रज्ञावाला नहीं है। वह प्रज्ञानघन नहीं है। परमात्माका यह स्वरूप आप कहीं ढूँढ़कर बताओं।

परमात्माके इस स्वरूपका वर्णन वह जाग्रतावस्थाके अभिमानी विश्वसे विलक्षण; वह स्वप्नावस्थाके अभिमानी तैजससे विलक्षण, वह दोनोंके अन्तरालवर्ती जो अवस्था है, उसमें रहनेवाले सामान्य चेतनसे विलक्षण, वह सृषुप्तिमें रहनेवाले प्रज्ञाहीन चेतनसे विलक्षण, वह प्रज्ञासे भी विलक्षण और प्रज्ञानघनसे भी विलक्षण।

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्। नारायण, ऐसा परमात्मा।

अदृश्यं अग्राह्यम् अलक्षणं अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम् अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः।

माने जो लोग परमात्माके बारेमें जानते नहीं हैं और देहादि उपाधि पर ही जिनकी दृष्टि फँस गयी है, वे अविद्याके कारण देह भिन्न-भिन्न होनेसे ऐसा मानते हैं कि परमात्मा प्राणवाला है, मनवाला है, इन्द्रियवाला है, विषयवाला है, लेकिन यह ऐसा ही है जैसे लोग आकाशको मैला देखते हैं—

स प्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय इव प्रत्यवभासते।

वह सप्राणकी तरह भासता है। यह बड़ी अद्भुत विद्या है। जब आप अपनेको प्राणसे जुदा समझोगे तो पापकर्म और पुण्यकर्म दोनोंसे मुक्त हो जाओगे और जब आप अपनेको मनसे जुदा समझोगे तब क्या होगा? िक तब आप पाप और पुण्य—दोनोंसे छूट जाओगे। पापवासना और पुण्यवासना—दोनोंसे छूट जाओगे। जब आप प्राण और मन और इन्द्रियवाले रहोगे, तब आप पापी बनोगे, पुण्यात्मा बनोगे, सुखी बनोगे, दुःखी बनोगे, स्वर्ग-नरकमें जाओगे। ब्रह्मलोकमें जाओगे और आओगे।

यह आना-जाना आपका कबतक? कि जबतक अपनेको भ्रमसे प्राणवाला, मनवाला जानते हो। तो—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो—देखो शरीरमें क्रिया कभी होती है और कभी नहीं होती है। ऐसे-ऐसे अभ्यास हैं।

एक साधु है। हम लोग तो कभी उससे बात नहीं करते, माने कोई बहुत आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते, वृन्दावनमें ही रहता है। हे भगवान्! वह क्या करता है कि जब बैठ जाते हैं, तो उनको ऐसा अभ्यास है कि साँस चलना बन्द हो जाता है। उसके बाद नाड़ी चलना बन्द हो जाता है। तो जाकर उन्होंने दिल्लीमें अपना यह करिश्मा, यह करामात दिखायी कि बैठ गये तो नाड़ी चलना बन्द। अब तो महाराज दौड़े लोग, क्योंकि ये लोग जानते तो हैं नहीं कि परमार्थ किसको कहते हैं, अभ्यास किसको कहते हैं? जो इकट्ठे हुए लोग उनके पास. तो अमेरिकासे आये जाँच करनेवाले। उन्होंने जाँचकी उनकी भला, और जाँच करनेमें बिलकुल देख लिया कि नाड़ी एकदम नहीं चलती है, जब चाहें तब वह नाड़ी चलना बन्द कर देते हैं। मशीनपर बैठाकर, यन्त्रपर बिठाकर उन्होंने बन्द करके देख लिया कि न साँस चलती है न नाड़ी चलती है। तो यहाँसे उनको अमेरिका ले गये। हैं वृन्दावनके भला। अमेरिका ले गये और जगह जगह उनकी प्रदर्शनी की कि देखो यह साधु कितना बड़ा योगी है जो नाड़ी चलना बन्द कर देता है।

अभी ज्यादा दिनकी बात नहीं, पाँच-सात वर्षके भीतरकी ही है।

तो लोग समझते हैं यह बड़ा भारी योग हो गया। बहुत लोग समझते हैं कि योग और ज्ञान प्राप्त होनेसे हमारे व्यक्तित्वका उत्कर्ष हो जायेगा। तो जैसे लखपितयोंमें कोई करोड़पित हो जाये तो बड़ा माना जाता है, वैसे यदि हमको योग और ज्ञान मिल जायेगा, तो हमारा यह देह सिंहासनपर बैठाया जायेगा और हम लोगोंमें बड़े हो जायेंगे। उनको यह मालूम होना चाहिए कि परमात्माकी प्राप्ति होनेपर व्यक्तित्वका उत्कर्ष नहीं होता, व्यक्तित्वका विलय हो जाता है। व्यक्तित्वका साधारणीकरण परमार्थ ज्ञानका फल है। मिल गये, सबमें मिल गये। यह परमार्थ ज्ञानका फल सबसे एक हो जाना है, सबसे न्यारा हो जाना नहीं है।

हमारे एक मित्र हैं, वे बोलते हैं हमारे अन्दर क्या विशेषता आयी! हमने पाँच वर्ष वेदान्त विचार किया, योगाभ्यास किया, माला फेरी, हमारे अन्दर क्या विशेषता आयी!

अरे विशेषता तो तुमने अपने अन्दर विशेषतासे जोड़ रखी थी, अब यह परमात्माका ज्ञान होनेपर तुम्हारी विशेषता जो है, वह सबके अन्दर मिलेगी कि सबके अन्दर विशेषता पैदा होगी?

हमारे एक बड़े सिद्ध महात्मा थे, अब उस समय हमारी उम्र तो

उन्नीस बीस वर्ष की थी, हम लोग उनके पास सत्संग करनेके लिए जाते। हम समझते हैं कि उन्नीस वर्षसे तेईस-चौबीस वर्ष की उम्र तक उनका बड़ा भारी सत्संग रहा और क्या-क्या हम लोग उनमें देखते थे। तो क्या करते, जब वे खा लेते, तो उनके चौकेमें जो बच जाता, उसको हम लोग भी चट्ट कर जाते थे। स्वाहा।

अब हमारी जात-बिरादरीके जो ब्राह्मण थे, वे एक दिन इकट्ठे हो गये वहाँ और बोले—महाराज हमारे घरके ये बालक आपका जूठा खा लेते हैं आपका प्रसाद पाते हैं, आपके चौकेका खाते हैं, आप कौन हैं, यह बताओ। हम लोगोंके तो यह रिवाज ही नहीं है कि, हमारा ब्राह्मण किसी दूसरेका छूआ खा ले, यह तो बड़ा अनर्थ है। आप कौन हो बताओ?

तो वह बोले महाराज, जो चींटी है सो मैं हूँ, जो मच्छर है सो मैं हूँ, जो चिड़िया है सो मैं हूँ, अरे भाई जो तुम हो सो मैं हूँ। कहनेका अभिप्राय यह कि अपनी आत्माको सबसे अलग निकाल लेना कि तुम लोग बद्ध हो मैं मुक्त हूँ, तुम लोग नरकमें जाओगे और मैं सीधे वैकुण्ठमें जाऊँगा, इस ज्ञानका नाम परमार्थ ज्ञान नहीं है। तुम लोग अज्ञानी और मैं ज्ञानी हो गया। इस ज्ञानका नाम परमार्थ ज्ञान नहीं है। जो सबकी आत्मा है वहीं हमारी आत्मा है। जो सब है वहीं मैं हूँ। जैसे एक धनी अपना धन सबको बाँटकर सबके साथ मिल जाये, जैसे एक वैज्ञानिक अपने विज्ञानका आविष्कार सबको दे करके सबके साथ एक हो जाये, वैसे यह परमार्थका ज्ञानी जो महात्मा है उसने तो अपने व्यक्तित्वको अपरिच्छित्र परिपूर्ण ब्रह्मसे एक कर दिया, अब वह सप्राण कहाँ? अब वह समना कहाँ? अब वह सेन्द्रिय कहाँ? अब वह सविषय कहाँ? वह तो जो ब्रह्म है वहीं वह है।

जैसे आकाश नीलिमार्वाला दिखता है उसको जो आकाशका अज्ञानी है और, जो परमार्थदृष्टि हैं उनके लिए आकाश नीला नहीं है। इसी प्रकार आत्मा प्राणवाला दिखता है, क्रिया शक्तिवाला दिखता है कि यह करता, यह करता, यह करता है। तो—

अप्राणः अमनाः । जो ज्ञान-शक्तिके अनेक भेद हैं वे अपनेमें नहीं हैं। जो संकल्पादि हैं वे अपनेमें नहीं हैं। अप्राण और अमना है। न इसमें कर्मेन्द्रिय है न

ज्ञानेन्द्रिय है, न प्राण है, न मन है, न प्रज्ञा है, यह सबसे निराला है। इसीसे श्रुतिने कहा है—

ध्यायतीव लेलायतीव यह ध्यान नहीं करता, ध्यान करता हुआ सा लगता है। यह चंचल नहीं होता, चंचल हुआ-सा लगता है। तो अप्राणो शुभ्रः इसीसे बोलते हैं, यह शुभ्र है। शुभ्र है माने दोनों उपाधिका तिरस्कार करनेके बाद उपाधि दो हुई, एक बड़ी उपाधि और एक छोटी उपाधि।

जैसे आपने सुना होगा, इस कमरेमें हम बैठे हैं, और किवाड़ी बन्द हो, तो बँध गये न कमरेमें और खुल गयी किवाड़ी, एक उपाधि तो यह है जिस कमरेमें हम बैठे हुए हैं और एक उपाधि तो यह कि कमरा तो खुल गया, पर फाटक बन्द है, अब कैसे निकलेंगे? तो बड़ा फाटक हो गया। ऐसे पहले एक किलेका दरवाजा होता था और एक नगरका दरवाजा होता था।

इसी प्रकार एक देहमें मैं करके बैठना यह एक और एक मायामें मैं करके बैठना दूसरा। तो मायाकी उपाधि और अविद्याकी उपाधि। असलमें त्वं पदार्थमें जो अविद्याकी उपाधि है. इसीके कारण ईश्वरमें मायाकी उपाधि आरोपित करनी पड़ती है। यदि अविद्याकी उपाधि अपनी मिट गयी तो मायाकी उपाधि कोई जुदा थोड़े ही है कि वह रहेगी? तो तिरस्कृतोपाधित्वया—दोनों उपाधियोंका अपवाद कर दिया तब क्या? 'शुभ्र' है। शुभ्र है माने अविद्याका मल इसमें नहीं है।

मल तीन तरहका होता है, 1. कर्म मल 2. माया मल 3. स्वातन्त्र्य ही बोध शास्त्रमें इसका वर्णन है। एक मल होता है कर्ममल।

एक बारकी बात है, मैं कहीं पहाड़से आ रहा था। गंगोत्रीसे या उत्तरकाशीसे, याद नहीं, शायद बद्रीनाथसे। एक रास्तेमें बिच्छू मिला। तो पहाड़में हाथमें डंडा लेकर चलते। तो वह जो बिच्छूको सामने देखा तो वह तो बेचारा पहाड़में अपने रास्ते जा रहा, उसका कोई दोष नहीं, कोई अपराध नहीं, पर देखो बिच्छूके प्रति जो संस्कार था अपने मनमें कि बुरी चीज है, लोगोंको डंक मारनेवाली, उसने जोर मारा और अपना वह जो डंडा था, उसका निचला हिस्सा मैंने उसके डंकपर रख दिया जोरसे। अब वह डंक टूट गया। अब उसके बाद जब मैं चला तो राम-रहीम सब भूल गया। अब यही याद आवे

घण्टों तक कि हाय हाय हमने बेमतलब उस बिच्छूका वह डंक क्यों तोड़ दिया! अब तो चींटी लग जायेंगी उसके शरीरमें और उसको खा जायेंगी और वह मर जायेगा। यह क्या है? कि इसका नाम कर्ममल है।

संसारमें कोई भी आदमी गंदा कर्म करके चाहे कि हमारे मनमें यह मैल नहीं बैठेगी तो संसारी कर्त्ताके लिए यह बात सत्य नहीं है, सम्भव नहीं है। अगर वह बुरा काम करेगा, तो बुरा कर्म आकर मैल बन करके उसे लगेगा।

मैल यह हुई कि ईश्वर भूला, परमेश्वर भूला, ध्यान भूला, उपासना भूली और दोषानुसन्धान दिमागमें मँडराने लगा, हीनताका भाव आगया कि क्या गन्दा काम हुआ! इसको बोलते हैं कर्ममल।

एक दिन कोई टी. बी. का मरीज आया। वृन्दावनमें जबसे टी. बी. का अस्पताल बन गया है, तबसे टी. बी. के मरीज बहुत आते हैं।

अब एक दिन आया टी. बी.का मरीज, मैला-कुचैला उसका कपड़ा, कोई उसकी जान-पहचान नहीं और आकर कै कर दिया। तो अपने मनमें उसके प्रति बड़ी सहानुभूतिका भाव उदय हुआ, दोषका उदय नहीं हुआ। मैंने कहा बुलाओ उसको, बुलाया, मैंने उसकी शक्ल देखी, याद आयी कि यह तो हमारा सहपाठी है। हमारे साथ यह संस्कृत पढ़ता था। मैंने पूछा—तुम्हारा नाम जगतनारायण है! बोला—हाँ जगतनारायण है! पहचान गये। उसके बाद उसकी चिकित्सा की। बड़ा खुश। कुछ दिन दवा करनेके बाद उसकी टी. बी. अच्छी हो गयी। तो मनमें बड़ी खुशी हुई कि वाह-वाह-वाह मैंने बहुत अच्छा काम किया। इस बातको दृष्टान्तके रूपमें आप लें।

तो वह क्या हुआ? कि वह जो अभिमान आया कि मैंने अच्छा काम किया, वह भी कर्मका मल है। बुरा काम करनेसे हीनताका भाव और अच्छा काम करनेसे जो अभिमानका भाव आता है, इन दोनोंको कर्ममल बोला जाता है।

अब चलो वेदान्तियोंके पास चलें। उन्होंने कहा—देखो, न तो तुमने बिच्छुको मारा और न तो तुमने रोगीकी सेवा की। तुम्हारा आत्मा तो साक्षी है—शुद्ध चैतन्य, अकर्त्ता है और मैंने कहा कि मैं अकर्त्ता हूँ, मैंने दोनोंमें-से कोई काम नहीं किया। अध्यारोप सिद्धान्तसे यह बात आपको सुना रहा हूँ, दोनों काम मैंने नहीं किया। मैं कौन हूँ ? कि मैं अकर्त्ता हूँ।

अब महाराज मैं अकर्ता हूँ, यह जो वृत्ति थी, वह अपने साथ जुड़ गयी, इसको माया-मल बोलते हैं, यह माया-मल है। यह जो आदमी अपनेको कर्ता मानता है, कि मैंने अच्छा काम किया या बुरा काम किया, यह तो अविद्याका विलास है और 'मैं अकर्ता हूँ'—यह विद्याका विलास है। ये मायाके ही दोनों बच्चे हैं।

मायाकी दो लड़की हैं—एक लड़की अविद्या है जो कहती है अच्छा काम किया, बुरा काम किया और, मायाकी लड़की विद्या है जो कहती है तुमने कुछ किया नहीं, बिलकुल अकर्ता हो, न तुम पापी न पुण्यात्मा, इसको मायामल बोलते हैं। यह मायाकी बेटी है। यह केवल कर्तापनके मैलको छुड़ानेके लिए अकर्तापनका साबुन है।

एक आदमीने अपने शरीरमें लगाया साबुन, बोला—भाई साबुनकी वजह़से मैल छूटती है तो हम दिन भर लगाये ही रखेंगे, चौबीसों घंटे। तो बेवकूफ हुआ, दिन भर साबुन लगानेका थोड़े ही होता है।

तो यह विद्या और अविद्या दोनों मायाकी बेटी हैं और यह जो छुड़ाया गया मैल, वह भी माया अविद्या और मैल, यह जो लगाया गया छुड़ानेवाला साबुन, यह भी माया, विद्यां और मैल; बाधक भी बाधक है और साधक भी बाधक है। परन्तु बाधक और साधक दोनों मायामें हैं, इसको मायामल बोलते हैं। यह अकर्त्तापनेका अध्यारोप करके कर्त्तापनका अपवाद किया गया। अकर्त्तापन अध्यारोप है और कर्त्तापन अध्यास है।

जब अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तो मैल भी छूटती है और साबुन भी छूटता है। अपने स्वरूपका ज्ञान दूसरा है। तो उसमें क्या होता है कि अविद्या माया सब-की-सब धुल जाती है।

लेकिन कहते हैं कि एक ऐसा सूक्ष्म मल है वह 'लेशा' उसको बोलते हैं। क्लेश है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज जिस वर्ष कुम्भके मेलेमें गये थे, वे अपने सारे जीवनमें एक ही बार कुम्भके मेलेमें गये थे। मैं भी था कुम्भके मेलेमें, मैं तां तेरह महीने रहा था, वहीं लगातार प्रयागमें। श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराजके पास (वाबा) मिलनेके लिए गये थे। वे तो महामण्डलेश्वर और ये तो समझो अवधृत, फक्कड़ लोग तो वहाँ जब सत्संग होने लगा, तो प्रारम्भकी वात सुनी कि ज्ञान होनेके बाद प्रारम्भ रहता है कि नहीं रहता है।

अब ये मण्डलेश्वर लोग इस बातके लिए मजबूर हैं कि वे प्रारब्ध मानें। क्योंकि अगर प्रारब्ध न मानें तो सीताराम हो जाये सब, गड़बड़ घोटाला। प्रारब्धको न मानें तो यह गद्दी कहाँसे? प्रारब्धकी न मानें तो इतनी सम्पत्ति कहाँसे रहे? इतने चेले-चाटी कहाँसे आवें? तो प्रत्येक महामण्डलेश्वरको लेशा विद्याके रूपमें प्रारब्ध मानना पड़ता है।

अब जयेन्द्रपुरीजी महाराजने प्रतिपादन किया कि तत्त्वज्ञानीका प्रारब्ध रहता है, लेशा विद्यासे। और, उसी समय जयदयालजी ईश्वर कृपासे वहाँ थे, वे बोले कि तत्त्वज्ञानीमें लेशाविद्या भी नहीं और प्रारब्ध भी नहीं; आप स्वयं अगर ऐसा समझते हैं कि प्रारब्ध है और लेशाविद्या है, तो आपके ज्ञानमें कमी माननी पड़ेगी और यदि आप अपने शिष्योंको समझानेके लिए उनको सन्तोष देनेके लिए कि हमारी रहनीके बारेमें वे यह ख्याल करें कि प्रारब्धसे ऐसे रहते हैं तो अज्ञानिजन बोधार्थ प्रारब्ध वदित श्रुति:—शंकराचार्यने लिखा कि अज्ञानियोंको समझानेके लिए प्रारब्धका नाम लिया जाता है। दरअसल तत्त्वज्ञानीका तो पूर्वजन्म ही नहीं है, उत्तर जन्म ही नहीं है, वर्तमान जन्म ही नहीं है, तो तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें यह प्रारब्ध कहाँसे आवेगा?

सेठजी तो भिड़ गये, वे तो किसीको माने नहीं, वे तो करपात्रीजीसे भी भिड़ गये। वे अपनी निष्ठाके, अपनी मान्यताके बड़े ही पक्के थे। तो बाबा भी वहीं बैठे थे वे तो हँसते रहते थे चुपचाप, कुछ भी होय। जयदयालजीने कहा कि महाराज आप कुछ कहो। तो वे बोले—देखो हमारे तो न पूर्वजन्म, न उत्तर जन्म, जन्मका जब अस्तित्त्व ही नहीं, तो कर्म कहाँ? और कर्म नहीं तो प्रारब्ध ही कहाँ? तो जयेन्द्रपुरीजीने कहा—हाँ, जो अवधूत लोग हैं उनकी दृष्टिमें प्रारब्ध नहीं होता।

तो यह मल है। क्या? कि हमारा कोई प्रारब्ध है, कोई लेशाविद्या है। तत्त्वज्ञानी भी बनना और रोना भी कि हमारा प्रारब्ध ही ऐसा है। तो यह दोनोंको कोई संगति नहीं होती। यह प्रारब्ध प्रारब्ध कुछ नहीं होता, ये सब स्फुरणा मात्र अपना स्वरूप ही है। जिस रूपमें प्रकट होवे, अपना स्वरूप।

तो यह लेशा विद्यामें क्या चमत्कार है। वह तो आपको भूल गया, उसमें भी एक मल है। लेशाविद्यामें वह मल क्या है कि स्वातन्त्र्यहीन बोध है।

स्वातन्त्र्यहीन बोधका क्या अभिप्राय हुआ? वे अपनेको ब्रह्म तो जानते हैं, लेकिन अमुक सम्प्रदायकी मर्यादा, अमुक जातिकी मर्यादा, अमुक वर्णकी मर्यादा, अमुक आश्रमकी मर्यादा, वह परम्परा कायम रखनेके लिए, संस्कृतिकी रक्षाके लिए, परम्पराको कायम रखनेके लिए वे पूर्ण स्वातन्त्र्यका उपयोग अपने जीवनमें नहीं करते हैं।

तो यह स्वातन्त्र्यं परमं सुखं। बोधहीन स्वातन्त्र्य जड़ता है और स्वातन्त्र्यहीन बोध भी मल है। तो तृतीय मल क्या है? कि बोध तो हो गया, लेकिन स्वातन्त्र्य नहीं। बोले—ऐसे चलो, ऐसे करो, ऐसे रहो, ऐसे मरो। तो इन तीनों प्रकारके मलोंका जो निवारण है, उसको बोलते हैं—शुभ्र:।

अब, परतः अक्षरात् परः। परतः सबसे परे कौन है ? बोले—यह परे, परे, यह परला और उरला जो है न, यह कब होता है ? जब आदमी छोटा होता है। स्व-परका भेद परिच्छित्रमें ही होता है भला! यह जो दुनिया दिख रही है यह अपनेसे बाहर नहीं है, अपने मनमें, अपने भीतर ही दिख रही है। ये जो तस्वीरें दिख रही हैं ये कमरेके बाहरकी नहीं, भीतरकी दिख रही हैं।

बौद्ध लोग पहले मानते थे कि घट जो है वह बुद्धिस्थ हुए बिना नहीं दिखता। ये विज्ञानवादी बौद्ध हैं, उनकी यह प्रक्रिया थी कि हम जिस घड़े को जानते हैं, वह धरतीपर रखे हुए घड़े को नहीं जानते, वह घड़ा, वह धरती और वह देश और वह काल और वह आकृति—सब जब बुद्धिस्थ होती है तब मालूम पड़ती है। बुद्धिसे बाहरकी चीजको हम जानते ही नहीं हैं, बुद्धिस्थ वस्तुका ही प्रत्यक्ष होता है, यह बौद्ध सिद्धान्त, इसको विज्ञानवाद बोलते हैं। आप घड़े को जानते हैं। आपने सुनी होगीन वह लोकोक्ति, किसीने जाकर लामासे पूछा कि लामाजी! यह जो आपके मठपर झण्डा हिल रहा है, यह झण्डा हिल रहा है कि हवा हिल रही है? तो लामाजीने बतायान झण्डा हिल रहा है, न हवा हिल रही है। तब क्या हिल रहा है? कि तुम्हारा दिमाग हिल रहा है।

माने बुद्धिमें जा चीज भीतर, माने कैमरेके भीतर चीज आनेपर तब यह चीज मालूम पड़ती है। तो संसारकी कोई भी वस्तु मालूम पड़ती है तो बुद्धिस्थ होकर मालूम पड़ती है, इसलिए बुद्धिसे न्यारा उसका स्वरूप नहीं है, मिथ्या है और उस वस्तुके सिवाय बुद्धिका और कोई स्वरूप नहीं है, इसलिए बुद्धि भी मिथ्या है, विज्ञान भी मिथ्या और विज्ञानसे जाना हुआ पदार्थ भी मिथ्या-क्षणिक। घट भी मिथ्या और घटाकार वृत्ति भी मिथ्या। इसलिए शून्य ही शून्य है। इसको बौद्ध अनुभृति बोलते हैं।

शङ्कराचार्यने कहा—घड़ा भी मिथ्या और घटाकार वृत्ति भी मिथ्या, परन्तु उसका जो साक्षी है, जो अधिष्ठान है वह बिलकुल सच्चा, क्योंकि भ्रान्ति निरिधष्ठान नहीं हो सकती, बुद्धिनिरिधष्ठान नहीं, घट निरिधष्ठान नहीं, भ्रान्ति निरिधष्ठान नहीं, तत्तु साक्षिकं निःसाक्षिकं वा। तो, परतः अक्षरात् परः। सबसे परे जो अक्षर हैं—अव्याकृत, उससे भी परे है यह परमात्मा। तो यह परला क्या और उरला क्या?

श्रुतिमें 'पर' शब्दका बड़ा विचित्र अर्थ है

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषात्र परं किंचित् सा काष्टा सा परा गतिः॥

यह देखो पर शब्दका प्रयोग कठोपनिषद्में बड़े मजेदार ढंगसे किया गया है, अब यह आपको कल सुनावेंगे!



प्रवचन : 17, मंत्र 2 से 7 तक

अक्षरात्परतः परः औपाधिक एवं निरुपाधिक अक्षरतत्त्व

ह्यक्षरात्परतः परः। आप लोगोंने सुना होगा एक नासदीय सूक्त है— ऋग्वेदमें। उसमें यह बात कही जाती है कि जब यह सृष्टि पैदा नहीं हुई थी, तब कुछ नहीं था।

नासदासीत् नोसदासीत्तदानीम्।

सूक्तका रूप यहहै। सात मन्त्र हैं और सृष्टिकी कारणावस्थाका उसमें वर्णन है।

नासदासीत्नोसदासीत् तदानीं—न उस समय असत् था और न तो सत् था।न घट था, न घटाभाव।बोले—घट न हो यह तो ठीक, घटाभाव कैसे नहीं होगा। तो बोल—भाई, 'यस्याभावेस प्रतियोगी'—जिसका अभाव होता है, वह प्रतियोगी होता है। तो प्रतियोगी सांपेक्ष जिसका ज्ञान है, माने जब घड़ा मालूम होवे तब घड़ेका अभाव मालूम होवे। तो वहाँ जब घड़ा ही नहीं है तो घड़ेका अभाव कहाँसे मालूम पड़ेगा? इसलिए न तो अस्तिसिद्ध घट है वहाँ और न तो भातिसिद्ध अभाव है वहाँ। इस तरहसे वहाँ कुछ नहीं था, इस प्रकारका वर्णन है कारणावस्थामें। उसको क्या बोलते हैं? उसको बोलते हैं परत: अक्षर—सबसे परे वही अक्षर तत्त्व है, अव्याकृत तत्त्व है; और वह जिसकी उपाधि है, माने उस सर्व भावाभाव रूप नाम-रूपकी अव्याकृत दशापत्र जो कारणवस्तु है, वह जिसका उपलक्षण है; माने उसके द्वारा जिसको हम समझाते हैं, लखाते हैं। उस अक्षरात्परत: पर: परमात्माको लखानेके लिए सबसे नजदीक परमात्माके कौन-सी चीज है, वही जो अव्याकृत हैं। इसको परमात्माका तटस्थ लक्षण बोलते हैं, शाखाचन्द्र न्यायसे दूजको सायंकाल जब चन्द्रमा उदित होता है पश्चिममें, तो किसी-किसीको जल्दी नहीं दिखता है; तो उसको बताते हैं, कि वह देखो पेड़ है, कि हाँ है तो सही। पेड़पर वह ऊँची शाखा सबसे कि हाँ। कि उससे जरा दो हाथ दक्षिणको हटकर देखो। वह क्या है? कि चन्द्रमा। तो अब न चन्द्रमाका उस पेड़से सम्बन्ध है, न ऊँची शाखासे सम्बन्ध है, न दो हाथ दूरीसे सम्बन्ध है। लक्ष्यसे अलग रहकर जो लक्ष्यको समझावे, उसको तटस्थ लक्षण कहते हैं।

तद्भिन्नत्वेसित तद् बोधकत्वं तटस्थलक्षणम्।

जो उससे बिलकुल न्यारा रहकर उसको समझावे।

तो यह जो 'अव्याकृत' जिसको बोलते हैं जिसमें कोई नाम नहीं है, कोई रूप नहीं है, कोई क्रिया नहीं है। सर्वकारणकी जो उपाधि है वह ईश्वर नहीं है, वह चेतन नहीं है, क्योंकि परमात्माके साथ कार्य कारणका सम्बन्ध नहीं जुड़ता वह तो अद्वितीय है।

तो यह जो पृथिवीसे परे जल, जलसे परे अग्नि, अग्निसे परे वायु, वायुसे परे आकाश, आकाशसे परे मन अथवा अहंकार, अहंकारसे परे महत्-तत्त्व और महत्तत्त्वसे परे वह सर्व बीजकी अव्याकृत दशाभूत सूक्ष्म, जिसमें सम्पूर्ण प्राणियोंका और वस्तुओंका जो बीज है वह अभाव दशापत्र होकरके रहता है। उससे भी अन्तरंग कौन? कि उसका साक्षी, उसका अधिष्ठान परमात्मा, वह तो उससे भी न्यारा है।

बोले—उस अक्षरसे भी, सर्वकार्यकारण बीजत्वेन उपलक्ष्यमाण जो है, वह जिसकी उपाधि

तदुपाधिलक्षणं अव्याकृताख्यं अक्षरम्।

वह जो अव्याकृत नाम वाला अक्षर है और वह जिसकी उपाधि है, वह परमात्मा, जिसमें न उपाधि, न उपाधेय; वह परात्पर शब्द बोलते हैं, परमात्माके लिए, सबसे जो परे है उससे जो परे, उसका नाम परात्पर। यहाँ क्या है ? कि— परतः अक्षरात् परः। सबसे परे जो अक्षर है यह परतः माने, यह भी पंचमी विभक्ति है, यह परस्मात् इति परतः। जो सबसे परे हो उसको परतः बोलते हैं।

यह पंचमी विभक्तिमें ही तद्धित प्रत्यय हो गया है—परस्मादिति परः। परात् परस्मात् दोनों रूप बनते हैं और दोनोंके स्थानपर यह तत् हो जाता है।

तो सबसे परे जो अव्याकृत अक्षर है उससे भी परे। माने अव्याकृत अक्षरके साथ तो जगत्का कार्य-कारण सम्बन्ध है; परन्तु परमात्माके जगत्का कार्यकारण सम्बन्ध जो है, वह वास्तविक नहीं है, किल्पत है। जन्माद्यस्य यतः—यह इसका तटस्थ लक्षण है, उसका स्वरूप लक्षण नहीं है।

यही बात श्रीमद्भागवत्में कही। यही—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्यभिसंविशन्ति...। श्रुतिमें कहते हैं।

अब यह बात बतायी कि वह निरुपाधिक पुरुष है और सृष्टि स्थिति प्रलय जो है, यह होता है अव्याकृत उपाधिमें। इसीमें सृष्टि हुई, इसीमें स्थिति हुई, इसीमें प्रलय हो गया!

काम होता है उपाधिमें और उसका उपचार होता है माने गौणरूपसे उसका वर्णन किया जाता है उपाधिके अधिष्ठानमें। ऐसे समझो कि जैसे सेना विजय प्राप्त करती है और सेनापितका नाम होता है। सेनापितका भी नाम नहीं होता है मिनिस्टारका नाम होता है, राजाका नाम होता है। देखो गोली चलाती है सेना, सेनापित देता है आज्ञा और मिनिस्टर निर्धारण करता है राजनीतिका और राष्ट्रपितके आदेशसे ही सारा काम होता है और जय-पराजय होती है देशकी।

तो यह देशके साथ लड़ाईका सम्बन्ध उपचरित है—गौण है। यह लोग तो बौखला जाते हैं वह बात दूसरी है। सीधा साक्षात् लड़ाई होती है सेनासे, आदेश होता है सेनापतिका, छोटी-छोटी बातोंका भी आदेश होता है कि गोली चलाओ, या गोली चलाना बंद कर दो—सेनापतिका। नीति निर्धारण करता है मन्त्री और हस्ताक्षर करता है राष्ट्रपति। नीति निर्धारणमें भी उसका कोई हाथ नहीं है और कहा क्या जाता है कि अमुक देशकी अमुक देशसे लड़ाई हो रही है।

क्या धरती धरतीसे लड़ती है ? क्या पानी पानीसे लड़ता है ? तो न धरती धरतीसे लड़े, न पानी-पानीसे लड़े, न हवा हवासे लड़े, न आसमान आसमानसे लड़े, न देश देशसे लड़े। देश देशकी लड़ाई नहीं होती है। बोलं—भाई, भारत देशकी लड़ाई पाकिस्तान देशसे हुई, ऐसा बोलते हैं न! तो देशकी लड़ाई नहीं हुई, देशस्थ प्रजाकी लड़ाई हुई. ऐसे समझो, देशस्थ जनताकी लड़ाई हुई। तो जनता तो आधेय है और देश आधार है। तो आधेयकी लड़ाई है, लोगोंके मनमें जो लड़ाईका भाव आया, वह देशपर गया—देशपर आरोपित किया गया। भारतभूमिने लड़ाई नहीं की। ऐसे कहों कि भारतभूमिके अन्तःकरण नहीं है। भारतभूमिपर रहनेवाली जो जनता है, उसमें अन्तःकरण है और उसमें रागद्वेषका भाव आया; लेकिन धरती बेचारी तो ज्यों-की-त्यों। लेकिन प्रजाके बिना देश क्या है? इसलिए प्रजाके द्वारा की हुई या राज्यके द्वारा की हुई या शासनके द्वारा की हुई जो क्रिया है, वह देश पर, भूमिपर उपचरित हुई।

अब यह देखों कि इसमें उपाधि क्या है? और उपाधिका अधिष्ठान क्या है?

नासदासीत् नोसदासीत्तदानीम्।

यह बोलते हैं, जैसे हम रामकी, कृष्णकी मूर्ति बनाते हैं न, वैसे देखों भारत माताकी मूर्ति बनती है कि नहीं, बड़े आदरसे प्रणाम करते हैं वन्दे मातरम्। सुजलां सुफलां शस्य श्यामलां बचपनमें हम गाते थे, जब झण्डा लेकर लोग जाते थे, पहले 'वन्दे मातरम्' गाते थे। 'जय हे, जय हे' नहीं गाते थे, पहले 'वन्दे मातरम्' हम भी गाते थे।

अब आपको यह पूछते हैं, वह भारत माताकी जो मूर्ति है, वह क्या ऐसी भारत माता कोई देवी हैं, जिसकी वह मूर्ति है? तो वह प्रतीकात्मक है, माने देशका प्रतीक है।

अच्छा भारतमाता बेचारीको क्या यह बात मालूम है कि हमारी एक ऐसी मूर्ति बनी है और लोग हमारी पूजा कर रहे हैं। वह तो पूजा करनेवालोंका देश प्रेम है। देशभक्ति है और उनको लाभ होता है।

जैसे राष्ट्र पुरुष होता है। अच्छा महात्मा गाँधी राष्ट्रपिता हैं। ऐसा समझो और राधाकृष्णन राष्ट्रपित हैं। तो उनमें जो पितत्व है और जो पितृत्व है, वह गौणी वृत्तिसे है कि अभिधा वृत्तिसे है? अभिधा वृत्तिसे नहीं है, न वे पिता हैं, न वे पित हैं। तब? कि साहित्यमें इसको गौणी वृत्ति बोलते हैं। गौणी वृत्तिसे वे पिता हैं और वे पित हैं। नहीं तो महाराज 'पित' शब्दका प्रयोग करनेमें बड़ी गड़बड़ हो जायेगी। कोई स्त्री कैसे राष्ट्रपित कहेगी उनको ? कोई पत्नी कैसे गाँधीजीको राष्ट्रपिता बोलेगी ? यह आपको इसलिए बताया कि शब्दका प्रयोग किस ढंगसे साहित्यमें किया जाता है। इसको गौणी वृत्ति बोलते हैं।

अब यहाँ परमात्मा जगत्का कारण है यह जो कहा जाता है, यह लक्षणा वृत्तिसे कहा जाता है। माने परमात्माको समझनेके लिए जो सबसे ऊँची चीज है, वह जगत्की अव्याकृत दशा है। वह ऐसे ही है जैसे पेड़के ऊपर दो हाथ। उस दो हाथसे चन्द्रमाका सम्बन्ध कोई नहीं है, लेकिन नासदासीत नोसदासीनदानीम् इसको तटस्थ लक्षण बोलते हैं। तद्भिन्न सित तद्बोधकत्वं। और स्वरूप लक्षण क्या होता है?

जैसे किसीने कहा—ऐ, देखो आकाशमें, सबसे ज्यादा चमकीला पदार्थ इस समय आकाशमें कौन है ? बोले—वह हँसियेकी तरह कुछ दिख तो रहा है। बोले—वह हँसियेकी तरह जो चमकना है, वह क्या है ? इसको स्वरूप लक्षण बोलते हैं।

प्रकृष्ठ प्रकाशक चन्द्रः । तद्भिन्नत्वे सित तद्बोधकत्वं स्वरूप लक्षणं। तद्भिन्नत्वे सित तद्बोधकत्वं तटस्थ लक्षणं।

यह तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण होता है।

तो यह बताया कि अव्याकृतसे परे। जरा अपनी बुद्धिमें इस अव्याकृतसे परेको ले आओ।

अब यह जो कम बुद्धि वाले साधक हैं वे कहते हैं कि ब्रह्म तो बुद्धिमें अता ही नहीं है। ठीक है ब्रह्म बुद्धिमें नहीं आता, तो अव्याकृत बुद्धिमें आता है तुम्हारे? माने तुम्हारी बुद्धिमें जो बीज दशाकी कल्पना है, ऐसे तुम्हारी बुद्धिमें यह व्यावहारिक जगत्को देखकर, कार्यजगत्को देखकर जो बीज दशाकी कल्पना होती है, उस बीज दशासे उपलक्षितको देखो।

आजकलके महात्मा लोग तो बड़ा आदर करते हैं अपने श्रोताओंका। पहले तो समझो हमलोग स्कूलमें पढ़ने जाते थे, तो हमने देखा है मास्टर लोग मारते थे, कान ऐंठते थे बचपनमें, और महात्मा लोग गाली देते थे जिनके पास हम जाते थे। आप देखां कि जैसे आपकी बुद्धिमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन. अहंकार महत्तत्त्व, इन सबके उदय और विलयका जो स्थान है-अव्याकृत, वह आपकी बुद्धिमें आवे। तो जैसे बुद्धिमें घड़ा आकर मालूम पड़ता है, वैसे बुद्धिमें अव्याकृत आकर भी मालूम पड़ता है? तो घटका आधार जैसे धरती मालूम पड़ती है, वैसे अव्याकृतका आधार परमात्मा मालूम पड़ता है? परन्तु जैसे बुद्धिस्थ घट और घटाधारका ही ज्ञान होता है, वैसे बुद्धिस्थ अव्याकृत और अव्याकृतका ही ज्ञान होता है। तो उस बुद्धिस्थ अव्याकृत और अव्याकृतका साक्षी कौन है? बोले—सो तो मैं हूँ। बोले—बुद्धिस्थ अव्याकृतका अधिष्ठान और बुद्धिका अधिष्ठान कौन है? कि मैं। कि बुद्धिस्थ अव्याकृत और उसका साक्षी कौन है? कि मैं।

तो तुम्हीं साक्षी हो और तुम्हीं अधिष्ठान हो, इसलिए यह तुम्हारी बुद्धि और बुद्धिमें किल्पत अव्याकृत और अव्याकृतके द्वारा किल्पत यह सम्पूर्ण विश्व सृष्टि, यह सब-की-सब तुम्हारे अन्दर मिथ्या है, तुम्हारे स्वरूपमें कुछ है ही नहीं। तो जिस आँखसे घट दिखता है, उस आँखसे घटका आधार धरती दिखती है, लेकिन जिस बुद्धिसे घट दिखता है उस बुद्धिसे जो घटाधार पृथिवी दिखती है, वह बुद्धिमें होती है। इसी प्रकार यह विश्व सृष्टिका मूल कारण अव्याकृत जिस बुद्धिसे मालूम पड़ता है, अपने अधिष्ठान सिहत, उस बुद्धिका अधिष्ठान जो साक्षी है, (वह मैं हूँ)।

आप सुनते होंगे और कभी गौर करके विचार करना कि जब प्रमाता-चैतन्य जो है, (अन्त:करणाविच्छन्न चैतन्य प्रमाता) जब वह प्रमाण वृत्तिपर आरूढ़ होकर विषयाविच्छन्न चैतन्यसे एक होता है, तब विषयका ज्ञान होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब हमारी वृत्ति सम्पूर्ण विश्वसृष्टिको अपने अन्दर ले आती है या घटको भी अपने अन्दर ले आती है, हम कार्य-कारणकी व्यवस्थाको ठीक-ठीक समझकर अव्याकृत दशाको अपनी बुद्धिमें धारण करते हैं तो जो बुद्ध्यारूढ़ अव्याकृतका भी प्रकाशक और बुद्धि-अव्याकृत चैतन्य भी वहाँ है बुद्ध्यावािच्छन्न चैतन्य बुद्धिका प्रकाशक है वह और अव्याकृत प्रकाशकभी वही है। इसका अर्थ हुआ कि जो बुद्धिका प्रकाशक आत्मा है, वही आत्मा अव्याकृतका प्रकाशक भी है। इसका अर्थ हुआ कि जो परिच्छित्र चैतन्यके रूपमें भास रहा है, वहीं परिपूर्ण चैतन्य भी हैं. वहीं ब्रह्म चैतन्य भी है। इसलिए यह अव्याकृत जो है वह परमात्माको समझानेके लिए है।

अब आपको जरा आगे ले चलते हैं लेकिन उसका भी सार तो बताना ही पड़ेगा। यह देखो यहाँ आगे मन्त्र बोलता है—

> एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। ख वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ 2.1.3

एतस्माजायते प्राण:—इसीसे प्राणकी उत्पत्ति होती है। मनः सर्वेन्द्रियाणि च—मनकी उत्पत्ति उसीसे होती है। सारी इन्द्रियाँ भी उसीसे पैदा होती हैं और आकाश, वायु, ख माने और पृथिवी—ज्योति माने तेज, 'आप' माने जल— ये पंचभूत हो गये। जो सबको धारण करती है पृथिवी वह भी पैदा होती है।

एक बातका ध्यान आपको दिलाते हैं। यह नासदीय सूत्र कहता है। (कि पहले सत्-असत् कुछ नहीं था)। ये कहते हैं कि उसीसे यह सब पैदा होता है। मतलब पैदा होनेसे पहले उसमें नहीं था। यही कहते हैं न। तो अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो—जो बात कही गयी, यह कहकर भी एतस्मात् प्राणोजायते, एतस्मान्मनो जायते, एतस्मात् सर्वेन्द्रियाणि च जायन्ते।—ऐसा बोलकर भी यही कहते हैं कि प्राण मन और इन्द्रियाँ, ये तो पीछे पैदा हुईं और जब ये पैदा नहीं हुईं थीं, तब ये उसमें नहीं थीं। नहीं थीं, तो नासदासीत् नोसदासीन्तदानीम्—यह जो श्रुति (कह रही वही यहाँ भी है)। वर्णन कर रहे हैं उत्पत्तिका और सूचन कर रहे हैं अभावका। जो चीज उत्पन्न होती है वह उत्पन्न होनेके पहले नहीं होती है। तो बीजरूपसे होती है, एसे कहो। तो उस बीजके द्वारा उपलक्षित जो परमात्मा है, उसको समझो।

तो प्राण, मन और इन्द्रियाँ—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो और खं वायु-च्योंतिरापः पृथिवी—ये पंचभूतोंमें जो पृथिवी है यह विश्वको धारण करनेवाली है, यह भी उसीसे पैदा हुई, माने पैदा होनेपर भी परमात्मा ही है और जब यह पैदा नहीं हुए थे तब भी परमात्मा ही था और वह बात तो आपको भूल ही गया कि जैसे उपाधिका होना जो है, यह एक दशा है, वैसे उपाधिका न होना भी एक दशा है। पंचदशीमें यह बात बतलायी गयी है कि जैसे उपाधिका होना—यह ब्रह्मकी सगुणता है वैसे उपाधिका न होना, यह ब्रह्मकी निर्गुणता है। परन्तु यह उपाधि राहित्य और उपाधि साहित्य भी एक उपाधि है। इसिलए ब्रह्मकों जो निर्गुण कहा जाता है या निरुपाधिक कहा जाता है, वह भी केवल जिज्ञासुकी बुद्धिमें आरूढ़ करनेके लिए ही कहा जाता है। वस्तुत: उसकों निर्गुण कहना भी नहीं बनता। सगुणकी अपेक्षासे निर्गुण बोलते हैं।

जैसे काल और कालाभाव-प्रलयकाल भी एक काल है; लेकिन उसमें घण्टा मिनट नहीं होते हैं। क्योंकि घड़ी नहीं होती है, सूर्य-चन्द्रमा नहीं होते हैं, उसमें धरती सूर्य नहीं होते हैं। परन्तु इन सबका बीज उसमें रहता है। जैसे सौ रुपयेके एक नोटमें एक-एक रुपयेके सौ नोट समाये हुए रहते हैं कि नहीं? इसी प्रकार महाकालमें दिन-रात, घण्टा-मिनट-संवत्सर सब समाये रहते हैं और उसीमें-से निकल आते हैं। सौ रुपयेके नोटमें जैसे एक-एक रुपये, लेकिन परमात्मा सौ रुपयेका नोट नहीं है, वह हजाररुपयेका नोट नहीं है वह लाख रुपयेका नोट नहीं है। तो उपाधिका होना और उपाधिका न होना, यह भी भेद-दृष्टि है। तो उपाधि राहित्य भी एक उपाधि है और उपाधि साहित्य भी एक उपाधि है। इसलिए बताते हैं, ये सब चीजें परमात्मा से पैदा होती हैं माने अव्याकृत दशामें नहीं थी।

तो जिसके परे परमात्मा है उस अव्याकृत रूप अक्षरसे ये पैदा होते हैं और ये उसीमें लीन होते हैं और वह अव्याकृत जो है वह लक्ष्य नहीं है, वह लक्षण है। और उस लक्षणकी दृष्टिसे परब्रह्म परमात्मामें लक्ष्यत्व कल्पित है। इसका मतलब हुआ कि परमात्मा जो है वह लक्षणागम्य लक्ष्य भी नहीं है।

तब कौन है ? कि बस यही बात जो वह महावाक्यके द्वारा बतानेकी है, इसमें युक्ति-प्रतियुक्ति कुछ काम नहीं देती है।

अब माण्डूक्योपनिषद्का सार देखो, अगले मन्त्रमें बताते हैं जैसे नासदीय सूक्तका जो सार है न, वह तीसरे मन्त्रमें बताते—एतस्माज्ञायते प्राणः कि पहले प्राण नहीं था, पहले मन नहीं था, इन्द्रियाँ नहीं थी, पंचभूत नहीं थे, केवल अव्याकृत था; इस अव्याकृतको प्रकाशित करनेवाला जो अधिष्ठान है, उसका नाम परंब्रहा; वैसे अब माण्डूक्य उपनिषद्का सार लेते हैं। अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ

दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य

पद्भ्यां पृथिवी होष सर्वभृतान्तरात्मा॥

2.1.4

बात कभी संक्षेपसे कही जाती है, कभी विस्तारसे कही जाती है— समासव्यासरूपेण।

जिस व्यासने महाभारत लिखा उस व्यासने ब्रह्मसूत्र भी लिखा। 'ब्रह्मसूत्र जा है वह संक्षेपमें लिखनेकी पराकाष्ठा है और 'महाभारत' जो है वह विस्तारसे लिखनेकी पराकाष्ठा है। जो थोड़ेमें बोल ही नहीं सकता, व्यास है, उसने समासमें लिखा तो सूत्र लिख दिया।

तो आप यह माण्डूक्योपनिषद्का सार इसमें कैसे हैं, यह आप देखो। विश्व और तैजस, वैश्वानर प्रथमपाद, तैजस्-द्वितीयपाद—इन दोनोंका वर्णन माण्डूक्योपनिषद्में सप्तांगके रूपमें किया गया है, सप्तांगः एकोनविंशतिमुखः। तो वैश्वानर भी सप्तांग है और तैजस भी सप्तांग है। तो वे सात अंग कैसे हैं?

अग्निमूर्धा — तेजस् तत्त्व उसका सिर है।

चक्षुषीचन्द्र सूर्यों चन्द्रमा और सूर्य — ये दो उसके नेत्र हैं। ये दो अंग हो गया। मूर्धा एक अंग, नेत्र दूसरा, दिशः श्रोत्रे — दिशाएँ जो फैली हुई हैं ये कान हैं उसके, यह तीसरा अंग हुआ।

वाग्ववृताः च वेदाः—ये जो विवृत वेद हैं, 'विवृत' माने जिनको मुँह फैलाकर बोलना पड़े। यह विवृत्त-संवृत्त, विवाद-संवाद, नाद-घोष—ये सब उच्चारणके भेद होते हैं। आप देखों 'ब' बोलो, बन्धन, बन्धन और व बोलो—वाद। 'वाद' का 'व' कहाँ बोला जायगा? और बन्धनका 'ब' कहाँ बोला जायगा? उच्चारणका भेद आपको मालूम होगा। 'ब' ओष्ठसे बोला जाता है! और 'व' यर ल व अन्तःस्थः। ये भीतरसे बोले जाते हैं। 'व' भीतरसे बोला जाता है और 'ब' बाहरसे। तो यह जो वेद है, यह भगवान्की विवृत वाणी है, बिलकुल खुली हुई। ये चार अंग हुआ। वायुः प्राणो—हवा जो चलती है यह क्या है? कि यह ईश्वरकी श्वास है।

हृदयं विश्वमस्य— और यह विश्व क्या है कि भगवान्का हृदय है। और, पद्भ्यां पृथिवी और पाँव ? कि धरती।

एष सर्वभूतान्तरात्मा विराट्—यह विश्व विराट्के रूपमें परमात्मा। इसमें वैश्वानर और तैजस्-दोनोंका वर्णन है। यह परमात्मा जो है—यह दोनों है। लेकिन इसमें जो अंगका वर्णन है, उसपर ध्यान दो।

हृदयं विश्वमस्य—सम्पूर्ण विश्व इसका हृदय है। यह बात कैसे बोली जायेगी?

एक आदमीने स्वप्नमें देखा, सम्पूर्ण पृथिवीकी यात्रा की अमेरिका गया, अफ्रीका गया, यूरोप गया, एशिया गया, स्वप्नमें सब जगह घूमकर आया। बोले—यह सारी दुनिया जहाँ उसने विचरण किया है, वह कहाँ है ? बोले— उसके दिलमें। सपना कहाँ हुआ ?

तो ईश्वर बड़ा हुआ और उसके हृदयमें यह जो दुनिया है, यह छोटी-सी है। तो यह जो विराट् पुरुषका वर्णन है, यह देखो सृष्टिका सम्बन्ध बताया। वह जो अव्याकृत अक्षर है, उसी अक्षरसे यह सब कुछ पैदा हुआ। यह पहले नहीं था और यह बादमें नहीं रहेगा और बीचमें स्वप्नवत् पैदा हो गया और यह सप्तांग है।

मैं जब अहमदाबादमें था, तो वहाँ माण्डूक्योपनिषद् सुनाया। तो मैंने वहाँ दो प्रक्रिया इसकी सुनायी—एक-एक जीववादकी और एक अनेक जीववादकी। तो एक जीववादकी प्रक्रियाका उड़ियाबाबाजी महाराज प्रायः निरूपण करते थे। वे कहते थे कि हम जो हैं, इस शरीरमें जो जाग्रदवस्था होती है, अभी जाग रहे हैं और फिर सो जाते हैं तो स्वप्नावस्था होती है, फिर सुषुप्ति अवस्था होती है। तो एक व्यक्तिके शरीरमें जो तीन अवस्था होती है, इनको ऐसे नहीं देखना चाहिए, जैसे स्वप्नावस्थामें जैसे होते हैं, वे सब हमारी दृष्टिके विलास होते हैं कि नहीं? वे सब स्वप्नद्रष्टाकी दृष्टिके विलास हैं। वैसे जाग्रत् अवस्थामें जो हमको धरती, समुद, हवा, ग्रह, नक्षत्र, तारे, आसमान और इसमें जो वेद और इसमें जो स्वर्ग-नरकादि, ब्रह्मलोकादि और इसमें जो अमेरिका, एशिया, यूरोप, अफ्रीका ये सब क्या है? बोले—जैसे स्वप्नावस्थाकी दृष्टिके

विलास होते हैं स्वप्नावस्थामें, वैसे जाग्रतावस्थाकी दृष्टिके विलास हैं जाग्रतावस्था में। इसलिए आप जरा देखो, ध्यान देकर कि यह जाग्रतावस्था जो है, वह आपकी दृष्टिका विलास है। इसमें स्वप्नावस्था सुषुप्ति अवस्था—ये सब आभास मात्र हैं और, इस समय जो विश्व मालूम पड़ रहा है, उसमें यह त्वंपदार्थ रूप जो एक जीव है, अग्निर्मूधां चक्षुषी चन्द्र सूर्यों—अग्नि इसका मूर्धा है और चन्द्रमा-सूर्य इसके चक्षु हैं और दिशाएँ कान हैं और वेद जो हैं वे वाणी हैं और वायु प्राण हैं और सम्पूर्ण विश्व हृदय है और धरती-पृथिवी पाँवमें है। तो एष सर्वभूतान्तरात्मा—यह जो जीव है यह सर्वभूतान्तरात्मा है, इसीको ब्रह्म बताते हैं।

अब इसके बाद यह बात बताते हैं, अगले मंत्रमें कि स्त्री-पुरुषके संयोगसे जो सृष्टि होती है वह भी उसी अक्षरसे प्रकट हुई है, यह नहीं समझना कि यह कहीं अलगसे आयी है

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः

सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।

पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां

बह्वीः प्रजा पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥ 2.1.5

तो अक्षरादेव प्रजा सृष्टि, अक्षरादेव विराट् उत्पत्ति, क्या-क्या समझाया, आपके ध्यानमें होगा, 'एतस्माज्जायते प्राणः' माने प्राण, मन, इन्द्रिय और पंचभूत—ये उसी अक्षरसे पैदा हुए, एक बात बतायी और फिर यह विराट् जो विश्वसृष्टि है, यह उसीसे पैदा हुई, यह बात बतायी।

अब बताते हैं यह जो प्रजा सृष्टि, अलग-अलग मालूम पड़ती है, यह भी उसीसे मालूम पड़ती है। तस्मादग्निः सिमधो यस्य सूर्यः—उसीसे यह पंचाग्निके द्वारा जितनी भी सृष्टि होती है वह सब उसीसे होती है। इसको पंचाग्नि विद्या बोलते हैं। छान्दोग्योपनिषद्में—इसका विस्तारसे वर्णन है।

अब आपको थोड़ी इधर-उधरकी बात सुनाते हैं। वह इधर-उधरकी बात क्या है कि हम बच्चे थे, जब होलीके दिन आते, तो हमारे गाँवमें लोग खूब गाली देते। तो कोई-कोई सुधारक आते और कहते कि गाली नहीं देना चाहिए यह तो बड़ा भारी सामाजिक दोष है। अश्लील है। वैसे समझो कहीं-न-कहीं कुछ होता है। विलायतके जो बहुत सभ्य लोग हैं, जो कहीं कपड़ेसे रहित अपने शरीरको, पुरुष कम-से-कम दिखाना पसन्द नहीं करते हैं, स्त्रियाँ तो दिखाती हैं। वह सभ्यता तो कहीं स्त्रियोंमें होती हैं, कहीं पुरुषोंमें होती हैं। तो वहाँ क्रिसमसके जो दिन आते हैं, तो उसमें लोग नंगा होकर नाचना सभ्यताका चिह्न समझते हैं। तो हमारे सुधारक लोग आते, कहते यह तो बहुत खराब है, गाली देना, राम राम राम, यह तो असभ्यता है। तो अपने बचपनकी बात मैं सुनाता हूँ। हमारे पितामह थे। अब समझो वे तो बहुत पुराने थे, संवत् उन्नीस सौ छहमें उनका जन्म हुआ था, तो अब होते तो सवा सौ वर्षके होते। तो वे हम लोगोंको बताते कि देखो शास्त्रमें तो साफ-साफ लिखा है कि होलीके दिन गाली देना चाहिए। उससे धर्म होता है।

अब वेद-पुराण निकालकर, स्मृति निकालकर सामने रख देते। अब वह सुधारकोंके तो बहुत विपरीत था। अब हमारे मनमें उसी समय यह बीज पड़ गया कि यह धर्मशास्त्रमें गाली देना क्यों लिखा है? उसका जो समाधान हुआ बादमें वह आपको सुनाता हूँ। संवत् उन्नीस सौ पचहत्तरमें हमारी माताजी गयीं थी जगन्नाथपुरीमें दर्शन करने, तो यह प्रश्न वहाँ खड़ा हुआ था कि ब्राह्मण हैं, तो जगन्नाथपुरीमें जाकर कच्ची रसोई खायँ कि न खायँ, दाल-भात खायँ कि न खायँ! हम लोग ब्राह्मणोंका भी नहीं खाते थे पहले, तो हमारे बाबाने निर्णय दिया कि और जगह नहीं खाना चाहिए जगन्नाथपुरीमें तो वहाँका प्रसाद खानेका, वहाँका उच्छिष्ट खानेका भी दोष नहीं है।

अब महाराज सबसे बड़े सुधारक स्वामी दयानन्दजी, उनकी सत्यार्थ प्रकाश पढ़ी तो उसमें नियोगका वर्णन है। तो यह 'नियोग' धर्म कैसे? यह प्रश्न अपने चित्तमें उदय हुआ। बचपनमें धर्मके बारेमें जिज्ञासा रखते थे। अब और बड़े हुए। तो यज्ञका पढ़ा—पशुना यजेत्। मेध होते हैं। अश्वमेधयज्ञ होता है। भाई, पशुवध कैसा? नारायण आपको क्या सुनावें! जब सब परमात्मा है, इस बातका ज्ञान हो जाता है, उसमें यदि कोई अहिंसाको धर्म कहे, हिंसाको न कहे, तो परमात्माकी हिंसा हो जाती है। यदि कोई मीठी बातको धर्म कहें और कड़वी बातको–गालीको धर्म न कहे, तो आदमीके मनकी तो हिंसा नहीं होगी, वह तो मीठा–मीठा लगेगा, लेकिन परमात्माकी हिंसा हो जाती है। यदि

अहिंसा धर्म हो और हिंसा धर्म न हो तो परमात्माकी हिंसा। दोनों — कहीं धर्म, कहीं अधर्म होना चाहिए। अहिंसा भी कहीं धर्म होना चाहिए। उच्छिष्ट भी कहीं धर्म होना चाहिए। नियोग भी कभी कहीं धर्म होना चाहिए, संयम भी कहीं धर्म होना चाहिए। गाली भी कहीं धर्म होना चाहिए और मीठी बात भी कहीं धर्म होना चाहिए। क्योंकि धर्म वंस्तुनिष्ठ नहीं है, धर्म तो शास्त्रकगम्य है। तो शास्त्रके द्वारा अध्यारोपित होनेके कारण, अध्यारोपमें यदि अधिष्ठानकी अपेक्षा रखी जायेगी, तो वह अध्यारोप बनेगा ही नहीं, इसलिए शास्त्रकी जो दृष्टि है, वह सम्पूर्ण रूपसे सत्य है।

इसीलिए अब देखो मुख्य प्रसंग जो सामने है, उसकी बात आपको बताते हैं। इस प्रसंगमें एक ऐसी बातका वर्णन है कि उसी अक्षर पुरुषसे तस्मात्—उससे अन्तरिक्षमें, एक अग्निमें एक अग्नि उत्पन्न होती है। तो भाई अग्निमें तो सिमधा होती है उस अग्निकी संज्ञा क्या है?

सिमधो यस्य सूर्यः — सूर्य उसकी सिमधा है। फिर उसीमें 'सिमधो यस्य सूर्यः' माने सूर्य ही नहीं 'द्युल्लोक सिमध्यते' इस द्युल्लोकमें — अन्तरिक्षमें जो अग्नि पैदा होती है, वह सूर्यके द्वारा प्रज्ज्वलित होती है।

अब उस द्युल्लोककी अग्निसे निकलता है—चन्द्रमा। यह सोमाग्नि है। उससे क्या होता है? कि उससे पर्जन्य-मेघ निकलता है। उससे क्या होता है? कि धरतीपर जौ-गेहूँ, ये औषधियाँ निकलती हैं। उससे क्या होता है कि पुरुषके शरीरमें वीर्य आता है। उससे क्या होता है? कि, सिंचित योपितायां—वह स्त्रीके शरीरमें जाता है और जब स्त्रीके शरीरमें जाता है, तब उससे यह लड़का-लड़की, नर-मादा—यह दोनों प्रकारकी सन्तान उत्पन्न होती है।

यह वहाँ क्या बात कही कि द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषिता—ये पाँच हैं। एक अग्नि है द्युलोक। दूसरी अग्नि है पर्जन्य-मेघ, तीसरी अग्नि है पृथिवी। चौथी अग्नि है पुरुष और पाँचवीं अग्नि है—योषिता माने स्त्री। यह होम होता है। देखो, सब ग्रन्थ बाबाजी लोगोंके लिए नहीं होते, यह थोड़ा लोगोंको भ्रम हो गया है कि ये वेद-उपनिषद्-गीता आदि जो है वह साधुओंके लिए है। वह साधुओंके लिए नहीं होता, गृहस्थ लोगोंके लिए भी होता है। उसमें अर्थोपार्जनकी भी विधान होता

है, उसमें धर्मका भी विधान होता है और उसमें मोक्षका भी विधान होता है। तो त्यागोपाधिक वैराग्योपाधिक जिनका अन्तः करण है, उनके लिए मोक्षका वर्णन होता है।

श्रीमद् भागवतमें यह प्रसंग आया—

वैराग्य रागोपाधिभ्यां आम्नातोभयलक्षणान्।

धर्म दो तरहका होता है—एक प्रवृत्ति धर्म और एक निवृत्ति धर्म। तो जिसके अन्त:करणमें वैराग्य होता है उसके लिए निवृत्ति धर्म और जिसके अन्त:करणमें राग होता है, उसके लिए प्रवृत्ति धर्म और प्रवृत्ति धर्म जो है वह भी व्यवस्थित होता है। तो यह कहते हैं कि जो लोग रागोपाधिक हैं जिनका अन्त:करण रागोपाधिक है, राग जिसमें है उनको प्रवृत्ति धर्मका पालन करना चाहिए।

तो प्रवृत्ति धर्ममें यह जो स्त्री-पुरुषका मिलन है, यह है कि नहीं है? तो— महाराज! हमारा एक ऐसा समाज है जो कहता है नहीं, नहीं, इस धर्मका वर्णन मत करो। स्त्री-पुरुषके मिलनको धर्मके रूपमें मत बताओ। क्यों? कि फिर तो लोग इसीको धर्म समझकरके इसीके पालनमें लग जायेंगे। बोले— ठीक है भाई, तुमको पसन्द नहीं है तो मत करो। कई तो ऐसे लोगोंने उपनिषदें छापीं, जिसमें पंचाग्नि विद्याका जो प्रसंग है उसके शांकर भाष्यका हिन्दी अनुवाद छापा ही नहीं, बोले—अरे! इसको लोग पढ़ेंगे। पढ़ें नहीं, पर रोज घरमें करते हैं और बिना कायदेके करते हैं, धर्मके विपरीत करते हैं, यदि उनको यह बात ठीक-ठीक धर्मकी रीतिसे बतायी जाये और स्त्री-पुरुषका मिलन ठीक धर्मानुसार होवे तो इसमें अश्लीलता क्या आ गयी?

बृहदारण्यक उपनिषद्में तो बताया है कि गोरा बेटा चाहे तो यह रीति है उसकी, पहलवान हमारा बेटा हो—ऐसा चाहे तो स्त्री-पुरुषके मिलनकी यह रीति है। यह कोई दूसरे ग्रन्थमें नहीं, बृहदारण्यक उपनिषद्में इसका वर्णन है भला। उपनिषद्में श्रीमन्थ (पुत्रमन्थ) विद्याके नामसे वह प्रसिद्ध है।

जैसे आप अग्निमें हवन करते हैं, तो हवन करनेके लिए भी मुहूर्त होता है। पहली बात तो यह ले लो कि कौन-सा हवन अमावास्याको करना, कौन- सा पूर्णमासीको करना। दर्शे पौर्णमास, वसन्ते अग्निनाधधीत, वसन्त ऋतुमें अग्नियाधान करना। जैसे यज्ञ करनेके लिए भी मुहूर्त होता है, ऐसे स्त्री-पुरुष मिलनके लिए भी मुहूर्त होता है। पहली बात तो यह लो। कालका नियम है। फिर देशका नियम है, स्थान कैसा? एकादशी नहीं होनी चाहिए, पूर्णिमा नहीं होनी चाहिए, संक्रान्ति नहीं होनी चाहिए। ऋतुकालकी जैसी विधि है वह समय, निषद्ध समय नहीं होना चाहिए। तो मुहूर्त देखकर करनेका धर्म है यह, गृहस्थोंके लिए।

अच्छा स्थानका नियम है इसमें। मन्दिर नहीं होना चाहिए। तीर्थ नहीं होना चाहिए, नदीका किनारा नहीं होना चाहिए। दिन नहीं होना चाहिए, बहुत सारी बातें हैं। यह जैसे यज्ञ करने कि निए स्थान और समय देखते हैं, वैसे इसके लिए भी देखना चाहिए।

अच्छा, यज्ञ जो है, वह विधिवत् स्थापित जो अग्नि होती है, वेदीपर या कुण्डमें अग्नि स्थापन करके, कुशकंडिका करके तब न होम होता है, इसी प्रकार महाराज यह स्त्री-पुरुषके मिलनमें भी विधिवत् स्थापित अग्नि है, माने जो विवाहित पत्नी है, उसीके द्वारा यह सन्तान उत्पन्नकी जा सकती है।

अच्छा, अब उसके लिए जो होमके मंत्र हैं, जो होमकी क्रिया है, उसका वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद्में बड़े विस्तारसे है। हम उसका यहाँ इस समय विस्तार नहीं करना चाहते हैं, लेकिन यह प्रजा उत्पादनकी क्रिया भी एक प्रकारका होम है, एक प्रकारका यह यज्ञ है। तो जब इसको करता है गृहस्थ, तब उसको यज्ञ दृष्टि रखकर करेगा। यह वासनापूर्तिके लिए नहीं है, वह तो प्रवृत्ति धर्मके पालनके लिए है। वह भोगके लिए नहीं है, वह तो योगके लिए है। इससे यह पंचाग्नि विद्या मनुष्यको पवित्र बनानेवाली है, उस समय भी यदि किसीका यह ख्याल रहे कि अरे यह तो यज्ञ है, वहाँ अग्नि क्या है, वर्णन आता है कि वहाँ अग्नि क्या है, वहाँ कुण्ड क्या है, वह धुँआ क्या है, और वहाँ घृत क्या है, खुवा क्या है! इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में खुवाका, घृतका अग्निकुण्डका और इनके धूमका और अग्निका; अंगारका भी और स्फुलिंगका भी निरूपण आता है।

इस प्रकार हम यह बात आपको सुनाते हैं कि कोई भी अश्लील क्रिया इसमें नहीं है, यह बिलकुल धर्मानुष्ठानकी क्रिया है और सबके गृहस्थ जीवनमें आती है और उनको बिलकुल ठीक-ठीक शास्त्रोक्त रीतिसे करना चाहिए। प्रजाकी-सन्तानकी उत्पत्तिके लिए यह यज्ञ होता है और इस यज्ञसे द्युलोककी अग्निसे लेकर द्युलोककी अग्निसे लेकरके द्युलोकमें अग्नि, पर्जन्यमें अग्नि, पृथिवीमें अग्नि, पुरुषमें अग्नि, और योषितमें अग्नि—ये पाँच प्रकारकी जो अग्नि है, यह अग्नयाधानसे, फिर हवनसे, जो सृष्टि होती है, वह सारी-की-सारी सृष्टि उसी अव्यक्त अक्षरसे, अव्याकृत अक्षरसे होती है और उस अव्याकृत अक्षरसे उपलक्षित जो है वह परात्पर पुरुष है।

अब यह बात बताते हैं आगे कि क्रिया कारक और फल-यह जो यज्ञ होता है, यह भी उसी पुरुषसे होता है।

तस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥

2.1.6

ऋग्वेद उसीसे निकला। माने बताते हैं कि अव्याकृत अक्षरसे सब हुआ और परमात्मा अव्याकृत अक्षरसे परे है, उसमें यह सब कुछ नहीं है। आपको कभी सुनावेंगे कि अव्याकृत अक्षरमें देश, काल और वस्तुएँ किस रूपसे रहती हैं और परमात्माको लखानेके लिए अव्याकृतके ज्ञानकी कैसे जरूरत है? तो ये जितनी ऋचाएँ हैं, ये तो मनोमय कोशमें होती हैं।

तस्य यजुरेव शिरः।

तैत्तरीय उपनिषद्में जहाँ मनोमय कोशका वर्णन है, वहाँ वर्णन है कि वेद तो मनोमय कोशमें रहते हैं। तो उसी अव्याकृत-अक्षरसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद यज्ञमें दीक्षा लेना, यज्ञ करना, सभी क्रतु और सारी दक्षिणाएँ और संवत्सर यजमान और उनसे मिलनेवाला लोक-फल, जहाँ सोम है, जहाँ सूर्य है; जहाँ सोम लोकोंको पवित्र करता है और जहाँ सूर्य तपता है, दिक्षणायन और उत्तरायण—इन दोनों मार्गोंसे गम्य जो गतियाँ हैं, वे सब कहाँ हैं? बोले—

वे अव्यक्ताक्षरमें ही हैं, परमात्मा तो उन सबसे परे हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, दीक्षा, क्रतु, दक्षिणा—ये सब-के-सब उसीमें हैं।

तस्माच्य देवा बहुधा सम्प्रसूताः

साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।

प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च

श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥

2.1.7

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः—कर्मके अंग जितने हैं, वे सब उसी अव्याकृत अक्षरसे प्रकट होते हैं, परमात्मामें नहीं हैं। यह नासदीय सूक्त है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः बहुत सारे देव उसीसे निकले हैं। साध्य, मनुष्य, पशु-पक्षी, प्राण, अपान, ब्रीहि, यज्ञ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और उसके लिए जो विधि-विधान हैं सब उसीसे निकले हैं।

यह जितनी भी सृष्टि होती है, वह सब-की-सब अव्याकृत चेतनसे आवेष्ठित जो अव्याकृत माने नामरूप जहाँ व्यक्त नहीं हुए हैं, भूत सूक्ष्मकी वह दशा जिसका साक्षी आत्मा है और बुद्धिका अधिष्ठान आत्मा और बुद्धिस्थ अव्याकृतका भी अधिष्ठान आत्मा, अव्याकृताविच्छित्र चैतन्य और बुद्धि अविच्छित्र चैतन्य—ये दोनों दो नहीं एक; उस अक्षरका जो ज्ञान होता है उसके लिए जो साधन है श्रद्धा होना, सत्य होना, ब्रह्मचर्य होना और विधि-विधानका पालन होना—ये सब अव्याकृत अक्षरसे उत्पन्न हुए हैं। महाप्रलयके समय ये कोई नहीं रहते हैं, ये सब-के-सब जन्य हैं और सिद्ध वस्तुसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, इनकी बीज दशाके द्वारा केवल वह उपलक्षित ही होता है।

अब यह प्रसंग आपको फिर कल सुनावेंगे!



प्रवचन : 18, मंत्र 8 से 10 तक

सब परमात्मासे, सब परमात्मा

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्

सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा

गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥

2.1.8

आपको यह स्मरण होगा कि इस मुण्डकके दूसरे मन्त्रमें यह बात कही गयी कि यह जो आत्मा परमात्मा है, यह स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः है। प्राण, मन, अविद्या, माया इनकी उपाधिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और इस तरहका वर्णन जो है यह उसका उपलक्षण है।

तो उपलक्षणका अभिप्राय आप ऐसे समझो कि घर भरमें घड़ा रखा हो और बच्चेको समझाना हो कि धरती कहाँ है? तो उसको ऐसे समझायेंगे कि जहाँ घड़ा नहीं है वहाँ धरती है। घर भरमें घड़ा रखा है और जहाँ घड़ा नहीं है, वहाँ धरती है। तो जहाँ घड़ा नहीं है, वहाँ धरती है, यह क्यों समझाया गया? कि बच्चा घड़ेको ठीक-ठीक समझता है। जब घड़ेको समझता है, तब धरतीको समझानेके लिए कहा कि जहाँ घड़ा नहीं है वहाँ धरती है।

तो यह विश्वसृष्टि जिनकी दृष्टिमें भरी पड़ी है, उनके लिए ऐसे समझाते हैं कि जहाँ सृष्टि नहीं है वहाँ ब्रह्म है। क्योंकि अभाव ज्ञान जो है, वह प्रतियोगी ज्ञान सापेक्ष होता है। उसका मतलब यह होता है कि जिसको घड़ा मालूम है, उसीको घड़ेका अभाव भी मालूम पड़ता है। तो घट और घटाभाव, चश्मा और चश्मा न होना, घड़ी और घड़ी न होना, किताब होना और किताब न होना, ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। तो यह किताब ब्रह्म है,अगर इसी तरहसे बात समझायी जाय, तो क्या दोष आवेगा? कि ब्रह्म एकांगी हो जावेगा कि जब सृष्टि होवे, किताब होवे, तब तो ब्रह्म (वर्ना नहीं); और यदि यों समझा देंगे कि किताब नहीं रहनेपर ब्रह्म होता है, तो किताबका रहना और न रहना—ये दोनों उपाधि, और उपाधिसे निरपेक्ष ब्रह्म। तो जब उस ब्रह्मकी पहचान हो जावेगी तो किताबका होना और न होना, घड़ेका होना और न होना—दोनों ब्रह्म हो जायेगा। इसलिए पहले सृष्टिका निषेध करके, प्रलयका निरूपण करते हैं कि प्रलयका जो अधिष्ठान है सो ब्रह्म, प्रलयका जो साक्षी है सो ब्रह्म, प्रलयका जो प्रकाशक, वह ब्रह्म, स्वयं प्रकाश ब्रह्म। तो यह उपलक्षण हुआ।

उपलक्षण हुआ माने यह दूरसे ही, ब्रह्मके पास रहकर ब्रह्मको समझानेवाली जो चीज है, उसको उपलक्षण बोलते हैं। लक्षण माने लखानेवाली चीज, जिससे चीज लखी जाये और पास रहकर लखावे। 'उप' माने पास और 'लक्षण' माने लखानेवाली। पास रहकर लखानेवाली जो चीज है, उसको उपलक्षण बोलते हैं।

तो यह जो घटका अभाव है, वह अपने अधिष्ठान धरतीसे जुदा नहीं है और सच पूछो तो घड़ा भी धरतीसे जुदा नहीं है, लेकिन घड़ेमें नाम-रूप होनेके कारण, वह धरतीसे जुदा मालूम पड़ता है और घड़ेके अभावमें नाम रूप न होनेके कारण, वह धरतीसे जुदा नहीं मालूम पड़ता है। इसलिए परब्रह्म परमात्माको लखानेके लिए प्रलयकालकी कल्पनाका उपयोग किया जाता है। तो यह बात बतायी कि परमात्मा-ही-परमात्मा है, बाहर भीतर और कुछ नहीं।

उसके बाद देखो तीसरे मन्त्रमें यह बात बतायी गयी, यह हमारे शरीरमें जो प्राण है, जो मन है, जो इन्द्रियाँ हैं और मिट्टी, हवा, आग, जल, पृथिवी है—ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं।

तो बात उलटी लगती है। यह तो यह बता रहे हैं कि ईश्वर कारण है और ये कार्य हैं। बोले—नहीं, यह बता रहे हैं कि अपनी उत्पत्तिके पहले ये नहीं थे। और, जब अपनी उत्पत्तिके पहले ये नहीं थे, तो इनकी अनिभव्यक्त दशामें, इनकी अव्याकृत दशामें जैसे घड़ा न होनेपर; घड़ाका न होना धरतीकी पहचान है, वैसे इस सृष्टिका न होना ब्रह्मका उपलक्षण है। माने यह सृष्टि जब नहीं थी, जब केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म था और ये बादमें पैदा हो गये। तो बादमें पैदा हुए और पहले मिट जायेंगे। तो इनकी दशा क्या हुई? जैसे आपके जीवनमें कोई सपना आया और मिट गया, लेकिन आप तो आप ही हैं, सपना आया और मिट गया। इसको ऐसे समझो, एक बार जादूगर आया। मैंने जादूके बहुत देखे हैं।

आओ देखो, चल रे चल, ऐसे मारा और फटसे एक अनार गिर पड़ा। अब वहाँ अनारका पेड़ नहीं, अनारका बीज नहीं, अच्छा थोड़ी देर बाद वह अनार गायब हो गया। तो क्या हुआ, आकाशमें अनार पैदा हुआ और मिटा? िक नहीं, वह दिखायी पड़ा और मिट गया। तो जैसे जादूगर कोई चीज आसमानमें दिखा दे और वह मिट जाये। जैसे आकाशमें जब बादल छा जाते हैं वर्षा ऋतुमें, सायंकाल आप देखो, हाथी, घोड़ा, शंकरजीकी बारात, शिवजीकी मूर्ति, लक्ष्मी नारायण, इन्द्र अप्सरा, गन्धर्व-सब दिखायी पड़ेंगे, लेकिन थोड़ी देरके बाद गायब, तो क्या पैदा हुए? इसी प्रकार अनादि अनन्त ब्रह्ममें, यह जो कोटि कोटि ब्रह्माण्डकी सृष्टि है, यह पहले नहीं थी और बादमें नहीं रहेगी और बीचमें जो दिखायी पड़ती है वह बिलकुल जादूका खेल है। तो हमारे शरीरके भीतर भी और शरीरके बाहर भी यह पिण्ड भी और ब्रह्माण्ड भी—

> एतस्माजायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्न्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

यह पिण्ड ब्रह्माण्ड, ये दोनों जो हैं ये असलमें परमात्मामें नहीं हैं आदावन्ते च यत्रास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। जो चीज आदिमें नहीं थी और अन्तमें नहीं थी वह वर्तमानमें भी नहीं है।

भागवतमें इसका बड़ा बिंद्या वर्णन आया हुआ है—न यत् पुरस्तात् उत् यत्र पश्चात् मध्ये च तन्त्र व्यपदेशमात्रम्—जो वस्तु पहले नहीं होती और पीछे नहीं होती, बीचमें दिखायी पड़ती है, वह दरअसल होती नहीं। वेद स्तुतिमें भी यह प्रसंग आया है—न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनु मितमन्तरा त्विय विभाति मृषैक रसे। यह सृष्टि तो पहले भी नहीं थी, बादमें भी नहीं रहेगी और बीचमें तो यह झूठ-मूठ ही भास रही है। इसके बाद बताया कि यह जो सृष्टि प्रतीत हो रही है, अग्निर्मूधा चक्षुषी चन्द्रसृथौं—यह विराट् सृष्टि जो सप्ताङ्ग है, यह भी उसीसे पैदा हुई और उसीमें लीन होती है। माने न पहले थी और न बादमें रहेगी, इसलिए यह जादूका खेल है यह स्वप्नवत् है और एक परमात्मा सत्य है।

इसके बाद बताया पंचाग्नि विद्याके हवन कि ये पाँच जो अग्नियाँ हैं, इनमें जो हवन किया जाता है—द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योपित—इन पाँचोंमें हवन करके प्राणीकी उत्पत्ति होती है—यह गर्भाधान जो है, वह एक प्रकारका होम है।

प्राणियोंकी उत्पत्ति गर्भाधानसे होती है, ये सारे प्राणि भी पहले नहीं थे, बादमें नहीं रहेंगे, ये भी जादूगर मूठ मारकर जैसे आसमानमें पैदा कर दे, सेना दिखा दे जैसे, वैसे यह जादूगर ईश्वरने, वह देखो रोशनीकी मूठ मारते हैं पर्देपर और वह पर्देपर क्या-क्या तस्वीरें दिखायी पड़ती हैं, इसी प्रकार महाराज, यह रोशनीमें दृश्यके संस्कार मिला करके वह पर्देपर फेंकते हैं और क्या-क्या तमाशा सिनेमामें दिखायी पड़ता है, वैसे यह ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें हमारी मनोवृत्ति जो है, वह संस्कारकी मूठ भर-भरकर जादूका खेल दिखा रही है।

इसके बाद छठे मन्त्रमें यह बताया कि क्रिया कारक फलात्मक जो कुछ है यज्ञ-यागादि, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद इनसे दीक्षित होना, यज्ञ करना, क्रतु करना, दक्षिणा देना, संवत्सर, दक्षिणायण और उत्तरायण दोनों मार्ग-सोममार्ग और सूर्यमार्ग-ये सब भी परमात्मामें न पहले थे, न बादमें रहेंगे, बीचमें ये सब जादूके मूठ मारकर ही स्वप्नवत् जादूगरीकी तरह दिखाये गये हैं।

सातवें मन्त्रमें फिर यह बात बतायी कि कर्मके जितने अंग हैं वे भी उसी परमात्मासे प्रकट होते हैं, माने ये भी पहले नहीं थे। न पहले थे, कोई भी देवता, माने एक देवता नहीं था पहले, फिर बहुतसे देवता हो गये, साध्यगण हो गये, मनुष्य हो गये, पशु हो गये, पक्षी हो गये, प्राण, अपान और यज्ञीय अन्न-चावल, जौ ये सब पैदा हो गये और मनुष्यके जीवनमें जो तप है, तप कहनेका अभिप्राय यहाँ यह है कि स्वतन्त्र रूपसे तप और अंग रूपसे तप—दोनों प्रकारके तपकी चर्चा है। जैसे आप होम करते हैं, तो तप

करनेके लिए नहीं बेठते, और इन्द्राय स्वाहा, इन्द्रको आहुित देनेके लिए बैठते हैं, लेकिन तप हो जाता है। कैसे? जबतक हांम करेंगे, तबतक खायेंगे नहीं, पानी नहीं पीयेंगे, तबतक ब्रह्मचर्यको भंग नहीं करेंगे, तबतक पलंगपर सोवेंगे नहीं, तबतक आगकी आँचके सामने बैठेंगे, ता वहाँ कर्मके अंग रूपसे तपस्याका आचरण हो जायेगा। तो वह तप हो गया। और वानप्रस्थ लोग जो हैं वे स्वतन्त्र तपका आचरण करते हैं। वह कर्माङ्ग नहीं होता। कैसे? िक वर्षा सह रहे हैं खुले मैदानमें, बिना ओढ़े जाड़ा सह रहे हैं। गर्मीमें भूप सह रहे हैं, चन्द्रायण कर रहे हैं। कृच्छू कर रहे हैं, बाल बढ़ा रहे हैं, नाखून बढ़ा रहे हैं, कच्चा अत्र खा रहे हैं। तो यह क्या हुआ? िक यह स्वतन्त्र तप हुआ। तो ये दोनों प्रकारके तप और इनका जो फल होता है। वह भी पहले नहीं था, बादमें बना और अन्तमें नहीं रहेगा। इसका अभिप्राय हुआ कि वह ब्रह्ममें नहीं है।

तपशु श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च।

श्रद्धा—जितना कर्म होता है, वह श्रद्धाके बिना नहीं होता। शंकराचार्य भगवान्ने श्रद्धा शब्दका जो अर्थ बड़ा विलक्षण किया है। आपके ध्यान देने योग्य है। श्रद्धाका अर्थ किया है उन्होंने—सर्व पुरुषार्थ साधन प्रयोगश्चित्त प्रसाद आस्तिक्य बुद्धिः। श्रद्धाका इतना अर्थ है। श्रद्धा नहीं करोगे तो धन नहीं कमा सकते। यह शंकराचार्यजी कह रहे हैं कि अगर तुम्हें पैसा कमाना है तो श्रद्धा करो।

श्रद्धा करो माने जब किसीको देना-लेना हो जैसे—ग्राहक आया दुकानमें, तो श्रद्धा करो कि यह खरीदेगा। बनिएकी दुकानमें जाओ तो श्रद्धा करो कि यह ईमानदारीका सौदा देगा। व्यापारमें आपसमें लेन-देनकी बात करो और—विश्वास न हो, तो? यह देखो सट्टा करनेवाले लोग होते हैं, इनकी श्रद्धा देखकर तो बाबा आश्चर्य होता है। ये करोड़ोंका सौदा बिलकुल जबानी करते हैं, कोई लिखा-पढ़ी नहीं और अधिकांश अपने वादेके पक्के होते हैं।

तो श्रद्धाके बिना धन नहीं मिलता, श्रद्धाके बिना भोग नहीं मिलता। भोजन करने बैठो और श्रद्धा मत करो, बोले—भोजनमें भला श्रद्धाका काम क्या है ? दाल-भात सामने रखा, आप न खायेंगे, बोले—बनानेवालेपर श्रद्धा करनी पड़ेगी कि उसने जहर नहीं डाला है और यह अन्न पवित्र है—यह श्रद्धा करनी पड़ेगी, बिना श्रद्धाके खा नहीं सकते।

बोले—भाई पत्नीको अपने साथ रखो और उसके ऊपर संशय करो कि पता-वहीं हम सो जायें तो रातको उठकर यह कहीं चली जाय। अब पत्नीका सुख मिलेगा? नींद ही नहीं आवेगी, विक्षिप्त रहोगे, पागल हो जाओगे। दुनियामें बहुत-सी स्त्रियाँ इसीलिए पागल हैं कि वे अपने पतिपर श्रद्धा नहीं करतीं और बहुतसे पति इसीलिए पागल हैं कि वे अपनी पत्नीपर श्रद्धा नहीं करते।

तो महाराज बिना श्रद्धाके यज्ञ कैसे करोगे? बिना श्रद्धाके दान कैसे करोगे? बिना श्रद्धाके गुरुपर विश्वास कैसे करोगे कि वह ब्रह्मज्ञानी है। तो शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि यह श्रद्धा चारों पुरुषार्थका साधन है धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष श्रद्धासे मिलता है।

और, एक बात श्रद्धांके बारेमें और बताते हैं कि चित्त प्रसाद: चित्त निर्मल रहता है, श्रद्धा होवे तो चित्त प्रसन्न रहता है अपना। और आस्तिक्य बुद्धि:, वेद है, ईश्वर है, परलोक है, देहके अतिरिक्त आत्मा है।

श्रद्धा बहुत बिंदिया चीज है। ठीक है सब कुछ श्रद्धासे बनता है, लेकिन जब सृष्टि नहीं पैदा हुई थी, तब श्रद्धा कहाँ थी? और जब सृष्टि नहीं रहेगी, तब श्रद्धा कहाँ रहेगी? इसका अर्थ है कि यह श्रद्धा रूप साधन भी इसी जादूके खेलमें पैदा हुआ है और यह भी एक ऐसी माया है जो है तो परमेश्वरको मिलानेवाली, लेकिन माया है श्रद्धा।

सत्यं—बोले सच बोलो। बोले—लोगोंको बड़ा अभिमान होता है, कोई कोई सत्यवादी होते हैं न, बड़े कटुवादी होते हैं। शास्त्रकी रीतिसे उसका नाम सत्य नहीं है।

सत्य उसको कहते हैं जिसमें आनन्द भी होवे और जिसमें ज्ञान भी होवे। सत् जो है वह चित् और आनन्दसे जुदा होकर तो कभी रहता ही नहीं। यदि सत् जो है वह चित्से-ज्ञानसे जुदा हो गया तो सत् नहीं रहा, जड़ हो गया और यदि सत् आनन्दसे जुदा हो गया तो दुःख हो गया। तो सत्का स्वभाव है कि वह ज्ञानके साथ रहता है, जैसा तुमको ज्ञान है वैसा बोलोगे, तब न! तुम्हें ज्ञान कुछ हो और बोलो कुछ, तो तुम्हें ज्ञान होगा? जानते हो कुछ और बोलो कुछ तो उसका नाम सत्य होगा? तो जैसे ज्ञानके विपरीत होनेपर सत्य सत्य नहीं रहता, वैसे सुखके विपरीत होनेपर भी सत्य-सत्य नहीं रहता। लेकिन लोग इस बातको नहीं समझते हैं।

मनुजीने बड़ा जोर दिया है-

सत्यं ब्र्यात् प्रियं ब्र्यात् न ब्र्यात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्र्यादेषधर्मः सनातनः॥

कटुवादी नहीं होना चाहिए मनुष्यको, अपनी वाणीमें आनन्द और ज्ञान, देखो, तभी तो सत्य होगा। लेकिन ये कहते हैं कि बोलनेमें सत्यकी बड़ी जरूरत है। लेकिन ये भलेमानुष जिस सत्यके लिए आग्रह करते हैं, उनसे पूछा, एक आदमी कहेगा यह धरती ईश्वरने बनायी, बिलकुल सच्ची बात है। एक कहेगा नहीं,यह प्रकृतिसे बन गयी यह बिलकुल सच्ची बात है और दोनों आपसमें डण्डे बाजी कर बैठेंगे, लड़ेंगे।

तब भलेमानुष! न तो तुमने प्रकृतिसे बनते देखा और न तो तुमने ईश्वरको बनाते देखा। तुम लोग अपनी-अपनी बातको सत्य मानकरके लड़ाई काहेको कर रहे हो?

एकने कहा—नहीं गणेशजीने बनाया था, अपनेसे सूँड़से एक मुट्ठी धूल गणेशजीने उठायी और पटका और धरती बन गयी। मूठ मारी थी गणेशजीने।

नारायणने कहा—नहीं, नहीं, महाशक्ति जैसे बच्चा जनती है, वैसे उसने धरतीको जन दिया है, पैदा किया।

तो दोनों कहते हैं—हमारी बात सच्ची, हमारी बात सच्ची! अरे जब तुमको सत्यका ज्ञान ही नहीं है, तो काहेको लड़ते हो?

कल या परसों हम गये थे, सूरज प्रकाशके यहाँ उस समय गुरुका पाठ हो रहा था वहाँ, गुरु ग्रन्थ साहबका; ऐसा निषेध प्रधान था, उसमें वर्णन ही यही था कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं, न साध्य है, न साधन है, न प्रमाण है, न पुस्तक है, न योगी है, न यित है, न सित है, न फकीर है, न मुझा है, न सन्त है। ऐसा वर्णन था।

तो आप देखो कि जब पहले तुमको निश्चय हो कि हम जो जानते हैं

उसीका नाम सत्य है, उसमें हमारी कल्पना नहीं जुड़ी है, तो उसकी जिद भी कर सकते थे, लेकिन आप सत्यकी पहचान तो कर लो कि सत्य और ज्ञान कभी जुदा-जुदा नहीं होते। सत्यसे यदि ज्ञान जुदा होयेगा, तो बदल जायेगा और ज्ञानसे सत्य यदि जुदा होगा तो जड़ हो जायेगा और आनन्दसे सत्य यदि जुदा होगा तो दु:ख हो जायेगा। तो सत् चित् आनन्द इन तीनोंको जुदा-जुदा करके सत्य नहीं होता।

तो बोले—ऐसा, जिसमें सुननेवाले को भी आनन्द आवे और बोलने-वालेको भी, और बोलो वह जो बिलकुल सचमुच शपथ पूर्वक कह सको।

सनातन धर्मी, आर्य समाजी जब लड़ाई करते हैं तो वे कहते हैं हम देख आये हैं स्वर्ग है। वह कहते हैं कि नहीं! हम भी देख आये हैं कि स्वर्ग नहीं है। भला बताओ, न वे स्वर्गमें गये, न वे स्वर्गमें गये, जिस चीजको देखा ही नहीं, उस चीजके लिए डण्डा उठाते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं। अब कौन सौगन्धपूर्वक कहे कि भाई, हमने देखा है। उसका जो लाभ है सो उठाना चाहिए। शरीरके बाद भी आत्मा रहती है, इसलिए आत्मा अजर है, अमर है। उसका लाभ यह है कि देहसे जुदा है आत्मा और देह मर जानेके बाद भी आत्मा रहती है। आत्मा अमृत है, सत्य है, इस सिद्धान्तका निश्चय करो बाबा, जो कहें कि हम नरक देख आये हैं, उनसे कहो कि वहीं रहा करो, तुम इस धरतीको नरक मत बनाओ। जो कहें कि हम स्वर्ग देख आये हैं, बोले—बाबा, अगर वहाँसे अपने साथ स्वर्ग ले आये हो और यहाँ धरतीपर स्वर्ग बना सकते हो, तब तो बहुत बढ़िया है, नहीं तो कृपा करके वहीं लौट जाओ। इस धरतीको स्वर्ग बना सको तो बनाओ, नहीं तो लौट जाओ वहाँ। तो जो चीज देखी नहीं, उसके लिए लड़ाई?

इसका अर्थ आपको यह सुनाया कि जो अपने ज्ञानके तो विपरीत न हो और अपने लिए भी और दूसरेके लिए भी आनन्द दायक हो, उसका नाम सत्य होता है। लेकिन पहले जबान ही नहीं थी। तो सर्वेन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ पैदा हुईं, पहले जीभ होगी तब न बोला जायेगा! बोले—जब यह सृष्टि नहीं थी, तब जीभ नहीं थी और सृष्टि नहीं रहेगी तो जीभ नहीं रहेगी, तो वाणी भी नहीं रहेगी। तो लौकिक सत्य, व्यावहारिक सत्यासत्यका भेद परमात्माके स्वरूपमें नहीं होता है। सत्यं ब्रह्मचर्य विधिश्च। तो इसीलिए सत्यकी परिभाषा शंकराचार्य भगवान्ने दी है कि सत्य माने अमृतवर्जन-झूठ नहीं बोलना। यथा-भूतार्थ वचनं—जैसी घटना घटित हो उसको बोलना। और, अपीडाकरं, लेकिन दूसरेको पीड़ा नहीं पहुँचाना। महाभारतमें सत्यकी बहुत बढ़िया परिभाषा बतायी हुई है—

न तत्त्ववचनं सत्यं नातत्त्व वचनं मृषा। यदभृतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।

भीष्म पितामह बताते हैं कि तत्त्ववचनका नाम सत्य नहीं है और अतत्त्ववचनका नाम मृषा नहीं है—मिथ्या नहीं है। जिससे मनुष्यका कल्याण होवे, जिससे मनुष्य अभय प्राप्त करे—नि:श्रेयय प्राप्त करे, कल्याण प्राप्त करे, उसका नाम सत्य। तो वह उपाय है।

वह तो सृष्टिके पहले भी नहीं था, बादमें भी नहीं रहेगा। बीचमें जादूका खेल आया।

सत्यं ब्रह्मचर्यं—ब्रह्मचर्य भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है और विधि माने इतिकर्तव्यता—यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए।

अब आठवें मंत्रमें यह बात सुनाते हैं—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति—ये कहते हैं कि यह जो इन्द्रियोंके द्वारा वस्तुएँ जानी जाती हैं, इन्द्रियार्थ विज्ञान बोलते हैं, आजकल इसीको विज्ञान बोलते हैं, वह गिनती थोड़ी कम बेशी कर लेते हैं। आप देखो हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें यह वर्णन है कि यह जो आँख है, इससे हम रूप देखते हैं। तो ऐसा वर्णन है कि किसीकी समझमें जल्दी आती नहीं है यह बात, उसमें वर्णन है—एक होता है नेत्र इन्द्रिय, तो वह नाखूनसे लेकर सिर तक समूचे शरीरमें रहता है। नेत्रेन्द्रिय अन्तः करणमें, सूक्ष्म शरीरमें है और सूक्ष्म शरीर जो है वह मध्यम परिमाण है। तो एक आँख तो वह है जो इन्द्रिय रूप है और समूचे शरीरमें व्याप्त रहता है। और एक नेत्र वह है जो गोलक, यह आईना, चश्मा लगा हुआ है, मुँहके ऊपरी भागमें बना हुआ है। तो स्थूल शरीरमें जिसको नेत्र बोलते हैं। यह नेत्र गोलक है और नेत्र–इन्द्रिय जो है वह स्थूल शरीरमें नहीं है, वह तो सत्रह

तत्त्वोंवाला जो लिंग शरीर है, उसमें है और, सत्रह तन्त्रोंवाला लिंग शरीर नाखूनसे लेकर सिरतक व्याप्त रहता है।

तो इसका अर्थ हुआ, आप देखो, इसका सीधा अर्थ क्या हुआ? कि हमारे सारे शरीरमें आँखवाली धातु फैली हुई है और कानवाली धातु फैली हुई है और नाकवाली और जीभवाली धातु फैली हुई है सारे शरीरमें और छूनेवाली धातु भी सारे शरीरमें फैली हुई है। इसिलए आगे यह सम्भव है कि जब विज्ञानकी उन्नित हो, साइंसकी जब उन्नित होवे, तब क्या सम्भव है? कि यह हथेलीपर एक आँख बना दी जाये और मनुष्य ऐसे हाथ अपना करे और पंजेके पिछले भागसे देख सके। देखो यह हम विज्ञानकी संभावना आपको बताते हैं। यह विज्ञानकी संभावना है, ऐसा हो सकता है कि अंगूठेमें आगे चल करके ऐसा आग्रेशन हो सके और शरीरमें गन्ध ग्रहण करनेवाली जो धातु फैली हुई है, वह अँगूठेमें निकाल दी जाये और उससे फूल छूयें और गन्ध मालूम पड़ जाये कि यह कौन-सा गन्ध है, विज्ञानकी संभावनाओंसे हम कभी इन्कार नहीं कर सकते।

हम आपको यह भी सुनावें कि पहले बौद्ध लोग ऐसा मानते थे कि दो प्रकारकी इन्द्रियाँ हैं—एक प्राप्तकारी और एक अप्राप्तकारी। तो ऐसा मानते थे कि कान जो है वह बंदूककी आवाज होती है, तो वहाँतक कान फैला हुआ है और सुन लेता है, और आँख जो है वह सामनेकी चीजमें जाती है और उसको देखती है। पर वेदान्तियोंका यह सिद्धान्त है कि ये जाकर वस्तुको ग्रहण नहीं करते। जैसे नाकमें गन्ध जब घुसती है तो नाक ग्रहण करती है, जिह्वापर जैसे रस आता है तो जिह्वाको मालूम पड़ता है, त्वचाके पास कोई चीज आनेपर जैसे मालूम पड़ती है, वैसे आँखके भीतर और कानके भीतर रूप और शब्द जब प्रवेश करते हैं तब मालूम पड़ते हैं। आत्मसात करनेपर, जब घटावच्छित्र चैतन्य और अन्त:करणावच्छित्र चैतन्य-दोनों एक होते हैं, तब उनका ज्ञान होता है। यह आपको इसलिए सुनाते हैं कि इस विज्ञानकी भी हमारे बड़ी उन्नित हो चुकी है।

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्—ये दो कान, दो आँख, दो नाक, और एक मुँह-ये जो सात छिद्र शरीरमें बने हैं और जिससे सात इन्द्रियोंकी अभिव्यक्ति होती है, माने दो आँखमें नेत्रिन्द्रिय, दो कानमें एक श्रोत्रेन्द्रिय, दो नाकमें ग्राणेन्द्रिय, एक जीभमें रसनेन्द्रिय, और त्वचामें स्पर्शेन्द्रिय—त्वगेन्द्रिय—ये जो प्रकट होती हैं, तो ये सात प्राण हैं, सात छिद्रोंमें प्रकट; ये पहले नहीं थे, ये वादमें प्रकट हए।

सप्तार्चिषः सिमधा सप्त होमाः। ये कहते हैं कि अपने-अपने विषयको प्रकाशित करनेके लिए जो जान हैं, वह सात ज्योतियाँ भी उसीसे प्रकट होती हैं और उनके जो सात सिमधा हैं.माने सात जो विषय हैं वे भी उन्हींसे प्रकट होते हैं। गन्धसे नाक मालृम पड़ती है।

वंदान्तमें समझो जब यह विचार आता है, कार्यकारण भावको तो ऐसा चकनाचूर करते हैं महाराज! ये दुनियादार लोग जो राग-द्वेष करते हैं, वह कार्य कारणकी कल्पना करके राग-द्वेष करते हैं।

अच्छा आप बताओ, गन्ध किसको बोलते हैं? तो उसकी परिभाषा हुई, क्योंकि जहाँ दुर्गन्ध आवेगी, पड़ोसियोंसे लड़ाई होती है कि तुम्हारे घरमें-से बड़ी दुर्गन्ध आ रही है और बगीचेमें जाकर बैठनेमें बड़ा आनन्द आता है-सुगन्ध आ रही है। रागद्वेष कहाँसे होता है? बोले-गन्धके कारण।

कल किसीके घर हम गये थे। उस मकानके नीचे वह पता नहीं कि मांसकी गन्थ थी कि मछलीकी गन्ध थी कि प्याज की थी, हम तो पहचान भी नहीं सके, एक मिनट खड़ा होना निचले हिस्सेमें, कठिन हो गया हम लोगोंको। लिफ्ट जबतक आवे-आवे। कठिन हो गया। अब जो लोग वहाँ रहते हैं, उनको मालूम ही नहीं पड़ता।

तो आपको यह बात सुनाते हैं कि गन्ध किसको कहते हैं! कि जो नाकसे ग्रहण हो। नाकसे मालूम पड़े उसका नाम गन्ध।

घ्राणग्राह्यो गुण गन्थ: । बोले—अच्छा भाई नाक किसको कहते हैं? कि जो गन्धको ग्रहण करे उसका नाम नाक—गन्ध ग्राहकं इन्द्रियम्। गन्धको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियका नाम है नाक।

अच्छा, अब दोनोंमें से बताओ कि पहले नाक कि पहले गन्थ? कौन कार्य, कौन कारण? आपको यह सुनाते हैं।बिना गन्ध मालूम पड़े नाकका पता ही नहीं चलेगा।तो असलमें गन्ध और नाक-ये दो चीज नहीं हैं, जो नासिका इन्द्रिय है वह गन्धात्मक ही है। गन्धात्मक ही नासिका इन्द्रिय है।

तो अब बोले—भाई, इसी तरहसे देखो, पहले मन कि पहले संकल्प? संकल्पके बिना मन क्या और मनके बिना संकल्प क्या? तो यह सृष्टिका जो क्रम है इसीको बोलते हैं—अनिर्वचनीय।

अनिर्वचनीय—माने जिसमें ये दीख रही हैं और जिसको ये दीख रही हैं, उससे जुदा करके बताना मुश्किल। अपने अधिष्ठानसे और अपने प्रकाशकसे भिन्न करके इनको बताना बड़ा कठिन।

तो अब देखो इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे होनेवाला विज्ञान और उनके विषय और उनके जो सात प्रकारके विषय विज्ञान, जो हवन होता है और सात लोक जो इन्द्रियोंके स्थान हैं सो; ये सात उनके लोक हैं जिसमें ये सातों इन्द्रियाँ विचरण करती हैं—इस प्रकार ये सात-सात-सात करके जिनकी गिनती होती है और जो हमारे गुहामें, शरीरमें स्थित हैं—ये पहले नहीं थे, ये बादमें नहीं रहेंगे।इसलिए—

नासदासीत् नोसदासीत्तदानीम्।

ये बीचमें कैसे पैदा हुए? कि जैसे मनमें सपना, जैसे बाहर जादूका खेल, पैदा होवे, थोड़ी देरतक दिखे।

यह कहो कि ये तो बहुत देर दिखते हैं। तो ये बहुत देर इसलिए दिखते हैं कि तुम देहमें बैठकर देखते हो। यह जैसे फोटो खींचते हैं न, तो जब कैमरा एक जगहपर रखा जाता है, तो ऊपरको उसका मुँह करके खींचो तो फोटो दूसरे ढंगका आवे और नीचेको मुँह करके खींचो तो फोटो दूसरे ढंगका आवे। बिलकुल पाससे खींचो तो दूसरा और दूरसे खींचो तो दूसरा फोटो नाटा आवे, फोटो लम्बा आवे, फोटो मोटा आवे, फोटो छोटा आवे। यह क्यों होता है? कि यह कैमरेके दृष्टिकोणसे होता है। तो यह जो हम लोगोंको सृष्टि बहुत लम्बी मालूम पड़ती है इसका कारण क्या है? हमारे कैमरेका जो मण्डल है, यह सृष्टिको देखता है, एक अहं मण्डल है और एक इदं मण्डल। तो हम अहं-मण्डलके द्वारा इदं मण्डलका फोटो लेते हैं। वस्तुएँ भी अपनेमें-से रोशनी फेंकते हैं और, दोनों जब टकराती हैं तब विषयका ग्रहण होता है। इसको रिय और अग्रि-अग्रिसोम बोलते हैं। रिय और प्राण बोलते हैं। वेदमें इसका नाम

प्राण और रिय, अग्नि और सोम, अग्नि सोमात्मक जगत् चन्द्र मण्डलसे भी रोशनी निकलती है और अग्नि मण्डलमें-से भी रोशनी निकलती है और यह सृष्टि ग्रहण होती है।

तो अब बताया कि ये जो सात-सात बड़े अद्भुत हैं। हम जब अपनेको परिच्छित्र मैं-यह ख्याली है। नारायण, आपको यह ध्यान रहे कि जीव नामकी वस्तु न कभी थी, न है, न होगी। यह सपनेमें जैसे सेठजी होते हैं और सपनेमें पण्डितजी होते हैं और सपनेमें राजासाहब होते हैं, तो वे जीव नहीं होते हैं, जीवाभास होते हैं। इसी प्रकार यह सृष्टिके भिन्न-भिन्न शरीरमें न कोई जीव कभी था, न है, न होगा। अज यह है।

अज'है माने पैदा हुआ ही नहीं कभी। 'अज' का अर्थ यह होता है न जायते इति—यह कभी पैदा हुआ ही नहीं। तो जब हम ख्याली पुलाव बना लेते हैं कि हम जीव हैं, हम दिलमें अटके हुए हैं, हम नन्हें-मुन्ने हैं। और, नन्हे-मुन्ने हो करके दुनियाकी जब फोटो लेने लगते हैं तब मालूम पड़ता है काल बड़ा लम्बा, देश बड़ा लम्बा, वस्तुएँ बड़ी लम्बी-चौड़ी! और जब हम अपने ख्याली अहं मण्डलको यह जो ख्याली जीव है, बिलकुल ख्याली है, बिना किसी प्रमाणके माना हुआ है, न प्रत्यक्ष है, न अनुमान है, न उपमान है, न शब्द है, न अर्थ है, न अर्थापित है, न अनुपलब्धि है। किसी भी प्रमाणके बिना यह मान लिया गया है कि मैं छोटा परिच्छिन्न हूँ, कर्त्ता भोक्ता संसारी जीव। किसीने भी जीवको देखकर, जीवका अस्तित्व नहीं माना है, बिना देखे माना है।

तो जब ख्याली जीवके द्वारा अपनेको छोटा मानकरके हम सृष्टिको नापते हैं, तब यह बहुत बड़ी लगती है और जब अपनेको ख्याली बड़ा बना दो, यह केवल यह बतानेके लिए कि यह तुम्हारी स्थिति ख्याली है, यह हम दूसरा ख्याल दे रहे हैं, तुम्हारा यह जीवपना ख्याली हो गया। तो एक बार ख्याली ब्रह्मपना लो, अपनेको कहो कि मैं जीव मण्डल नहीं, मैं हन्मंडलमें बैठा जीव नहीं, मैं चिदाकाश हूँ।

भूताकाशसे बड़ा चित्ताकाश, चित्ताकाशसे बड़ा चिदाकाश! मैं चिदाकाश हूँ। उसके बाद संसारका फोटो लो। उसके बाद न तो कोई चीज आवेगी फोटोमें, न कोई समय आयेगा और न स्थान आवेगा। ये सब-के-सब

लुप्त हो जायेंगे।

तो जैसे तुमने अपनेको ख्याली रूपमें बिना सोचे समझे-देखे, बिना विवेकके, बिना विचारके, बिना शास्त्र, प्रामाण्यके, अपनेको जैसे तुमने पिरिच्छित्र, अल्पजीव मान रखा है, वैसे-वैसे शास्त्र प्रमाणको स्वीकार करके एकबार ख्याल करो कि मैं ब्रह्म हूँ, तो यह दुनिया कितनी बड़ी, और इसकी उम्र कितनी बड़ी और इसकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी बड़ी, सब क्षणमात्रमें स्वाहा हो जाये। यह ख्याली जीवपनेको छोड़नेकी जरूरत है, यह बिल्कुल ख्याली है।तो,

गुहाशया निहिताः सप्त सप्त—इसीसे बताते हैं,

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-

ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।

अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते

ह्यन्तरात्मा ॥

2.1.9

इसीसे यह 'समुद्राः' सम्यग् उद्रिच्यन्ते इति—जिसमें खूब ज्वार आवे उसका नाम समुद्र। सं माने सम्यक्, उद्रिच्यन्ते—जिसमें ज्वार आवे उसका नाम समुद्र। खूब तरंगायमान होवे। और, 'मुद्र्या सहितः समुद्रः'—जिसमें दो मुद्रा होवे—कभी शान्त हो जाये और कभी तूफान आजाये उसको समुद्र बोलते हैं। मुद्राभ्यां शान्त विक्षिप्त मुद्राभ्यां सहितः समुद्रः और मुद्रा माने लक्ष्मी जो लोग व्यापार करनेके लिए इसमें जाते हैं, उनको, भज कलदारं, भज कलदारं-पैसा खूब मिलता है। इसलिए भी इसको समुद्र बोलते हैं। पहले भी बड़ा-बड़ा व्यापार था, वेदोंमें उसका वर्णन आया है।

तो इसी परमात्मासे ये समुद्र हुए और गिरयः—ये पहाड़ हिमालय, बिन्ध्य, पारिजात, मलय, सह्याद्रि सब-के-सब हुए और ये जितनी सर्वरूप जो निदयाँ हैं—ये सब जिससे निकलती हैं-गंगा यमुना सरस्वती आदि सर्वरूप निदयाँ।

देखो, हम पौराणिक बात सुना देते हैं आपको। यह तो समुद्रके प्रति बड़ा अपमान-जनक दृष्टिकोण है कि समुद्र खारा ही होता है। अगर समुद्र खारा ही होता है, तो तुमको दूध मुहेंया कहाँसे होता है? तुमको दही कहाँसे मिलती है? तुमको शक्करका रस-शर्बत कहाँसे मिलता है? तो इस जो वातावरणमें जैसे स्थूल क्षार सागर रहता है, वैसे ही वातावरणमें सम्पूर्ण धातुओं के मूलतत्त्व विद्यमान रहते हैं, उन्हीं को बोलते हैं—मधु समुद्र, दिध समुद्र, घृत समुद्र, दुग्ध समुद्र। यह योगाभ्यासियों को ध्यानके समय इनका प्रत्यक्ष होता है। तो ये सब-के-सब सातों समुद्र और सातों पर्वत और सातों मुख्य निदयाँ जिससे प्रकट होती हैं। वह परमात्मा अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च— ओषधियाँ माने यह नहीं समझना कि जौ-गेहूँ तो औषिध है और संखिया, अफीम औषिध नहीं है; ये सब भी औषिध हैं। ओषित दोषान् घते गुणान इति ओषिध:। औषिध किसको कहते हैं? जो दोषको काटे और गुणाधान करे।

तो नारायण, ऐसी कोई जड़ी-बूटी-तृण नहीं है दुनियामें, कोई जो किसी-न-किसी रोगकी दवा न हो और ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो मन्त्र न हो। और, ऐसा कोई आदमी नहीं है जो किसी-न-किसी कामके योग्य न हो।

न मन्त्रमक्षरं किञ्चित् नानौषधि वनस्पतिः। अयोग्यः पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः॥

केवल उसका प्रयोग, किस जड़ी-बूटीको किस रोगमें कैसे लगाना, यह लोगोंको मालूम नहीं है। किस अक्षरको किस काममें कैसे मन्त्र बनाना यह मालूम नहीं है। किस आदमीसे, क्या काम लेना, घरमें कोई आदमी निकम्मा मालूम पड़े, तो उस निकम्मे आदमीका दोष नहीं है, समझना चाहिए कि घरका जो मालिक है, उसको यह शऊर नहीं है कि वह समझ सके कि इस आदमीको किस काममें लगाना चाहिए? वह जिस काममें लगाने लायक हो, उसी काममें उसको लगाओ, घरमें काम तो सब होता है। सफाईका भी घरमें काम होता है और बुद्धिमानीका भी घरमें काम होता है। वह आदमी जिस कामके योग्य हो, उस काममें उसे लगाओ।

तो सारी औषिधयों और सब रसोंके साथ, इन्होंके द्वारा, सम्पूर्ण पंचभूतोंमें आत्मा स्थित है। इसका अर्थ है कि समुद्रादि जो बाह्य वस्तुएँ हैं ये भी परमात्मासे प्रकट हुईं।

तो अब यह बात देखो, एक बार देख लो कि शरीरमें जो प्राणादि हैं ये

परमात्मासे उत्पन्न हुए, यह विराट् सृष्टि परमात्मासे हुई और यह पंचाग्नि विद्या जो है, पंचाहूति जो होती है वह परमात्मासे हुई और यज्ञ, वेद और यजमान—सब परमात्मासे हुए और देवता, साध्य, मनुष्य, अपानादि सातों प्राण सब परमात्मासे हुए और समुद्र-पहाड़ादि परमात्मासे हुए।

इसका मत्लब है कि होनेसे पहले ये नहीं थे, तब परमात्मा बिलकुल अकेला था और जब ये नहीं रहेंगे, तब परमात्मा बिलकुल अकेला रहेगा— एकाकी केवल। 'केवल' शब्दसे 'अकेला' बना है। 'अकेला' संस्कृतके 'केवल' शब्दका अपभ्रंश है। 'व' को उठाकर 'के' के पहले रख दो, तो 'वकेला' हो जायेगा, और 'व' का 'अ' हो गया। यह वर्ण विपर्ययसे संस्कृतका 'केवल' शब्द हिन्दीमें 'अकेला' बना। तो परमात्मा केवल था— अकेला था परमात्मा।

तो यह अकेला था, यह कल्पना जो हम करते हैं, तो कहते हैं कि इस समय जो दिखायी पड़ता है, इसका उसमें बीज था। तो बीजकी कल्पना कबतक करते हैं? कि जबतक हमको यह दिखायी पड़ता है। जब इसका दिखायी पड़ना बंद हो जायेगा, समझो या कट जायेगा, इसका अस्तित्व अनन्तमें जब कट जायेगा, तो बीजत्वकी कल्पना भी छूट जायेगी, उसमें कोई बीज-वीज, कुछ नहीं है भला!

यह 'बीज' शब्द कैसे है ? यह आप समझो कि आपके हृदयमें जो बैठा है उसको आपने कहा—'जीव', तो पेड़-पौधोंमें जो बैठा है उसको क्या बोला ? कि उसको उलट दिया। जड़ताकी प्रधानतासे 'बीज' और चेतनताकी प्रधानतासे 'जीव'। शरीरमें जो जीव होता है, पेड़-पौधेमें वही 'बीज' होता है। यह शब्दोंका निर्माण जो संस्कृत भाषाका है, वह बड़ा विलक्षण है। इसका गुर होता है। अगर इसको आप पकड़ लो, तो सारी व्याख्या यौगिक वृत्तिसे— योग वृत्तिसे, रूढ़ी वृत्तिके बिना, संस्कृत भाषामें केवल योग वृत्तिसे सारी व्याख्या की जा सकती है। उसके लिए निरुक्तका और व्याकरणका ज्ञान होना आवश्यक है।

तो इसका नतीजा अब क्या निकला? यह बताया कि जितनी चीजें हैं सब परमात्मासे हुईं, तो पहले नहीं थीं और सब बादमें नहीं रहेंगी। तो ये बीचमें भी क्या हैं ? तो बोले—पुरुष एवेदं विश्वं—यह जो विश्वके रूपमें मालूम पड़ता है. विविधं स्वयते इति विश्वम्। स्वयते-गच्छति। जो विविध रूपमें दिखायी पड़ रहा है उसका नाम विश्व।

यह क्या है ? बोले—पुरुष एवेदं—अपनी आत्मा ही यह विश्व है। पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥

2.1.10

देखो, पहले यह सिद्ध करना है कि आत्मा और परमात्मा ये दोनों जुदा-जुदा नहीं हैं। ऐसे कर लो कि यह विश्व परमात्मासे जुदा नहीं है, क्योंकि परमात्मासे पैदा हुआ परमात्मामें मौजूद है, परमात्मामें लीन होगा और जब यह नहीं था, तब परमात्मा था, जब नहीं रहेगा तब परमात्मा रहेगा। इसलिए यह विश्व परमात्मासे जुदा नहीं है।

और, आत्मा नहीं है, यह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। अनुभवकी प्रणालीमें 'मैं नहीं हूँ'—यह अनुभव अयथार्थ है। क्योंकि जिसको यह अनुभव होगा कि मैं नहीं हूँ, वह तो है-ही-है। अनुभवकी प्रणालीमें 'मैं नहीं हूँ'—यह अनुभव झूठा है। कभी किसीको यह अनुभव नहीं हो सकता कि मैं नहीं हूँ। तब यह रहेगा कि सम्पूर्ण जगत्का मूल एक परमेश्वर बीज और मैं एक। तो बोले कि नहीं, वह बीजत्वकी कल्पना झूठी है, उपाधिको काट दो तो जो आत्मासो परमात्मा, दोनों एक। तो बोले—परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है।

लो, तो वह क्या-क्या है? विश्वका कितना भेद है? बोले—कर्म तपः जितने कर्म हैं, वे सब परमात्माके रूपमें माने परमात्माके सिवाय यह विश्व कुछ नहीं है और यही बात समझाते हैं कि इसी परमात्मामें जितना भी कर्म है, जितना भी तप है, सो परमात्मा है। अग्रिहोत्रादि जितना कर्म है और तप माने जितना ज्ञान है, सो सब परमात्मा है।

और, परमात्मा कौन है?

ब्रह्म परामृतम्—वह ब्रह्म है और पर अमृत है। इसलिए 'परामृत' कहा। इसी उपनिषद्में कर्मके फलस्वरूप अमृतत्त्वकी प्राप्ति कही गयी है। तपः श्रद्धे हि उपवसन्यऽराण्ये—उसमें अमृतत्त्वर्का प्राप्ति बतायी। तो बोले—िक नहीं, वह जो अमृत था श्रद्धासे मिलनेवाला अमृत, कर्मसे मिलनेवाला अमृत, उपासनासे मिलनेवाला अमृत, योगसे मिलनेवाला अमृत, वह तो अमृत था, और यह क्या है? तो बोले कि यह 'परामृत' है, सब अमृतोंमें जो एक अमृत है, उसको परामृत बोलते हैं। माने जिस अमृतन्त्रकी सत्तासे कर्मका फल, उपासनाका फल, योगका फल अमृत बना हुआ है—

एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।

हे सोम्य! यह चेलेका नाम है—सोम्य!! उसका स्वभाव कैसा होना चाहिए? बोले—सोम सरीख। जैसे चन्द्रमा सबके ऊपर चाँदनी बरसता है। चेला कैसा होना चाहिए? जो सबके ऊपर रस बरसा करे, मुस्कुराकर बोले, स्मित पूर्वाभिभाषीं: और चार आदमी हँस रहे हों और एक महाराज सत्संगीजी आ रहे हैं। अब सत्संगीजी जो आये तो चारों जो खुश होरहे थे, वे सब मनहूस होकर बैठ गये। ओर यह सत्संगी क्या आया, यह तो विपत्ति आगयी। सत्संगी ऐसा होना चाहिए कि दुखियोंके बीचमें जाय तो वे सुखी हो जायें। ऐसा क्या सत्संगी कि चार आदमी हँस रहे हों और उनके बीचमें वह गया, तो सब लोग गम्भीर बनकर बैठ गये।

एक बार हम लोग बैठे हुए थे, तो एक महात्मा आये। हम लोग् उठकर खड़े हो गये, तो बोले—बैठो, बैठो, भूकम्प नहीं है, आदमी आ रहा है डर नहीं लगना चाहिए न, कहनेका अभिप्राय यह है। वह तो वेदमें-उपनिषद्में इस्का वर्णन है कि जब कोई सत्पुरुष आता है तब मनुष्यका जो प्राण है, वह अनजानमें ही उसका स्वागत करता है। सूक्ष्म शरीर अनजानमें ही स्वागत करता है कि भाई, आ रहे हैं, तो उसके साथ यदि शरीर उठ जाता है तो सूक्ष्म शरीरका संतुलन बना रहता है और यदि शरीर उसके साथ न उठे, तो सूक्ष्म शरीरका सन्तुलन खो जाता है। बड़ेका आदर न करनेसे सूक्ष्म शरीरका सन्तुलन खो जाता है। यह बात मनुस्मृतिमें स्पष्ट है—

ऊर्घ्वं प्राणा उत्क्रामित यूनास्थिवर आगते।
प्रत्युत्थानाभिवादभ्यां पुनस्तान् प्रत्युत्पद्यते॥
तो अभिवादन सबका धर्म है, लेकिन महाराज सत्संगी ऐसा होना

चाहिए जो अमृतवर्षी हो **परामृतम्, सोम्य**—चन्द्रमाके समान जो अमृत वर्षी होगा, उसको अमृत मिलेगा। बोले—भाई यह ब्रह्म कहाँ है?

एतद्यो वेद निहितं गुहायां—इस ब्रह्मको गुह्ममें जो निहित रूपसे जानता है। हिर जैसे गुफामें रहता है, हिर कहाँ रहता है? हिर माने सिंह कहाँ रहता है? कि गुहामें, पहाड़की गुफामें।

यह शरीरमें जो गुहा है वह रहनेकी जगह है। गुहा माने गुह्य वह प्रदेश। अच्छा, अब यह गुह्य प्रदेश क्या हुआ? इसको देखो। गुह्य प्रदेशपर आप ध्यान दो तो आपको बिलकुल साफ मालूम पड़ जायेगा। एक चीज ऐसी होती है जो इन्द्रियोंसे मालूम पड़ती है, एक चीज ऐसी होती है जो मनोवृत्तियोंसे मालूम पड़ती है, एक चीज ऐसी होती है जो मनोवृत्तियोंसे मालूम पड़ती है, लेकिन हम! कि हम ऐसे अन्तरतम प्रदेशमें रहते हैं कि न इन्द्रियोंको मालूम पड़े, न मनको मालूम पड़े, न अपने ही दृश्य होंवे।

तो सबसे गुहामें, परमाकाशमें कौन छिपा है ? गुहायां परमे व्योम्नि यह परमात्मा बैठा हुआ है परमाकाशमें।

सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।

जो यह देखता है कि जहाँ हमारा अहं-अहं-अहं फुदक रहा है न, तो अहंका समझो एक घेरा है, देश बनाता है। अहं जो है वह मान बनाता है कि इतनी दूरमें बिन्दु है, अहं एक बिन्दु है और वह बाऱ-बार होता है अहं, अहं, अहं। तो बिन्दु हुए हजार और उसका हुआ एक घेरा, और उसमें हुई एक ध्वनि, वस्तु। तो हजार-हजार अहंकी ध्वनिमें, हजार-हजार अहंके बिन्दुमें और हजार-हजार अहंके घेरेमें जो एक बैठा हुआ है, उसका नाम परमात्मा। उसको पहचान लो तो बोले—अविद्याकी जो गाँठ है, त्रह बिलकुल अपने आप खुल जायेगी।

सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य।

यह अविद्याकी गाँठ पड़ गयी है। अविद्याकी गाँठ माने गाँठ न होना ही अविद्याकी गाँठ है। यह आप बिल्कुल समझ लेना कि यह कोई गाँठ नहीं है।

हम लोग एक बार नावपर आ रहे थे। एक जादूगर मिले, मुजफ्फर नगरके थे। शुक टीला गये थे, वहाँ एक मन्दिर बना हुआ है, शुकदेवजीका, तो गंगाजीपर मिले, तो उन्होंने तौलियेसे अपना हाथ ढँक लिया, और गाँठ लगाना शुरू किया, एक गाँठ, दो गाँठ, तीन गाँठ, चार गाँठ दिखायी पड़े, बोले कि देखो अब हम बिना खोले खोलते हैं और एक बार खींच लिया, सबकी सब खुल ग्यीं। अब उसकी जाँच की गयी, तो असलमें वह गाँठ लगी नहीं थी, हम लोग उनकी चतुराईको समझते नहीं थे, इसलिए वह गाँठ मालूम पड़ती थी।

तो अज्ञानसे जो चीज मालूम पड़ती है, वह असलमें होती नहीं। और ज्ञानसे जो चीज मिट जाती है, वह भी दरअसल होती नहीं। यह नियम मान लो!

यह नियम बना लो कि ठूँठके अज्ञानसे अगर वह भूत मालूम पड़ता है, तो वह भूत है नहीं और ठूँठके ज्ञानसे अगर भूत मिट जाता है तो ? कि तब भी भूत नहीं है। यदि अज्ञानसे कोई चीज मालूम पड़े तो वह झूठी। और ज्ञानसे यदि कोई चीज मिट जाये तो वह भी झूठी।

तो यह जो अविद्याकी गाँठ है, यह न पहचाननेसे तो मालूम पड़ती है और पहचाननेसे रहती नहीं है। इसीसे इस गाँठको खोलनेमें कर्म काम नहीं देता। कोई खोलना चाहे उसको तो और उलझ जायेगी।

श्रुति पुरान बहु कहे उपाई। छूट न अधिक, अधिक अरुझाई॥

इसलिए वह खोलनेसे नहीं खुलेगी। कर्मसे, उपासनासे, योगसे उस ग्रन्थिका भेदन नहीं होगा। वह तो जब अपने स्वरूपको जानोगे, जब जड़ और चेतन दो तत्त्व ही नहीं हैं, चेतन-ही-चेतन तत्त्व है, तो एकमें गाँठ कैसे पड़ेगी? एक अखण्ड, अटूट वस्तुमें ग्रन्थि कैसे? तो अपने स्वरूपको न जाननेसे ही यह गाँठ है और अपने स्वरूपको जाननेसे यह गाँठ मिट जाती है। अब अगला प्रसंग फिर कल सुनावेंगे।

(दूसरे मुण्डकका प्रथम खण्ड समाप्त)



मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन

द्वितीय मुण्डक, द्वितीय खण्ड

प्रवचन : 19, मंत्र 1 से 4 तक

ज्ञानके प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए ओंकारकी ध्यान विधि

यह मुण्डकका द्वितीय खण्ड प्रारम्भ होता है— आवि: सन्निहितं गुहाचरं नाम......

अच्छा तो द्वितीय मुण्डकके प्रथम खण्डके अन्तमें यह बात बतायी—
एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य—'हे सोम्य!
प्यारे जिज्ञासु!' सोम कहनेसे प्यारे हो गया। माने जैसे ब्राह्मणोंको यज्ञमें
सोमपान करनेमें आनन्दका अनुभव होता है, वैसे ब्रह्म ज्ञानियोंको अपने सामने
जिज्ञासुको देखकर आनन्दका अनुभव होता है। क्योंकि अपने लिए
ब्रह्मज्ञानियोंको ब्रह्म ज्ञान दुहरानेकी जरूरत नहीं रहती। वह तो एक बारमें,
पहली चोटमें ही काम पूरा हो जाता है। तो वह जो ब्रह्मज्ञान दोहराते हैं वह
जिज्ञासुओंके लिए दोहराते हैं। तो जब जिज्ञासु सामने आता है तो उनको
लगता है अच्छा आ जाओ आज फिर एक बार दोहरा दें।

तो जिज्ञासु जो है वह सोम्य है। तो यह बात बतायी यह सम्पूर्ण विश्व जिसमें कर्म है, तप है (पुरुष ही है)। कर्म माने आप समझते हैं धर्म और तप माने ज्ञान। ऐसे भी समझो कि कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ—दोनों जिसमें काम, कर रही हैं, ऐसा जो यह विश्व है, यह पुरुष एवेदं, यह पुरुष ही है, परमात्मा ही है। पुरुष सूक्तमें भी तो आपने पढ़ा होगा, पुरुष एवंदं सर्वं यद्भृतं यच्चभव्यं उतामृतत्वेषात्रो यदन्नेनाितरोहित—तो यह पुरुष क्या है? तो बोले—ब्रह्म परामृतं—जो परम अमृत ब्रह्म है, वही पुरुष है। बोले—एतद्यो वंद निहितं गुहायां—इसको जो जानता है अपनी गुहामें निहित माने अपने हृदयमें माने त्वं पदार्थसे अभिन्न जानता है, इसका अभिप्राय यह हुआ। अहमेव—ऐसा जानता है। यह शंकराचार्य भगवान् कहते हैं—तस्मात्सर्वं ब्रह्म परामृतम्—परम अमृतं अहमेव इति यो वंद। यह मैं ही हूँ, ऐसा जो जान लेता है। तो यह कैसे निकला? कि एतद्यो वंद निहितं गुहायां। एतद् ब्रह्म यो गुहायां निहितं वंद। माने त्वं पदार्था—भेदेनवंद जो ऐसा जानता है कि ब्रह्म मैं ही हूँ, वह अविद्या ग्रन्थिको विकीर्ण कर देता है। विकीर्ण करना माने बिखेर दिया।

यह बिखेरना क्या होता है? आप देखो, यदि गाँठ सच्ची होवे, तब तो उसको प्रकाशमें कर्मके द्वारा खोलना पड़ता है। माने कोई गाँठ पड़ी हो, चार, छह, आठ रस्सी मिलकर कोई गाँठ बनी हो तो अन्धेरेमें भी आप उसको खोलें तो नहीं खुलेगी, क्योंकि पता ही नहीं चलेगा कि कैसे पड़ी है और केवल प्रकाश करनेसे भी वह गाँठ खुल नहीं जायगी, खोलना पड़ेगा। तो बिना प्रकाशके केवल कर्मसे, हाथ लगानेसे नहीं खुलेगी और प्रकाश होनेपर भी बिना खोले नहीं खुलेगी। तो वहाँ चाहिए ज्ञान और कर्मका समुच्चय यदि गाँठ सच्ची होवे तो और यदि गाँठ झूठी होवे तो क्या होगा? उसके लिए न तो इन्द्रियोंके लिए बाहरका प्रकाश चाहिए, न कोई कर्म चाहिए, वह तो आत्म ज्ञानसे देखा कि यह गाँठ झूठी है और झूठी होते ही वह खुल गयी, उसको खोलना नहीं है। इसीलिए गोस्वामीजीका है वह—

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदिप मृषा छूटत कठिनई॥

यद्यपि वह मृषा है—झूठी है, लेकिन छोड़नेमें कठिनाई है। क्यों कठिनाई है भाई छोड़नेमें ? बोले—तुम उसको सच्ची समझकर उलझा रहे हो, वह सच्ची नहीं है। तो यह गाँठका स्वरूप क्या है ? तो,

अविद्यैव ग्रन्थि:अविद्या ग्रन्थि:।

अविद्या ही गाँठ है, अविद्यासे पड़ी गाँठ नहीं है, अविद्यैव ग्रन्थि:

अविद्या ग्रन्थि:। नासमझी ही गाँठ है और वह छूटती कैसे हैं? कि एतद्यों वेद— ज्ञानसे छूटती है।

तो कल सुनाया था आपको कि जो चीज अज्ञानसे मालूम पड़ती है, जैसे सीपमें चाँदी, रस्सीमें साँप, ठूँठमें भूत; ये अधिष्ठानके अज्ञानसे मालूम पड़ते हैं। वे दरअसल नहीं होते हैं और ज्ञानसे जो चीज मिट जाती है, वह भी दरअसल नहीं होती है।

तां समझो संसारमें एक तो कर्म, उपासना, योग किये जाते हैं अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए यह धर्म-कर्म करेंगे तो यह मिलेगा, यह उपासना करेंगे तो यह मिलेगा, यह योगाभ्यास करेंगे तो यह सिद्धि मिलेगी। और, एक उपासना, कर्म, योग किये जाते हैं वासनाको मिटानेके लिए। कर्म, उपासना, योग न स्वयं वासना पूरी करते हैं, न स्वयं मिटाते हैं। यह कर्त्ताका, यजमानका जो संकल्प होता है जैसे—अग्निहोत्र करो और कहो कि हमारी वासना मिट जाये तो मिट जायेगी और, कहो कि हमारी वासना पूरी हो जाये तो पूरी हो जायेगी। भगवान्की उपासना करो और कहो हमारी वासना पूरी हो जाये, तो पूरी हो जाये और कहो कि मिटा दो, तो भगवान् मिटा दें।

योगाभ्यास करो कि हमको सिद्धि मिले, तो सिद्धि मिले और कहो कि सिद्धि न मिले तो सिद्धि न मिले।

ये कर्म, उपासना, योग संकल्पके अनुसार फल देनेवाले होते हैं। ये वासना बढ़ा भी सकते हैं और वासना मिटा भी सकते हैं। परन्तु यह जो तत्त्वज्ञान है, यह तो यथावस्थित वस्तुका बोध कराता है; यह न वासना पूरी करे और न वासना मिटावे, यह तो असली चीजको समझा देता है। और, असली चीज समझ लेनेके बाद तो सब एक ही हो जाता है।

तो ज्ञानसे जो चीज मिलती है, वह पहलेसे मिली रहती है और ज्ञानसे जो चीज मिटती है वह पहलेसे मिटी रहती है, रहती नहीं है और अविद्यासे जो चीज मिलती है, वह बिलकुल भ्रम है, मिलनेपर भी नहीं मिली है। और अविद्यासे जो चीज ढँक गयी है, वह असलमें ढँकी नहीं है, वह तो खुली है।

यह विद्या अविद्याका स्वभाव ऐसा है। तो यहाँ तत्त्वज्ञानका सिद्धान्त

भरपूर रूपसे बताया गया कि जो जान लेगा कि यह हमारे हृदयमें जो आत्मा है यही साक्षात् परब्रह्म है, उसकी अविद्याकी गाँठ अपने आप विकीर्ण हो जायेगी। यह पहली चोट है।

बोले-अब यह सुनते तो बहुत लोग हैं, लेकिन ग्रहण तो नहीं होता है। तो क्यों नहीं ग्रहण होता है? इतनी शक्ति, इतनी बढ़िया चीज कि यह अज्ञानको मिटा दे, दु:खको मिटा दे, जन्म-मरणको मिटा दे, आने-जानेको मिटा दे, (क्यों ग्रहण नहीं होता है ?) यह ज्ञान हो जाये, तो पुनर्जन्म नहीं होगा, नरक-स्वर्ग नहीं मिलेगा, और इस जीवनमें दु:खी नहीं होंगे और यह जो बेवकूफीके कारण यहाँ सटे, वहाँ सटे होता रहता है, यह फँसावट मिट जायेगी। तो इसमें प्रतिबन्ध क्या है ? आप देखो, प्रतिबन्ध इसमें यह है कि अनजानमें ही हम लोगोंने कई संस्कार अपने हृदयमें बैठा लिए हैं। उनको छोड़ नहीं सकते। देखो वैष्णव कहते हैं कि चार हाथवाले नारायण ही ब्रह्म हैं सांवरे। तो शैव कहते हैं कि नहीं, हाथ चारमें तो कोई शंका नहीं है, लेकिन वे गोरे हैं-शिव । और, महाराज शैव, वैष्णवकी वह लड़ाई हुई। आर्य समाजी कहते हैं कि आगमें घीकी आहूति डालो, होमसे ईश्वर प्रसन्न होगा। मुसलमानोंने कहा—भला आगमें घी डालनेसे क्या होगा ? नमांसि । नमाज पढ़ो तब ईश्वर मिलेगा। तो आपसमें लड़ते हैं। सभी अपने-अपने संस्कारके पराधीन होकरके। मनुष्य कहता है जो मैं कहता हूँ, सो ठीक, जौ मैं मानता हूँ, सो ठीक है, जो तुम कहते हो, सो गलत, जो तुम मानते हो सो गलत।

यह संस्कारकी पराधीनता जो मनुष्यके हृदयमें आगयी है, इसको मिटाना पड़ता है। तो इसको मिटानेके लिए क्या करना पड़ता है कि परमात्माका ध्यान करना पड़ता है। ध्यान ज्ञानका साधन नहीं है। ध्यान प्रतिबन्धकी निवृत्तिका साधन है। जो हमारे दिलमें संस्कार बैठ गये हैं, उनको यह हटावे। बेटेका ध्यान, बेटीका ध्यान, शरीरका ध्यान, धनका ध्यान, रिश्तेदार-नातेदारका ध्यान—

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणित्रिमिषच्च यदेतजानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्विरिष्ठं प्रजानाम्॥

2.2.1

आओं अपने हृदयमें पहले परमात्माका ध्यान करो। तो बोलते हैं— आवि:। आवि माने बिलकुल प्रकट है, आविर्भूत है। ऐसा मत सोचो कि परमात्मा हमसे दूर है। वैकुण्ठमें रहता है यह बात अपने दिलमें से निकालो, उस संस्कारको हटाओ, यह देखो तुम्हारे हृदयमें है।

सधाम हृदयम् — भगवान्का धाम अपना हृदय है। एक बात।

योले—वहाँ चलकर जाना पड़ेगा—यह मत सोचो, सिर्फ देखनेभरकी देरी है। और, यह मत समझना, साहब अभी बाथरूममें हैं, नहीं मिलेगा। यह नहीं, वह तुरन्त मिलनेको राजी है। तो अपने हृदयमें ही है दूसरी जगह नहीं और वहाँ चलकर जाना नहीं है, सिर्फ देखनेकी जरूरत है और इन्तजार करनेकी जरूरत नहीं है—आवि:। आवि माने प्रकट है। यह ज्ञान नहीं है; यह ध्यान है। आवि: ' शब्द का अर्थ है—स्वयं प्रकाश।

माने प्रश्न यह हुआ कि जब अक्षरमें कोई रूप नहीं है तो उसको हम कैसे जानें? बोले—देखो, तुम्हारे हृदयमें एक रोशनी है। रोशनी बल्बकी रोशनी सरीखी नहीं, सूर्य-चन्द्रमाकी रोशनी सरीखी नहीं; एक ज्ञानका केन्द्र है जिसमें-से आँखमें देखनेकी शक्ति आती है। कानमें सुननेकी शक्ति आती है। अगर वह केवल बल्बकी रोशनी सरीखी रोशनी होय, तो आँखमें तो देखनेकी रोशनी आ जाये, परन्तु कानमें सुननेकी न आवें।

ऐसी बिजलीका केन्द्र है, ऐसा पावर हाऊस है तुम्हारे हृदयमें, जहाँसे बिजलीकी लाईनें निकलती हैं। तो जब वह कानमें आती है तो आवाज सुनती है, आँखमें आती है तो रूप देखती है, नाकमें आती है, तो गन्ध सूँघती है, जीभमें आती है तो स्वाद लेती है। हृदयमें ही है उसका केन्द्र। और, वह बिलकुल प्रकट है।

संनिहितं। कहाँ है ? बोले—बिलकुल पास है। संनिहित माने बिलकुल पास होता है—संनिधि। संनिधान। देखो वह जीभके पीछे रहकर जीभसे बोल रहा है। वागादि जो उपाधि हैं, जीभमें आवाज कहाँसे आती है ? कौन बोलता है। वही आँखके पीछे रहकर आँखमें-से देखता है। वही कानके पीछे रहकर सुनता है, वही नाकके पीछे रहके सूँघता है, वही हाथके पीछे रहकर हिलाता है। वही पाँवके पीछे रहके चलाता है।

द्रष्टा श्रोता मन्ता ध्याता संनिहितं वागादि उपाधिभिः।

यह जो वाणी आदि उपाधि हैं इनसे बिलकुल संनिहित है। इसका क्या मतलब है? कि शब्दादीन् उपलभमानवद् अवभासते। ऐसा समझो कि किसीका शरीर लम्बा और किसीका गोलमटोल, किसीका दुबला-पतला, किसीका खूबमोटा; और इसी शरीरमें बैठ करके ईश्वर हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे बाहरके विषयोंको ग्रहण करता है और पाँचों कर्मेन्द्रियोंसे काम करता है और मनसे संकल्प करता है और बुद्धिसे विचार करता है- संनिहितं। गुहाचरं नाम।

बोलना, हाथ-पाँव, ये सब इन्द्रियाँ कहाँ जाकर सोती हैं? बोले— अपने उसी पतिके पास जाकर सो जाती हैं, वही इनका पद है अपने घरमें। क्यों? बोले—अत्र एतत् सर्वं समर्पिते—उसीमें यह सम्पूर्ण विश्व समर्पित है।

अच्छा देखो, एक आदमीने खूब भजन किया और भगवान् आये उसको दर्शन देनेके लिए। अब भगवान् तो आये, परन्तु उसको मालूम ही नहीं पड़ा। तो देखो जब मालूम पड़ेंगे, तब न भगवान् होंगे। भगवान् न मालूम पड़ें तो भगवान् कैसे? तो जिसको मालूम पड़ते हैं, वह परमात्माका स्वरूप है। समझो, निराकार ईश्वरका ध्यान लगाओ। ध्यानमें एक ईश्वर आया; कैसा? कि अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, निराकार। तो जो ध्यानमें आया, सो ईश्वर नहीं है, जो ध्यान लगा सो ईश्वर नहीं है। उस ध्यानकी वृत्तिको और ध्यानवृत्तिमें आये हुए ईश्वरको जो प्रकाशित कर रहा है, वह ईश्वर है। वह कौन है? कि वह 'मैं' है। छोटा मैं नहीं, बड़ा मैं। तो—अत्र एतत् समर्पितं—इसीके आधारपर यह सारी सृष्टि है।

समझो प्रलय हुआ—यह कौन जानता है? सृष्टि हुई—यह कौन जानता है? यह विश्व बना, यह कौन जानता है? ईश्वर दर्शन देता है, यह कौन जानता है? ईश्वरका ध्यान होता है—यह कौन जानता है? तो, जो जाननेवाला है न, वह सबसे बड़ा है। उसीमें यह सारी-की-सारी सृष्टि समर्पित है। इसीलिए बोलते हैं—एजत् प्राणत् निमिषच्च। चिड़िया उड़ रही है न, वह किसमें? कि इसीमें। चिड़िया आसमानमें नहीं उड़ रही है। चिड़िया जिसमें उड़ रही है, वह। प्राणत्—ये प्राण-अपान जिसमें चल रहे हैं सो। मनुष्य, पशु, पश्नी आदि। और, निमिषच्च। और जो पलक झँप रही है जिसकी भी-सो जिसमें है। और, यच्च अनेजद् अप्राणत् अनिमिषत्। जो नहीं चलता है, जिसमें प्राण-अपान नहीं है, जिसमें निमेप भी नहीं हिलता है, वह समस्तमेतत् अत्रैव ब्रह्मणि समर्पितं। यही जो तुम्हारे हृदयमें परमात्मा है, आत्मा जिसका नाम है, उसमें यह सब समर्पित है।

तो यह सब जिसके आधारपर है और प्रकाशित है, हे शिष्य! यदास्पदं सर्वं तं जानथ। जिसके आधारपर सब है—बिना आत्माके कोई चीज मालूम पड़ ही नहीं सकती—उसको जानो यह तुम्हारा स्वरूप है।

सदसत्त्वरूपम्—जितना स्थूल-सूक्ष्म, मूर्त-अमूर्त है सब उसीका स्वरूप है। क्यों? कि तुम नहीं होओगे तो दुनिया मालूम ही नहीं पड़ेगी। जिसको मालूम पड़ती है दुनिया, जिसमें ज्ञानकी प्रधानता है, वही वरेण्यं—वरेण्य है। वरेण्य है माने जीवनमें चाहने योग्य वही है। उसीकी चाहना करों कि वह हमको मिले और प्रजाको जितना भी विज्ञान होता है, इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ मालूम पड़ता है, उससे वह न्यारा है। जो इन्द्रियोंको मालूम पड़ता है सो नहीं। वह तो वासना पूरी करते हैं बाहरसे। तो वासना दो तरहसे पूरी करते हैं। कैसे वासना पूरी करते हैं? एक तो इन्द्रियोंसे विषयोंका भोग करके संसारी लोग वासना पूरी करते हैं और साधक लोग मनसे विषयोंकी कल्पना करके मन-ही-मन वासना पूरी करते हैं।

लेकिन श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे सात चीज तुम छोड़ दो। क्या? कि गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, सुख और दुःख। इन सातोंको छोड़कर जो तुम हो, यह देखो इन्द्रिय और अन्तःकरणको तुमने छोड़ दिया और यह खोल तो पट्टा कुछ है ही नहीं। यह चामका जो ओढ़ना है, यह तो ऐसा ही है जैसे कोई बकरीका खाल ओढ़ ले, कोई शेरका खाल ओढ़ ले। तिब्बतमें जाते हैं तो वहाँ एक पशु होता है, उसके खालकी कोट बनवा करके पहनते हैं। तो यह चामका तो कोट पहना हुआ है। हड्डी मांस चाम जो है, यह तो कुछ नहीं। इन्द्रिय छूटे तो शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँचों विषय छूट गया और सुख-दुःख छूट गये तो मन, बुद्धि छूट गये

और इनका जो साक्षी है, उसको सीमित करनेवाला न देश है, न

यह त्वं पदार्थकी प्रधानतासे वर्णन है। यह प्रजानाम् माने इन्द्रियोंका जो विज्ञान है। प्रजा माने इन्द्रिय; प्रजा माने पशु-पक्षी-मनुष्य नहीं, प्रजा माने प्रजायन्ते इति प्रजा: इन्द्रियाणि। प्रजानाम इन्द्रियाणां विज्ञानात् पदं। व्यतिरिक्तं पदं। इन्द्रियोंका जो विज्ञान है, इन्द्रियोंकी प्रयोगशाला है यह और मनकी जो प्रयोगशाला है वह सुख बनाया, वह दु:ख बनाया। (उससे व्यतिरिक्त है आत्मा)। देखो संसारका सम्बन्ध। एक आदमीसे कोई जान-पहचान नहीं थी, तो वह बीमार पड़ा, तो कोई दु:ख नहीं हुआ। अब उससे जान-पहचान हो गयी, दोस्ती हो गयी और बीमार पड़ा तो? दु:ख हो गया।

अब यह दु:ख कहाँसे आया? इन्द्रिय विज्ञानमें-से आया यह दु:ख। बिलकुल ऐन्द्रियक विज्ञानमें-से दु:ख आया। हम बैठते थे जाकर मणिकर्णिका घाटमें काशीमें, तो वहाँ यह मशहूर है कि हर समय मुर्दे जलते ही रहते हैं। मणिकर्णिका घाट कभी खाली नहीं रहता, वहाँ तो स्वाहा, शरीरं जुहोमि स्वाहा; अग्नेनये सुपथा रायेकी ध्वनि वहाँ ज्यादा सुनायी पड़ती है। हे अग्नि देवता! यह जो मृतात्मा है इसको अच्छे रास्तेसे ले जाना।

एक बात और है कि अपन रोटी बनानेमें बहुत आलसी थे। एक बार दिनमें बना लिया तो बना लिया, अपने हाथसे बनाकर खाते थे, तो कचौरी गलीसे भी ज्यादा काम पड़ता था। कचौरीगली होकर ही मुर्दा जाता है मणिकर्णिका घाट। कितने ही जाते, कोई दु:ख थोड़े ही होता; लेकिन जब जान-पहचानका कोई निकलता, तब तकलीफ होती।

तो यह जो हमारे प्रजाका विज्ञान है न, इन्द्रिय और मनका विज्ञान ही दु:खदायी है और इनको छोड़कर जो विरष्ठतम है, यह्नौिकक-विज्ञानागोचरं— जो लौिकक विज्ञानसे अगोचर है और, यद्विरिष्ठं वरतमं सर्वपदार्थेषु— जो संसारमें सब पदार्थोंसे श्रेष्ठ है, अपना परम प्रियतम—अपना आत्मा है। गोदका बच्चा नहीं था पहले, कोई दु:ख नहीं था, गोद ले लिया तो दु:ख हो गया।

ब्याह न हुआ हो और लड़की-लड़कामें-से कोई मर जाता है, तो घरके

लोग कैसे बोलते हैं, आपने सुना है ? बोले—भगवान्ने बड़ी कृपा की कि ब्याह होनेके पहले ही मर गया, अगर ब्याह होनेके बाद मर जाता तो कितना दुःख होता ?

वही आदमी है, जिसके ब्याह होनेके पहले मर जाये तो लोग भगवान्की कृपा मानते हैं और वही ब्याह होनेके बाद मरे तो ? बड़ा भारी दु:ख मानते हैं।

यह क्या है ? यह आप समझते हैं कि यह कोई बड़ी बुद्धिमानीका काम है कि हम बड़े अच्छे हैं, बड़े अच्छे हैं, बड़े बुद्धिमान हैं ? अरे भाई चार दिन पहले वह मरता तो तुमको दु:ख न होता और चार दिन बाद वह मरा तो तुमको दु:ख हुआ; तो क्या यह ईश्वरका दिया हुआ दु:ख है ? यह ईश्वरका दिया हुआ दु:ख नहीं है, तुम्हारे सम्बन्धका दिया हुआ दु:ख है और सम्बन्ध तो तुम्हारा बिलकुल मानस है। इसी दु:खको महात्मा लोग छुड़ाते हैं।

तो सबसे अधिक वरतमं। वरतम माने..... एक वर होता है, एक वरतर होता है, और एक वरतम होता है। यह 'वरिष्ठ' जो है, 'वर' माने पित। वरतर माने ये भगवान्के जो साकार रूप हैं—

> ऐसे वरको के वरूँ जो जन्मे औ मर जाये। वर विरए गोपाल जू म्हारो चुड़लो अमर हो जाये।

और वरतम कौन है? वरतम वह है जो दोनोंको देखता है,दोनोंको जानता है, दोनोंसे रिश्ता जोड़ता है, अपना आपा ही 'वरिष्ठ' है। वरिष्ठ है माने सबसे श्रेष्ठ वरणीय है। तो यह जो परब्रह्म परमात्मा है वह एक है और सबसे परे है और सर्व दु:खोंसे रहित है। तो तद् वरेण्यं परम् विज्ञानाद् यद् वरिष्ठं प्रजानाम। प्रजानां विज्ञानात् परं वरिष्ठं यत् और सन्त लोग इसीका वरण करते हैं। यदेतत् जानथ—इसको जानो कि यह कौन है!

तो यह त्वं पदार्थकी प्रधानतासे जो ब्रह्मका अनुसन्धान परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग है।

अब देखो तत्पदार्थकी प्रधानतासे ईश्वरके अनुसन्धानका मार्ग बताते हैं। ये उपाय हैं सब। पहली चोट तो वही है। एक चोटमें जिसको ब्रह्म ज्ञान न होये, उसके लिए ऐसा अनुसन्धान करना चाहिए कि जो सम्पूर्ण विषयोंका, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका, सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंका द्रष्टा है, जो देश कल्पना, काल कल्पना, वस्तु-कल्पनाका साक्षी है, यह साक्षात् ब्रह्म है, ऐसा अनुसन्धान उसको बार-बार करना चाहिए, क्योंकि यही अस्ति-भाति प्रिय रूप है। यह अविनाशी है, यह चैतन्य है और परमानन्द स्वरूप है अपना आत्मा।

अब तत्पदार्थकी प्रधानतासे परमात्माके ध्यानका वर्णन करते हैं।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँ-लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥

2.2.2

सोम्य—'प्यारे!' हम महात्मा लोगं कैसा बढ़िया बोलते हैं—'जनता जनार्दनके रूपमें उपस्थित मेरी प्यारी आत्माओ' सोम्य—जैसे तुम तो हमारे लिए उतने प्यारे हो, जैसे आसमानमें पूर्णिमाका चन्द्रमा खिला हो, ऐसे-सोम्य।

यह देखो चन्द्रमासं जो प्यार होता है उसमें एक विलक्षणता होती है। वह आपके ध्यानमें शायद नहीं होगी। होये तो बहुत अच्छा और न होये तो मैं याद दिला देता हूँ। जैसे आप बाजारमें देखें न िक कोई कपड़ा बहुत बिढ़या है तो मन होगा िक इसको खरीद लें, इसको अपने घरमें ले चलें। और कोई लड़का देखें तो मनमें होगा िक अपनी लड़कीका ब्याह कर दें और लड़की देखें तो अपने लड़केसे इसका ब्याह कर दें, ऐसा ख्याल होगा। नहीं तो खुद ही ब्याह कर लें अगर कोई लड़की-लड़का हो तो। तो यह मनमें आ जायेगा दुनियामें जब कोई चीज दिखती है, तो उससे ममता करनेका मन होता है और यह आकाशमें जो चन्द्रमा दिखता है, चाँदनी बरसाता हुआ, इससे जो प्रेम होता है वह निर्मम प्रेम होता है। प्रेम भी है पर निर्मम है। निर्मम प्रेम क्या है? किसीका मन नहीं होता िक हम चन्द्रमासे अपनी लड़कीका ब्याहकर दें, िक लड़केका ब्याह कर दें, िक उसको अपने घरमें ले आकर अपने कमरेकी शोभा बढ़ावें। चन्द्रमाको लेनेका मन नहीं होता। तो चन्द्रमासे प्यार होता है, उससे मजा भी मिलता है और प्यार भी होता है, परन्तु ममता नहीं होती।

तो ये ज्ञानी लोग अपने जिज्ञासुको कहते हैं कि ओ मेरे प्यारे चाँद! तो उसका मतलव होता है कि हो तो तुम चाँद, लेकिन मैं तुम्हें अपना बनाकर घरमें रखना चाहता हूँ—सो नहीं, तुम स्वच्छन्द ही रहना बाबा आकाशमें ही विचरना मेरे प्यारे!

यदर्चिमुद् यद् अण्भ्योऽण् च यस्मिँ होका निहिता लोकिनश्च।

दुनियादार लोगोंमें सबसे बड़ा दोष यही है कि वे जिस चीजको पसन्द करते हैं, उसको या तो तालेमें बंद करके रखना चाहते हैं और या तो दाँतसे चवा जाना चाहते हैं या तो भोग करके उसका सत्यानाश करना चाहते हैं कि इसका जीवन नष्ट होवे कि इसका धर्म नष्ट होवे, यह चौपटानन्द हो जाये। ये संसारी लोग प्रेम करते हैं तो जिससे प्रेम करते हैं उसको चौपटानन्द बनाते हैं और महात्मा लोग जिससे प्रेम करते हैं, उसको आसमानका चाँद बना देते हैं। इसीसे बोलते हैं—सोम्य! यदिर्चिषद् यदणुभ्योऽणु च—जो अर्चिर मत है। माने जो सारी सृष्टिको प्रकाशित कर रहा है, जो अणुओंसे भी अणु है और महान्से भी महान् है। यह 'च' का अर्थ कोई यह न समझ ले कि नन्हा-सा होगा। इसलिए 'च' का अर्थ है जो बड़ोंसे भी बड़ा है। क्यों? कि, यस्मिँ होका निहिता लौकिनश्च—जिसमें लोक और लोकि-ये दोनों जिसमें उलझे हुए हैं, फँसे हुए हैं।

परमात्मा कौन-सा? कि एक तो प्रकाशमान है। चन्द्रमा, सूर्य,-तारे, ग्रह, नक्षत्र, अनन्तकोटि प्राणी, सबको प्रकाश दे रहा है और वह सूक्ष्म-से भी-सूक्ष्म है और महान्से भी महान् है। लोक माने जैसे स्वर्गलोक और लोकि माने इन्द्र, लोकका जो मालिक है सो लोकि हुआ। जैसे धन और धनी, क्षेत्र और क्षेत्री—क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृतस्तं प्रकाशयित भारत। लोक और लोकी।

लोक-लोकी क्या है? यह जैसे बचपनमें हमलोग खेलते थे, तो एक गेंद उछाल दिया, तो सामनेवालेने लोक (कैच कर) लिया उसको। ऊपर ही रख लिया उसको नीचे नहीं गिरने दिया, लोक लिया। तो यह मनुष्य जब धर्म, कर्म करता है, तो उस धर्म-कर्मकी शक्तिसे वह ऊपरको उछलता है। तो ऊपरवाले जो देवता होते हैं, वे लोक लेते हैं कि आजाओ थोड़ी देरके लिए, लेकिन फिर वे पटकते हैं धरतीपर—लोका लोकिनश्च। यह लोक माने स्वर्गादि लोक। तो उसमें कोई भी नाम रखो, नामसे मतलब नहीं है। कर्मके फलसे स्वर्ग मिलता है और कर्म और उपासनासे ब्रह्मलोक मिलता है और कर्म और ज्ञानसे ब्रह्मलोक मिलता है जहाँसे मुक्ति होती है। गोलोक, साकेतलोक, वैकुण्ठलोक, कैलाशलोक—ये जो लोक हैं न, ये कैसे मिलते हैं? उपासना और ज्ञानके समुच्चयसे और ब्रह्मलोक कैसे मिलता है? कि कर्म और ज्ञानके समुच्चयसे और ये स्वर्गलोक धर्म-कर्मके फलस्वरूप मिलते हैं।

तो ये जितने लोक हैं और लोकी हैं वे किसमें हैं? कि, यस्मिन् निहिताः जैसे आकाशमें ग्रह, नक्षत्र, तारे घूमते फिरते हैं वैसे जिस परब्रह्म परमात्मामें; जैसे आजकल राकेट उड़ाते हैं, तो वह पृथिवीकी परिक्रमा करता है, तो वह कहाँ है? कि वह अन्तरिक्षमें निहित है। अन्तरिक्षमें डाल दिया गया और वह पृथिवीके वातावरणसे ऊपर होकर घूम रहा है। इसी प्रकार जिस परब्रह्म परमात्मामें इन्द्र, ब्रह्मादि लोकी और उनके लोक जिसमें ग्रह-नक्षत्र तारेकी तरह घूम रहे हैं—तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणः तद् वाडमनः। यह अक्षर ब्रह्म जो है, वही है। तदेतदक्षरं ब्रह्म स्योंकि वह सबका आश्रय है। वही प्राण है, वही वाणी है, वही मन हे, वही सब करण है, वही चैतन्य है। शरीरमें रहकर चैतन्य भी वही है। तो वह जो ईश्वर है, वह सबमें भरपूर हो रहा है, वही सत्य है। वही अमृत है। ऐ सोम्य! उसीपर निशाना लगाओ।

तद्वेद्धं—जैसे तीर मारते हैं तो तीर लक्ष्यपर जाकर लगता है। आपने सुना होगा कि द्रोणाचार्यने कौरव-पांडव, सब कट्ठे किये और बोले कि लक्ष्य वेध करो। तो एक चिड़िया रख दी बनावटी, पेड़पर। तो दुर्योधनसे पूछा— तुमको क्या दिखता है? लक्ष्य दिखता है? कि हाँ दिखता है। कि और कुछ दिखता है? कि हाँ महाराज, यह पेड़ है, यह डाली है और उसपर वह आपकी बनावटी चिड़िया रक्खी है। तो द्रोणने कहा कि रहने दो। अभी तुम ठीक देखना, तुम तो राजा हो, तुमको क्या।

कर्णसे बोले—तुमको क्या दिखता है ? बोले—महाराज! हमको पेड़ नहीं दिखता है, चिड़िया दिखती है। बोले—अच्छा! तुम भी रहने दो। अर्जुन तुमको क्या दिखता है ? बोले—न पेड़, न चिड़िया महाराज, वह चिड़ियाकी आँख दिखती है जिसपर बाण मारना है। बोले—तुम्हारा निशाना ठीक।

इसको बोलते हैं—लक्ष्यवेध। तो जबतक स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर दिखते हैं, तबतक लक्ष्यपर निशाना नहीं लगा। निशाना तब लगता है (जब लक्ष्यसे अलग पर दृष्टि न हो)। देखो न, हम वृत्तिसे दीखते हैं कि हम वृत्तिको देखते हैं ? इस सवालको हल कर लो।

अच्छा, यह देखो, हम बोलते हैं न, कि शीशेमें हम दीख रहे हैं। ऐसा बोलते हैं कि नहीं? बोले—शीशेमें तुम दीख रहे हो कि शीशेको और शीशेमें शरीरकी तस्वीरको तुम देख रहे हो? तुम शीशेमें दीख रहे हो कि तुम शीशेको देख रहे हो? शीशेको देख रहे हो भाई! तो यह वृत्ति शीशा है और इसमें अपनी परछाईं दिखती है। तुम वृत्तिमें दीख नहीं रहे हो, तुम अपनी परछाईं सहित वृत्तिको देख रहे हो।

हे नारायण! ऐसा मत समझो कि हम वृत्तिके द्वारा देखे जा रहे हैं। वृत्तिके द्वारा तुम नहीं देखे जा रहे हो, तुम वृत्तिको देख रहे हो और अपनी परछाईं सहित-आभास सहित वृत्तिको देखनेवाले तुम साक्षी हो और यह देश-काल-वस्तु आभास सहित वृत्तिसे दीखते हैं और आभास सहित वृत्तिको देखनेवाले तुम साक्षी हो। तुम वृत्तिसे नहीं देखे जाते। अरे वृत्तिको तो वह डंडा मारो कि चूर-चूर हो जाये।

स प्राणस्तदु वाङ्यनः तदेतत्सत्यं तदमृतं।

यही अबाध्य सत्य है। यह आनन्द स्वरूप अमृत रस है, इसीपर निशाना लगाओ।

तो तत्पदार्थकी प्रधानतासे परमात्माका चिन्तन करना, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके अधिष्ठान रूपसे प्रकाशमान, सूक्ष्मसे सूक्ष्म, अक्षर ब्रह्म और वही अपने शरीरमें, प्राणमें, वही वाणीमें, वही मनमें, वही अविनाशी अबाध्य अमृतसत्य इसपर निशाना लगाओ।

तो पहले मन्त्रमें यह उपाय बताया, साधन बताया, त्वं पदार्थके रूपमें परमात्माका चिन्तन करो। दूसरे मन्त्रमें बताया तत्पदार्थके रूपमें परमात्माका चिन्तन करो।

अब इसको जरा और बढ़ाते हैं। योग बताते हैं— धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्यापासानिशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

2.2.3

'सोम्य' का एक अभिप्राय यह है कि जरा मन लगाओ। कैसे? कि सोम माने होता है चन्द्रमा और चन्द्रमा मनका अधिष्ठातृ देवता है। हाथका देवता इन्द्र, आँखका देवता सूर्य और मनका देवता कौन? कि चन्द्रमा।

तो जब सोम्य कहते हैं, तो कहते हैं हे मनस्वी, तुम्हारा मन तुम्हारे हाथमें है। अरे इधर-उधर मत फेंको, यह दुनिया मरनेवाली है। इतना बढ़िया अमृत तुमको मिला है इसके हजार टुकड़े क्यों करते हो? थोड़ा वहाँ फेंका, थोड़ा वहाँ फेंका। यह भगवान्की नियामत जैसे आसमानमें चन्द्रमा चमकता है, वैसे तुम्हारे हृदयमें यह मनीरामका प्रकाश होता है, यह मनश्चन्द्र चमकते हैं तुम्हारे हृदयमें। जरा वहाँ ले चलो अपने मनको।

कथं वेद्धव्यं? निशाना कैसे लगाना? कि औपनिषदं धनुः गृहीत्वा— पहले धनुष ले लो। बिना धनुषके कैसे निशाना लगेगा? फिर क्या चाहिए? कि एक बाण चाहिए तो वोले—यह क्या है धनुप और क्या है बाण? अरे आप गौरसे देखोगे तब मालूम पड़ जायेगा। जरा ओंकारपर दृष्टि डालो तो औपनिषदं ओंकारं धनुर्गृहीत्वा-उपनिपद्में परमात्माका ध्यान करनेके लिए जिसका वर्णन है—ॐ इति आत्मानं युज्जीत। औपनिषद् माने उपनिषत्सु प्रसिद्धं—उपनिषद्में प्रसिद्ध एतदालम्बनं श्रेष्ठं। एतदालम्बनं परम्। जरा ओंकारको चढ़ाओं न!

यह देखो ओंकार तीन हैं आपके शरीरमें। यह आँख, नाक, दोनों आँखकी भोंहें ये नीचेको है और यहाँसे ब्रह्मरन्ध्रकी ओर जाता है उसका पूँछ। देखो 'ॐ 'में तीन चीज है—अकारका पहला आधा; उकारकी मात्रा जैसे 'कु' लिखना हो तो 'क 'के नीचे मात्रा लगाते हैं (,) सो; और 'म 'की जो बिन्दी होती है—सो; तीन अकार, उकार, मकार। तो पहले जो तीन लाईनें हैं वे अकारकी हैं, और जो पूँछ लगती है, वह उकारकी मात्रा है और मकारकी बिन्दी है, यह ॐ लिखनेका ढंग है। इसका शास्त्रमें वर्णन आता

है कि कौन अक्षर कैसे लिखना चाहिए जैसे—अकार लिखनेमें पाँच कोने होने चाहिए। इनका ध्यान होता है, क्योंकि ये सब-के-सब मन्त्र हैं।

जब 'ॐ नम: 'करके ध्यान करते हैं तो पंचकोण अकारका ध्यान करते हैं। और उसमें-से आधा हिस्सा, उसका तीन कोण अलग निकाल लिया। तो अकारका तीन कोण धनुष है और वह जो 'उ'की मात्रा उसमें लगाते हैं, वह बाण है और वह अर्धमात्राका बिन्दु तीरका नुकीला भाग है, वह गाँसी है, शल्य हैं। जैसे लोहेका लगता है—गाँसी।

तो उपनिषद्में प्रतिपादित जो ॐकार है, वह है धनुष और महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत। कहीं 'सन्धयीत' पाठ है और कहीं 'सन्धधीत' है। तो बाण क्या है ? महास्त्र। बड़ा भारी अस्त्र है।

आप अस्त्र और शस्त्रका भेद जानते होंगे। शस्त्र उसको कहते हैं, जैसे तलवार, भाला, संगीन, कटार—ये शस्त्र हैं ये अपने हाथमें रहते हैं और शत्रुको मारते हैं और, अस्त्र उनको कहते हैं जिनसे मारते समय उसको फेंक दिया जाता है—

असु क्षेपे अस्यते इति अस्त्रम्।

तो असलमें यह 'ओंकार' आत्माके साथ लगा थोड़े ही रहता है। यह अस्त्र है। तो अस्त्र क्या? कि बोले—यह अस्त्र भला परमात्मामें कैसे मारें, इसका लक्ष्यवेध करके कैसे मारें? बोले—उपासानिशितं—अस्त्रको जैसे पहले खूब तीखा करके तब बाणको फेंकते हैं वैसे यह जीवरूप जो बाण है उसको ॐकार रूप धनुषपर चढ़ा करके अकार-उकार-मकार—विश्व-तैजस्-प्राज्ञ, ये भेद जो हैं वह धनुषपर बिलकुल चढ़ा करके, और धनुष तो रह जाय अपने हाथमें और उसमें जो आत्माका शुद्ध स्वरूप है, तुरीय; उसको परब्रह्म परमात्मामें डालो।

कि वह कब डाल सकेंगे? कि उपासानिशितं—जब उपासनासे उसको तेज कर लेंगे।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा—बोले उसको आयम्य—आकृष्य, पहले र्खीचना पड़ता है धनुषको। धनुषसे बाण फेंकना होता है तो उसको खींचना पड़ता है। बोले—यहाँ कैसे क्या खींचेंगे? बोले—यह जो इन्द्रिय सिहत अन्त:करण है, यह विषयोंमें जाकर फँस गया है। तो विषयोंकी ओरसे अपनी इन्द्रियों और अन्त:करणको जो खींचना है, यही उसका आयमन करना है वही उसको काबूमें लेना है—नमाना है। तद्भावगतेन चेतसा—परब्रह्म परमात्मा कैसा होता है? नित्य-शुद्ध-वुद्ध-मुक्त; उसमें अपना चित्त लगाकर वह जो अक्षर रूप लक्ष्य है उसका बेधन करो—विद्धि।

विद्धि माने ज्ञान। संस्कृत भाषा है विद्धि माने 'जानीहि' भी होता है। आत्मानं विद्धि—माने अपने आपको जानो और लक्ष्यं विद्धि वेद्ध्य। लक्ष्य वेधन करो।

अब इसका और खुलासा अगले मन्त्रमें कर देते हैं।

प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ 2.2.4

यह औपनिषद् प्रणव जो है वह धनुष है। आत्मा, जीव जो है वह शर है। ब्रह्म लक्ष्य है और इसका वेधना कैसे ? बोलें—प्रमाद न होने पावे।

प्रमाद क्या है ? कि हम जानी हैं—ऐसा जो अभिमान आ जाता है, यह बड़ा भारी प्रमाद है। एक महात्माने एक वार कहा कि भाई हमारे यहाँ तीन वर्षका कोर्स है, आओ हमारी पाठशालामें भर्ती हो जाओ और तीन वर्षमें हम सर्टिफिकेट दे देंगे।

तो जिनसे उन्होंने कहा था, वे बड़े समझदार आदमी हैं। वे बोले— 'महाराज! आप तीन वर्षमें साधक होनेका सर्टिफिकेट देंगे िक सिद्ध होनेका सर्टिफिकेट देंगे।' तो बोले— भाई सर्टिफिकेट तो हम साधक होनेका देंगे। सिद्ध होनेका सार्टिफिकेट नहीं देंगे। बोले िक तब साधक तो मैं बिना सार्टिफिकटके हो हूँ। अगर हमको सिद्ध तुम बनाओ, तब तो तुम्हारे स्कूलमें हम भर्ती होयँ और नहीं तो नहीं होंगे। बोले िक सिद्धको सर्टिफिकेटकी जरूरत नहीं होती। जिसको अपने आत्माका बोध होगया, ब्रह्म हो तब वह अपनेको ब्रह्म जाने? ब्रह्म माने? ऐसा नहीं है।

तो इसमें प्रमाद नहीं होना चाहिए। तो यह प्रणव जो है यह धनुषके समान धनुष है और आत्मा जो सोपाधिक है, वही शरके समान शर है। वह सम्पूर्ण बुद्धियोंके प्रत्ययका साक्षी होकर बैठा हुआ है और उसीको अक्षर ब्रह्ममें अर्पित करना है, माने कहीं फेंकना नहीं है, यह देखना है कि अक्षर ब्रह्म जो परिपूर्ण है, वह अगर अन्य है तो अपनी आत्मासे जाना जायगा और यदि स्व ही है तो स्वयंमें और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। आत्म भावसे वह लक्षित होता है। अप्रमन्तेन माने बाह्मविषयोंकी जो उपलब्धि है, तृष्णा है वह प्रमाद है, उससे विरक्त होकर, जितेन्द्रिय होकर, एकाग्रचित्तसे लक्ष्यका वेध होता है। और जैसे बाण अपने लक्ष्यमें घुस जाता है, वैसे यह लक्ष्य बाहर नहीं है, यह लक्ष्य तो अन्तर है।

तो आत्मा परमात्मामें घुस जाय—इसका मतलब यह होता है कि असलमें आत्मा-परमात्मा पहलेसे दो चीज नहीं है—यह ज्ञान हो जाय। एक ही चीज है।

तो यह जो अक्षरसे एकात्मता है, देहात्म प्रत्ययका तिरस्कार करके और मैं ब्रह्म ही हूँ—इस फलको उत्पन्न करे। इसीका नाम अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् यह है।

अब आज इतना ही रहने दें।



प्रवचन : 20, मन्त्र 5 से 6 तक

प्रणवोपासना-ओंकारका ध्यान

तो यह (जो प्रणवरूप) धनुष है वह अन्तःकरणवाले आत्माको, माने उपाधि जिसके साथ जुड़ी हुई है उस अन्तःकरणाविच्छन्न आत्माको ब्रह्मके साथ मिलानेमें मदद करता है। ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते—ब्रह्म जो है वह लक्ष्य है।

अच्छा! वह लक्ष्य कहीं बाहर नहीं है, वह भीतर है। ऐसे देखो मनमें जितनी भी वृत्तियाँ उठें, वृत्तिके द्वारा जो ब्रह्मको देखनेकी कोशिश करते हैं, उनको तकलीफ होती है। ठीक यही है कि वे वृत्तिसे आत्माको देखनेकी कोशिश करते हैं। असलमें वृत्तिमें जो दो विभाग हैं एक प्रवृत्ति और एक आलय, माने इदं-इदं वृत्ति और अहं-अहं वृत्ति। यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह पश्च है, यह पश्ची है, यह घड़ा है, यह कपड़ा है। तो; एक तो यह-यहको पकड़नेवाली वृत्ति—यह प्रवृत्ति है। इसको प्रवृत्ति विज्ञान बोलते हैं।

और अहं-अहंके रूपमें होनेवाली जो वृत्ति है—अहं दु:खी, अहं सुखी, अहं कर्ता, अहं भोक्ता, अहं परिच्छित्र:—यह क्या है? बोले—यह अहं जो हैं यह आलय विज्ञान है।

इसको 'आलय' क्यों कहते हैं ? कि बिना अहंके इदं होता ही नहीं है। तो सम्पूर्ण इदंका आलय है अहं। लेकिन यह जो परिच्छित्र अहं है यह अध्यस्त है और इसमें जो अधिष्ठानरूप अहं है वह ब्रह्म है। माने अहं दो प्रकारका है—एक शुद्ध अहं और एक अशुद्ध अहं। तो सोपाधिक जो अहं है—अशुद्ध अहं, वह तो है बाण और जो शुद्ध अहं है देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छित्र, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे शून्य, जो ब्रह्म है, वह है लक्ष्य। तो उपाधि-लक्षण जो आत्मा है वह बाण है और निरुपाधि-लक्षण जो ब्रह्म है वह लक्ष्य है।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं।

तो सर्वबौद्धप्रत्ययसाक्षितया। अहं और इदं दोनों बौद्ध प्रत्यय हैं और उनका जो साक्षी है, उनको जो मैं देख रहा हूँ सहज स्वभावसे, इसमें वृत्तिकों छोड़ दो, सहज स्वभावसे देखते हो। अब जिस समय तुम सुषुप्तिको देखते हो उस समय वृत्ति कहाँ होती है? यह जो लोग समझते हैं कि सुषुप्तिमें तो कुछ नहीं रहता, वे गलत समझते हैं, क्योंकि सुषुप्तिका पता ही न चलता अगर सुषुप्तिमें कुछ न होता तो।

तो बिना वृत्तिके ज्ञान होता है इसका नमूना है सुषुप्ति; वहाँ न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान प्रमाण है, न उपमान है, न शब्द है, न अर्थापित है, न अनुपलब्धि है, न ऐतिह्य है, न सम्भव है, न चेष्टा है। सुषुप्तिमें कुछ नहीं है, उसको हमने कैसे देखा? कि बिना वृत्तिके देखा। तो जैसे बिना वृत्तिके हमने सुषुप्ति देखी, इसी प्रकार बिना वृत्तिके जो जाग्रत्को देख रहा है, बिना वृत्तिके जो स्वप्नको देख रहा है, वह द्रष्टा, वह साक्षी, वह अपना स्वरूप, वह मैं ही हूँ। तो सहज स्वभावसे मैं देख ही रहा हूँ।

तो यह जो सम्पूर्ण बौद्ध-प्रत्ययोंका साक्षी है, यह असलमें परब्रह्म ही है। श्रुति इसको आत्मभावसे लिक्षित कराती है। तो इसमें प्रमादका परित्याग क्या—अप्रमत्तेन वेद्धव्यं? तो बाह्य विषयकी उपलब्धि, बाह्य विषयकी

तृष्णा—यही प्रमाद है। बाहरके विषयोंको चाहना। असलमें अहंके रूपमें जैसे हम इन्द्रियोंके द्वारा विषयका भोग करना चाहते हैं इसी प्रकार अपनी वृत्तिके द्वारा ब्रह्मके भोगकी जो इच्छा है, वही इसमें प्रमाद है।

अरे तुम खुद ही हो, तो पाना किसको चाहते हो? ब्रह्मको पाना क्या है? कि पानेकी इच्छाका त्याग ही ब्रह्मका पाना है। ब्रह्मका ज्ञान क्या है? कि ब्रह्मकी जिज्ञासाका त्याग। ब्रह्मका ध्यान क्या है? कि ब्रह्मके ध्यानका त्याग। अचिन्तनम्-चिन्तनम्। अचिन्तन ही चिन्तन है। विक्षेप हो तो देखनेवाला कौन? कि हम। समाधि हो तो देखनेवाला कौन? कि हम। जैसे हम बिना वृत्तिके सुषुप्तिको देखते हैं, वही देखनेवाला मैं बिना वृत्तिके स्वप्नको, जाग्रत्को देख रहा हूँ, पापीपनेको, पुण्यात्मापनेको देख रहा हूँ, सुखीपनेको, दुखीपनेको देख रहा हूँ और बिना वृत्तिके देख रहा हूँ। जैसे बिना वृत्तिके सुषुप्तिमें मैंने सुषुप्तिको देखा, समाधिमें मैंने समाधिको देखा, वैसे ही मैं सम्पूर्ण बौद्ध-वृत्तियोंका साक्षी हूँ। तो इस प्रकार व्यवहारमें विरक्त जितेन्द्रिय रहें और ध्यानमें चित्तको एकाग्र करें और ब्रह्मके भोगकी तृष्णा न होवे।

तो—शरवत्तन्मयो भवेत्—माने अपनेको परिच्छित्र मानना, रूप जो देहात्म प्रत्यय है उसका तिरस्कार करके अपने ब्रह्मस्वरूपमें स्थिर हो गये। यह ब्रह्म प्राप्तिके लिए उपाय है। साधन है।

यस्मिन्द्यौ: पृथिवी चान्तरिक्ष-

मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वै:।

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या

वाचो विमुञ्जथामृतस्यैष सेतुः॥ 2.2.5

यह 'द्यौ: '। द्यौ माने जिसमें ये तारे-नक्षत्र ग्रह चमकते हैं, उसको द्यौ कहते हैं। यह अन्तरिक्ष है, द्यु है, द्युलोक है। और, पृथिवी—यह पृथिवी है जिसपर हमलोग रहते हैं और जिसमें यह ध्रुव, सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योति चमकती हैं—यह द्युलोक है और, दोनोंके बीच जो स्थान है उसको अन्तरिक्ष बोलते हैं। जिसमें चिड़िया उड़ती है, जिसमें हवाई जहाज उड़ता है वह अन्तरिक्ष है।

और मन और सारी इन्द्रियाँ—ये सब जिसमें ओत-प्रोत हैं। ओत-प्रोतका अर्थ आप ऐसे समझो जैसे हिन्दीमें शब्द चलता है—ताना-बाना, इसको संस्कृतमें बोलते हैं ओत-प्रोत। ओत-प्रोतका अर्थ है कि जैसे यह कपड़ा है। आपने कभी कपड़ा बनते देखा हो, उसमें एक आड़ा सूत होता है और एक लम्बा सृत होता है और दोनोंको ऐसे ढंगसे बैठा देते हैं कि कपड़ा बन जाता है। यह जो बस्त्र है यह सूत्रका विन्यास विशेष है। माने एक, खास ढंगसे सृतोंको आपसमें बैठा देना—इसका नाम कपड़ा। सूतके सिवाय कपड़ा नामकी कोई दूसरी चीज नहीं है, अगर कोई कहे कि सूतके सिवाय कपड़ा कुछ है, तो उससे कहो सूत हमारा वापिस करो, तुम कपड़ा ले जाओ।

यह आपने सुना होगा, एक राजांक यहाँ बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ। वेदान्ती था राजा, उसने बौद्धोंको आमन्त्रित कर लिया, बड़े-बड़े पूर्व मीमांसकोंको आमन्त्रित किया, नैयायिकोंको आमन्त्रित किया, सांख्यकोंको आमन्त्रित किया, बोले—शास्त्रार्थ हो। किस विषयपर शास्त्रार्थ हो? कि ''ख्याति'' पर शास्त्रार्थ हो! यह वेदान्तका एक विषय है—ख्याति। ख्याति माने जाहिर होना। जो चीज जहाँ नहीं है, वहाँ अगर वह जाहिर होवे, तो कैसे होती है? जैसे रस्सीमें साँप, सीपमें चाँदी! यह कैसे जाहिर होती है? सीपमें तो चाँदी है नहीं, जाहिर कैसे होती है? तो एक कहता है दूसरी जगह जो चाँदी देखी हुई है, उसका संस्कार दिलमें है, इसलिए सीपमें चाँदी दिखती है। एक कहता है कि नहीं, चाँदी वहाँ मौजूद है, सत् ख्याति है। एक कहता है अन्वधा ख्याति है। एक कहता है अन्वधा ख्याति है। एक कहता है अन्वधा ख्याति है, एक कहता है अनिर्वचनीय ख्याति है। बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ कि सीपमें जो चाँदी दीखती है वह क्या है?

भला बताओ महात्माओंको इससे क्या मतलब? सीपमें चाहे जैसे चाँदी दिखे! कि नहीं, वह समझना है, यह बात समझनी है कि जो चीज जहाँ नहीं होती है वहाँ अगर वह चीज दिखायी पड़ती है तो कैसे दिखायी पड़ती है! सत् ख्याति है, असत् ख्याति है, अन्यथा ख्याति है, आत्म ख्याति है, सदसत् ख्याति है, अनिर्वचनीय ख्याति है। अपने अभावके अधिकरणमें यदि कोई वस्तु भासती है, तो वह कैसे भासती है? यह एक विचार है।

जैसे रज्जु—रस्सी साँपके अभावका अधिकरण है। माने साँप उसमें बिलकुल नहीं है और उसीमें साँप दिखता है, तो क्यों दिखता है? यह ख्याति कैसे हुई? इसपर हुआ शास्त्रार्थ। अब महाराज शास्त्रार्थमें सामनेवाले पण्डितने सिद्ध कर दिया कि सीपमें चाँदी होती है, इसिलए भासती है अन्यथा ख्याति और वेदान्तीजी हार गये। शास्त्रार्थ तो बड़ा भयंकर होता है। वेदान्तीजी हार गये। अब राजाके सामने यह सवाल गया कि अब तो वेदान्तकी नाक कटी। हार जाता है आदमी तो नाक कटती है।

यह नहीं समझना कि सचमुच कटती है। यह बिलकुल जहत् लक्षणा है। जैसे नाक कटनेसे आदमीकी श्रेष्ठता कट जाती है, वैसे शास्त्रार्थमें हार जानेसे, जो अपने पाण्डित्यकी श्रेष्ठता है, वह कट जाती है। तो जहत् लक्षणासे यह बात कही जाती है कि कट गयी नाक। तो राजाने कहा—नहीं, देखो हम फिर जोड़ते हैं। उसने फैसला दिया कि सीपमें चाँदीको सच करनेवाले पण्डितजी जीत गये, इसलिए हम उनको पुरस्कार देते हैं कि हमारे राज्यमें जितनी सीप है, उसमें-से वे चाँदी निकालकर ले जायँ।

अब क्या मिलेगा उनको ? ठनठनपाल ! कुछ नहीं मिलेगा।

तो जैसे देखो, एक सामनेसे स्त्री आती है और गेरुआ कपड़ा पहनती है। अब हम मोटरमें चलते हैं तो दूरसे मालूम पड़ता है कि कोई संन्यासी महात्मा चले आ रहे हैं और बड़े ध्यानी मालूम पड़ते हैं कि इनका सिर ऊँचा है। पास जाते हैं तो मालूम पड़ता है कि यह तो महिला है कोई। तो यह जो महिलामें संन्यासीका भ्रम हुआ, वह महिलामें संन्यासी पहलेसे मौजूद है, इसलिए दीख गया, कि हमारी स्मृतिमें जो है, वह दीख गया, कि कुछ सादृश्य है उसमें, इसके कारण दीख गया—इसको ख्याति बोलते हैं।

तो जब यह विचार हम करते हैं कि यह प्रपंच परमात्मामें कैसे जाहिर हुआ? प्रपंचके अत्यन्ताभावका जो अधिकरण है परमात्मा! अब आप देखो विचार करो, अपरिच्छित्र है एक और परिच्छित्र है दूसरा। जैसे रोशनीमें कभी-कभी छोटे-छोटे कण दिखायी पड़ते हैं, तो ये कण कहाँ होते हैं? आकाशमें होते हैं। रोशनीमें रोशनीसे दिखते हैं, आकाशमें दिखते हैं और खिड़कीमें छोटे-छोटे धृलिकण दिखायी पड़ते हैं। तो धूलिकणका प्रकाशक कौन है? प्रकाश। और उसका अधिष्ठान कौन है? कि आकाश। तो धूलिकणके अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें, माने अपरिच्छित्र आकाशमें जो परिच्छित्र धृलिकण दिखते हैं, वे हैं क्या असलमें? वे धूलिकण तो मिट्टीमें ही नहीं हैं, पानीमें ही नहीं हैं उण्णतामें ही नहीं हैं, वायुमें ही नहीं हैं, तो आकाशमें कहाँसे होंगे? इसलिए देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छित्र परमात्मामें ये जो परिच्छित्र पदार्थ दिखायी पड़ रहे हैं ये आखिर परमात्मामें हैं क्या? परमात्माके सिवाय यह कुछ नहीं है भाई!

तो ओतप्रोतका अर्थ आप देखो। ओतम्का अर्थ यह है जैसे सूतसे अलग कपड़ा नहीं है, जैसे आकाशसे जुदा नीलिमा नहीं है। इसी प्रकार यह अपने अभावके अधिष्ठानसे, अपने अभावके अधिकरणसे जुदा बिलकुल नहीं है। मिथ्याकी परिभाषा यही है। आपको सीधा-सीधा बताते हैं—

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्।

अपने अभावके अधिकरणमें भासना, मिथ्या होना है। तो परिच्छिन्न कहाँ भास रहा है-परिच्छिन्नमें कि अपरिच्छिन्नमें? मारो गोली भला! यह बमगोला इसको बोलते हैं।

गुण कहाँ भास रहा है, सगुणमें कि निर्गुणमें? आकार कहाँ भास रहा है, साकारमें कि निराकारमें? यह गोली है। पंचदशीमें इसको बोलते हैं कि यदि आकारमें भास रहा है, तो पहले आकारमें और दूसरे आकारमें क्या फर्क है? यदि फर्क नहीं है तो आत्माश्रय दोष हुआ। स्वयं आश्रय और स्वयं आश्रित और यदि वह आकार उसके आश्रित और वह आकार इसके आश्रित, तो अन्योन्याश्रय-दोष हुआ। और यदि तीन आकार हैं तो चिक्रकापित दोष हुआ। और यदि चार या उससे ज्यादा आकार हैं तो अनवस्था दोष हुआ। यदि कहो कि निराकारमें आकार है, निर्गुणमें सगुण है, निर्विशेषमें सविशेष है, निर्धर्मकमें सधर्मक है, तो 'वदतो व्याघात' हुआ। इसका नाम वदतो व्याघात

दोष हुआ कि मम मुखे जिह्वा नास्ति। मेरे मुँहमें जीभ नहीं है। क्या गौरवके साथ बोल रहे हैं।

तो ओत-प्रोतका अर्थ है जैसे ताना-बानासे जुदा कपड़ा नहीं है, इसी प्रकार परब्रह्मसे जुदा न द्युलोक है, न पृथिवी है, न अन्तरिक्ष है, न मन है और न तो ये सब-की-सब इन्द्रियाँ हैं, न प्राण हैं। क्योंकि ये सब-के-सब अपने अभावके अधिकरणमें, जिस अंपरिच्छिन्नमें परिच्छिन्न नामकी वस्तु बिलकुल नहीं हैं, उसमें ये भास रही हैं। बोले—

तमेवैकं जानथ आत्मानं—उस एकको जानो। श्रुति भगवती बड़ी कृपा करके कहती हैं। आप लोग अनेकको जानते हैं, एकको नहीं जानते। देखो व्यवहारमें यह बड़ा विचित्र है। हमने देखा ये स्त्रियाँ शृंगार करती हैं न, तो जिस रंगकी साड़ी पहनकर निकलती हैं, उसी रंगकी चूड़ी पहनकर निकलती हैं। दिनभरमें जितनी साड़ी बदलती हैं, उतनी बार चूड़ी भी बदलती हैं।

एकके घरमें लड़ाई हुई किस बातपर भले घरके लोगोंकी बात आती है, सिनेमा जानेके लिए दोनों पित-पत्नी तैयार हो गये। उस दिन यह तय हुआ कि श्रीमतीजी हरी पोशाक पहनेंगी। तो हरी पोशाक श्रीमतीजीने पहनी लेकिन जब जूता पहननेके लिए निकलों, तो हरी रंगकी जूती नहीं। तो बैठ गयीं कुर्सीपर बोलीं अब मैं सिनेमा नहीं जाती। क्यों? कि बोलीं—हमारी जूती पोशाकसे मैच नहीं करती।

तो नारायण, यह भेद-दृष्टि क्या है? चूड़ी सब काँचकी होती है, इस बातको नहीं समझती हैं, जूती सब चामकी होती है, यह बात नहीं समझती हैं, डिजाइन देखती हैं कि इसकी बनावट कैसी, शक्लसूरत कैसी! अब देहातकी औरत हो महाराज, तो वह ज्यादा पैसेकी कीमतका सोना खूब ज्यादा हो तो हाथमें पहन ले। उसको तो वजनसे मतलब है, उसको डिजाईनसे कोई मतलब नहीं। वह तो दिखावेगी कि देखो हमारे पास इतना सोना है।

नारायण, देहाती औरत हो तो सोना देखेगी और महाराज शहरी औरत हो तो सोना भले नकली हो, लेकिन डिजाइन बहुत बढ़िया चाहिए। तो यह नाम-रूपका प्रेम यह शहराती प्रेम है और तत्त्वका जो प्रेम है वह ठोस, देहाती प्रेम है। बाबा हमारा पेट भरनेसे मतलब।

एक बात आपको सुनावें! तीन मित्र थे। खीर बनायी उन्होंने। तो यह हुआ कि भाई खीर आज एक आदमी खाये, दूसरे दिन बनावेंगे तो दूसरा, फिर बनावेंगे तो तीसरा कोई। बढ़िया खीर बनी है, बहुत बढ़िया, तो एक आदमी भरपेट खा ले। तो बोले कि कौन खाये? तो बोले—आओ सो जायें, जिसको सबसे बढ़िया सपना आवेगा, सो आजकी खीर खायेगा।

तो तीनों सो गये। अब सोकर उठे महाराज, तो एकसे पूछा कि क्या सपना देखा? कि बहुत बढ़िया सपना देखा, मैं तो सपनेमें आज बादशाह हो गया और हमारी ऐसी बीबी थी और ऐसा बेटा था, आज मैं बादशाह हो गया। बडा अच्छा सपना!

दूसरेने कहा—हमने तो इससे भी बढ़िया सपना देखा है। मैं तो सपनेमें बैकुण्ठ चता गया, नारायणने उठकर हमारा स्वागत किया, लक्ष्मीने हमारी आरती उतारी और हम सिंहासनपर बैठे, हमारे सरीखा सपना भला किसको आवेगा? हम खीर खायेंगे।

तीसरा रोने लगा, बोला—भाई आप लोगोंको सपना तो बहुत बढ़िया-बढ़िया आया, लेकिन मैं क्या करूँ? कुछ थोड़ी-सी मजबूरी आगयी हमारे सामने! कि क्या आयी? कि मैं जब सोया तो हमारे सामने एक राक्षस प्रकट हुआ बड़ा भारी हथियार लेकर और बोला कि उठो, नहीं तो मारूँगा। तो मैं डरकर उठ गया। फिर वह बोला जहाँ खीर रखी है वहाँ चलो। तो मैं डरकर वहाँ गया। उसने कहा कि सब चाटकर खा जाओ, नहीं तो मैं तुम्हें मार डालूँगा। सो मैं तो खीर खागया और यहाँ आकर सो गया। तो सपना तो तुम लोगोंको बढ़िया-बढ़िया आया, लेकिन खीर तो मैंने खा ली।

अब उसने तो जगनेके पहले ही खीर खा ली। तो यह दुनिया भरकी जो बात है, डिजाइन तो शहरकी औरतें जानती हैं, लेकिन खीर खाना तो गाँववालोंको आता है। सेर-दो सेर खा जायें।

तो यह अनेकको जानना, यह कोई चतुराई नहीं है। चींटी भी जानती है कि अनेक क्या होता है। चिड़िया जानती है कि अनेक क्या होता है, पशु जानता है कि अनेक क्या होता है। भेदको तो चींटी भी जानती है, खटमल भी डरता है कि ये हमको दबा न दें, मर न जाऊँ मैं। मच्छर भी जानता है कि मैं मर न जाऊँ! तो अनेकताका ज्ञान तो मच्छरको भी है, चिड़ियाको भी है, पशुको भी है, आदमीको भी है। यदि तुमको अनेकताका ज्ञान प्राप्त हुआ तो क्या हुआ! जो उस अनेकतामें एकता है, उसको तो जानो।

उसको जाने बिना सपनां-ही-सपना रह जायेगा, खीर खानेको नहीं मिलेगी। तमेवैकं जानथ आत्मानं—उस एकको जानो।

यह एक जो है यह मोक्षरूप है। एकमें भय नहीं हैं, भय दोमें है, भय तीनमें है, भय चारमें है, एकतामें भय नहीं है।

एक उसको कहते हैं कि जिसके बिना दो न बने। एक उसको कहते हैं जिसके बिना तीन न बने। एक उसको कहते हैं जिसके बिना गिनती ही न बने। एक जब बढ़ता जाता है, एक और एक-दो। एक+एक+एक=तीन। एक+एक+एक+चार। एकमें ही गुणित होनेसे और संख्या बनती है। यह सगुण-ईश्वरका एक रूप है। लेकिन बोले—तब तो वह एक होगा, हम अनेक हैं! बोले—नहीं, आत्मानं जानथ। जब तुम अपनेको उस एकके रूपमें जानोगे, तब वह निर्गुण हो जायेगा। मेरा आत्मा एक। तेरा आत्मा एक। उसका आत्मा एक। तो एक-एक-बहुत तो नहीं होते हैं। एक-एक-एक बराबर एक। यह अद्वितीय आत्मा है। यह गिनतीवाला, गुणवाला आत्मा नहीं, संख्यावाला आत्मा नहीं, यह अद्वितीय निर्गुण आत्मा है इसको जानो।

आत्मानं प्रत्यक् चैतन्याभिन्नं तं एकं एव जानथ।

अब देखो, इसमें तमेव आत्मानं। देखो, जरा इस मन्त्रके अक्षरपर ध्यान दो। तमेव जानथ—उसीको जानो। उसके जाने बिना मुक्ति नहीं है। बोले—तं आत्मानं एव जानथ। वह हमारा आत्मा है—ऐसा ही जानो।

तं जानथ एव। जानथ-जानीत। शुद्ध व्याकरणकी रीतिसे यह 'जानीत' होता है।

उसको जानो ही जानो। उसके जाने बिना कल्याण नहीं है। उसके सिवाय और कोई नहीं है। वह बिलकुल एक है। माने सम्पूर्ण प्रपंच उसमें नहीं है। और वह अपना आत्मा ही है, इस प्रकारसे जानो।

अव एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात इस मन्त्रमें कही जा रही— अन्या वाचो विमु<mark>ञ्चथामृतस्यैषु सेतुः। उस आत्माको जानो और दूसरी बात</mark> छोड़ दो।

'अन्य वाचो विमुञ्चथ'। इसका अर्थ है कि वेदमें भी एक आत्माका प्रतिपादन करनेवाला जो वचन है, उसके सिवाय और वचनोंका परित्याग कर दो। वेद-संन्यास इसका अर्थ है। माने हे जिज्ञासु! तुम अपरा विद्यामें माने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद लक्षणा जो अपरा-विद्या है, जो आत्माको कर्ता-भोक्ता-परिच्छिन्न-संसारी बतानेवाली है, जो स्वर्ग-नरकमें ले जानेवाली है, जो गित-अगित बतानेवाली है, जो कर्मकाण्ड बतानेवाली है उसको साधन सिहत, फल सिहत, क्रिया कारक और फल सिहत उस वचनका परित्याग कर दो-वेद संन्यास।

वेद संन्यासका अर्थ हुआ कि जब अपरा विद्या छूटेगी तो वेदी बनानेकी जरूरत नहीं रहेगी, कुश-कण्डिका करनेकी जरूरत नहीं, आग जलानेकी जरूरत नहीं, शाकल्यकी जरूरत नहीं, चोटी-जनेऊकी भी जरूरत नहीं। माने यह मन्त्र कहता है कि अब तुम्हें संहिता याद करनेकी जरूरत नहीं, वह तो ब्राह्मण जबतक है, स्वाध्यायोध्येतव्यः इस विधिके अनुसार जो वेदाध्ययन करता है, उसके लिए वह है। और तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म। ब्रह्मकी जिज्ञासा करो तो उसमें अन्य वाणीसे अध्ययनकी जरूरत नहीं है।

यह अमृतस्यैष सेतुः क्या है ?

बोले—यह जो आत्मज्ञान है, माने अन्यावाचो विमुञ्चथ-परित्यजथ— अन्यावाचो अपर विद्या रूप जो दूसरी वाणी है उसको विमुञ्चथ—परित्यजत। उसको छोड़ दो।

तत्प्रकाश्यं च सर्वं कर्म तस्य साधनञ्च—और उस अपर विद्यासे जितने कर्मका वर्णन है, उसका साधन सहित परित्याग कर दो।क्यों? बोले—क्योंकि आत्मज्ञान अमृतका सेतु है।

तो सेतुका तो अर्थ होता है—विधरणः। एष सेतुः विधरणः। यह श्रुति आती है। सेतु माने मर्यादा। लेकिन यहाँ सेतुका अर्थ है—यह अमृतत्त्व माने मोक्ष जो है उसकी प्राप्तिके लिए यह पुल है। वहाँ 'सेतु' का अर्थ है मेंड़। एक खेत और दूसरा खेत दोनोंके बीचमें जो मेंड़ है उसको सेतु बोलते हैं। एष सेतुर्विधरण:। मर्यादा है। और, यहाँ 'सेतु' शब्दका अर्थ है—इस संसाररूपी सागरसे पार जानेके लिए यह पुल है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यही आत्मज्ञान है। यह अगर मिल जाये, तो अमृतं-नास्ति मृतं यस्मात्—मरना नहीं पड़े। जिसका मरना नहीं होता, उसका जन्मना भी नहीं होता और जिसका जन्मना नहीं होता, उसका मरना भी नहीं होता। तो जन्मना-मरना तुम्हारा होता है और तुम छूट जाओगे, ऐसी बात नहीं है। इस बातको महात्मा लोग जानते हैं। वह अपरा विद्याका विषय है। उसका अभिप्राय दूसरा है। यदि उसको समझना हो, कि आदमी कैसे मरता है और उसका प्राण शरीरमें-से कैसा निकलता है और कैसे ऊपर जाता है, कितने दिन रुकता है, कितना समय लगता है। हिन्दीमें इस विषयका प्रतिपादन करनेके लिए सबसे बढ़िया ग्रन्थ बाबा नगीना सिंहका 'वेदानुवचन' है। वेदानुवचनमें बहुत बढ़िया इसका निरूपण है। हिन्दी भाषामें वैसा दूसरा ग्रन्थ अभी तक लिखा ही नहीं गया। और, इसीमें यदि उन्हीं का 'वेदान्त रहस्य' समझना हो, तो 'भगवद् ज्ञानके विचित्र रहस्य' उन्हीं बाबा नगीना सिंहका वह भी अद्भुत ग्रन्थ है हिन्दी भाषामें छोटे-छोटे हैं, बड़े-बड़े नहीं हैं। तो यह अमृतत्त्व जो है, अमृतस्य एष सेतुः

अरा इव रथनाभौ संहता यन्त्र नाड्य:

स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथं आत्मानं

स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ 2.2.6

अब ध्यान करनेकी बताते हैं। माने यह जो साधन बताते हैं, वह एकके बाद दूसरेको बताते हैं।

पहले यह बताया कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टि उसी वरिष्ठ तत्त्वमें है—आवि संनिहितं गुहाचरं नाम—तत् पदार्थका निरूपण किया। फिर उसके बाद त्वं पदार्थके रूपमें निरूपण किया—यदिर्चमद्। और फिर उसीके लिए प्रणवके अनुसंधानका निरूपण किया। फिर बताया कि यदि दोनोंको एकके रूपमें जान लो, तो वाणी के अपव्ययकी जरूरत नहीं है।

शास्त्रमें यह बताते हैं कि भीतर आओ, भीतर वाणीको छोड़ो, रोक दो, और मनको रोक दो। सारी इन्द्रियोंको रोक दो—ऐसे।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेन्ज्ञान आत्मिन। ज्ञानमात्मिन महित नियच्छेत्तद् यच्छेच्छान्त आत्मिन॥ कठोपनिषद्में यह प्रक्रिया बतायी।

अब कहते हैं—अच्छा! इस शरीरको ही रहने दो भाई! इस शरीरका निषेध करके परमात्माका ध्यान करना, चिन्तन करना, अनुभव करना देहाभिमानीके लिए बड़ा कठिन पड़ता है। बोले—फिर कैसे ध्यान करें? बोले—भला हो तुम्हारा, स्वस्ति तुम्हारा कल्याण हो। बड़ी करुणा करके गुरुदेव बोले—स्वस्ति! तुम लोगोंका कल्याण हो।

देखो! जैसे एक रथके बीचमें नाभि होती है। पहियाके बीचोंबीचका हिस्सा और उसमें चारों ओर अरे—जैसे लगे रहते हैं, कोई सोलह अरेका पहिया होता है, कोई आं अरेका होता है और पुराने जमानेमें हजार-हजार अरेके भी पहिये होते थे। ऐसा वेदोंमें भी वर्णन मिलता है। सहस्रार होता था। यह भगवान्के हाथमें जो चक्र है न, वह सहस्रार है। इन्द्रका वज्र 'शतार' है। सो अरे हैं उसमें। नारायणके हाथमें जो चक्र है वह षोडशार है। यह कालको ही बोलते हैं चक्र, पहिया और उसमें जो अरे हैं वे उसके अवयव हैं।

तो षोडशार, द्वादशार, शतार, सहस्रार जैसे रथके पहियेमें अरे लगे होते हैं, ऐसे अब आप जरा हदयकी तरफ चलो। हदय गोलाकार है। अब उसमें नाड़ियाँ जो हैं वे अरेकी तरह लगी हुई हैं—संहता यत्र नाड्यः। और बीचमें जैसे धुर्रा लगता है, वह गोल-गोल जैसे-वैसे कमलाकार हृदय है। उसमें अन्तःचरते बहुधा जायमानः। उसमें यह भगवान् जो है—परमात्मा, आत्मा, यह तरह-तरहसे अवतार लेता रहता है उसीमें—अन्तश्चरते—उसमें व्यवहार करता है। कैसा व्यवहार करता है? कि 'बहुधा जायमानः।' क्या व्यवहार कर रहा है हृदयमें? कि पश्यन् शृण्वन् मन्वानो विजानन्—कभी कहता है आहा, यह कितना सुन्दर है, क्या देखा बढ़िया! कभी कहता है क्या आवाज बढ़िया सुनी! बोला—यह हमारे मनमें कैसा बढ़िया संकल्प

उठा! अरे हमारा तो पर्दा ही हट गया, जान गये! यह जो हृदयमें बैठकर, सारी नाड़ियाँ जहाँ मिलती हैं और वहाँ बैठकर यह महाराज मनोराज्य करते रहते हैं।

हमारे एक मित्र हैं तो एक दिन वे अकेले कमरेमें बैठे हुए थे। रातका समय, बिजलीकी रोशनी थी, मैं कहीं बाहर गया था, आगया! आया तो बाहरसे दृष्टि पड़ी कि वे क्या कर रहे हैं! तो वे शीशेंक सामने बैठे थे भला, तो कभी ऐसे हाथ बनावें, कभी ऐसे बनावें, कभी ऐसे आँख टेढ़ी करें, कभी जैसे खूब गुस्सेमें हैं—ऐसे हो जायें, कभी खूब मुस्कुरायें जैसे प्रेम करें—ऐसे हो जायें, दूसरा कोई वहाँ था नहीं। तो मैंने पूछा मित्रसे कि यह क्या कर रहे हो? शीशेंक सामने बैठकर बिजलीकी रोशनीमें यह क्या कर रहे हो? बोले—खेल रहा हूँ—यहाँ दूसरा तो कोई है नहीं? कि अपने आपसे खेल रहा हूँ। अपनी परछाईंसे खेल रहा हूँ।

तो जिसको अपने-आपसे खेलना आ जाता है, वह दु:खी नहीं होता। अब देखो ये स्त्रियाँ ऐटिकेट सीखनेके लिए जब अपने शिक्षणालयमें जाती हैं। हमको अभी कल-परसों किसीने बताया। एक पुरुपके घरमें गये थे। उसने बताया कि ऐटिकेट सीखनेके लिए लड़कियाँ जाती हैं।

तो हमको बताया कि हँसते समय दो ही दाँत दीखने चाहिए, उससे अधिक नहीं दिखने चाहिए। और होंठ कितना टेढ़ा होना चाहिए और आवाज बोलनेमें जब गुस्सा आवे तब कितनी ऊँची होनी चाहिए और प्रेममें कितनी ऊँची आवाजमें धीरे-धीरे बोलना चाहिए—यह सब ऐटिकेट उनको सिखाया जाता है।

अच्छा, तो मैंने यह बात सुनी। अब उसी समय ख्याल आया कि जब घरमें वे अकेले बैठती होंगी शीशेके सामने तब रिहर्सल करती होंगी कि नहीं? रियाज करती होंगी कि होंठ कैसा, दाँत कैसा! आवाज बोलकर सुनती होंगी कि हमारे कानमें कितनी लगती है। जैसे सितार बजानेवाले रियाज करते हैं रोज, ऐसे वे अपना होंठ बजाकर अपनी आवाजका भी तो अभ्यास करती होंगी। जैसे नाटकमें करनेवाले।

तो यह जो आत्मदेवता हैं, ये सात चहार दीवारीके भीतर बैठे हुए हैं।

सात धातुओंको चहार दीवारी, पाँच कोश और तीन अवस्थाके भीतर वैठे हुए। और क्या करते हैं महाराज वहाँ? कि बहुधा जायमान:—कभी गुस्सेमें आ जाते हैं। भीतर आया क्रोध, देख में सूजता हूँ। और फिर वही कहते हैं कि मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं लोभी हूँ। मैं शान्त हूँ, मैं दान्त हूँ, मैं उपरत हूँ, मैं तितिशु हूँ।

वहीं बैठकर ये सब खेल करते रहते हैं, यह क्या है ? कि 'बहुधा जायमान: ।'। ये अन्तर रूप रसकी नाभिमें, जहाँ सब नाड़ियाँ जाकर मिलती हैं, यहीं अकेले बैठकर देखते हैं कि देखो इतनी देरसे मैं देख रहा था, सुन रहा था, अब देखो विचार कर रहा हूँ।

तो कभी हर्ष, कभी क्रोध, इन प्रत्ययोंसे 'जायमानः इव जायमानाः'। जो संकल्प पैदा होता है, उस संकल्पके शीशेमें अपनी परछाईं देखते हैं और अन्तःकरणकी उपाधिका अनुविधान करते हैं।

श्रीमद् भागवतमें, आपने कभी यह कथा सुनी होगी—पुरंजन और पुरंजनी! पुरंजन माने सूक्ष्म शरीरको बनानेवाले पुरंजन-पुरं जनयित—यह देहको पैदा करते हैं। जीवात्माको पुरंजन बोलते हैं। और पुरंजनी उनके पास बुद्धि है। तो जब वह पुरंजनी हँसती थी, तब पुरंजन भी हँसते थे। खुद नहीं हँसते, उनको हँसी नहीं आती थी। लेकिन पुरंजनी हँसे तो हँसे और वह नाचे तो नाचें और वह गावे तो गावें। वह मतवाली हो जाये तो खुद भी मतवाले हो जायें। क्योंकि पुरंजनने अपनेको पुरंजनीके साथ बिलकुल मिला दिया था।

तो ये जो आत्मदेव हैं, ये अपनेको बौद्ध प्रत्ययोंके साथ (मिले रहतेसे हैं और बौद्ध-प्रत्ययकी वृत्तियाँ) इतनी बदलती हैं कि आपको क्या सुनावें, आध घण्टेमें मनमें इतने प्रकारके भाव आते हैं, हँसनेके, रोनेके। अब ये संसारी लोग चाहते हैं कि हमेशा, हँसनेके ही आवें, रोनेके न आवें। तो यह असंभव चाहते हैं पट्टे! यह काम कभी होता ही नहीं। वे कहते हैं कि दुनियाके सब विषय, जितने हंमारे सामने आवें, माँ आवे तो हँसावें, भाई आवे तो हँसावें, बेटा आवे तो हँसावें, दुश्मन आवे तो हमको हँसावें, जो आवे सो हमको सुख-ही-सुख दे। तो यह कभी होना शक्य है? नहीं है! इसलिए असम्भव लालसा करनेके कारण वे दु:खी होते हैं।

अच्छा, अब ये उपासक लोग कहते हैं कि हरबार भगवान् ही आवें, वही हँसावें, वही खिलावें। अब हरबार भगवान् कैसे आवेंगे! भगवान् क्या तुम्हारे ही लिए हैं? अरे उनको बहुत हैं भाई। तुम्हारे लिए वे बिलकुल फुर्सत निकालके थोड़े ही बैठे हैं! उनको बहुतोंके घर जाना पड़ता है।

अच्छा योगी लोग कहते हैं कि हम उफलने हो नहीं देंगे, न हँसी आने देंगे न हसन्ति तपिस्वनः—योगी लोग कहीं हँसा करते हैं ? बोले—न हम हँसेगे, न हम रोवेंगे, न हम सोचेंगे, न देखेंगे, न जानेंगे।

बोले—हो जा पत्थर बेटा! वैसा कोई होगा तो पत्थर होगा। यह भी असम्भव है, असम्भव क्रिया है। तब? कि ये आत्मदेव जो हैं.....देखो, हमको सैंकड़ों बार, सैंकड़ों बार नहीं, तो दिसयों बार हमको घर-गृहस्थीमें रहते समय ऐसा मालूम पड़ा कि अब तो इनसे प्रेम हो गया। अरे वे प्रीतम मर गये, वह प्रेम मर गया, थोड़े दिनों बाद मालूम हुआ, अब दूसरेसे हो गया। फिर मालूम पड़े तीसरेसे हो गया। अरे यह प्रेम है ? यह कोई कला है!

यह दुनियामें कोई ऐसा भाव उदय नहीं होता जो हृदयमें हमेशा रहे। आत्मदेव अपना आपा जो है, वह हमेशा एक मरीखा रहता है अब जब गुस्सा आता है तब मालूम होता है जिन्दगीभर बच्चृसे दुश्मनी रखेंगे। और, घण्टे भरमें ढीला पड़ जाता है। औरतें रूढती हैं तो कहती हैं अब जिन्दगी भर तुम्हारा मुँह नहीं देखेंगे, लेकिन घण्टेभरमें गुस्सा ढीला पड़ जाता है। बिलकुल ठीक-ठाक। ये मर्द जब आपसमें लड़ाई करते हैं, तो कहते हैं—भाई, अब बस, आखिरी बार तुमसे बात कर रहे हैं। अब बोलेंगे नहीं तुमसे। और थोड़ी देर बाद कहते हैं भाई, उस समय गुस्सा आ गया, चलो उस बातका ख्याल न करो।

तो ये दुनियादारीकी सभी चीजें जो हैं वे तो बदलती जा रही हैं। यह शीशा ही है। तुम्हारे सामने कभी काला शीशा आगया, कभी लाल शीशा आ गया, कभी सफेद शीशा आगया, उसमें तुमने अपनेको काला देखां, लाल देखा, हरा देखा; लेकिन तुम न हरे हुए, न काले हुए, न लाल हुए, न पीले हुए। तुम तो तुम्हीं हो। यह तो तुम्हारे सामने जैसा शीशा आया, वैसा तुमने देख लिया। यह बहुधा जायमानः। दिन भरमें हजार जन्म तुम्हारा होता है और हजार बार तुम्हारा वह मैं मर जाता है। एक तुम हो। उस एकका ध्यान करो। कैसा? कि ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।—ॐका बड़ा बढ़िया अर्थ है। यह तुम बदलनेकी कोशिश मत करो। हमारा दुश्मन, दोस्त हो जाय और दोस्त दुश्मन हो जाय—बदलनेकी कोशिश मत करो ना। ॐ। उसने कहा—हम तुम्हारे दुश्मन हैं। ठीक है भाई! फिर आकर बोला—मैं तुम्हारा दोस्त हूँ, कि ठीक है भाई!

जैसे गुरु लोग हैं ना, कि चेला एक दिन बड़ी श्रद्धासे आया-महाराज आप ईश्वर! बोले—बहुत बढ़िया भाई। दूसरे दिन बोला—महाराज! हमारी श्रद्धा तो ढीली पड़ गयी हम आपके पास नहीं आवेंगे! बोले—मत आओ भाई! बहुत बढ़िया। ऐसे गुरुकी तरह जीवन बिताओ। चेलेकी तरह क्या बिताना!

अपना जीवन—ओमित्येवं ध्यायथ—जो आया, हाँ कर दिया ऐसे अपने आत्माका ध्यान करो। सम्पूर्ण वृत्तियोंमें, सम्पूर्ण प्रत्ययोंमें, सम्पूर्ण विषयोंमें, जन्म और मरणमें, हर्ष और विषादमें, सुख और दु:खमें, पाप और पुण्यमें, स्वर्ग और नरकमें आत्म चिन्तन करो कि हाँ भाई! ऐसा ही।

एक महात्मासे किसीने पूछा कि आप कौन हो महाराज! बोले कि तुमको, मैं कैसा मालूम पड़ता हूँ! बोले—महाराज आप तो हमको हमारे चाचा लगते हैं। बोले—ऐसा ही है, भाई! दूसरे दिन आया कि ना महाराज! चाचा नहीं, आप तो हमारे पिता लगते हैं। बोले—बिलकुल ऐसा ही है भाई! बोला—चाचा भी हो और पिता भी हो! बोले—मैं तो प्रक ही हूँ। तुमको जैसा लगता हूँ, वैसा हूँ। तू, अपना माने तो तेरा अपना। तू दुश्मन माने तो तेरा दुश्मन! हम तो एक ही हैं।

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं।

बस, ऐसा अपने आत्माका ध्यान करो—एकरस अद्वितीय।

तमसः परस्तात्। अज्ञानान्धकारसे पार जानेके लिए पाराय। पाराय माने पर कूलाय। नदीके उस पार। समुद्रके उस पार जानेके लिए अज्ञानान्धकारसे पार जानके लिए यही एक विद्या है। अस्वीकार करोगे तो संघर्ष है—ॐ ॐ। अकार, उकार, मकार, अमात्रके द्वारा, ओंकारके ध्यानके द्वारा, ओंकारकी

उपासनाके द्वारा, ओंकारके उच्चारणके द्वारा, ओंकारके अग्रभागके अभ्यासके द्वारा, अपने आपको इस अज्ञानान्ध्रकारसे पार ले चलो।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नयात्मा प्रतिष्ठितः॥

2.2.7

यह हृदयाकाश है, हृदयमें थोड़ी-सी पोल है। जैसे घड़ेके भीतर पोल होती है, वैसे इस शरीरके भीतर हृदयमें एक पोल है। वहाँ एक ऐसी चीज रहती है, जो सबको जानती है। सर्वज्ञ है, सर्ववित् है। उसकी महिमा सृष्टिमें फेली हुई है। इस हृदयका नाम ब्रह्मपुरी है। यह दिव्य है और इसीमें यह आत्मदेव, अपने सिंहासन पर विराजमान रहते हैं।



प्रवचन : 21, मंत्र 7

आत्माका अपरोक्ष अनुभव

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्प्यात्मा प्रतिष्ठितः॥

मनोमयः प्राणशरीरनेता

प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा

आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥ 2.2.7

ईश्वरके रूपमें, परब्रह्म परमात्माका वर्णन करते हैं कि जो सर्वज्ञ है और सर्वविद् है। दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही मालूम पड़ता है। जो सर्वज्ञका अर्थ मालूम पड़ता है। ये शब्द दोनों पहले इसी उपनिषद्में एक जगह आ चुके हैं।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।

वहाँ ऐसे आया था और यहाँ आया-

यः सर्वज्ञ सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।

तो प्रथम मुण्डकके अन्तिम मन्त्रमें यह शब्द पहले आया है, अब फिर आया। तो मन्त्रोंको बोलनेमें कोई आलस्य नहीं होता है। देखो संसारी लोग अपने भोगके लिए, अपनी सम्पत्तिके लिए कितना परिश्रम करते हैं, तो उनको कोई आलस थोड़े ही आता है? हमको बताया एक करोड़पितने, करोड़पित नहीं, बहुत धनी है वह, कि वह जब दस बजे अपने कारखानेमें जाता है, तो करीब-करीब छह घण्टे वह चलता, फिरता है, देखता है। आफिसका काम तो उसके लड़के-वड़के हैं सब देखते हैं और वह खुद देखता है कि मजदूर कैसे काम कर रहे हैं, मशीन कैसे चल रही है? इस कारखानेमें गया, उस कारखानेमें गया। तो धन चाहनेवालोंको धन कमानेमें आलस्य नहीं आता, भले वह बादमें छिन जाये। भोग चाहनेवालोंको भोग प्राप्त करनेमें आलस नहीं आता।

धर्म करनेवालोंको देखो तपस्या करनेमें, व्रत करनेमें आलस्य नहीं आता। ये हमारे देखो सत्संगी हैं, इनको कितना भी कहो कि शान्ति पाठके समय जरा शान्तिसे बैठा करो, या जिस समय मौन रहते हैं, उस समय गड़बड़ मत मचाया करो, लेकिन इनको पुण्य लूटनेका (लगा रहता है)।

अब महाराज जो सत्संग छोड़ करके पुण्य लूटनेमें लगा है, उसके बारेमें क्या कहा जाय, उनको तो चंदन-अक्षतमें ही बहुत पुण्य है। तो उनको चित्तकी शान्ति नहीं चाहिए, सत्संग नहीं चाहिए।

ये संसारके धर्म सत्संगकी बराबरी नहीं कर सकते। यह तीर्थ, यह व्रत, यह स्नान, यह यज्ञ, यह दान, यह पूजा, ये सभी सत्संगमें जो वस्तु मिलती है, उसको नहीं दे सकते।

तो अब जरा सर्ववित् और सर्वज्ञ देखो। आप कभी कोई चीज जब दूरकी देखते हैं और एकाएक देखते हैं, तो पहले मालूम पड़ता है कि कुछ है, बादमें मालूम पड़ता है कि यह विशेष वस्तु है।

यह ज्ञानकी दो पद्धित होती है। जब आपकी नींद टूटती है, तो मालूम पड़ता है कि नींद टूट गयी, मैं जग गया, मैं हूँ। परन्तु मैं किस गाँवमें हूँ, मेरा क्या नाम है, मेरी कौन-सी जाति है, मुझे क्या करना है—यह बात नींद टूटनेकी पहली चोटमें मालूम नहीं पड़ती। आप देखते हैं न! कभी-कभी नींद टूट जाती है, पर यह पता नहीं लगता कि वृन्दावनमें हैं कि मुम्बईमें हैं।

तो नींद टूट जाना—यह सामान्य ज्ञान हुआ और मैं मुम्बईमें हूँ कि वृन्दावनमें हूँ—यह विशेष ज्ञान हुआ।

पहले मालूम पड़ा कि कोई पेड़ है फिर मालूम पड़ा कि आम है, जामुन है। तो यह विशेष ज्ञान हुआ। ज्ञानका दो स्तर होगया—एक इदंतया सामान्य ज्ञान और एक विशेषतया अयं घटः। अयं पटः—ऐसा ज्ञान।

अब आप फिरसे इस बातको देखो। रज्जुका तो ज्ञान हुआ नहीं, और

ज्ञान हुआ कि कुछ है। तो कुछ है के बाद, वह साँप भी हो सकता है, वह माला भी हो सकती है, वह डंडा भी हो सकता है।

तो यह जो जगत्को अनिर्वचनीय रूपसे जानना और विशेष रूपसे जानना, सुपुप्ति, समाधि और मूर्च्छामें भी समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छाका ज्ञान होना और जाग्रत् स्वप्नावस्थामें विशेष-विशेष वस्तुका ज्ञान होना—यह जैसे जीवके जीवनमें ज्ञानके दो स्तर देखनेमें आते हैं, ठीक इसी प्रकार ईश्वर सामान्य चेतनके रूपमें भी सबको जानता है और विशेष-विशेष चेतनके रूपमें भी सबको जानता है। जैसे कानसे मालूम पड़ता है कोई आवाज आ रही है, फिर मालूम पड़ता है मोहन, सोहनको पुकार रहा है। जैसे आँखसे मालूम पड़ता है कुछ है, फिर मालूम पड़ता है कि यह घड़ा है। जैसे नाकसे मालूम पड़ता है कुछ है और फिर मालूम पड़ता है कि चमेलीकी गन्ध है। यह गुलाबकी गन्ध है।

तो सामान्यरूपसे कुछका ज्ञान और विशेषरूपसे कुछका ज्ञान, इसीको बोलते हैं—सर्वज्ञ और सर्ववित्।

इसके बाद ईश्वरकी महिमा बतानेके लिए यस्यैष महिमा भुवि—धरतीपर उसकी महिमा प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

श्रीशंकराचार्य भगवान्ने यस्यैष महिमा भुविका भाष्य लिखते समय, जरा लम्बा कर दिया है। टिप्पणीकार बोलते हैं कि सबको ईश्वरपर श्रद्धा होवे, इसके लिए भगवान् शंकराचार्यने यस्यैष महिमा भुवि—का व्याख्यान विस्तारसे कर दिया। देखो ईश्वरकी महिमा धरतीपर देखनेमें आती है—'एष महिमा'— यह जिसकी महिमा है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पालबंटनने पूछा कि महाराज कोई चमत्कार दिखाओ। उड़िया बाबाजी बोले—एक बूँद पानीसे यह पुतला बना, हँस रहा है, बोल रहा है, चल रहा है, खा रहा है, पी रहा है; अरे तुमको अगर यह चमत्कार नहीं मालूम पड़ता कि एक बूँद पानी साढ़े तीन हाथका बनकर नाच रहा है, अगर यह चमत्कार नहीं मालूम पड़ता तो दुनियामें तुमको कोई चमत्कार नहीं मालूम पड़ेगा। सबसे बड़ा चमत्कार तो यही है—एक बूँद पानीका इस रूपमें हो जाना।

तो ईश्वरकी महिमा—यस्यैष प्रसिद्धो महिमा विभूतिः — जिसका वैभव संसारमें सर्वत्र देखनेमें आता है। विभूतिः। आपको बताया था पहले प्रेम-कुटीरमें एक विभूति और एक योग, जिसकी विभूति है कोऽसौ महिमा? यह क्या विभूति है? कि, यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शासने विधृते तिष्ठतः।

यह द्युलोक-खगोल और भूगोल-दोनों द्यावापृथिवी-द्युलोकसे खगोल और पृथिवीसे भूगोल; भूगोल और खगोल—दोनों जिसकी आज्ञामें अपनी-अपनी जगहपर टिके हुए हैं। सब नक्षत्रोंकी गति पूर्णतः व्यवस्थित है। आज शुक्रास्त हुआ, कल शुक्रोदय होगा, अबकी बार नौ दिनका ही शुक्रास्त है, बृहस्पति वक्री होकर मिथुन राशिपरसे वृष राशिपर आगया, वक्री हो गया। तो इनकी गणना कैसे मालूम पड़ती है ? बिलकुल कायदेसे चलते हैं और शंकु लगाकर ज्योतिषसे नाप लिये जाते हैं, भू-केन्द्रिय वृत्तसे भी और भू-मध्य वृत्तसे भी। ज्योतिषके अनुसार, चन्द्रमामें बारह कलाका अन्तर रोज कैसे पड़ता जाता है, यह बात नाप ली जाती है। हर संक्रान्तिमें सूर्यपर क्या अन्तर पड़ता है—यह नाप लिया जाता है। ये पट्ठे सब कायदेके अनुसार ईश्वरकी आज्ञामें चल रहे हैं। सूर्य और चन्द्रमा जिनके शासनमें अलातचक्रके समान, जैसे कोई लूक कोई राकेट छोड़ दिया गया हो-ऐसे ये घूम रहे हैं। ये नदियाँ बहती हैं, समुद्र अपनी-अपनी सीमापर स्थिर रहते हैं। स्थावर और जंगम जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं। ऋतु अयन सम्वत्सर जिसके शासनका अतिक्रमण नहीं कर सकते। जिसके शासनसे कर्ता, कर्म और फल—सबको ठीक-ठीक मिलते हैं - स एव महिमा भूवि।

देखो; ईश्वरका यह चमत्कार, ईश्वरकी यह महिमा कोई टाल नहीं सकता। मनुष्य बड़ी-बड़ी उछलकूद मचाता है। कितने हिसाबसे आँख बनती है, दोनों आगेकी ओर हों। एक आगे एक पीछेकी ओर क्यों नहीं बन जाती! जरा भी ऐंचा ताना हो जाय तो आदमी बिगड़ जाता है। एक ही आँख हो जाय तो काना हो जाता है।

दिव्ये ब्रह्मपुरे होष व्योप्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।

अब देखो जहाँ सर्वज्ञ, सर्ववित्—जरा मन्त्रके वर्णपर ध्यान दो; जो सर्वज्ञ है—सामान्य रूपसे जाननेवाला, जो सर्वविद् है—विशेष रूपसे जाननेवाला, जो सर्व भी है और 'ज्ञ' भी है, जो सत् भी है ज्ञान भी है और जिसका वैभव यह सृष्टिमें दिखायी पड़ रहा है, जहाँ—यस्य एष महिमा, यः

सर्वज्ञ सर्वविद् और यस्यैप महिमा—एप आत्मा—वही यह आत्मा है। स एष आत्मा। वह अपना आत्मा है। तो कहाँ रहता है? ब्रह्मपुरे-दिव्ये ब्रह्मपुरे व्योम्नि प्रतिष्ठितः।

इस शरीरका नाम है ब्रह्मपुरी। अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पुः अयोध्या। इसीका नाम अयोध्या है। इसमें आठ चक्र हैं। इसमें नौ दरवाजे हैं। ऐसे समझो छह चक्र जो हैं वे मृलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा; सहस्रार और ब्रह्मचक्र—ये अष्टचक्र—आठ इसमें चक्र हैं। और नवद्वारा — नौ इसमें दरवाजे हैं। देवता लोग इसमें रहते हैं। आँखमें, कानमें, नाकमें और रामावतार इसीमें होता है—देवानां पृ: अयोध्या। इसका नाम है ब्रह्मपुरी। शर्भरका नाम है ब्रह्मपुरी। और, हृदय पुंडरीकं वेश्म। सारी नगरीमें तो कोई नहीं रहता है। तो योले-ब्रह्मपुरं-यह शरीर तो है ब्रह्मपुरी। और इसमें जो हृदयकमल है वह महल है—वेश्म। परमात्माका निवास स्थान है। उस कमलमें भी वह जो गद्दी है, उसका नाम ब्रह्म नहीं है, जो पंखुड़ी है उसका नाम परमात्मा नहीं है, उसमें जो मंजरी है, उसका नाम परमात्मा नहीं, जो पराग है, उसका नाम परमात्मा नहीं। आप तो जानते ही होंगे न सब। कमल जो होता है उसके एक तो पुरईन-पात-पत्ते होते हैं। हाथीके कान सरीखे, वे अलग-अलग होते हैं और एक डाँठी होती है-उसकी नाल और नालके ऊपर जब फूल खिलता है, तब पंखुड़ी। पंखुड़ियोंके बीचमें कर्णिका— पीली-पीली गदी। और उसके चारों ओर जीरे जो होते हैं, उसको बोलते हैं मंजरी और उसमें जो पीले-पीले कण होते हैं उसको बोलते हैं पराग। उसमें जो रस होता है, उसको बोलते हैं- मकरन्द, मधु। बोले-इसमें-से ईश्वर कौन? बोले-ईश्वर यह नहीं यह तो हृदय कमल हुआ। तो बोले-हृदय-कमलका अपवाद कर दो। वह कमलके स्थानपर जो आकाश है, जिस आकाशमें यह हृदयकमल मालूम पड़ता है-व्योत्रि। दिव्ये ब्रह्मपुरे होष व्योन्नि। उतनी दूरसे उस कमलको भी अपने ख्यालसे हटा दो। हृदय कमलको भी हटा दो। तो क्या रहा कि चिदाकाश। बोले-यह चिदाकाश जो है, वह न पुरीसे परिच्छित्र है और न कमलसे परिच्छित्र है, यह परिपूर्ण है।

एष आत्मा प्रतिष्ठिताः। ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वात्

ब्रह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं। तस्मिन्यद्व्योम तस्मिन् व्योम्नि आकाशे। हृत्पुण्डरीक मध्यस्थे सोऽयमात्मा प्रतिष्ठित इव उपलभ्यते।

यह आपका शरीर ब्रह्म पुरी है, शरीर मुख्य नगर है और ये जो अपने भाई हैं, बेटे हैं, नाती हैं-पोते हैं, माँ-बाप हैं-ये सब उपनगर हैं। यह समझो जैसे—ठाणे, बोरीवली, कान्दीवलि ये तो ऐसे सब सींग-पूँछ हैं। मुख्य पुरी कौन? कि मुम्बई। मुम्बईमें परमात्मा रहता है। बम्बई नहीं, रुद्धवेश्म—वेदीमें परमात्मा रहता है, चार कोशमें परमात्मा रहता है। कौन? कि ये सब फूल खिले हुए हैं, इन्हींमें रहता है। अरे भाई, ये फूल जो खिले हुए हैं, इनमें क्या नाम है उसका, क्या रूप है? स्त्री है कि पुरुष है? बोले—स्त्री-पुरुषका ख्याल छोड़ दो इसमें जो आकाश है, भूताकाश नहीं, चित्ताकाश नहीं। चित्तमें तो आकाश इसलिए पड़ता है कि वह भूताकाशका प्रतिबिम्ब है और चित्ताकाशमें भूताकाश किल्पत होता है, इसिलए इसमें कौन कारण, कौन कार्य, यह निर्णय नहीं किया जा सकता। भूताकाशके प्रतिबिम्बके बिना चित्तमें आकाश नहीं हो सकता। और चित्ताकाशमें कल्पना हुए बिना भूताकाश नहीं हो सकता। तो यह सपनाकाशसे जाग्रदाकाश, जाग्रदाकाशसे स्वप्नाकाश और, यह जो कार्य कारणात्मक दोनों आकाश मालूम पड़ते हैं, इनका बाध कर दों, उसके बाद अखण्ड जो है, उसका नाम चिदाकाश। यह परमात्मा। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष—यह शरीर ब्रह्मपुरी है, इसमें जो कमल है वह महल है और उस महलमें जो कमलके गद्दीके बिना, पंखुड़ीके बिना, मंजरीके बिना, परागके बिना मकरन्दके बिना जो बिलकुल स्वच्छ निर्मल, नामरूपसे रहित जो आकाश है, वह चिदाकाश है और वह चिदाकाश परिच्छित्र नहीं है, अखण्ड ब्रह्म है।

बोले—वहाँ रहता है परमात्मा! रहता नहीं, प्रतिष्ठित इव उपलभ्यते— वह तो नामरूपका तिरस्कार कर देनेपर वह आकाशवत् सर्वगत है। उसमें न जाना हैं, न आना है, न प्रतिष्ठा है।

निह आकाशवत्सर्वगतस्य गितरागितः प्रतिष्ठा वान्यथा सम्भवित । वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मतत्त्व है, जिसका किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं, द्वैत जिसमें बिलकुल है नहीं, यह अपना स्वरूप है।

मनोमयः प्राणशरीरनेता—ंबीले—वहाँ जरा मनसे काम लो। आत्मा जो

है वह मन-का-मन है। माने वह मनसे जानता नहीं है, मन उससे जाना जाता है।

यह बात तो जिन्होंने 'केनोपनिषद्' कभी सुनी है, उनको प्रारम्भमें ही मालूम होगा।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसका मनसे मनन नहीं किया जाता, जिससे मन-ही मत होता है। जैसे यह पुस्तक है, तो यह पुस्तक दृष्टिका कर्म है माने अहं पुस्तकं पश्यामि— मैं दोनों आँखसे पुस्तकंको देखता हूँ—अहं चक्षुर्थ्याम् पुस्तकं पश्यामि। तो देखा गया क्या? पुस्तक देखी गयी। तो पुस्तक हुआ देखनेका कर्म। किससे देखा गया? कि आँखोंसे देखा गया। किसने देखा? बोले—मैंने देखा। अब देखो, यन्मनसा न मनुते—जिसका मनन मनसे नहीं किया जाता। माने आँखकी जगह मनको रख लो। तो जैसे आँखसे पुस्तक दिखती है, ऐसे मनसे ब्रह्म दिखता है? तो बोलते हैं नहीं, यन्मनः कर्म न भवित—जैसे पुस्तक आँखका कर्म हो जाती है, आँखसे देखी जाती है, वैसे जो मनका कर्म नहीं होता, माने जिसके दर्शनमें मन करण नहीं होता, औजार नहीं होता। अहं अक्षुर्थ्याम् पुस्तकं पश्यामि।

अहं मनसा मित्रं पश्यामि। मैं अपने मनसे मित्रको देख रहा हूँ। तो 'मित्र' हो गया मनका कर्म, 'मन' हो गया करण और मैं हो गया द्रष्टा।

अब देखो, मैंको देखनेके लिए—अहं मनसा स्वं पश्यामि? मैं मनसे अपने आपको देखता हूँ? मनसा मित्रं पश्यामि—यह तो ठीक है, मैं अपने मनसे मित्रको देखता हूँ, यह तो ठीक है, किन्तु अहं मनः पश्यामि—मैं मनको देखता हूँ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

जो मनके मननका विषय नहीं होता, कर्म नहीं होता, मन स्वयं ही जिसका कर्म होता है, जिसके ज्ञानका विषय होता है, जो मनको जान रहा है, वह 'मैं' हुआ।

अब देखो, विषयसे रहित और मनसे रहित जो 'मैं' है, वह क्या है? बोले—तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि। इस मनके द्रष्टाको तुम ब्रह्म जानो। नेदं यदिदमुपासते—जिसको तुम यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है—ऐसा कहकर उपासना करते हो, वह ब्रह्म नहीं है। अरे ब्रह्म तो वह है जो उपासना करनेवालेके 'मैं 'में छिपा हुआ है। उपास्यमें नहीं, उपासकके 'में 'में जो छिपा हुआ है, उसका नाम ब्रह्म। तो यह हुआ—मनोमय:।

प्राणशरीरनेता, यह प्राणमय जो शरीर है. प्राणशरीरका अर्थ है. सत्रह तत्त्वोंवाला लिंग शरीर, सूक्ष्म शरीर: प्राणशरीर प्राणात्मक शरीर, उसंका जो नेता है, माने जिसके सान्निध्यसे यह सूक्ष्म शरीर जानेकी कल्पना, आनेकी कल्पना करता है।

आपको केवल ध्यांन देनेके लिए, वेदान्तकी प्रांक्रयाका स्मरण दिलाता हूँ, आपका ध्यान खिंचे। यह जो पंचभूत जिनको आप बोलते हैं न, मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश; इनमें से आकाश जो है पंचमहाभूत, स्थूल पंचमहाभूतमें-से है और वह व्यापक होता है। आपको मालूम है?

ऐसा नहीं कि हमारे दिलमें आकाश दूसरा है और आपके दिलमें आकाश दूसरा है। वह तो वासना ही इस दिलमें दूसरी है और उस दिलमें दूसरी है। सो भी वासनाका सामान्य रूपमें भेद नहीं है, ज्ञानीको भी पानी चाहिए पीनेको और अज्ञानीको भी पानी चाहिए पीनेको, खानेको अत्र ज्ञानीको भी चाहिए। तो वासनाका सामान्य रूपमें भेद नहीं है, विशेषरूपमें ही भेद है। ज्ञानीको जैसा पानी मिला, उसीसे उसने प्यास बुझा ली और अज्ञानीको बोतलवाला पानी चाहिए। जब बोतलवाला नहीं मिलेगा तो उसे तकलीफ होगी। विशेषकी इच्छा होनेपर, जब वह पूरी नहीं होती है तो कष्ट होता है।

तो इच्छा सामान्यमें भी कोई फर्क नहीं है, ज्ञानी—अज्ञानी—दोनों खाते हैं, दोनों पीते हैं, दोनों पहनते हैं, दोनों चलते हैं, दोनों बोलते हैं, दोनों देखते हैं। तो वासना सामान्यमें भी कोई फर्क नहीं है।

अच्छा, शरीर सामान्यमें भी कोई फर्क नहीं है और आकाश जो है वह सबके दिलमें एक है। फर्क यह है कि इसको एक जानता है और एक नहीं जानता है।

लेकिन, अभी आपको और आगेकी बात सुनाते हैं। हम कहना दूसरी बात चाहते हैं। हम कहना यह चाहते हैं कि जब स्थूल शरीरमें जो आकाश है—पाँचवाँ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश; वही जब व्यापक है, तो जिसको तन्मात्रा वोलते हैं, गन्ध-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, शब्द-तन्मात्रा, उन तन्मात्राओंके सात्त्विक अंशसे (अन्त:करण बना है)। तामस तन्मात्रासे शरीर बना समझो, राजस अंशसे क्रियायें हुईं और सान्त्रिक अंशसे ज्ञानात्मक अन्त:करण बना। उस ज्ञानात्मक अन्त:करणको जो लोग छोटा मानते हैं कि वह शरीरमें-से निकलकर नरकमें गया, शरीरमें-से निकलकर स्वर्गमें गया और शरीरमें-से निकलकर पुनर्जन्ममें गया, वे लोग सृक्ष्मताके रहस्यको नहीं समझते हैं।

नारायण, अब कुछ वात तो भाई बाबाजीओंके लिए भी रहने देना चाहिए न, सब बात (जान लें) तब तो वह महाराज जैसे—'हम तुमते कछु घाटि'! होता है, वही होगा।

तो यह जो सूक्ष्म शरीर है, यह आकाशसे बड़ा होता है। यह स्थूल आकाश यह अपने भीतर नरक बनाता है, यह अपने भीतर स्वर्ग बनाता है, यह अपने भीतर ब्रह्मलोक बनाता है और यह अपने भीतर गोलोक बनाता है, साकेत बनाता है, कैलाश लोक बनाता है, यह अपने भीतर प्रकृति बनाता है, अव्याकृत और, यह अपने भीतर ईश्वर बनाता है। यह जो सूक्ष्म शरीर है न, यह तो स्थूल शरीरके समान परिच्छित्र हो ही नहीं सकता, यह तो एक ही है, एक ही सूक्ष्म शरीर है। और इसमें जो असली जीव है, वह भी एक है। इसको एक जीववादकी प्रक्रिया बोलते हैं और ये सब क्या है? बोले—ये सब जीवाभास हैं।

जीवाभास कैसे? िक जैसे सपनेमें कुम्भका मेला दिख जाय, वैसा है। यह बम्बई कहाँ दिख रही है? िक उसी सूक्ष्म शरीरधारी एक जीवको यह बम्बईका स्वप्न आ रहा है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका स्वप्न आ रहा है। इसमें इन्द्र है, वरुण है, कुबेर है, इसका स्वप्न आ रहा है। इसमें ब्रह्मा है, विष्णु है, महेश है, इसका स्वप्न आ रहा है। एक जीववादकी प्रक्रिया इसको बोलते हैं।

'वेदान्तसिद्धान्तमुक्ताविल' ग्रन्थ है स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वतीजी महाराजका, उसमें इस प्रक्रियाका निरूपण है, 'विचार-सागर' वाली प्रक्रिया नहीं है। विचारसागरमें दूसरी प्रक्रिया है। 'पंचदशी में दूसरी प्रक्रिया है। यह वेदान्त सिद्धान्त मुक्ताविलकी प्रक्रिया है शांकर भाष्यके अनुरूप, लेकिन आप गौर करके देखो, जैसे स्वप्नावस्थाके सब जीव और सब दृश्य हमारे स्वप्न होते हैं, वैसे जाग्रद्-वस्थाके सब जीव सब दृश्य, सब देवता, सब लोक हमारे स्वप्न हैं। हमारे सूक्ष्म शरीरके भीतर हैं।

इस सूक्ष्म शरीरका नेता कौन है ? तो देखो, इस मतमें क्या होता है !

देखो, अवच्छेदवादकी प्रक्रिया जुदा है! वह भी इससे मिलती है। वे कहते हैं—आत्मा नरकमें जाता नहीं, अपने मनमें नरक बनाकर उसका भोग करने लगता है। आत्मा स्वर्गमें जाता नहीं, अपने मनमें स्वर्ग बनाकर उसका भोग करने लगता है। आत्मा वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत लोकमें जाता नहीं, अपने मनमें, उसको बना कर भोग करने लगता है।

आत्माका पुनर्जन्म भी नहीं होता। वह अपने मनमें ही जो पुनर्जन्म बनता है न, वह बने हुए पुनर्जन्मका भोग करता है, उसमें हजारों वर्ष लगते हैं, करोड़ों वर्ष लगते हैं, उसमें हजारों मीलकी यात्रा होती है, उसमें हजारों योनियाँ प्राप्त होती हैं।

यह जैसे हम लोग अपने घरमें बैठे-बैठे सुखकी कल्पना करके सुखी हो लेते हैं, दु:खकी कल्पना करके दु:खी हो लेते हैं, एक माता है, कभी-कभी सत्संगमें आती हैं, आज नहीं हैं। तो उन्होंने बताया कि एक दिन वह कहीं अपनी माँके साथ किसीके घर मातमपुर्सी करने चली गयीं, कोई मर गया था। आजकल तो महाराज मरनेकी खबर बहुत आती है। ऐसी आती है कि क्या बतावें! अब आज सबेरे पहला ही फोन आया कि केवलरामका शरीर पूरा हो गया। तो अब मृत्यु तो सबके साथ लगी है। कोई टाल नहीं सकता। लोग पैसेके लिए रोते हैं और शरीरका ठिकाना नहीं। लोग रिश्तेदारके लिए रोते हैं और अपने शरीरका कुछ ठिकाना नहीं। यह भाव छूटना ही, ख्याल छूटना ही होता है। जैसे एक आदमीको ख्याल हो गया हो कि हमारा तो दिवाला कल-परसोंमें निकलनेवाला है और वह व्याकुल हो रहा हो, दु:खी हो गया न! अब इसी बीचमें तार आया कि तुमको करोड़ रुपयेका लाभ हो गया है। तो क्या हुआ? वह दु:खी मर गया कि नहीं! वह दु:खी मर गया न! तो वह दु:खी मर गया। कैसे मरा? एक तार आया और मर गया।

एक आदमीको बड़ा सुख हो रहा था कि उस लड़कीसे हमारा ब्याह होनेवाला है, जो मिस इण्डिया है। बड़ा ही मजा आ रहा था कि हमारी तो उस लड़कीसे शादी होनेवाली है। तार आया महाराज कि हवाई जहाजके एक्सीडेंटमें वह मर गयी। लो, अब सुखी आदमीको मरनेमें कितनी देर लगी? तो वह सुखी आदमी जितनी देरमें सुखीसे दु:खी हो जाता है और वह दिवालिया जितनी देरमें दु:खीसे सुखी हो जाता है, क्या हुआ? वह मरा कि जिन्दा हुआ? कि न वह मरा न जिन्दा हुआ; एक खबर आयी तो मन वैसा बन गया और दूसरी खबर आयी तो मन ऐसा बन गया, यह जो संसारका मरना-जीना है, यह बिलकुल इतना ही है।

असलमें नरक भी इतना ही है। मैंने यह पाप किया अब नरकमें पहुँच गया और उस समय शरीर भूल गया। शरीरका सम्बन्ध छूट गया, नरकमें पहुँच गये और मैंने यह पुण्य किया और शरीरका सम्बन्ध छूट गया और स्वर्गमें पहुँच गये।

यह स्वर्ग भी एक ख्याल है। यह नरक भी एक ख्याल है। यह पुनर्जन्म भी एक ख्याल है। दुनियामें जो यह सुखीपना, दु:खीपना है, यह भी एक ख्याल है। इसमें जो जानेमें देर लगती है, वह भी एक ख्याल है और जो तुरन्त सद्योमुक्ति हो जाती है, यह भी आप देखना, मैं बद्ध हूँ—यह ख्याल है, बिना सोचे-विचारे मैं बँधा हुआ हूँ—यह भी एक ख्याल है और मैं मुक्त हूँ—यह भी एक ख्याल है। गरुड़ पुराण पढ़ो तो नरकके डरसे व्याकुल हो जाओगे और उपनिषद् पढ़ो तो अपनी मुक्ति सोच करके शान्त हो जाओगे। गरुड़ पुराणकी भी जरूरत है, पापियोंको पापसे विमुख करनेके लिए।

तो अगर आप समझते हैं कि हमारे पेटमें, दिलमें, मुँहमें और कानमें सब जगह भरपूर जो आकाश है, यह आकाश केवल मेरा नहीं है। यह आकाश तिजोरीमें बन्द नहीं हुआ है, यह ब्रह्मपुरीमें कैद नहीं हुआ है। तो यदि आप इस आकाशको बेकैद समझ लेते हैं, तो यह आकाश तो शब्द तन्मात्राका तामस रूप है। यदि आप सात्त्विक तन्मात्रासे बने हुए अन्तः करणका ख्याल करें, तो वह तो छोटा है नहीं, अरे हजार गोलोक बनाकर उसमें विहार कर लो—रास लीला। हजार साकेत बनाके महाराजाधिराज बन लो। हजार कैलाश बनाकर उसमें शिवरूप हो जाओ, यह जो परमात्माका स्वरूप है महाराज, प्राणशरीरनेता—

बद्धाभिमानी बद्धो हि मुक्तो मुक्ताभिमान्यपि। किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥

जो अपनेको बद्ध समझता है वह बद्ध है, जो अपनेको मुक्त समझता है वह मुक्त है, न कोई बद्ध है, न मुक्त है। जो मूर्ख यह अभिमान करता है कि में दु:खी हूँ, वह दु:खीपनेका अभिमान करते के कारण परमात्माके स्वरूपमें दु:खी हो जाता है और जो अभिमान करता है कि में सुखी हूँ, वह सुखीपनेका अभिमान करनेके कारण सुखी हो जाता है। और, नारायण, जो दोनों अभिमानको छोड़ देता है, वह सीधा ही परमात्मा रहता है, वह न सुखी, न दु:खी। न निरोधो न चोत्पित्त। बन्धन और मोक्ष तो है ही नहीं आत्माके स्वरूपमें।

,तो इस अन्नमय शरीर ब्रह्मपुरीमें और हृदयं पुण्डरीकं उसमें सिन्निहित होकर यह बेठा हुआ है; क्योंकि इसकी जो स्थिति है, इसकी जो उपलिब्धि है; स्थिति तो सब जगह है, पर उपलिब्धि वहीं होती है कि जहाँ ख्याल बन गया है कि मैं बद्ध हूँ।

अच्छा, कोन ऐसा जीव है सृष्टिमें, जिसने इस वातका साक्षात्कार किया है कि मैं परिच्छित्र हूँ? यह चुनौती है दर्शनशास्त्रकी, यह वेदान्त शास्त्र चैलेंज देता है इस वातका, कौन ऐसा जीव है जिसने यह साक्षात् किया कि मैं परिच्छित्र हूँ? मैं देश-काल-वस्तुसे कटा हुआ परिच्छित्र हूँ!

अच्छा, बोलो कि मैंने साक्षात् किया कि मैं परिच्छित्र हूँ! तो जब तुमने परिच्छित्रका साक्षात्कार किया, तो तुम परिच्छित्रको न्यारे हो गये न! और जो घड़ेको देखता है सो घड़ेसे न्यारा, जो परिच्छित्रको देखता है वह परिच्छित्रसे न्यारा, तो तुम तो अपरिच्छित्र हो गये। तो परिच्छित्र और परिच्छित्रके अत्यन्ताभावका अधिकरण जो अपना आत्मा है, वह तुम्हारा स्वरूप है और परिच्छित्रके अत्यन्ताभावका अधिकरण जो आत्मा है, उसमें जो परिच्छित्र प्रतीयमान है, प्रतीय हो रहा है, वह तो बिलकुल मिथ्या प्रतीत हो रहा है। तो,

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः।

तदात्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन—यह आत्मतत्त्व दिखायी पड़ता है, इसका अनुभव होता है, साक्षात्कार होता है, कैसे? कि शास्त्राचार्योपदेश- जिनतेन ज्ञानेन शमदमध्यानसर्वत्यागवैराग्योद्भृतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पृणी पश्यन्त्युपलभन्ते धीरा विवेकिनः।

यह एक विशिष्ट विज्ञान है, जो ऐन्द्रियक नहीं है। जैसे डॉक्टर लोग साँ रोगी मारकर यह परीक्षा करें, सौ मेढक चीरकर यह परीक्षा करें कि यह दवा किसके ऊपर लगती है, यह औषि क्या है, यह नस क्या है, यह नाड़ी क्या है ? इन्द्रियोंक द्वारा जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है, वह आत्माके बारेमें नहीं होता, वह अनात्माके बारेमें होता है। वह द्रष्टाके बारेमें नहीं, दृश्यके बारेमें होता है। यह हमारा जो अध्यात्म विज्ञान है यह द्रष्टिर विज्ञान है, इसका नाम दृश्य विज्ञान नहीं है। तुम यन्त्रोंके द्वारा, दूरबीन-खुर्दबीनके द्वारा, रसायनशालामें प्रयोगके द्वारा दृश्यकी जाँच करते रहो, वह द्रष्टाकी जाँच नहीं है, इसीलिए शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे शम, दम, ध्यान, सर्वत्याग वैराग्यकी सम्पत्तिसे विवेकी पुरुष इसको देखते हैं कि यह अखण्ड है, इसके मिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, यह परमात्मा है।

आनन्दरूपममृतं यद्विभाति। अरे यह आत्माका स्वरूप क्या है भाई? आनन्दरूपममृतं यद्विभाति। सम्पूर्ण अनर्थ, अनर्थ क्या है? ये जो पाप होते हैं ये अनर्थ हैं। जो दूसरेको हम नुकसान पहुँचाना चाहते हैं, दूसरेका जेब काटना चाहते हैं, अरे बाबा जेबकतरे रेलवेस्टेशन और बाजारमें नहीं होते हैं, जो अन्यायसे दूसरेके धनको चाहता है, उसीका नाम जेबकतरा है। जेबकतरा कौन होता है? जो अन्यायसे दूसरेकी सम्पत्ति चाहता है।

यह अनर्थ है। अनर्थ क्यों है? आज तुम दूसरेका जेब काट रहे हो, कल तुम्हारा कोई काट लेगा। यह बिलकुल पक्की बात है। क्योंकि जो तुम्हारा में है, वही उसका मैं है। मैं तो दो है नहीं। तुम दूसरेके लिए जो करोगे, वह तुम्हारे लिए जरूर हो जायेगा। तो यही अनर्थ है। यह जो अधर्मका अनुष्ठान है यह अनर्थ है और इसका फल दु:ख है। और, दु:खसे छूटनेके लिए आयास होता है, परिश्रम होता है। और, यह अपना आत्मा ही आनन्दरूप है। इसमें न तो अनर्थ है, न दु:ख है और न तो आयास है। यह—अमृतं यद विभाति। यह साक्षात् अमृतस्वरूप है। अम्त है यह। स्वर्गका जो अमृत है, वह धर्मकी प्रेरणा देता है। वह तो ऐसा ही है जैसे कोई बच्चेसे कहता है कि बेटा, स्कूलमें चलो, क्यों? कि वहाँ आज सन्तरेका शर्बत मिलेगा पीनेके लिए। क्या बढ़िया! रंग

उसका कैसा! स्वाद कैसा! बेटेने कहा कि अच्छा! वहाँ शर्बत मिलेगा पीनेके लिए, तो चलते हैं।

अब वे बच्चेको ले गये स्कूलमें, एक दिन शर्बत पिलाया, उसको आदत पड़ गयी, स्कूल जानेकी, तो वहाँ अक्षर भी सीखने लगा, विद्या भी सीखने लगा, लेकिन स्कूल जानेका मतलब शर्बत पीना तो नहीं है। स्कूल जानेका मतलब तो वहाँ विद्या सीखना है। इसी प्रकार यह स्वर्गमें जा करके अमृत मिलेगा पीनेको, यह जो शास्त्रमें वर्णन किया गया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि आपकी जीभपर पानी आवे कि स्वर्गमें चलकर अमृत पीवें। उसका मतलब स्वर्गमें जाकर अमृत पीना नहीं है। उसका मतलब यह है कि आप देह नहीं हैं, देहसे परे हैं। कर्मका फल होता है और आप देहसे परे हैं। तो देहातिरिक्त आत्माके ज्ञानमें मददगार होनेसे स्वर्ग और अमृतका वर्णन किया जाता है, वह कोई वस्तु तत्त्व है, इसलिए नहीं किया जाता। तो वह हृदयमें बैठा हुआ जो परमात्मा है, यही असलमें विज्ञान हो जानेपर, धीर पुरुष देखते हैं कि अखण्ड है, अनन्त है, अद्वय है, आनन्द रूप है और वस्तुत: अमृत है।

एक बात बताओ—

साधो तुम मरते नहीं, पल्टु करो विचार।

हे पल्टु विचार करो! क्या?

अच्छा! कोई बतावे हमने अपनी मौत देखी है! दर्शन शास्त्रमें ऐसे एक आदमीके व्यक्तिगत अनुभवकी कोई कीमत नहीं है। एक व्यक्ति मरा कि जिंदा हुआ—इसकी कोई कीमत परमात्माके अन्दर नहीं है।

सिद्धान्तकी दृष्टिसे वस्तुको तौला जाता है। वे बोले—अच्छा कोई सृष्टिमें ऐसा है? जिसको यह अनुभव हो कि मैं मर गया। बोले—महाराज धनियोंका तो पैसा चला जाय, तो बोलते हैं—मैं मर गया और सास अगर नाराज हो जाय तो बहू कहती है कि मैं मर गयी और पित विलायत चला जाय तो बोली—हाय री! मैं तो अकेले मर गयी। अब ऐसी मौत तो आप लोगोंने हजारों बार देखी होगी जिंदगीमें। ऐसा कौन है जिसने न देखी होगी? और हजार बार देखकर भी आप सब जिंदा ही हैं कोई मरा नहीं है। ऐसी मौत तो रोज-रोज देखते हैं। ये प्रेमी लोग दिनमें सत्रह दफे मरते हैं। मार डाला रे! आप जानते हैं। कोई आँखसे मरता है, कोई दिलसे मरता है, कोई आवाज सुनकर

मरता है, कोई शक्त देखकर मरता है। तो ये पट्ठे जो मरनेवाले हैं ये सच्चे मरनेवाले नहीं हैं। ये तो ढोंगी हैं, मौतके ढोंगी, भला!

अच्छा कोई कहे कि मैं मर गया। एक आदमी कहे न, भाई दुनियामें कोई ऐसा होगा जो मरा होगा। हमने देखा दादा मरे, परदादा मरे! कि उनको मरते नहीं देखा, तुमने उनके शरीरको जाते देखा। उनके आत्माको तो तुमने देखा ही नहीं। अच्छा बोले—कि भाई शायद कभी हमको मृत्युका अनुभव हुआ हो! कि हुआ हो तो तुम आज जिंदा हो, पहले मर गये होते तो आज कैसे होते? आज होना, इस बातका प्रमाण है कि तुम कभी मरे नहीं हो!

बोले—अच्छा भाई! अबतक नहीं मरे तो आगे मर जायेंगे। बोले—तुम मरोगे तो तुमको अनुभव होगा कि मैं मर गया? या मैं मर रहा हूँ? कि अनुभव नहीं होगा? यदि मैं मर गया—यह अनुभव होगा ही नहीं, तब तो अनुभवकी प्रणालीमें मृत्यु शब्द निरर्थक है। क्यों? कि मैं मर गया—यह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। क्योंकि जिसको यह अनुभव हुआ कि मैं मर गया वह जिन्दा है। वह तो मौतसे न्यारा है।

तो यह आत्माका जो स्वरूप है यह कैसा है ? कि—आनन्दरूपममृतं यद् विभाति। यह आनन्दस्वरूप है, यह अमृत स्वरूप है। और यद्विभातिका अर्थ है कि बिलकुल भान हो रहा है। भानस्वरूप है।

अब देखो इसमें क्या है? कि विभाति तो ज्ञान है, चेतन, चित्। और अमृतं सत् है और आनन्दरूपं प्रिय है। इसका अभिप्राय यह है कि तुम अमृत अविनाशी हो और तुम आनन्द परम प्रिय हो और विभाति माने तुम भानस्वरूप हो। अस्ति, भाति, प्रियरूप तुम हो। और यह नाम-रूपात्मक प्रपंच तुम्हारे स्वरूपमें नहीं है। यह मालूम तो सब कुछ पड़ता है, मर गया रे, लेकिन मरा नहीं। जी गया रे! लेकिन जिया नहीं। बद्ध हो गया रे! असलमें बद्ध नहीं हुआ। मुक्त हो गया रे! कि असलमें मुक्त नहीं हुआ, क्योंकि ये ख्याल हैं। यह मालूम पड़ना है। ये प्रत्यय हैं। ये प्रतीतियाँ हैं।

प्रतीति माने प्रत्याघात ही होता है। ज्ञानके प्रत्याघातको प्रतीति बोलते हैं। यह प्रति और अयन, यह इणगतौ धातुसे अय बना तो भी और अयगतौ धातुसे अय बना तो भी, यह अयका प्रतीप है, माने ज्ञानकी उलटवासी है। सुनी होगी आपने कवीरकी उलटवासी—'नावमें नदी इव गयी।' यह क्या है ? बोले—यह संसार जो दिखायी पड़ता है यह प्रत्यय है। माने जानकी उलटवासी है। यह हम आँख, कान, नाकसे अपने जानको भेजते हैं और यह उलटा लौटकर कुछ-न-कुछ अपनेको धोखा दे देता है कुछ-का कुछ वतला देता है।

तो यह सम्पूर्ण प्रत्ययोंमें जो प्रत्ययका साक्षी है, प्रत्ययका अधिष्ठान है वहीं प्रिय है, वहीं अमृत है और वहीं भानस्वरूप है। तो यह अपना आत्मा है और इसमें जो दु:खीपना, सुखीपना, मरना-जीना, यह जड़ता-चेतना-वन्धन मुक्ति—ये सब प्रत्यय मात्र हैं, बौद्ध प्रत्यय हैं. ख्याल हैं। यह सपनेमें जैसे कोई चीज मालूम पड़े ऐसे मालूम पड़ती है।

तो जव यह ज्ञान होता है, तब क्या होता है?

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। श्रीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरं॥।।।

परमात्माका ज्ञान होते ही महाराज क्या आनन्द होता है! अब इस प्रसंगको कल सुनावेंगे।



प्रवचन : 22, मन्त्र 8 से 11 तक

ग्रन्थिभेदन और तत्त्वज्ञान!

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ 2.2.8 ये जो मन्त्र हैं ये वेदान्तियोंके सम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध हैं। बात-बातमें वेदान्ती लोग—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं और बात-बातमें बोलते हैं— ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्। भिद्यते हृदयग्रन्थिः।

आओ सीधे-सीधे इस मन्त्रका अर्थ लगावें। तस्मिन् परावरे दृष्टे सित। हृदयग्रन्थिर् भिद्यते। सर्व संशयाः छिद्यन्ते। अस्य कर्माणि च क्षीयन्ते। तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः।

—धीर पुरुष आत्मा और ब्रह्म दोनोंकी एकताको जानकरके अर्थात् भेदकी जो भ्रान्ति है उसको मिटाकर 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति'—सहज आनन्दरूप अमृत ब्रह्म है प्रकट हो रहा है।

अमृतं माने अविनाशी। कल आपको सुनाया था। अमृतं और आनन्दरूपम् प्रियं और 'यद् विभाति'—भानं, यद् भानं प्रियं सत् स्वरूपं—जो भान स्वरूप है, सत् स्वरूप है,प्रिय स्वरूप है और अपना स्वरूप है। तिस्मन्—यह तिस्मन् पद्का क्या अर्थ है? 'तिस्मन् दृष्टे सित।' जब उसका अनुभव हो जाता है। कथं भूते तिस्मन्? और केन प्रकारेण दृष्टे सित—ये दो प्रत्यय हुआ। वह जो तत्त्व है, उसका स्वरूप क्या है? और उसका दर्शन कैसे होता है? तो परं च अवरं च—वही वर है और वही अपर है। अवर है। यह अपर लोअर जो दो क्लास होती हैं, दोनों वही है। वर और अवर। जो सूक्ष्म मालूम पड़ता है सो, जो स्थूल मालूम पड़ता है सो; जो कारण मालूम पड़ता है सो, जो कार्य मालूम पड़ता है सो सब वही है।

यह देखो, इसको आप तीन ढंगसे परावरको बैठा लो अपने मनमें। एक तो देशकी दृष्टिसे। क्या? कि यह शरीर वह सिंहासनके अन्दर ही है। तो यह छोटा हुआ और यह जो मकान है यह तो मुहल्लेके भीतर है न, यह तो सिंहासनके भीतर नहीं है, तो यह बड़ा हुआ।

तो ऐसे समझो कि हृदयके सूक्ष्म प्रदेशमें अहं-अहं-अहं—ऐसे फुरता हुआ एक नन्हा-मुन्ना, बड़ा प्यारा-प्यारा अपना में और एक अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसमें भास रहे हैं उस अव्याकृतमें फुरता हुआ अहं-अहं—ईश्वर; तो यह छोटा लल्ला और वह सबको अपनी गोदमें लेनेवाला बड़ा—ये दोनों एक हैं। परं और अवरं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका अधिष्ठान, जो तत्त्व है सो और यह हृदयाविच्छन्न जो चैतन्य है सो; समष्टि अविच्छन्न चैतन्य और व्यष्टि अविच्छन्न चैतन्य। समष्टि अविच्छन्न चैतन्य पर है और व्यष्टि अविच्छन्न चैतन्य अवर है। और समष्टि और व्यष्टिका भेद काट दो, निषेध कर दो, तो जो समष्टि अविच्छन्न चैतन्य सो व्यष्टि अविच्छन्न चैतन्य।

अब देखो, एक कार्य है, एक कारण है। समझो एक मौसम्मी है। यह क्या है ? कि यह कार्य है। इसका कारण क्या है ? कि पञ्चभूत। तो मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान—पाँचों कारणोंसे यह मौसम्मी बनी है, यह कार्य हुआ।

इसी तरहसे मौसम्मी, आम, अमरूद, इमली, पशु, पक्षी, मनुष्य—जितने भी भौतिक पदार्थ बनते हैं नामरूपवाले, वे हुए कार्य और उनमें कारणरूपसे जो भूत सूक्ष्म, नाम रूपकी अव्याकृत दशा, जहाँ नामरूप प्रकट हुए ही नहीं थे, तो वह कार्यावस्था, मौसम्मी कार्यावस्था और सम्पूर्ण कार्योके आदिमें और अन्तमें और मध्यमें विद्यमान जो कारण दशा। तो जो कार्यावच्छित्र चैतन्य है, वहीं कारणावच्छित्र चैतन्य है।

आकाशमें तो भेद नहीं होगा! जिस आकाशमें मौसम्मी है उसी

आकाशमें धरती है और ये आकाशादि पंचभूत जिस चित्ताकाशमें हैं उसी चित्ताकाशमें पशु-पक्षी आदि भी हैं।

कारणाविच्छन्न चंतन्य और कार्याविच्छन्न चंतन्य ये दोनों एक हैं। यह विपयकी दृष्टिसे एकता, हुई। व्यष्टि और समिष्टि—यह देशकी दृष्टि है। छोटा देश और बड़ा देश, छोटा घेरा और बड़ा घेरा, दिलकी चारदीवारी और मकानकी चहारदीवारी और नगरकी चार दीवारी। तो चहारदीवारीकी दृष्टिसे छोटे घेरेमें जो है, वही बड़े घेरेमें है, न छोटा घेरा है, न बड़ा घेरा है। यह तो व्यष्टि अवच्छिन्न और समिष्ट अवच्छिन्न चैतन्य हुआ और जो मौसम्बीमें है वही धरतीमें और जो धरतीमें है वही सूर्यमें है और जो सूर्यमें है वही आकाशमें है। वस्तुकी दृष्टिसे जो अभेद है, वह कार्य-कारणका अभेद है।

अब यह ऐसे समझो जो एक सेकेंडमें है वही सौ वर्षमें है। तो यह क्या हुआ? कालके अवयवमें जो है, वही समूचे कालमें है। क्षणाविच्छन्न चैतन्य जो है, वही महाकालाविच्छन्न चैतन्य है। तो क्षण और महाकाल दोनोंको छोडकर, जो अनित्यमें है, वही नित्यमें है।

ऐसे समझो कि कालकी एक धारा बह रही है, उसमें छोटी-छोटी वृँदोंक रूपमें यह सेकेंड, यह मिनट, यह घंटा-घड़ियाल सब-के-सब बह रहे हैं। तो जो क्षणाविच्छन्न चैतन्य है, एक-एक क्षणमें जो चैतन्य है, वही कालकी सामान्य धारामें भी, नित्यत्वमें भी वही चैतन्य है।

तो कालकी दृष्टिसे वह अविनाशी है और देशकी दृष्टिसे वह परिपूर्ण है और वस्तुकी दृष्टिसे वह अद्वय है और स्वदृष्टिसे वह आत्मा है। उसके सिवाय दूसरा कोई नहीं है, इसलिए उसका नाम ब्रह्म है। तो—तस्मिन् परावरे दृष्टे सित—यह जो कार्य-कारणोपाध्यवच्छित्र, व्यष्टि-समष्टि उपाध्यवच्छित्र यह जो क्षण संवत्सरादि अनित्य काल और नित्यकालावयव और महाकाला-वच्छित्र चैतन्य, वह चैतन्य ब्रह्म है और वह हमारी आत्मासे अभित्र है।

तदेव अहं इति दृष्टे सित—वही मैं हूँ—इस प्रकारसे उसका दर्शन होता है।

दर्शन होनेसे क्या होता है ? यह देखो अब उसका फल बताते हैं तीन लाइनमें। तिस्मन्दृष्टे परावरे—यह तो हो गया तत्त्व ज्ञान। अब उसका फल बताते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिशिखद्यन्ते सर्वसंशयाः। श्रीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

यही फल! असलमें ज्ञानका फल नहीं होता। सब फलोंका फल ज्ञान है। जब ज्ञानमें कार्य-करणका भाव ही कट गया—बाधित हो गया, तो उसमें साधन और फल कहाँसे आवेगा कि यह साधन है और यह फल है!

एक महात्माके पास हमलोग गये थे। तो उन्होंने एक बात बतायी— कर्मका फल उपलब्धि है। कोई भी जब हम काम करते हैं तो वह काम करके एक नतीजे पर पहुँचते हैं, उपलब्धि होती है। रसोई बनाते हैं तो क्या होता है? रोटी पकाते हैं, तो पकी पकाई रोटीकी उपलब्धि होती है। पक गयी रोटी? कि हाँ मालूम पड़ गया। तवेपर उलटा-पलटा, मालूम पड़ गया। कि पक गयी रोटी, उसको उठाकर मुँहमें डाला, बिलकुल स्वाद आगया रोटीका।

हमेशा कर्मके अन्तमें ज्ञान होता है। अगर कर्मके अन्तमें ज्ञान न हो तो वह निष्फल गया। तो परिच्छित्र विषयक कर्म होता है तो परिच्छित्रताका ज्ञान होता है। अपरिच्छित्रके लिए कर्म होता है तो अपरिच्छित्रताका ज्ञान होता है। ज्ञानके बिना तो सब निष्फल है। ईश्वरकी प्राप्ति भी निष्फल है ज्ञानके बिना। सब कर्मोंका फल उपलब्धि है।

तो पहली बात बतायी भिद्यते हृदयग्रन्थि:। आपको हृदय ग्रन्थिकी थोड़ी-सी बात सुनाते हैं। इसी उपनिषद्में एक जगह अविद्या ग्रन्थिका वर्णन आगया है—

एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।

मेरे प्यारे चाँद! यह गुरु शिष्यको बोलता है। हे सोम्य! बड़े शान्त हो, बड़ी समता है, तुम्हारे मुखसे तो यह मुस्कानकी चाँदनी छिटक रही है।

लेकिन दुनियादारोंको अगर यह चन्द्रमा मिल जाय, तो क्या करेंगे— आपको मालूम है? अपने ड्राइंगरूममें लाकर लगा देंगे कि यह देखो कैसी बढ़िया शोभा है! ईश्वरने भी अपने ड्राइंगरूपमें चन्द्रमाको लगा ही रखा है, वह भी शौकीन है। लेकिन गुरु महाराज चेलेको, अपने घरकी शोभा नहीं बनाता, वह कहता है कि ज्ञान हो गया, बेटे जाओ, अब दुनियामें विचरो। फेंक देता है उठाकर, जाओ अब आकाशमें। आकाशमें विचरण करो। तो—

अविद्या ग्रन्थिं विकिरतीह—अविद्या ग्रन्थिको विकीर्ण कर देना। अविद्या

ग्रन्थि माने जो हम अपनी आत्माको ब्रह्मसे जुदा मान करके, स्वयं तो बन गये क्षणिक! जो ब्रह्मसे जुदा होगा सो क्षणिक होगा। अनन्तसे अलग होकर कोई अपनेको क्या बना सकता है?

एक व्यापारी थे, बड़ा अच्छा व्यापार उनका चल रहा था, भारत वर्षमें बड़े प्रसिद्ध थे। महाराज उनके थे एक पार्टनर, उन्होंने लड़ाई कर ली। बोले—हम तुमसे अलग व्यापार चलावेंगे, हमको अलग कर दो। वह व्यापार तो बड़ा भारी था। अव उसमें से वे अलग हुए तो जैसे चन्द्रमामें से एक किरण अलग हो गयी हो, वेंकवालोंने उनको पैसा ही देना बन्द कर दिया। बोले—भाई हम पूरे फर्मको देते हैं, तुमको अलग थोड़े ही देंगे। नारायण! ठन-ठनपाल मामला हो गया। नहीं चला उनका व्यापार।

तो ब्रह्मसे जीव अगर अलग होकर अपनेको रखना चाहेगा, तो क्या हो जायेगा? एक तो इसका घेरा छोटा हो जायगा, देशपरिच्छित्र हो गया और एक इसकी उम्र छोटी हो जायगी, काल परिच्छित्र हो जायगा, क्षणिक हो जायगा। यह देहाभिमानी हो जायगा। ब्रह्मसे अलग होनेका तीन नतीजा इस जीवको भोगना पड़ता है। एक तो जन्म-मरण—क्षणिक हो गया, दूसरे—छोटे घेरेमें वँध गया, कैदी हो गया और तीसरे-देहाभिमानी हो गया। हड्डी, मांस, चाम, जड़ हो गया। विनाशी हो गया, घेरेमें बँध गया, जड़ हो गया। और, परब्रह्म परमात्माने हमसे अलग होकर क्या फायदा उठाया? बोले—बिलकुल जड़ता उनके हाथ लगी। क्यों? कि जो द्रष्टासे अलग होगा, वह या तो दृश्य होकर रहेगा या किल्पत होकर रहेगा। हमारी आत्मासे जो अलग हो जायगा, वह या तो परोक्ष होगा, परोक्ष होगा तो किल्पत होगा, कभी प्रत्यक्ष ही नहीं होगा उसका; और या तो सामने होगा तो दृश्य होगा—जड़ होगा। तो ईश्वरने भी हमसे अलग होकर कोई फायदा नहीं उठाया।

तो यह अलग-अलग होनेमें, लड़ाई-झगड़ा करनेमें कोई फायदा नहीं है। फायदा तो मेल-मिलापमें है भाई! तो आत्मा और परमात्माको एक कर लो! तो देखो; परमात्माकी अनन्तता तुम्हारी अन्तता हो गयी। हमारा अभिमान भी टूट गया; बड़ेसे मिलनेमें अभिमान टूट गया, घेरा टूट गया, जड़ता टूट गयी और परब्रह्म परमात्मामें जो जड़ता आयी थी, सो भी फायदा हो गया, हमसे एक हो गया। तो अविद्याकी ग्रन्थि निवारण करनेमें ही मनुष्यका लाभ है। यह अविद्या क्या है ? इसको हमलोग बहुत साधारण भाषामें नासमझी बोलते हैं। अध्यास। अध्यास माने बुद्धिकी वह दशा जो एक चीजको दूसरी चीज समझती हो।

यह मौसम्बी है न, अगर इस मौसम्बीको अगर कोई अमरूद समझ ले तो क्या हुआ? अध्यास हो गया। मौसम्बीमें अमरूदका अध्यास हो गया— अन्यस्मिन् अन्यावभासः इस मौसम्बीको अगर कोई सन्तरा समझ ले तब भी इसको अध्यास बोलेंगे। अध्यास शब्दका अर्थ आप मजेमें समझ लो, रास्तेमें चलती हुई गेरुआ रंगका कपड़ा पहननेवाली स्त्रीको अगर कोई महात्मा समझ ले तो क्या हुआ? अध्यास हो गया। उलटी बुद्धिका नाम अध्यास है।

हमारे कहनेका मतलब यह है कि जो चीज जो न होय उसको वह समझ बैठना, इसका नाम अध्यास है। तो अपने आत्माको शरीर समझ बैठना अध्यास है और शरीरको आत्मा समझ बैठना अध्यास है। अधि ऊपिर अस्यते निक्षिप्यते इति अध्यास:। एकके ऊपर दूसरेको थोप देना, इसका नाम अध्यास है। यह अध्यास जो है यह भ्रान्ति है। अपनेको ब्रह्म न जानकर (यह अज्ञान हुआ) अपनेको जीव मान बैठना। अपनेको न जानना अविद्याकी ग्रन्थि है। तो तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होती है।

अब दूसरी बात हृदयग्रन्थिकी बताते हैं। वह अविद्याग्रन्थि तो मैंने प्रसंग वश बतायी। यह हृदयग्रन्थि यहाँ है। माने अविद्याग्रन्थि दूसरी है। अपनेको न जानना हो अविद्या है। और यह हृदयग्रन्थि क्या है? अविद्याके कारण जो वासना प्रत्यय है, वासना राशि, राशि राशि, अपनेको दूसरेके साथ मिला देना, यह हृदय ग्रन्थि है। जैसे चावलमें तिल मिला देना, गुड़में कंकड़ मिला देना। यह हृदयग्रन्थि है। हृदय ग्रन्थि बुद्धिमें होती है। यह कामना ही हृदय-ग्रन्थि है!

देखो पहले तो अपनेको ब्रह्म नहीं जाना, फिर अपनेको अभावग्रस्त समझा!बोले—हमारा मजा कहाँ है ? कि औरतमें, मर्दमें। यह हृदयकी गाँठ हो गयी। अपने दिलको किसी ऐसी जड़ताके साथ बाँध देना। गाँठ तो तभी पड़ती है! आप लोग तो गाँठ लगानेमें बड़े माहिर हो। तो नाईने चोटीमें गाँठ लगाई, माँ-बापने कमरमें करधनी बाँधकर गाँठ लगायी, मुण्डनके दिन चोटीमें गाँठ लग गर्या—चृड़ाकरण हो गया। यज्ञोपवीतके दिन ब्राह्मणने गाँठ लगा दी और ब्याहके दिन महाराज पुरोहितने ढोल बजाकर स्त्री-पुरुषकी गाँठ लगा दी।

यह ग्रन्थि है। खैर, ये सब गाँठ तो बाहरकी हैं, इनको तो आजकलके लड़के भी नहीं मानते हैं, चोटीकी गाँठ भी नहीं मानते, जनेऊकी गाँठ भी नहीं मानते। अब तो केवल ग्रन्थिमें नाड़ेकी ग्रन्थि रह गयी है। कमरमें बड़ी भारी रस्सी लगाते हैं। सो उसको भी अब काटनेका तरीका निकल आया है, वह हमको मालृम है। लेकिन हृदयमें गाँठ है, अगर वह तुमसे नहीं कटी, तो क्या कटी?

दिलमें क्या गाँठ है ? कि हमारे पास कुछ नहीं है, दूसरेके पास है। क्या वेवकूफीकी गाँठ है! अरे भाई, सभ्य भापामें बोलते, तो बोलते ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानकी गाँठ है। अब हम देहाती आदमी उसको बेवकूफीकी गाँठ कहते हैं। यह वेवकृफीकी गाँठ क्या है ? अपनेको आनन्द-स्वरूप न जानकर, दूसरेको आनन्द मानना, हम सबको देख रहे हैं, देखनेवालेको भी देख रहे हैं, अपनेको जान स्वरूप न मानकर, अपनेको ज्ञेय मानना और अपनेको सत्य ज्ञानस्वरूप न मानकर, अपनेको ज्ञेय मानना और अपनेको सत्य ज्ञानस्वरूप न मानकर, अपनेको जन्म मरणवाला मानना। कामना क्या है ? यह हृदयग्रन्थि क्या है ? यह आत्माश्रय नहीं है, हृदयाश्रय है। हृदयाश्रय कहनेका अभिप्राय क्या है ? कि यह तुम्हारे दिलकी फँसावट न आत्मामें है न परमात्मामें है, सचमुच तुम कहीं फँसे नहीं हो, कहीं बँधे नहीं हो। यह जो तुम्हारा ख्याल है कि हम वँधे हैं—यह बिलकुल झूठा है। तो जब अपनेको ब्रह्मरूप आदमी मान लेता है, तव यह कामग्रन्थि कट जाती है।

कामग्रन्थि जो है यह लोभग्रन्थि और क्रोधग्रन्थिका भी उपलक्षण है। इस दुश्मनने हमारा काम बिगाड़ दिया। आदमी अपनेको दोषी समझनेका तो आदी नहीं है तो उसको कोई-न-कोई दोषी चाहिए। इसीलिए उसको उसने दुश्मन बना रखा है।

जब-जब दु:ख होता है तब-तब आप यह सूत्र याद कर लो, आपकी ही कोई ऐसी गलती है, आपके दिलकी कोई ऐसी उलझन है, आपके मनमें ऐसी कोई कामना है, आप अपनेको कोई कंगला मानते हैं इसके कारण आपको तकलीफ हो रही है, यह जो तकलीफ है, यह जो तप हो रहा है यह कहीं भूल है। छिद्यन्ते सर्व संशया:। कामनाकी ग्रन्थि यह गयी। यह आनन्दको दूसरी जगह माननेसे हृदयग्रिन्थ पड़ती है और ज्ञानको दूसरी जगह माननेसे संयश ग्रिन्थ पड़ती है। जब अपना आनन्द दूसरेमें माना, तो कामग्रिन्थ पड़ी, हृदय ग्रिन्थ आयी, और जब अपने ज्ञानको दूसरेमें माना, भाई हमको पूरा-पूरा ज्ञान नहीं, किसको ज्ञान है? कि सामने वालेको। अब पड़ोसीका ज्ञान तो समयपर काम नहीं देता। देखो किताबमें लिखा हुआ ज्ञान भी काम नहीं देता। ज्ञान तो वही काम देगा जो अपने होगा। तो ज्ञेय विषयक जितने संयम हैं, सब-के-सब कट जाते हैं। यहाँ तक कि दुनियाके बारेमें भी कोई संशय नहीं है।

आपको सुनाया था एक दिन महात्मा गाँधीके साबरमती आश्रममें एक कोई गाँवका आदमी आकर रहने लगा। उससे पूछो—आज नेहरूजी कहाँ हैं? तो बोलता कि अच्छा देखो बताते हैं। तो कहता आज जो नेहरूजी पूर्व दिशामें हैं। और पूर्व दिशामें मुँह करके बैठता और कहता—नेहरू जी इस समय यह काम कर रहे हैं। यह भी बता देता कि यह लिख रहे हैं और यह-यह अक्षर, इस ढंगकी टेढ़ी-मेड़ी लकीर खींच रहे हैं। उसको अंग्रेजी नहीं मालूम थी, लकीर खींचकर बता देता।

लोगोंने जाकर गाँधीजीसे कहा कि यह तो बड़ा सिद्ध है, इसको दूरका दर्शन होता है। तो गाँधीजी मुस्कुरा गये। माने लोगोंके लिए वह बड़ी बात थी. गाँधीजीके लिए बड़ी बांत नहीं थी। कभी उसके मुखातिब नहीं हुए, कभी उससे कोई बात नहीं पूछी!

यह भविष्य पूछनेवाले लोग! अरे पाँवके नीचेका तो दिखता नहीं है, महाकालके पेटमें क्या छिपा हुआ है और कितनी गहराईमें छिपा हुआ है! भूतकी याद करनेवाले भी नासमझ हैं, वह कितनी गहराईमें छिप गया, अपने हाथसे बाहर होगया! और भविष्यकी जानकारी करनेवाले एक दिन बेवकूफ बनेंगे। जो लोग सट्टा पूछ-पूछकर करते हैं न ज्योतिषियोंसे, एक दिन उनका दिवाला निकल जाता है। यह भविष्यका ज्ञान किसीको नहीं होता है महाकालका पेट बड़ा भारी है।

एक बार गाँधीजी स्वयं, जब अज्ञात जेलमें बन्द कर दिये गये, तो आश्रम वासियोंको पता नहीं था। एक क्रान्ति हुई थी, अगस्त क्रान्ति 1942 ई० में; किसीको बताया नहीं सरकारने कि कहाँ बन्द हैं! तो उस आदमीको वैठाया, ध्यान करके उसने बताया ऐसा महल है, ऐसा दरवाजा है, ऐसा फाटक है। किसीको पता न लगे। तब उसने बताया कि वहाँ जो पट्टी लगी है दरवाजेपर, उसमें ऐसी लकीर खिंची हुई हैं। और उसमें 'आगा खान महल निकल आया अंग्रेजीका, और लोग समझ गये कि कहाँ है।'

यह बिलकुल साबरमती आश्रममें बात हुई। बादमें वह आदमी चला गया, लेकिन गाँधीजीने कभी उसको बड़ा नहीं माना।

ये सब जो दुनियाके चमत्कार हैं, इनका आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे कोई सम्बन्ध नहीं है, परमार्थसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। न ग्रहणके ज्ञानका कोई परमार्थसे सम्बन्ध है कि बता दे कोई कि किस दिन ग्रहण लगनेवाला है, वह तो एक हिसाब है प्रकृतिका।

सर्व संशया:का अभिप्राय यह है कि एक परब्रह्म परमात्मामें यह जो अध्यस्त प्रपंच है, यह चाहे सुखके रूपमें प्रतीत होवे, चाहे दु:खके रूपमें प्रतीत होवे, जड़के रूपमें प्रतीत होवे, चेतनके रूपमें प्रतीत होवे, यह है तो ब्रह्म ही। तो अधिष्ठानके ज्ञानसे अध्यस्तका ज्ञान जब हो गया, हमने रस्सीको पहचान लिया. अब उसको कोई माला समझकर गलेमें पहनना चाहता है, कोई साँप समझकर उरता है, कोई डंडा लेकर उठाना चाहता है, तो उसकी मर्जी बाबा, हम तो रस्सीको पहचानकर बैठे हैं कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है। तो सारे संशय मिट जाय।

संशय किसको कहते हैं ? कि,

संशेरते जना अस्मिन् इति संशया: । जिसमें सारे मनुष्य सो जाते हैं, भूल कर बैठते हैं जिसके कारण। मित्रपर संशय हो, दुश्मन बन जाय, शत्रुपर संशय हो, तो वह धोखा दे दे। माने शत्रु हमारा शत्रु है कि मित्र है यह संशय हो जाय तो मित्र बनक्र शत्रु धोखा दे देगा। और मित्र पर संशय हो जाय कि यह शत्रु है तो मित्र भी हमारा शत्रु हो जायगा। यह बात आप देखो। हमने संसारमें देखा है, आप जिसके बारेमें जैसा सोचोगे, आपके लिए वह वैसा ही हो जायगा। अगर आप किसीके बारेमें रोज-रोज सोचो कि यह हमारा दुश्मन है, तो आज नहीं कल दुश्मन हो जायगा। और यह सोचो कि यह हमारा मित्र है, नित्र है, तो वह आपका मित्र हो जायगा। आप कल्पवृक्षके नीचे बैठे हैं, आप स्वयं कल्पवृक्ष हैं, आपकी आत्मामें-परमात्मामें कल्पवृक्ष बनानेकी शक्ति

मौजूद है, अपने विचारको बिगाड़ो मत। सारे संशय कट जाते हैं महाराज! जो कुछ है, जो कुछ होगा है ब्रह्म ही।

नानक है भी सच, होसि भी सच

जपुजी साहिबके प्रारम्भमें ही है।

है भी ब्रह्म, रहेगा भी ब्रह्म, गड़बड़ मत करो, अपना दिल, मत विगाड़ो, अपने दिलमें कूड़ा करकट मत डालो।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।

और जब परमात्माका दर्शन हो जाता है तो अस्य कर्माणि च क्षीयन्ते।

तो देखो हृदयग्रन्थ। आनन्दगत जो दोप है—आनन्द अनुभव करनेमें जो दोष है, उसके निवारणका नाम हृदयग्रन्थिका नाश है। कामना ही नहीं रहेगी तो आनन्दमें बाधा क्या पड़ेगी? और सर्वसंश्रयाः—युद्धिगत जो दोप है, भ्रान्ति जो है उसके निवारणका नाम संशयका निवारण है, कट जाते हैं। छिद्यन्ते माने कट जाते हैं सारे। और अपनेमें जो कर्तृत्व-भोकृत्वकी भ्रान्ति है; वस्तुगत भ्रान्ति, ज्ञानगत भ्रान्ति और आनन्दगत भ्रान्ति क्षीयन्ते। न मैं कर्ता हूँ, न में भोक्ता हूँ, न पापी हूँ, न पुण्यात्मा हूँ और कहीं भी कर्मका सम्बन्ध न हमसे पहले था, न अब है, न आगे होगा, कर्मके सम्बन्धसे मुक्ति। माने अपनेको कर्तृत्व-भोकृत्वके साथ जो बाँध रखा है, उसका निवारण।

क्या किया है! बताओ अगले मिनटमें क्या करनेवाले हो तुम? क्या विचार आवेगा तुम्हारे मनमें अगले मिनटमें? बोले—भाई, हम जो करेंगे सो होगा। कि अच्छा, जो करोंगे सो होगा, मानते हैं, पर क्या करोंगे, यह तो बताओ। बोले—अरे, जो चाहेंगे सो करेंगे। बोले—भाई क्या चाहोंगे, यह तो बताओ! तुम्हारे हाथमें है क्या?

इच्छा जो है वह कर्तृतन्त्र नहीं होती वह तो संस्कारके अनुसार उदय होती है, कर्ताकी पराधीनता ही नहीं है इच्छामें कि जघ चाहेंगे हम वैसे कर सकते हैं कि चाहोगे कैसे? तो यह कर्मका सम्बन्ध मिटाये नहीं मिटता है, इसको काटना पड़ता है। असलमें हमारे साथ कर्मका सम्बन्ध है ही नहीं, यह गंगाजीमें कभी मुर्दा बह जाता है और कभी फूल वह जाता है। यह बुद्धिकी गंगा जो बह रही है, इसमें कभी फूल वहने लगते हैं, आहहा, क्या बढ़िया, क्या सुखके फूल खिले हैं और कभी दु:खके मुर्दे गन्दगी और कोयले बहते हैं और तुम! तुम न उस फूलकी माला पहननेवाले हो और न उस मुर्देको खानेवाले कौआ हो! तब तुम कौन हो? कि तुम तटस्थ हो। तुम कूटस्थ हो। इस धाराको बहने दो, तुम इसकी भी गहराईमें बैठे हुए हो।

तो परमात्माका ध्यान कैसे करना! बोले—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदु:॥ 2.2.9

यह जो हमारा हित और रमणीय माने हिरण्मय हृदय है और मेय है माने प्रमाणसे स्वतः सिद्ध है, इस हमारे हृदयरूप परमकोशमें सोनेकी तरह जगमग, अपने पास अगर कोई सोना है, तो दिल है। यह बाहर वाला सोना नहीं, यह किसी कामका नहीं। इसके लिए जो दिल बिगाड़ते हैं, कैसे हैं! बोले—भाई पूरी आज बड़ी स्वादिष्ट बनी है, क्या बढ़िया खीर, हल्वा बना है! खूब खाओ। डटकर खा लिया और पेट खराब हो गया। डॉक्टरसे दवा लेनी पड़ी, दो दिन चारपाईपर सोना पडा।

तो जो भोजनकी लालचमें अपने पेटको खराब कर लेते हैं वे अच्छे हैं कि बेवकूफ हैं। भोजन महत्त्वपूर्ण नहीं, पेट महत्त्वपूर्ण है न! तो एक बाहरका सोना और एक भीतरका सोना! जो बाहरके सोनेकी लालच्यमें अपने दिलको बिगाड़ लेता है। वह समझदार नहीं है। ये नोट काम नहीं आवेंगे, यह सोना काम नहीं आवेगा, ये हीरा-मोती काम नहीं आवेंगे, यह दुनियाकी चीज काम नहीं आवेगी, अपने दिलको भ्रष्ट मत करो।

रक्षत रक्षत कोशानामिप कोशं हृदयं। यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात्॥

खजानोंका खजाना तुम्हारा दिल है। परे कोशे—यह खजाना है। परे कोशे—जैसे तलवारकी म्यान होती है न, ऐसे यह म्यान है। आत्माकी दृष्टिसे यह पंचकोश है और यह सोना है, भीतरका सोना, इसीमें रहता है। जैसे सोनेकी तिजोरीमें कोई हीरेको रखे। वैसे ये सोनेके हैं कोश, हमारी आत्मा उसमें विरजं ब्रह्म निष्कलम्—निष्कलम् माने उज्ज्वल जगमग-जगमग। बोले—भाई कितने कैरटका हीरा है? निष्कलम्—इसमें कला नहीं है। इसमें कैरेट नहीं है। यह षोडश कलाका या पंचदश कलाका नहीं है। यह बाईस कैरेटका नहीं है—निष्कलम्। इसमें कैरेट वैरेट नहीं लगता है। यह चन्द्रमाकी तरह घटने—

बढ़नेवाला नहीं है, यह सूर्यकी तरह द्वादश कला वाला नहीं है। यह पाँच कलावाला —विद्याकला, निवृत्ति कलावाला नहीं है।

विरजं—िनर्मलं, इसमें माया नहीं है, इसमें अंश नहीं है। इसमें सजातीय- विजातीय स्वगत भेद नहीं है। ऐसा ब्रह्म कहाँ रहता है? यह हिरणमये—यह जो तुम्हारे दिलकी तिजोरी है, बिलकुल स्वर्णमयी; हित-भलाई करनेवाली, सुरक्षा रिक्षत करनेवाली। 'र'माने रमणीय—देखनेमें भी सुन्दर। रमणीयका 'र'है। और 'मय' क्या है? मेय है, बिलकुल सच्ची चीज है, नकली नहीं है।

तो इस तुम्हारे दिल रूपी परम खजानेमें वह जगमग-जगमग, झिलिमल-झिलिमल, वह ज्योति हीरेकी जल रही है, जिसपर यदि तीन लोकको, चौदह भुवनको और अनन्त कोटि ब्रह्माण्डको निछावर करके फेंक दो, बिलकुल उस आत्माके ऊपर जो परब्रह्म परमात्मा है, अगर सारी दुनियाको निछावर करके फेंक दिया जाये, तो वह कुछ नहीं है। ज्योतिषां ज्योति:।

वह जो ईश्वरको जानता है, वह जो प्रकृतिको जानता है, वह जो सबको जानता है और किसीसे नहीं जाना जाता वह ज्योतियोंकी ज्योति, आत्मवेना लोग उसीको जानते हैं तद् यदात्मिवदो विदुः। आत्मज्ञानी लोग उसीको जानते हैं। आप उसको जान लो नारायण, वह कैसा है? आत्मिवदः आत्मानं स्वं शब्दादि—

विषय बुद्धि प्रत्ययसाक्षिणं—देखो आत्मविद्का क्या अर्थ है? यह जो दुनियामें मालूम पड़ता है कि यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह दोस्त है यह दुश्मन है, बाहर नहीं, भीतर मनमें। तो जो मालूम पड़ना है वह तो प्रत्यय है और जो मालूम पड़ता है वह विषय है। तो मालूम पड़नेवाले घट-पटादि विषय और घटाकार-पटाकार आदि वृत्ति—इनका जो साक्षी, इनका प्रकाशक स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान जो आत्मतत्त्व है, जिसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं, उसको आत्मवेत्ता लोग जानते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ 2.2.10 न तत्र सूर्यों भाति—ये सूर्यदेवता वहाँ नहीं चमकते। सूर्य भी जहाँ अन्धेरा बन जाता है, इतनी रोशनी है कि सूर्य जहाँ अंधेरा बन जाय। देखो महाराज, खूब अंधेरा घर हो और उसमें एक तेलका दीया जला दो तो टिमटिम कर रहा है। इसी बीचमें वहाँ सौ वॉट पावरका बल्ब जला दिया, अब क्या हुआ? कि वह दीया तो टिमटिमा रहा है कोनेमें, उसकी कोई पूछ ही नहीं। उसके बाद समझो हजार पावरका बल्ब जला दिया, तब क्या हुआ? सौ वाला गया। तो यह तो ऐसा है कि उसमें यह सूर्य भी अंधेरा हो जाता है।

न तत्र सूर्यों भाति न चन्द्र तारकं—इति किं वक्तव्यं—वहाँ चन्द्रमा और तारे नहीं हैं।

असलमें ऐसे बोलते हैं कि आँखसे दीखती है दुनिया, तो आँखको जब सूर्यको रोशनी मिलती है, तब न देखती है। और वाणी बोलकर चीजोंको बताती है—यह घट है, यह पट है, तो अग्नि रहे तब न बतावे! गर्मीसे बताती है वाणी और मन जो है यह सोचता है, यह दोस्त, यह दुश्मन! कब सोचता है? जब चन्द्रमा रहे, तब न। चन्द्रमा रहेका मतलब कुछ खाये पीये रहो तब; यह चन्द्रमाका मतलब बिलकुल खाना-पीना है। यह ओषधियों, वनस्पतियोंमें अमृतका संचार करनेवाला चन्द्रमा है।

तो मनका देवता चंन्द्रमा है, इसका अर्थ हुआ कि जब खा-पीकर स्वस्थ रहोगे, 'भूखे भजन न होय गोपाला'। पाँच-सात दिन उपवास करके फिर सोचनेके लिए बैठो कि आत्मा पंचकोशोंसे परे हैं और क्षुधा-पिपासासे मुक्त है। हे भगवान्! नहीं चलेगा! तो चन्द्रमाका रस माने औषधि और अन्नका रस जब मनको मिलता है, तब वह सोचनेमें समर्थ होता है। और शरीरमें गर्मी रहती है तब वाणी बोलनेमें समर्थ होती है और सूर्यकी रोशनी रहती है तब आँख देखनेमें समर्थ होती है।

तो ये तो तीनों गये, भौतिक हुए, इसका अभिप्राय हुआ कि औषधि अत्र रससे तो मन बना, शरीरमें जो गर्मी है—उष्मा है, उससे बोली निकलती है, गर्मी कम हो जाये तो आवाज बन्द। और, सूर्यादिकी रोशनी हो तो आँख देखती है। इसका मतलब है कि ब्रह्म वह चीज है जिसको आँखसे नहीं देखा जाता, जिसको जीभसे बोला नहीं जाता, जिसका मनसे ध्यान नहीं किया जाता। जो आँखके भीतर बैठकर आँखको रोशनी दे रहा है, जो जीभके भीतर

बैठकर जीभको बोलनेकी ताकत दे रहा है, और जो मनके भीतर बैठकर मनको सोचनेकी ताकत दे रहा है। यह जो आत्मा है अपना उसको ब्रह्म बोलते हैं।

> न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। आओ अपने धाममें।

> > यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्रां तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

ये सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—इन तीनोंसे परमात्मा नहीं दिखता, इसका अभिप्राय यही है कि मनसे, वाणीसे और नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता।

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः—ये जो दुनियाको दिखाने वाली विद्युत् हैं तत्र विद्युतो न व्युद्योतन्। केनोपनिपद्में वर्णन है कि परब्रह्म परमात्माका जब ध्यान करने लगते हैं तब ऐसे लगता है कि जैसे बिजली कौंध जाती हो, अरे वह यक्षके रूपमें आया, तो बिजली कौंध रही है हृदयमें। बोले—उसकी रोशनीमें परमात्मा नहीं दिखता। उस रोशनीको जो देखनेवाला है, सो है। अग्निसे परमात्माका ज्ञान नहीं होता, अग्नि जिससे दिखता है, सो है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

वह जब चमक रहा है, जब मैं चमक रहा है। जब आत्मा है, सब कुछ मालूम पड़ रहा है। आत्म ज्योतिसे ही सम्पूर्ण वस्तुओंका साक्षात्कार हो रहा है, माया दिखे चाहे ईश्वर दिखे और दुनिया दिखे, दोस्त दिखे, दुश्मन दिखे, धन दिखे, सब अपने ऊपर है। इसीसे बोलते हैं कि जिसको तुम मैं मानते हो, उसकी हत्या ब्रह्महत्या है। जिसको आत्मघात बोलते हैं! जिससे आत्मज्ञान मिले, उसको मारना भी ब्रह्मघात है। तो ब्राह्मणको मारना, गुरुको मारना, वेदका नाश करना ब्रह्मघात हुआ। जिससे ब्रह्मज्ञान होय उसको नष्ट करना ब्रह्मघात है और सबसे बड़ा अपराध आत्मघात है। जो अपने को तुम कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, अज्ञानी समझकर कर्ज्ञा-भोक्ता परिच्छिन्न, अपनेको पापी-पुण्यात्मा संसारी समझ करके जो दुनियामें तुम इस निर्मल वस्तुको तुम पापी समझ रहे हो! हमल ब्रह्मको पापी समझ रहे हो! इस कर्मसे अलिस

असंग को तुम पुण्यात्मा समझ रहे हो! इस स्वयं सुख स्वरूपको तुम दुःखी समझ रहे हो! सुखी समझ रहे हो! तो दुःखी-सुखी नहीं है, यह स्वयं सुख है, यह सबके आधारको तुम जाने-आनेवाला समझ रहे हो! इसीका नाम आत्म हत्या है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

तो तस्य भासा सर्विमदं विभाति, इस आत्मज्योतिसे ही सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है। यह होवे तो सब मालूम पड़े, यह न होवे तो कोई नहीं मालूम पड़ता। इसलिए अपने आत्माके महत्त्वको समझो और अपने स्वरूपका साक्षात्कार करो। यह है क्या? कि—

> ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्विमदं विरष्टम्॥

> > 2.2.11

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्—एक समुद्र उमड़ रहा है आत्मज्योतिका, एक ज्योतिर्मय समुद्र । ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् । यह हमारे सामने क्या है ? बोले—यह अमृत ब्रह्म ही है ।

इदं पुरस्ताद्—्यह जो सामने मालूम पड़ रहा है, हमारी सर्व इन्द्रियोंसे—

यद् यच्छृणोमि श्रोत्राभ्यां तत्तद् ब्रह्मेति भावयेत्।

जो-जो कानसे सुनायी पड़ता है, जो-जो आँखसे दिखायी पड़ता है, जो-जो त्वचासे छुआ जाता है, जो जो नाकसे सूँघा जाता है, जो जो जीभसे बोला जाता है, जो-जो स्वाद आता है—

जहँ जहँ चलौं सोई परिकरमा

जो जो करौँ सो पूजा।

वह यह अमृत ब्रह्म ही सामने है। ब्रह्म पश्चात्—पीछे भी ब्रह्म है और ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण—दाहिने भी ब्रह्म है।

अधशोर्ध्वं च प्रमृतं—नीचे भी वही और ऊपर भी वही ब्रह्म, ब्रह्म ही ब्रह्म है। अमृतकी तरह। उसके सिवाय जो मालूम पड़ता है, वह बिलकुल झूठा है।

ब्रह्मैवेदं विश्विमदं विश्विम्—यह विरिष्ठं ब्रह्म जो सर्वोपिर ब्रह्म है, जीवनमें वरणीय, जिससे बढ़कर और कोई नहीं है, वह ब्रह्म ही इस विश्वके रूपमें भास रहा है।

अबह्मप्रत्ययः सर्वोऽविद्यामात्रो रज्जवामिव सर्पप्रत्ययः।

जैसे रस्सीको साँप समझना एक अविद्याका प्रत्यय है, इसलिए परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त किसी देशको, किसी कालको, किसी वस्तुको, किसी व्यक्तिको ब्रह्मसे अतिरिक्त समझना अविद्या मात्र है, इसलिए—

ब्रह्मैवेकं परमार्थ सत्यं—इसलिए एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। इति वेदानुशासनम्—इसका नाम वेदानुशासन है।

अब तीसरा मुण्डक प्रारम्भ होगा। इक्कीस मन्त्र और बाकी रह गये हैं। तो दिन भी तो आठ-नौ रह गये हैं, तो हो जायगा।

(दूसरे मुण्डकका प्रथम खण्ड समाप्त)



मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन

तृतीय मुण्डक, प्रथम खण्ड

प्रवचन : 23, मन्त्र 1 से 2 तक

भोक्ता जीव और अभोक्ता ईश्वर

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-

नश्रत्रन्यो अभिचाकशीति॥ 3.1.1

श्रुति इसको कहती है-

बहीवेदममृतं पुरस्ताद्। इदं पुरस्तात् अवभासमानं यत्। यह जो तुमको मालूम पड़ता है कि सामने दीख रहा है, 'अब्रह्म इव'—देखनेमें मालूम पड़ता है कि यह ब्रह्मके सिवाय दूसरा है, 'तद् ब्रह्मैव'। यह ब्रह्मैवमें जो 'एव' है, उसका अभिप्राय है। अब्रह्म इव भासमानं यत् किंचित्, तत् सर्वं ब्रह्मैव—जो इन दुनियाके मूर्च्छित लोगोंको, बेहोशीमें दिखता है, मालूम पड़ता है यह परमात्मा नहीं है, यह परमात्मा नहीं है, ऐसा लगता है, और पुरस्तात् माने सामने दिक् कल्पनाका विषय होकर—दिशा, कि यह पूर्व है, यह पश्चिम है, यह उत्तर है, यह दक्षिण है; यह ऊपर है, यह नीचे है—यह दिक् कल्पनाका विषय होकर जो भास रहा है कि यह ऊपर, यह नीचे—अधश्च ऊर्ध्वं यह सामने यह पीछे—पुरस्तात् पश्चात् दिक्षणतश्च उत्तरेण—यह दाहिने यह बायें—ये सारे चक्कर कहाँसे निकले हैं? कि मैं शरीर हूँ—इसमें-से। शरीरके नीचे होता है, शरीर के ऊपर होता है, शरीरके दाहिने होता है, शरीरके बायें होता है, शरीरके सामने होता है, शरीरके पीछे होता है। यह देहाभिमान जो है, यह सम्पूर्ण अनर्थका मूल है।

एक हमारे सत्संगी थे, वे कहते थे—देखोजी, ईश्वरको हम तब मानेंगे, जब वह हमारे सामने सृष्टि बनावे और उसकी रक्षा करे और उसको बिगाड़ दे। जब हम देखेंगे कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय वह कर रहा है, तब मानेंगे कि ईश्वर है।

बात तो बहुत बिह्नया है, लेकिन बाबूजी, तुम कैसे देखना चाहते हो! इसी शरीरसे जिंदा रहकर देखना चाहते हो ईश्वरका सृष्टि बनाना-बिगाड़ना? जब ईश्वर सृष्टि बिगाड़ेगा तब तुम्हारे शरीरको भी बिगाड़ देगा! कैसे देखना चाहते हो? ठन-ठन पाल। लोग ईश्वरको देखना चाहते हैं शरीरको रखकर। वे कहते हैं हमारा देहाभिमान बना रहे और ईश्वर हमारे सामने आवे।

कभी-कभी कोई आते हैं तो कहते हैं—स्वामीजी, हमारे घरमें अमुक महात्मा आये, अमुक महात्मा आये, वे दस नाम लेंगे। तो आप भी चलो। आप नहीं चलोगे तो एक कमी रह जायगी हमारे घरमें।

तो घरका शरीर है और महात्माओंका आंना उसका आभूषण है, जेवर है। वे महात्माओंका जेवर पहनाते हैं अपने घरको। वे आये, वे आये, तुम नहीं आआगे?

भाई, तुमको जेवर पहननेका शौक है, बाजारसे खरीदो और पहनो। इस बातको लोग समझते नहीं हैं कि इस तरहसे वे कहते क्या हैं? ये जो देहाभिमानी हैं वे चाहते हैं कि संत मिले तो हमारे शरीरका भूषण और ब्रह्म मिले तो हमारे परिच्छित्र अहंकारका भूषण—हमको ब्रह्म मिला, हम ब्रह्मज्ञानी हो गये। तो यह पुरस्तात् माने सामने जिसमें किल्पत है, पश्चात् जिसमें किल्पत है, दाहिने बायें जिसमें किल्पत है, ऊपर-नीचेकी कल्पना जिसमें होती है और यह शरीर साढ़े तीन हाथका—इन सम्पूर्ण कल्पनाओंका जिसमें मूल बन रहा है। वह अमृत जो ब्रह्म है, वह अपना स्वरूप है, उसके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है। ब्रह्मके सिवाय जो मालूम पड़ता है, वह तो केवल अज्ञानसे मालूम पड़ता है, इसलिए।

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं विश्रम् — ब्रह्मैवेदं विश्वं समस्तं।

वही यह जगत् है, सम्पूर्ण, वरतमं वरिष्ठं। एक ही सत्य है दूसरा सत्य है ही नहीं। तो गाँठ बाँधकर बैठ जाने लायक है। इसमें रागद्वेष नहीं है, कुछ भी हो, बोले—ब्रह्म ही है कि आज जहर बनकर ब्रह्म आया है।

देखो मीराके सामने चरणामृत विष बनकर आया, उसने पहचान लिया कि विष नहीं है, चरणामृत है।

तो जब संसारमें दु:ख आता है, बोले—अरे, यह दु:ख नहीं है, ब्रह्म है, यह तो पीने लायक है, आनन्द लो। आनन्द लो। अच्छा, ब्रह्मदेवता, तुम दु:खका वेश धारण करके आये हो आज, अज्ञान बनकर आये हो, विषय बनकर आये हो, जड़ बनकर आये हो, दोस्त बनकर आये हो, दुश्मन बनकर आये हो। लो न मजा उसका—ब्रह्मैबेदं विश्विमदं विरिष्ठम्।

यह वात बिलकुल पक्की है कि चाहे उसका नाम तुम कुछ रख लो, है सव एक ही। हमारे गाँवकी तरफ ऐसे-ऐसे नाम होते हैं—नेऊर। एक आदमीका नाम है नेऊर! नेऊर माने नेवला। एक आदमीका नाम है झेंगुर। एक आदमीका नाम है खेदारू। दु:खी नाम है भला। 'दुखु' नाम है।

तो नाम कुछ रख लो, वह आदमी है कि नहीं? चाहे उसका नाम रखो 'नेऊर''चेंखुर'—गिलहरी। गिलहरीको उधर चेखुर बोलते हैं। तो नाम रखा गिलहरी, नाम रक्खा नेवला, लेकिन वह मनुष्य है कि नहीं है?

अच्छा भाई, तुम उसको दोस्त कहो कि दुश्मन कहो, वह मनुष्य है कि नहीं है ?

तो ऐसे ही नाम तुम चाहे दुनियामें कुछ भी रख लो और उसकी शक्ल-सूरत कुछ भी मानो, वह है वही भला; बिलकुल ब्रह्म ही है, तुम ही हो उसके रूपमें।

यह महामन्त्र है, यह खुला मन्त्र है ॐ ॐ ॐ। यह तुम हो।

इसी विद्यासे पुरुपका अधिगम होता है, नहीं तो रागद्वेष बना रहेगा, शत्रु-मित्र बना रहेगा, सुख-दु:ख बना रहेगा, रोना-हँसना बना रहेगा। रोना भी आवे तो कहो ब्रह्म है। तो इस परब्रह्म परमात्माका जब अधिगम होता है तो हृदयग्रन्थि आदि (कामादि) जो संसारके कारण हैं, इनका नाश हो जाता है।

उस पराविद्याका दर्शन कैसे हो? धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं—पहले बताया अकार, उकार, मकार और अमात्राके द्वारा उसका चिन्तन करो। विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, तुरीय। और, तुरीय आत्मा है।

अच्छा, उसका ध्यान करो, उसका योगाभ्यास करो, तब उपाय बताया। अब बताते हैं कि किस तरहसे अपना मन परमात्मामें लगे, बुद्धि परमात्मामें लगे—इसका सहयोगी साधन क्या है? इसके लिए यह अगला मन्त्र, तीसरा मुण्डक प्रारम्भ होता है। एक-एक मुण्डके दो-दो खण्ड हैं। यह मुण्डक है। मुण्डक माने जो लोगोंको मूँड़ दे। यह मूँड़नेवाला है।

बोले—नहीं बाबा, हम तो मुँड़वानेके लिए तैयार नहीं हैं। बोले कि तब रहने दो। यह तो गुरुजीकी सीधी बात है भाई! यह नाईके हाथ मुँड़ना नहीं है, यह गुरुके हाथ मुँड़ना है। अगर तुम संसार मुँड़वानेको तैयार नहीं हो, तो रहने दो। यह तो बिलकुल उस्तरा ही फेरना है।

एकने एक दिन कहा कि स्वामीजी, तुमने यह कथा सुना-सुनाकर, हमारा घर बिगाड़ दिया। मैंने कहा—भाई इससे बढ़कर कथाकी तारीफ और कोई नहीं हो सकती। अरे बाबा, 'जो सीस तली पै रख न सके, वो प्रेमगलीमें आये ही क्यों?' अगर सिर कटानेको तैयार नहीं हो, अपना सिर अगर हथेलीपर रखकर नहीं आते हो, तो प्रेम गलीमें मत आओ।

सीस कटाय भुंई धरो तापे राखो पाँव।

अपना सिर कटवाके धरतीपर रखो और उसपे पाँव रखके आओ।

तो जरा दूसरे ढंगसे अब तत्त्वका निरूपण प्रारम्भ करते हैं। शंकराचार्य भगवान्ने कहा—प्राधान्येन तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण क्रियते—तत्त्व तो वही है।

एक महात्मा तत्त्वका निरूपण कर रहे थे, बोले—क्या रोज-रोज वही, ब्रह्म है, ब्रह्म है, एकं ही बात रोज बोलते हो? देखो कुछ नयी बोलो। बोले—देखो भाई, ब्रह्मके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, यह सिद्धान्त तो पुराना है, सत्य है।

सत्य नया-नया नहीं होता, सत्य तो एक ही होता है, लेकिन उसके निरूपणकी जो प्रणाली है, वह नयी-नयी है—

> यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातनाः यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने।

हमारे व्याख्यानकी तारीफ क्या है? कि हम प्राचीन विषयको नवीन ढंगसे बताते हैं। यत्र प्रदश्यां विषयाः पुरातनाः—विषय तो पुरातन है ब्रह्म, वह तो बुद्धा है। अब बुद्धा आदमी महाराज जवानोंको तो प्यारा होता नहीं। वे तो कहते हैं क्या यह बुद्धा पीछे लग गया। लेकिन, यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने— इसमें नवीन क्या है ? कि इसमें प्रदर्शनकी प्रक्रिया नयी है। (अब पहला मन्त्र प्रारम्भ करते हैं)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।

पहली बात यह कही जा रही है कि वृक्ष समान है। समान माने एक है। वृक्ष माने शरीर। यह कहते हैं कि वृक्षमें से वृक्ष निकलता है। यह तो आप जानते हैं, कई बार पल्लव लगे, पत्ते लगे, कई बार फूल लगे, कई बार फल लगे। कई बार जड़से काट दो, लेकिन फिर उसमें से निकल आता है। इसको बोलते हैं वृक्ष। 'द्वौवृत्ते छेदने' वृक्षते इति वृक्ष:।

असङ्ग शस्त्रेणं दृढेन छित्वा—जब वैराग्यके शस्त्रसे इसको काटोगे और ज्ञानकी आगसे इसकी जड़को जला दोगे, तब तो यह हमेशाके लिए मिटेगा, नहीं तो महाराज शाखा-पर-शाखा इसमें-से निकल आवेगी, इसलिए इसका नाम वृक्ष है।

शरीरको वृक्ष कहनेका अभिप्राय क्या है ? बोले—अरे बाबा, चले थे ईश्वरको ढूँढ़ने और तुम निरूपण करने लग गये वृक्षका। बोले—नहीं, देखो, तुमको एक रहस्यकी बात बताते हैं। शरीर वृक्ष है, ऊर्ध्वमूलं अधः शाखं—यह दिमाग जो है, यह ऊपर और हाथ, पाँव, इन्द्रियाँ—ये सब अधोमुख। तो इसको कैसे बोलेंगे ? कि ऊर्ध्वमूलमधः शाखं।

अश्वत्थं—कल रहेगा कि नहीं, इसका ठिकाना नहीं है। वह नहीं है कि काल मिनिस्टरको छोड़ देता हो, कोई लिहाज नहीं करता कि अब ये राष्ट्रपति हो गये, मिनिस्टर हो गये, इनको छोड़ दो, राजा-रईसको छोड़ दो, इन्द्र-चन्द्र-वरुण-कुबेरको छोड़ दो। ब्रह्मा, विष्णु, महेशको छोड़ दो। कि न, न, यह काल किसीका लिहाज नहीं करता।

ये जो बड़े बड़े वैज्ञानिक लोग होते हैं, उनकी भी कोई लिहाज नहीं करता है, चट-चुटकी बजाया और खा गया, तुम समझते हो कि सब मर गये और हम बचे रहेंगे! श्रीमद्भागवतमें एक शब्द आया है—

निर्हत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति—एक आदमीका बेटा मर गया, तो उसको लोग उठाकर ले गये श्मशानमें, अन्त्येष्टि क्रिया करके आये, अब उसका जो बाप था, उसकी दवा-दारू शुरू हुई, तो भागवतमें लिखा है—

निर्हत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति।

बेटेको तो ले गये श्मशान पहुँचा आये, अन्त्येष्टि क्रिया कर आये, अब बापको जिन्दा रखना चाहते हैं। देखो न, संसारकी लीला कि बेटेको फेंक आये, अब ये परदादा रहेंगे। बोले—सब चले गये, हम रहेंगे। तो ईश्वरको हूँ हुनेका स्थान कहाँ है ? एक ही वृक्षमें दोनों रहते हैं।

समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

यह कितने सौभाग्यंकी बात है। एक बार एक सज्जन परदेस गये। उनको कोई पता बताया गया था कि तुमको वहाँ वे सज्जन मिलेंगे, बड़े तुम्हारे मित्र, हितैषी होंगे वह तुम्हारा बड़ा भला करेंगे।

अब वे संयोगवश महाराज विदेशमें जो गये, तो उनको ख्याल था कि हम कहाँ पता लगावेंगे कि कहाँ मिलेंगे? तो पता लगाया तो मालूम हुआ कि उसी शहरमें वे हैं; जिसमें वे गये हैं। तो बड़ी खुशी हुई कि मिलना तो बड़ा सुगम है। फिर पता लगाया कि शहरमें हैं, तो हैं कहाँ! तो मालूम हुआ कि इसी मुहल्लेमें हैं। बोले—और पास आ गये। और पता लगाया तो मालूम हुआ उसी होटलमें हैं।

अरे भाई, एक ही होटलमें दोनों ठहरे हैं! अब मिलनेमें क्या देर रही! बोले—कौन है भाई वो, तो बोले—हम उत्तर प्रदेशके हैं, वे भी उत्तर ही प्रदेशके हैं। तो बोले—हम ब्राह्मण हैं वे भी ब्राह्मण हैं। लो। अरे ब्राह्मण ही नहीं, हम जानते नहीं थे वे तो बिलकुल हमारे रिश्तेदार हैं। सम्बन्धी हैं। क्या मजा आया!

तो यह संसार वृक्ष है। यह संसार है। यह शहर है, यह होटल है। और वह जो हमारा परम प्रियतम ईश्वर है, वह और हम—दोनों एक ही होटलमें नहीं, एक ही कमरेमें रह रहे हैं भला! एक ही कमरेमें नहीं रह रहे हैं, बिलकुल एक होकर रह रहे हैं।

देखो न, कितनी सुगम बात है!

390

अब यह पहलेका काट दिया-'मुझको क्या तू ढूँढे बन्दें मैं तो तेरे पासमें।''न खुदा था न बन्दा था, मुझे मालूम न था। दोनों इल्लतसे जुदा था, मुझे मालूम न था।'

'किसको ढूँढ़ते हो भाई? कहाँ रहता है?

समानं वृक्षं - यह जो मानवाला वृक्ष है, यह भी नहीं समझना कि वृक्ष

कोई अमान है, बिलकुल नपा तुला है, डेढ़-दो मन इसका वजन है, साढ़े तीन हाथकी लम्बाई है, सौ पचास वर्षकी उम्र है, देखो, इस शरीरका तो मान है, वृक्षका तो मान है और इसमें अमान रहता है।

बोले—भाई, कैसे हैं दोनों? वृक्षपर रहना बड़े खतरेका काम है, पता नहीं कब गिर जायें। वह तो समझो हमारी क्या अवस्था है? भतृहरिका श्लोक है—

वयं यभ्यो जाताः चिरपरिगता एव खलु ते जिससे हमारा जन्म हुआ, बहुत दिन हुआ वे तो मर गये। चले गये। समं यैः संवृद्धाः स्मरण पदवीं तेऽपि गमिताः।

•िजनके साथ हम खेलकर बड़े हुए, अब उनकी याद आया करती है। इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासत्रपतनाः। गता तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीर तरुभिः॥

अव हमारी यह हालत है अब गिरे, अब गिरे। बोले—बात क्या है? कि जैसे नदीके किनारे कोई बालुका टीला हो और बालुके टीलेपर पेड़ लगा हो, तो पता नहीं कब नदी दो थपेड़ा लगावे और तट हट जाये और पेड़ गिर जाये। यही तो हमारी अवस्था है। इसीको शोधनपतनौ बोलते हैं। यह पेड़ तो अब गिरा, तब गिरा कुछ पता ही नहीं है। रातको सोते हैं, सबेरे उठते ही नहीं है।

कई लोगोंके बारेमें मालूम हुआ। हमारी माताजी देखो, कई लोग थे वहाँ वृन्दावनमें; दिनमें एक बजे, सबको खिलाकर, पिलाकर, भण्डारा था, उड़िया बाबाजी महाराजका, उनकी भी मृत्युकी तिथि नहीं थी। सब लोग जब खा-पी चुके, एक बजे दिनमें विश्राम करनेके लिए सोयीं, तीन बजे वैसे ही, हाथ उनका वैसे ही—सिकतिलनदी तीर तकिभ:। कब चले जाओगे, पता नहीं। महात्मा लोग कहते हैं—

गते श्वासे विश्वासः का प्रवर्तते—भलेमानुष! जब तुम्हारी साँस नाकसे बाहर निकल जाती है, तो वह फिर लौटकर आयेगी, इसका तुम्हारे पास क्या ठेका है? विश्वासः का प्रवर्तते? जब श्वास निकल गया तो बोले—बाबा, शरीरका तो कुछ ठीक नहीं और इसमें रहते हैं ईश्वर, तो बोले—बस, एक बातका आश्वासन है क्या? कि द्वा सुपर्णा—लौकिक व्याकरणमें ऐसे बोलेंगे—

द्वौ सुपर्णों सयुजौ सखायो। वैदिक व्याकरणकी रीतिसे यह 'ओ' का 'आ' हो गया है, इसलिए 'द्वौ' का 'द्वा', सुपर्णों का सुपर्णा, सयुजौका सयुजा, और सखायौ का सखाया।

अरे ये सुपर्ण हैं माने इनके पास पंख बहुत अच्छे हैं। जब पेड़ गिरेगा तो ये उड़ जायेंगे। 'सुपर्णों' कहने का अभिप्राय यह है कि देहके मरनेसे, ये मरते नहीं हैं। जैसे पेड़ गिरने लगे तो चिड़िया उड़ जाये, वैसे यह तो महाराज चिड़िया उड़ गयी। बल्ब फ्यूज हो गया। बस ऐसे ही। मरना और कुछ नहीं, बल्ब फ्यूज हो गया। कब फ्यूज होगा, उसका पता है कुछ! चिड़िया कब उड़ गयी? फुर्र। द्वा सुपर्णा। तो दोनों इस शरीरमें ही रहते हैं और जब शरीर छूटने लगता है तब उड़ जाते हैं। एक ही जातिके हैं दोनों। सुपर्ण कहनेका अभिप्राय यह है कि दोनों इस शरीर रूपी वृक्षपर एक ही जातिके हैं। किस्म दोनोंकी एक है। दोनों, वृक्षके टूटनेसे टूटने वाले नहीं हैं।

सयुजा—सयुजा माने सारसकी तरह जोड़ी है इनकी। एक साथ रहते हैं। जीवको छोड़कर ईश्वर नहीं रहता और ईश्वरको छोड़कर जीव नहीं रहता।

एक महात्माका वचन है, उसने ईश्वरसे कहा—त्वां विना निःस्वरूपोऽहं—तुम्हारे बिना तो मेरी कोई सत्ता ही नहीं है। और, मां विना त्वं कथं स्थितः? मेरे बिना तुम रहोगे कैसे? तुमको कौन जानेगा कि है? तुम्हारे बिना मैं नहीं और मेरे बिना तुम नहीं। अनन्तके बिना परिच्छिन्न नहीं और परिच्छिन्नके बिना अनन्तकी सत्ता सिद्ध नहीं होती।

कैसे रहोगे मेरे बिना? तो,

सयुजा - जीवमें ईश्वर और ईश्वरमें जीव।

देखो, जब एक तो यह वृक्ष है और वृक्षमें एक घोंसला है, उसको हृदय बोलते हैं। वह नीड़ है और उसमें जीव और ईश्वर—दोनों रहते हैं।

कैसे रहते हैं जीव और ईश्वर दोनों ? जैसे पित-पत्नी रहते हैं, वैसे ? जैसे मित्र-मित्र रहते हैं — ऐसे ? कि नहीं, जीवकी खोली ओढ़कर ईश्वर रहता है। जीव शरीर है और ईश्वर शरीरी है। जीव नियम्य है और ईश्वर नियन्ता है। जीव व्याप्य है और ईश्वर व्यापक है। जीव जेवर है और ईश्वर सोना है।

यह बात हमको बहुत पहले, जब आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव काशी-विश्वविद्यालयके वाईसचांसलर थे; उन्होंने कहा कि ये वर्णन तो करते हैं कि दो हैं; परन्तु जरा बताओ दो स्थानमें दो हैं ? जैसे दो उँगली दो स्थानमें हैं, ऐसे क्या जीव और ईश्वर अपने लिए दो जगह लेते हैं ? कि देशमें जगह लेंगे तो देशमें दोनों मरेंगे और दोनों जिन्दा होंगे! ईश्वर भी मरा करेगा।

कल तो एक सज्जन हमारे पास आये थे तो बोले कि जब ईश्वर नहीं था, तब कौन था ? बताओ हमको। तो मैंने कहा—तब तुम थे भाई! तुम्हीं थे।

तो अब फिर यह बात क्या होगी, जानते हैं आप कि यह बात कहाँ पहुँचेगी? पूछा नहीं उसने और पूछता कि जब मैं नहीं था, तब क्या था? तब कहते कि तुम्हारा बाप था। बोले—हमारा बाप नहीं था, तब क्या था? कि उसका बाप था। बोले—सबसे पहले कौन था? कि ईश्वर था।

अरे वह पहले-पीछे तो काल है। तो इस कालका बाप ईश्वर है और दाहिने बाएँ देश है। तो दाहिने बाएँका बाप है वह। इसिलए जीव ईश्वर दो स्थानमें नहीं रहते और एकके मरनेपर दूसरा पैदा हो और दूसरेके मरनेपर पहला पैदा हो—ऐसा जीव ईश्वरमें जन्मना, मरना नहीं होता और जीव, ईश्वर दो जगह नहीं घरते और, जीव ईश्वरकी दो धातु नहीं बनती। ईश्वर और जीव दो तत्त्व नहीं हैं, घड़े और कपड़ेकी तरह और दो स्थानमें नहीं हैं। दो उंगलीकी तरह और दो कालमें नहीं है बाप और बेटेकी तरह। यह तो बिलकुल एकमें ही दूसरा समाया हुआ है—सयुजा।

सखाया—ये सखा हैं। सखाका अर्थ होता है कि दोनोंकी ख्याति समान है।

ख्याति समान हैं का मतलब आपको वेदान्तकी रीतिसे सुना दें। वैसे सखा माने होता है, जैसे—कृष्णार्जुन। जब कृष्णका नाम लेंगे तब अर्जुनकी याद आवेगी। नर-नारायण—ये सखा हैं। राम-लक्ष्मण—ये सखा हैं। इनको सखा बोलते हैं।

तो ऐसे जीव जहाँ है, वहाँ ईश्वर है और ईश्वर जहाँ है, वहाँ जीव है। ये दोनों सखा माने समान ख्यातिक; ख्याति माने नाम। जिनका नाम साथ-साथ लिया जाय, सो सखा। एकको देखकर दूसरेकी याद आजाय, तुरन्त। लेकिन जीव ईश्वरका क्या है? समान ख्याति क्या है?

देखो, जीवत्व जब होता है, तब ईश्वरत्व होता है—सित जीवत्वे ईश्वरता स्यात्। ईश्वर किसका होगा? जीवोंका ही तो ईश्वर होगा न! ईश्वर सत्वे जीवत्वं स्यात्—और ईश्वर होवे तो जीव होवे।

ईश्वर जीवाभावे—जब ईश्वर और जीव—दोनोंका साक्षी है, अधिष्ठान है तो उनकी संज्ञा जीव और ईश्वर कहाँ होगी? इसलिए श्रुति कहती है—
तत्त्वमि। जहाँ जीवत्व और ईश्वरत्व मिट गया, वहाँ एक। परिषस्वजाते—ये
दोनों महाराज, ऐसे दोस्त हैं कि ईश्वरको छोड़कर जीव नहीं रहते।
परिषस्वजाते माने आलिंगन किये हुए हैं।

अब बोले—फिर दोनोंमें फर्क क्या है? देखो, फर्क यह है कि ये कृष्ण, सुदामाकी तरह हैं। कैसे? कि सुदामाजीने चने खा लिये और कृष्णने नहीं खाये। सुदामाने भोग किया कृष्णने नहीं। तो तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति—इन दोंनेमें-से जो एक है वह लिंग शरीरकी उपाधि धारण करके—कार्यकी उपाधि, लिंग शरीर कार्य है उसकी उपाधि धारण करके स्वादु पिप्पलं अति—भिन्न-भिन्न प्रकारके स्वादवाले जो विषय हैं, उनका यह भोग लगाता है, खाता है।

विचित्र, कानसे वह संगीत सुन रहा है, आँखसे वह रूप देख रहा है, जीभसे वह चटनी चाट रहा है। कानकी चटनी, ये जो राग, रागिनी हैं न, ये कानकी चटनी हैं। रंगरूप जो हैं ये आँखकी चटनी हैं और नाना प्रकारके इत्रादि जो हैं, ये नाककी चटनी हैं। तो पिष्पलं स्वादु अति।

यह जीव जो है, वह लिंग उपाधिको धारण करके विषय भोगका स्वाद चख रहे हैं और इसमें फँस गये और अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति—देखो दो चूहे घरमें हों और आप चूहेदानी लगाओ और उसमें रोटी लगा दो, अमरूदपर बहुत टूटते हैं, अमरूद लगा दो। तो जो चूहा अमरूदकी लालचमें चूहेदानीमें घुस जायगा, वह बँध जायगा और जो चूहा समझदार होगा, वह समझ जायगा कि यहाँ फँसाव है, अमरूद खाने नहीं जायगा। तो उसका बन्धन नहीं होगा।

यह हम गाँवमें देखते थे। गाँवमें रहनेसे अनुभव दूसरे ढंगके होते हैं और शहरके दूसरे।

ये बहेलिया आते थे, शिकारी जो होते हैं चिड़ियाके, एक कम्पास लगाते थे। चार पाये उसमें होते हैं, लकड़ीका बना हुआ होता है, उसमें गोंद लगा देते हैं चारों पायोंमें, और बी,चमें कोई चीज बाँध देते हैं ऐसी कि चिड़िया उसको खानेके लिए भीतर जाय। तो जब चिड़िया जाकर उसको खाती है तो अपने पंख फड़फड़ाती है, तो वह गोंद जो लगी रहती है न पायोंमें, वह पंखींमें लग जाती है, अब फँस गयी, चिड़ियासे उड़ा नहीं जाय, बहेलियाने आकर पकड़ लिया।

तो बन्धन किसको होता है? कि संसारमें जो भोग चाहता हैं, उसको बन्धन होता है और जो भोग नहीं चाहता, वह तो नारायण, जानते ही हो मुक्त है।

एक महात्मा थे बड़े विरक्त, जंगलमें घूमते थे। एक दिन किसी शहरके नजदीक पहुँचे, तो लोग आने लगे। पहले ब्राह्मण लोग आये, बोले—बड़ा वैराग्यवान है, कुछ नहीं चाहता है। फिर शास्त्र चर्चा हुई, बोले—बड़ा विद्वान् है, यह तो वेद, उपनिषद्का विद्वान् है। यह तो जैसे ''वाणी बिन्दु पिबति भवसिंधुं घटजिन''—वह तो वैद्यकी रचना है। वह बिन्दु है बिन्दुम् नहीं है। वाणीकी एक बूँद क्या है? बोले—अगस्त्य है। घटजिन माने अगस्त्य है। वह क्या करता है? कि 'भवसिंधुं पिबति'—वह संसाररूपी समुद्रको पी जाता है। वाणी बिन्दु ही घटजिन माने कुम्भयोनि अगस्त्य है। वक्ताका अभिप्राय यह है।

वाणीबिन्दुः घटजिन अगस्त्यः भवसिंधुं पिबित। वह तो महाराज बड़ा प्रबल महात्मा था। राजाको मालूम हुआ तो आये। एक दिन, दो दिन, दस दिन, श्रद्धा हुई। बोले—महाराज, आप यहीं बिराज जाओ। अपने बँगलेमें ठहरा दिया। बड़ी शानो-शौकत, मोटर। वर्ष-दो-वर्ष हुआ, राजाके गास जाकर लोग शिकायत करने लगे कि अरे यह महात्मा तो ऐसे रहता है, ऐसे रहता है, ऐसे रहता है, ऐसे रहता है, वोला—महाराज, महात्मा लोग कैसे रहते हैं?

अच्छा, तुमको मालूम नहीं है!

मनमें सोचा जैसे गृहस्थ लोग रहते हैं, वैसे रहते हैं। उसमें क्या बात है! थोड़ी देरके बाद उठे, बोले—चलो राजा, जरा नदी किनारे घूमें तो सही।

एक मील गये, दो मील गये, तीन मील गये, राजाने कहा—महाराज, लौट चलो।

बोले—लौटें काहेको, चलो बदरीनाथ, हम भी चलें, तुम भी चलो। चलो दोनों चले चलें।

बोले-महाराज हमारा राज्य?

अरे छोड़ो राज्यमें क्या रखा है, हम-तुम एक सरीखे हैं, हमारी तुम्हारी दोनोंकी आत्मा एक, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त और हम दोनोंका शरीर पाँच भौतिक प्रतिभासमान मात्र। आओ जरा चलें न! अरे महाराज कट गयी बात।

तो देखो जो भोगमें आसक्त हो जाता है वह बन्धनमें पड़ता है और इसी शरीरमें समझो कि कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी अपनेको जो मानकर रह रहा है उसका नाम जीव। अपनेको परमात्मा न जानकर अपनेको कर्ता-भोक्ता मानकर सुखी दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, संसारी, परिच्छित्र होकर जो रह रहा है उसका नाम जीव और जो अपनेको जान गया कि मैं अविद्यासे मुक्त हूँ, न पापी, न पुण्यात्मा, न सुखी न दुःखी वही परमात्मा। जो लिंग शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला है, उसका नाम जीव। वस्तुतः वह परमात्मा है, परमात्माने उसे छोड़ा नहीं है। और, नारायण, जब अपनेको जान गया, तब? कि जान गया तो परमात्मा।

तो यदि अपने स्वरूपका ज्ञान हो गया, तो परमात्मा और अज्ञान है तो जीव। ये ज्ञान-अज्ञानसे ही दो हैं, क्योंकि ये दो देशमें नहीं रहते, ये दो कालमें नहीं रहते, इन दोनोंका कोई रूप नहीं है। केवल जबतक ज्ञातता उत्पन्न नहीं हुई अपने स्वरूपमें, अपने स्वरूपमें जब ज्ञातताका आरोप किया गया, तो पहले अज्ञातताका जो आरोप था, वह मिट गया।

अज्ञातता भी थी नहीं, आरोपित ही थी और ज्ञातता भी हुई नहीं, आरोपित ही है। आरोपित ज्ञाततासे ज़ब आरोपित अज्ञातता निवृत्त होगयी तो ज्यों-का-त्यों।

> न कुछ हुआ, न है कुछ, न कछु होवन हार। अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार॥ पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर। पाया-खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

अनश्नन अन्यः इतरः। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, सर्वज्ञ, सर्व सत्त्वोपाधिक जो ईश्वर है, वह अशन नहीं करता, क्योंकि लिंग शरीर नहीं है। लिंगोपाधिक शरीरी जीव है। लिंग शरीर रूप कार्योपाधिक जीवकी और सर्वसत्त्वात्मक कारणोपाधिक ईश्वरकी, जहाँ बाधित हुई, वहाँ एक ही। समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचित मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः॥

3.1.2

इस तरह एक ही शरीरमें अज्ञानसे जीव और ज्ञानसे परमात्मा। जो अब जीव मालूम पड़ता है, वस्तुत: वही परमात्मा। अपने स्वरूपको न जानकर अविद्या—में अज्ञ हूँ, मैं कामनावाला हूँ, मैं पापी-पुण्यात्मा हूँ, मैं सुखी-दु:खी हूँ, मैं राग-द्वेषसे आक्रान्त हूँ—इस प्रकार अपने सिरपर बोझ लेकर ये सज्जन चल रहे हैं।

यह कल्पना है सारी—में अज्ञानी हूँ, मैं कामी हूँ, मैं कर्मी हूँ, मैं सुखी—दु:खी हूँ। कहो किसने विचार करके यह माना? मैं रागादि—दोषवान् हूँ—यह गुरुभार है शरीरपर। जैसे भार डालनेपर नौका पानीमें डूब जायगा, कहाँ तक ऊपर रहेगा? वैसे यह हल्की-फुल्की चीज समुद्रमें तैरनेवाली, अपने सिरपर ले लिया बोझ; तो यह देहात्मभावको प्राप्त हो गया और बोला कि मैं यह शरीर हूँ और मेरे बापका नाम यह और मैं नाती किसका, जानते हो?

बोले—ठीक है बाबा, तुम्हारे बाप-दादा तो बहुत अच्छे थे, जरा अपने बारेमें बताओ! जो लोग अपने बाप-दादाकी ज्यादा तारीफ करते हैं, उनके बारेमें महात्माओंकी क्या धारणा होती है! बतावें! बुरा मत मानना भाई! माने खुद ठनठनपाल। अरे तुम्हारे खानदानमें दस पीढ़ी पहले बहुत बढ़िया आदमी हुआ, तो वह उसकी अच्छाई थी, तुम्हारे अन्दर कोई शमदम श्रद्धा साधन है? तुम्हारे अन्दर क्या है?

कई लोग कहते हैं हमारी जब जवानी थी, तब हम कितने सुन्दर थे! अरे, अब तो मुँह पोला हो गया, अब तो दाँत टूट गये, अब तो झुर्रियाँ पड़ गर्यी, अब क्या रहा? तो, अयमेवाहं—मैं यह शरीर हूँ और अमुष्यपुत्रः। शिवकुमार शास्त्री काशीमें बड़े भारी विद्वान् थे। अब तक लोग अपने बेटेका नाम शिवकुमार रखनेमें गौरव अनुभव करते हैं। उनके बेटे हुए वाचस्पित बड़े शौकसे-शास्त्रीजीने अपने बेटेका नाम रखा वाचस्पित और महाराज उनको हस्ताक्षर करना न आवे। नाम वाचस्पित, शिवकुमार शास्त्रीके बेटे और हस्ताक्षर करना न आवे।

हम लोग जाकर उनकी पूजा करें। काहेको? शास्त्रीजीके बेटे हैं,

इसलिए। अब इसमें बेटेकी क्या महिमा हुई? वह तो बापकी महिमा हुई, कि पण्डितोंमें सबसे पहले उनकी पूजा होती है।

अरे यह सब बात जो है न, बोले—हमारे वापकी दसों उँगलियाँ घीमें रहती थीं और तुमको छोंक लगानेके लिए भी मिलता है ?

यह संसारकी सब बात है कि हम उनके नाती हैं, हम उनके पोते हैं, उनके बेटे हैं। फिर बोले—आहा! क्या पतला छरहरा हमारा शरीर है। जो मोटे होते हैं वे दुबले लोगोंको कहते हैं क्या सींकिया पहलवान है। और मोटा हो तो क्या गबदुल्ला सरीखा! स्थृल है, गुणवान् हैं, निर्गुण हैं, दु:खी हूँ, सुखी हूँ। इस प्रकार महाराज, जो अपने आपमें डूब गये और कोई नहीं है, संसारीके सिवाय। और, बोले—यह पैदा हुआ और यह मरा, यह बेचारा! इनको ईश्वर नहीं दिखता है, इनको पैदा होना, मरना दिखता है। बोले—

जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्यते।

दिनभरमें दस आदमीसे मिले और दस आदमीसे बिछुड़े, दिनभरमें दस बार मरे और दस बार जिन्दा हुए और यह हमारा सम्बन्धी, यह वाँधव; इस प्रकार महाराज, अनीशया—अनैश्वर्य आ जाता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो—इस छोटेसे शरीरमें समान वृक्षमें माने मानवाले वृक्षमें यह पुरुष जो है वह निमग्न हो गया, डूब गया और अनीशया माने अपनेको जीव मानकरके—शोचित मुह्यमान:—मैं तो किसी कामके लायक नहीं रहा।

केशवदास एक बड़े किव थे, तो अपने बुढ़ापेमें रोते थे। वह आपने सुना है कि नहीं ? उनके बाल सफेद हो गये थे। अब आप लोगोंके भी होते होंगे, पर आप वैसे नहीं करते होंगे, हम आपके बारेमें विश्वास रखते हैं, उनके बाल सफेद हो गये, तुलसीदासजीके साथी थे। तो बोले—

केशव केसनि अस करी जस अरिहूँ न करायँ।

ऐसा तो दुश्मन भी नहीं करते जैसा बालोंने कर दिया। बोले— केशवजी! आपका क्या नुकसान हुआ, इन बालोंसे? बोले—

चंद्रवदिन मृगलोचिन बाबा किह किह जायँ।

ये महाराज रोनेवाले लोग, बोले—हाय, हाय, अब तो कोई सामर्थ्य नहीं

रहा, बेटा हमारी सेवा नहीं करता है, पत्नी हमारी बुढ़िया हो गयी, मर गयी, इस प्रकार जो मनमें दीनताका भाव आता है न, 'अब जीकर क्या करूँ जब दिल ही टूट गया।'

ये दिल फेंक, दिल तोड़ लोग जो हैं दुनियामें, रातदिन दैन्य, बस अपनी कमी उनको दिखती है, अपनी अच्छाई उनको नहीं दिखती।

पारसमिणमें एक प्रसंग आया है। एक महात्मा और एक उनका शिष्य दोनों जा रहे थे, चेलेने कहा—महाराज इधर मत जाना, क्यों? कि वह देखों कुत्ता मरा पड़ा है, दुर्गन्थ आ रही है, उधर नहीं जाना। तो गुरुजीने कहा— 'भलेमानुस देख तो उसके दाँत कैसे चमक रहे हैं, कितना पुण्य किया होगा उसने पूर्वजन्ममें, तब उसको यह दाँत मिला है।'

गुरुजीकी नजर गयी चमकते हुए दांत पर और चेलेकी नजर गयी सडाँधपर। गुरु और चेलामें यही फर्क है।

एक बार दादाजी एक डाक्टरके पास गये, इनके मुँहमें कोई तकलीफ थी, तो उसने दवा दे दी। दवाको इन्होंने मुँहमें डाला, तो मुँहमें छाला पड़ गया इनको। तो उसके बाद दूसरे डाक्टरके पास गये, बड़े डाक्टरके पास। उसने भी वही दवा बतायी। तो इन्होंने कहा—वह दवा तो मैंने ली थी, मुँहमें मेरे सारा ही छाला हो गया। बोले—बाबा, इस दवाको पानीमें मिलाकर लिया करो, ऐसे मत लिया करो। बोले—पहले डाक्टरने तो नहीं बतायी। बोले—यही गुरु-चेलाका फर्क है, वह हमारा चेला है, हम उसके गुरु हैं।

अनीशया शोचित मुह्यमान: —यह मोहग्रस्त होकर दीन भावको प्राप्त हो गया है, सन्तप्त हो रहा है। अविवेकके कारण अनर्थके भिन्न-भिन्न प्रकार, उसके जीवनमें आ रहे हैं और महाराज, अब तो कभी प्रेत हो, कभी पशु हो, कभी पक्षी हो, कदाचित् महाराज अनेक जन्ममें जब शुद्ध धर्मके संचयसे यह मनुष्य योनि प्राप्त होती है, इसमें योगमार्ग मिलता है, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, सर्वत्याग, शम-दमादि साधन, सम्पन्न समाहित आत्मा होता है, इनसे जब युक्त होकर परमेश्वरका ध्यान करता है, चिन्तन करने लगता है, तब देखता है यह वृक्ष तो उपाधि है, मैं तो वृक्षसे अलग चिड़िया हूँ।

हृदयका जो आकार है, उसके साथ हूँ। बोले—अरे में यह चिड़िया भी नहीं हूँ, मैं तो साक्षात् परमात्मा ही हूँ, तब महाराज असंसारी, जिसमें न अशनाया है, न पिपासा है, न शोक है, न मोह है, न जरा है, न मृत्यु है, सम्पूर्ण जगत्का जो स्वामी है—अयमहमस्मि आत्मा सर्वस्य समः सर्वभृतस्थः—यह रहा मैं परमात्मा शुद्ध, सबकी आत्मा, सबमें सम, सबमें एक। यह अविद्या जिनत, उपाधिजिनत जो लिंग शरीर है, उससे परिच्छित्र मैं जीवात्मा नहीं हूँ। यह सम्पूर्ण जगत् हमारी विभूति है, परमात्माकी विभूति है, मेरी विभूति है—इस प्रकार जब देखता है तदाबीत शोको भवति—सम्पूर्ण शोकसागरसे जो—सम् यदा पश्यतन्यतं—देखता है, अरे मैं अनीश्वर नहीं हूँ, मैं तो साक्षात् परमात्मा हूँ। सत्यादि साधनसे सम्पन्न होकर देखता है, अपनी महिमा जगत्के रूपमें प्रकट हो रही है, तब उसके सारे शोक दूर हो जाते हैं।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान्पुण्यपापेविधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

3.1.3

इसी मन्त्रको बोलते हैं—यदा पश्यः पश्यते—जब यह देखनेवाला देखता है। अरे बाबा, आँखवाला देखता है, अन्धा क्या देखेगा!

अन्धा कौन है ? देखो अन्धा उसको नहीं कहते जिसकी आँख न हो, अन्धा उसको कहते हैं कि जो गोली तो चलावे, लेकिन कहाँ निशाना लगा रहे हैं, इसका पता ही न हो। कहते हैं कि ये जो पाकिस्तानी हवाबाज हमारे विमानोंपर गोली मारते थे, तो उसको यह पता नहीं लगता था कि जितनी देरमें हमारी गोली वहाँ पहुँचेगी उतनी देरमें यह जहाज कहाँ पहुँचेगा! अशिक्षित थे। मैंने पढ़ा था, किसी अमेरिकन कमीशनके सदस्यने आलोचना की थी कि जिनको ताँगा हाँकना नहीं आता है, उनको वहाँ बमवर्षक हवाई जहाज चलानेके लिए नियुक्त किया गया था।

अच्छा तो क्या हुआ? यह अपने पास जो बुद्धि है, इसको आप देखो ध्यानसे—यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं—यह जो संसारके चल विषयपर अपनी नजर जमाये हुए है। दुनियाकी चीजें तो बड़े जोरसे भाग रही हैं। संसार उसको कहते हैं जो सरक जाय, बाप सरक गया, दादा सरक गया, माँ सरक गयी, भाई सरक गया, अपना बचपन सरक गया। आप बता सकते हैं कयासके साथ कि किस सन्में किस महीनेमें, किस तारीखको आपका बचपन गया और आपकी जवानी शुरू हुई? बता सकते हैं कि किस तारीखको आपकी जवानी चली गयी और आपका बुढ़ापा शुरू हुआ? है कोई समय कि कब सरक गया! इसीको संसार बोलते हैं। आदमी सरके तो रोते हैं, पैसा सरके तो रोते हैं। अपने शरीरमें जवानी है, उसका तो पता नहीं चला, सरक गयी। बचपन सरक गया तो मालूम नहीं पड़ा। बोले—हाय-हाय पैसा सरक गया। हे भगवान, बचपन नहीं रहा, जवानी नहीं रही, अब यह पैसा ही तुम्हारा रहेगा!

तो इसीका नाम संसार है। और जो कभी न सरके उसका नाम आत्मा है। जिससे कभी विछोह न हो, उसका नाम आत्मा और जिससे कभी संयोग न हो सच्चा, यह तिल-तिल-तिल-ढलता ही जाय उसका नाम संसार।

तो जब यह पश्यः माने पश्यित-साधक विद्वान्—जब परमात्माका दर्शन करता है—पश्यते पश्यित—देखता है, कैसा? बोले—रुक्मवर्णं। परमात्मा रुक्मवर्णं है।

कल हिरण्मय शब्द आया था तो मैंने व्याख्या उसकी सुनायी थी कि हिरण्मयमें एक तो 'हि' है हित, 'र' है रमणीय, और 'मय' जो है वह 'मेय' है। तो जब गये तो प्रबुद्धानन्दजीने पूछा कि हिरण्मय शब्दका ऐसा अर्थ कैसे कर दिया? तो मैंने इनको कहा—'निरुक्त 'में यह अर्थ लिखा हुआ है।

निरुक्तमें यही अर्थ है, याद था हमको। तो रातको फिर निरुक्त निकालकर देखा, तो उसमें लिखा था—हिरण्यय कस्मात? हिरण्यको हिरण्य क्यों कहते हैं? कि हितं रमणं च भवतीति। वह आभूषण बनता है, देखकर तबीयत खुश होती है और हितकारी भी होता है, इसलिए उसको 'हिरण्य' बोलते हैं।

बोले—यह हिरण्मय पुरुष किसको बोलते हैं ? उसीमें था, विज्ञानमय कोशको बोलते हैं—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।

तो आनन्दमय और विज्ञानमय कोशका जो संयुक्त रूप है, जहाँ आत्मा अपनेको कर्ता-भोक्ता समझता है। जहाँ बैठकर, उसका नाम हिरण्मय कोश। उसमें-से हिरण्मय कोशको माने कर्तृत्व और भोक्त्वको निकाल दो तो वहाँ क्या है? कि विरजं ब्रह्म निष्कलम्। वह क्या है? बोले—रुक्मवर्णं—वह रुक्मवर्ण है—स्वयं ज्योति स्वभाव—जैसे सोना चमकता है, वैसे परमात्मा तुम्हारे हृदयमें चमक रहा है। तो जब उसका दर्शन होता है तब ? यह बाहरकी दुनिया देख लो। वह आपने सुनी होगी—एक बड़े बाबू थे अप टू डेट, नावपर यात्रा कर रहे थे। तो अकेले थे और जब बोर होने लगे, तब मल्लाहसे पूछा कि क्यों भाई तुम तारोंके बारेमें जानते हो? बोले—नहीं। बोले—अरे तुम्हारी जिन्दगी एक हिस्सा तो फालतू गयी। फिर पूछा कि कुछ साइंसके बारेमें जानते हो? कि नहीं जानते। अच्छा कुछ डाक्टरीके बारेमें जानते हो?

सोचते थे कुछ बात करें।

बोले—तुम्हारा तीन हिस्सा जीवन बिलकुल व्यर्थ गया! बस, तुम इतना ही जानते हो!

इतनेमें महाराज नदीमें तूफान आया और नाव डगमगायी, तो मल्लाहने पूछा—बाबूजी, आपको तैरना आता है ? तो बोले कि नहीं, हमने तो तैरना नहीं सीखा।

बोला—मेरी तो तीन हिस्सा खराब गयी, और एक बची थी, सो वह तो बच जायगी, लेकिन अब तुम्हारी पूरी गयी और, वह तो महाराज लंगोट बाँधकर कूद गया गंगाजीमें, वह निकल गया और बाबूजी नाव सिहत डूब गये। वह ज्ञान कुछ काम नहीं आया। जो नदीमें है उसको तैरना आना चाहिए। इस भवसागरमें जो डूब रहा है, वह यदि तैरना नहीं जानेगा, इससे निकलना नहीं जानेगा, तो वह इसमें डूब जायगा।

तो जब यह दर्शक देखता है—ह्म्मवर्ण—चमक रहा है परमात्मा, बिलकुल स्वर्णके समान, कैसा? कि—कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। अच्छा, अब यह प्रसंग आपको कल सुनावेंगे!



प्रवचन : 24, मन्त्र 3 से 5 तक

तत्त्वज्ञानसे जीवन्मुक्ति

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं

कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

तदा विद्वान्युण्यपापे विधूय

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ 3.1.3

पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं यदा—यदा माने जब, यस्मिन् काले एवं भूतो कालो दुर्लभः इत्यर्थः। जब साधक जिज्ञासु ब्रह्माकार-वृत्तिसे सम्पन्न होकर रुक्मवर्ण परमात्माका दर्शन करता है। कब? अरे वही तो दुर्लभ है। यह 'यदा' शब्द दुर्लभताका सृचक है। ऐसा क्षण किसी-किसीके जीवनमें आता है जो शुद्ध अन्तः करणवाला है, जिसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है, जिसके ऊपर सद्गुरु प्रसन्न हैं।

साधन-सम्पत्ति होवे, ईश्वरकी उपासना होवे, सद्गुरु प्रसन्न होवे, तब जाकर यह सौभाग्यका क्षण जीवनमें आता है।

यह बात बताते हैं 'यदा' शब्दसे। जब कभी।

पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं—देखोः, तुम्हारा काम तो सिर्फ देखना है, कुछ गड़बड़ करना तुम्हारा काम नहीं है।

यह आदमी दु:खी क्यों होता है? कि जब कुछ गड़बड़ करना चाहता है। गड़बड़ करना माने जैसा हो रहा है, उसको यदि नापसन्द करेगा, तो ईश्वरके एक कामको नापसन्द किया उसने और ईश्वरके किये हुएको बदलना चाहता है तो वह अपने सामर्थ्यसे बाहर जा रहा है। जैसे नाटकमें बैठे हुए दर्शकका काम रंगमंचका नियन्त्रण करना नहीं है कि इसपर क्या दृश्य दिखाया जाय और क्या नहीं; मौतका दृश्य आवे तो उसका भी मजा ले और ब्याहका दृश्य आवे तो उसका भी मजा ले और ब्याहका दृश्य आवे तो उसका भी मजा ले और ब्याहका दृश्य आवे तो उसका भी मजा ले। दर्शकका काम तो यही है। तो यह जो अधिष्ठानके पर्देपर, यह स्वयं प्रकाश परमात्मा भिन्न-भिन्न प्रकारके दृश्य दिखा रहा है, ये जिस समय दीख रहे हैं, उस समय भी इनकी कोई सत्ता-महत्ता नहीं है। तो तुम नाटक देखने बैठो। बैठे हो, देख रहे हो। आजतक कोई नाटक पैदा नहीं कर सकते और किसीको बिगाड़ भी नहीं सकते। तो पश्यित इति पश्यः।

यह लौकिक व्याकरणसे यह 'द्रष्टा' हो जाता है। यह तो वैदिक में 'पश्य' शब्द है, धातु तो 'दृश्' है। तो लौकिक व्याकरणमें 'पश्यतीति द्रष्टा' जो देखता है उसको द्रष्टा बोलते हैं। यह वैदिक व्याकरणकी रीतिसे उसीको 'पश्यः' बोलते हैं। ज्यों-का-त्यों है।

पश्यते रुक्मवर्णं। किसको देख रहा है ? रुक्मवर्ण। सोनेकी तरह। स्वयं ज्योतिस्वभाव। रुक्मवर्णका अर्थ लाल-पीला नहीं है। रुक्म माने सोना होता है और रुचामयते इति। जो अपनी कान्तिसे पहचानमें आता है उसको रुक्म कहते हैं। रुक्म माने कान्ति। रुचामीयते इति, स्वयं ज्योति स्वभाव है रुक्म।

बोले देखो लोकमें यह प्रसिद्ध है कि सोनेकी चमक जाती नहीं है, बनी रहती है। तो लोकमें ऐसी बनी रहनेवाली चमक सोनेके सिवाय किसीमें नहीं होती। इसलिए परमात्माकी जब उपमा दी जाती है, तो हिरण्यकेशाः, हिरण्यशमश्रुः, हिरण्यवर्णः। उसके बाल कैसे? कि सोनेकी तरह। उसकी दाढ़ी-मूँछ कैसी? कि बिलकुल सोनेकी। सुनहली, रिशममयी, ज्योतिर्मयी, यह मतलब है। तो जब ऐसे परमात्माका, स्वयं प्रकाश परमात्माका दर्शन होता है, वह कैसा है? कि—

कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

कर्त्तारं—यह जितनी विश्वसृष्टि होती है उसका, सम्पूर्ण जगत्का वह कर्त्ता है और सबका वह ईश है, नियन्ता है और वही ब्रह्म है। शुद्ध। और, वही योनि है—प्रकृति। ब्रह्मयोनिम्। वह ब्रह्म है और योनि है।

अब देखो अलग-अलग उसका अर्थ। संसारमें जो काम होता है, कर्त्ताके बिना उसका कोई महत्त्व नहीं होता।

एक मुर्दा है और वह कहीं गिर गया था किसीके ऊपर। जिसके ऊपर गिरा था, उसका हाथ टूट गया। तो मुर्देको पाप लगेगा क्या? अरे जब उसमें कर्त्ता होगा, तब पाप लगेगा, मुर्देको पाप क्या लगेगा! तो धर्माधर्मकी उत्पत्ति मनुष्यके शरीरमें कर्त्ताके बिना नहीं होती, यह आप समझ लो।

अरे कर्ताके बिना सुख-दु:खकी भी उत्पत्ति नहीं होती। धर्माधर्मके बिना सुख दु:खकी उत्पत्ति कहाँसे होगी? तो वही कर्त्ता और वही भोक्ता। कर्मकी उपाधिसे जिस आत्माको कर्त्ता बोलते हैं, सुख-दु:खके भोगकी उपाधिसे उसीको भोक्ता बोलते हैं। कर्त्ता और भोक्ता दो चीन नहीं है। जैसे

रसोई बनानेके समयमें तुम क्या हुए? कि कर्ता और खानेके समयमें क्या हुए? कि भोक्ता। तो कर्ता और भोक्ता दो नहीं हैं, ये एक हैं। तो कर्तृत्व और भोकृत्व विज्ञानमय और आनन्दमय कोशकी उपाधिसे है। विज्ञानमय कोशकी उपाधिसे कर्तापन और आनन्दमय कोशकी उपाधिसे भोक्तापन। यह जीवमें ऐसा होता है। यह कोशकी उपाधि जीवमें होती है, ईश्वरमें नहीं होती है—

कोशोपाधि विवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।

जब कोशकी उपाधिकी दृष्टिसे बोलते हैं तो ब्रह्मका नाम जीव हो जाता है और जब कारणकी उपाधिसे बोलते हैं तब उसीका नाम ईश्वर हो जाता है। बिना नियमनके यह जगत् कर्म नहीं हो सकता। जैसे बिना जीवके पाप-पुण्य और भोग नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना ईश्वरके सृष्टि-कर्म नहीं हो सकता। तो दैहिक कर्म और दैहिक भोगका जो कर्त्ता है उसको जीव बोलते हैं और समष्टि कर्मका और भोगका जो कर्त्ता है उसको ईश्वर बोलते हैं। और, उपाधिको हटा दो तो उसीका नाम ब्रह्म हो गया।

और योनि प्रकृतिं कौन है? कि वही है। अच्छा देखो आप लोगोंके घरमें पौधा तो कभी-कभी बोते ही होंगे, गेहूँका पौधा, चनेका पौधा, मटरका पौधा, और नहीं तो तुलसीका ही पौधा बोते होंगे। अब ऐसा तो कैसे सोचें कि कोई आस्तिक होवे और तुलसीसे उसका प्रेम न होवे। तुलसीका पौधा तो विचित्र है, दिव्य है।

तो देखो जब गेहूँ बोते हैं, तो एक गेहूँ तो जड़में होता है, उसमें-से तना निकलता है और दस गेहूँ उसके सिरपर लगते हैं। अच्छा तो कारण गेहूँ कौन हुआ? जो तनेकी जड़में रहता है; और कार्य गेहूँ कौन हुआ? जो तनेके सिरपर उगता है। तो एक गेहूँ पहले था जिससे तना निकला, तनेमें-से गेहूँ निकला। तो एक कारण गेहूँ हो गया एक कार्य गेहूँ हो गया। अब इस गेहूँमें क्या फर्क पड़ा कि पहला गेहूँ जब नष्ट हो गया, पहला गेहूँ जब तनेके आकारमें परिवर्तित हुआ तो पहले गेहूँका जो आकार था वह नष्ट हो गया, सड़ गया, विकृत हो गया, बिगड़ गया, तब वह तना बना और तनेमें-से दस गेहूँ और निकल आये।

अब ईश्वर (की कारणता)में क्या फर्क है ? कि वह है तो इस जगत्रूप तनेमें कारण, गेहूँ की तरह, लेकिन वह बिगड़ता नहीं है, ज्यों-का-त्यों रहता है और इससे जो दस गेहूँ ऊपर लगते हैं, ये ज्यों-के-त्यों; वह जड़में जो गेहूँ था, वहीं है। यह नहीं समझना कि कार्य गेहूँमें दूसरी धातु आ गयी और कारण गेहूँमें दूसरी धातु आ गयी, पंचभूतकी दृष्टिसे दोनों बिलकुल एक हैं।

तो योनि माने प्रकृति समझो। ब्रह्मसूत्रमें एक अधिकरण है—प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्। प्रकृतिश्च ब्रह्मैव—प्रकृति ब्रह्म ही है। प्रकृतिको कुछ और नहीं समझना। योग दर्शनकी बात सुनकर, सांख्य दर्शनकी बात सुनकर, जो केवल विवेकके लिए कही गयी है, प्रकृतिको जुदा मत समझना। प्रकृति शब्दका अर्थ है ब्रह्म।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्।

एकके ज्ञानसे सर्वके ज्ञानकी प्रतिज्ञा और सोना, लोहा, मिट्टीका दृष्टान्त—ये दोनों बात श्रुतिकी बिगड़ न जाय, उसका उपरोध न हो जाय, इसिलए प्रकृति भी ब्रह्म ही है।

तो प्रकृति ब्रह्म है, जीव ब्रह्म है, ईश्वर नियन्ता ब्रह्म है, यह पुरुष ब्रह्म है। माने परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जगत्का कर्त्ता, जगत्का नियन्ता, जगत्का अन्तर्यामी, जगत्का स्वयं प्रकाश अधिष्ठान और प्रकृति, यह सब-का-सब परमात्मा है। तो,

यदा पश्यः पश्यति—जब इस बातको देखता है, अनुभव करता है।

आप ज्ञानकी प्रणाली यह जानते होंगे जो दुनियामें चलता है। एक बार काशीमें शास्त्रार्थ हुआ, वेदान्तका शास्त्रार्थ था वह। तो 'ब्रह्म अद्वितीय है'—यह निरूपण पण्डित लोग कर रहे थे, बड़े-बड़े पण्डित थे। कमलाकान्तजी मिश्र थे, रामानुज ओझा थे, वेदान्ती पण्डित हैं, राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ थे। इसी बीचमें एक वैयाकरण हैं—रामानुज सम्प्रदायके तो हैं, पर वैयाकरण हैं—वे अपने सम्प्रदायका दर्शन भी नहीं जानते। वे आये बड़े शास्त्रार्थ किये हैं महाराज! वे आकर बोलते कि यो घटं वेत्ति स घटादिभन्नोभवित—जो घड़ेको जानता है वह घड़ेसे जुदा होता है। एवं यो ब्रह्म वेत्ति स ब्रह्मणोभिन्नो भवित—इसी प्रकार जो ब्रह्मको जानता है; जो वह ब्रह्मसे जुदा हुआ।

राजेश्वर शास्त्रीने कहा कि भाई, तुम वेदान्तके पण्डित नहीं हो, तुम इस शास्त्रार्थमें मत बोलो। चुप हो जाओ। और जो वेदान्तके पण्डित हैं उनको शास्त्रार्थ करने दो। जो ब्रह्मको जानता है सो ब्रह्मसे जुदा होगा तो ब्रह्मका ब्रह्मत्व क्या रहेगा? ब्रह्म तो कहते ही उसको हैं कि जो निरितशय बृहत् होवे, जिसके सिवाय दूसरा कुछ न होवे। अब वह पण्डित नहीं माना, तो फिर उसके ऊपर रोक लगा दी गयी कि पण्डितोंकी सभामें आकर शास्त्रार्थ करे ही नहीं।

तो पण्डितांकी सभा। एक बार शास्त्रार्थ हुआ, बड़ा विचित्र, सब पण्डित काशीक एकत्र थे। नीलमेघाचार्य थे, रामानुज सम्प्रदायके बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने कहा कि यदि जीव और ब्रह्म दोनों अभिन्न होंगे तो जीवमें जितनी कमजोरियाँ हैं, वे सव ब्रह्ममें चली जायँगी। वे तो आत्मिष्ठ मानते हैं, कामको, क्रोधको, लोभको, मोहको, धर्मको, अधर्मको, 'धर्माधर्म इच्छा प्रयत्न' नैयायिक लोग जैसे मानते हैं बोले—यह सब दोष ब्रह्मको प्राप्त होगा, जीवका जन्ममरण भी ब्रह्ममें प्राप्त होगा। तो कमलाकान्तजी हँसने लगे। बोले कि देखो पहले तुम एक मान लो दोनों को, उसके बाद जो जबरदस्त होगा, उसका गुण रह जायगा और जो कमजोर होगा वह नहीं रहेगा। अरे गंगाजीमें आकर नाला भी मिलता है तो नाला नहीं रहता है गंगाजी हो जाती है। पहले मिल तो जाने दो दोनोंको एकमें। तो ब्रह्मके गुण जबरदस्त होंगे तो वे रहेंगे और जीवके गुण जबरदस्त होंगे तो वे रहेंगे और

अरे मिलो तो, दोनोंमें-से एक ही रहेगा भाई। अब यह तो 'मैं बौरी हूँ हुन चली, रही किनारे बैठ'; अगर अपनेको अलग ही करके रखना था, तो हूँ हुनेके लिए क्यों चले? जब भाई हूँ हुनेके लिए चले, तो अब तो डुबकी लगानी पड़ेगी।

तो ज्ञानकी प्रणाली यह है कि जबतक अन्त:करणाविच्छन्न चैतन्य और घटाविच्छन्न चैतन्य—दोनोंका ऐक्य नहीं होता, तबतक घटका ज्ञान ही नहीं होता। इसलिए महाराज, जब तक व्यष्टि अविच्छन्नका, समष्टि अविच्छन्न चेंतन्यसे ऐक्य नहीं होगा, जबतक सर्वज्ञान होगा ही नहीं। और, सर्वज्ञान नहीं होगा तो एकस्मिन्वज्ञातेसर्वं विज्ञातं भवित—यह प्रतिज्ञा ही पूरी नहीं होगी। तो—तदाविद्वान्युण्यपापेविधूय—जब यह ज्ञान होता है न, तो यह विद्वान् पुरुष—विद्वान् माने जाननेवाला पुरुष, 'तदा विद्वान्।' 'यदा एवं विद्वान् तदा'—जब ऐसा जान लेता है तब, 'पुण्यपापेविधूय'—पुण्य और पाप दोनों धुल जाते हैं।

ये दुनियाके लालची चाहते हैं कि धन आवे, गरीबी न आवे, ब्याह तो

होवे, लड़ाई न होवे! यह कैसे होगा? यह बिलकुल असंगत है। अगर ब्याह होगा तो पित-पत्नीमें लड़ाई भी होगी कभी-न-कभी। यह धर्म है उसका। जब प्रेम होगा तो किसी दिन मान भी होगा। िकसी दिन हँसोगे तो किसी दिन रोना भी पड़ेगा। यह दुनियाका ऐसा द्वन्द्व, ऐसा चक्कर चलता ही रहता है कि पापके साथ पुण्य। पुण्य करने गये, बोले—रोटी बनाकर खिलाओ। अब रोटी बनानेके लिए गेहूँ पीसना पड़ा, तो दस घुन पिस गये। अत्र पैदा करनेके लिए खेती करना पड़ा, होम करनेके लिए आग जलानी पड़ी, कीड़े मरेंगे कि नहीं मरेंगे? हिंसा शून्य कर्म कैसे होगा? बिना पापका पुण्य नहीं होता। लगा ही रहता है। तो असलमें पाप और पुण्य दोनोंसे छूटना पड़ता है। पुण्य करेंगे तो स्वर्गमें जायेंगे। अरे वाह-वाह-वाह, बहुत बिढ़या, आनन्द आ गया। महाराज इतनेमें पुण्य खत्म, अब होटलका बिल चुकानेके लिए पैसा ही नहीं।

स्वर्ग जो है, वह होटल है, घर नहीं है। अपना घर तो आत्मा है। स्वर्गमें तो जबतक बिल चुकानेका ऐसा है, तबतक रह सकते हो, नहीं तो निकाल दिये जाओगे। और, अपने घरमें! अपना स्वरूप है, परब्रह्म परमात्मा। म्युनिसिपैलिटी टैक्स नहीं लगता इसमें। कुछ नहीं, बिजलीका भी बिल नहीं है, सब सम्पन्न, स्वयं प्रकाश, स्वयं ज्योति, ऐसा यह परमानन्द स्वरूप।

पाप-पुण्य दोनोंसे यदि छूटना हो, तो-

ज्ञात्वा-मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति।

यदि इस परमात्माका ज्ञान हो जाय तो हर्ष और शोक दोनों छूटते हैं, पाप और पुण्य दोनों छूटते हैं। क्यों? कि ये दोनों एक केंचुलमें रहते हैं, पाप और पुण्य दोनों अपनेमें नहीं रहते हैं, केंचुलमें रहते हैं। जैसे होलीके दिन रास्तेमें निकलो, एकने बहुत बिढ़्या रंग डाल दिया शरीरपर, कपड़ेपर और एकने गन्दा रंग डाल दिया। अब घरमें जाओगे तो क्या करना पड़ेगा! यह नहीं कि उस कपड़ेमें-से गन्दे रंगको निकाल दें और बिढ़्या रंगको रख लें। ऐसा नहीं होगा, वह कुर्ता ही निकालना पड़ेगा। तो उस अन्त:करणसे ही छुट्टी लेनी पड़ती है, जिसमें यह दुनियाका रंग चढ़ता है। पुण्यपापे विध्या। नासी तपित। किमहं साधु ना करवम्। किमहं पापं करवम्। ज्ञानी पुरुषको यह पछतावा कभी नहीं होता कि मैंने अच्छा काम क्यों नहीं किया! मैंने बुरा काम क्यों किया! यह

पछतावा उसको नहीं होता है तब यथा पुष्कर पलाशे आपो न शिलष्यने एव मेवं विधिकर्म न शिलष्यते। पापं न शिलष्यते। जैसे कमलके पत्तेमें जलका श्लेष नहीं होता, न बुरेका, न अच्छेका।

यह आत्माका स्वरूप महाराज, यह तत्त्वज्ञान है। ब्रह्मसूत्रमें एक तद्धिगम अधिकरण है—

तद्धिगमे उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तदव्यपदेशात्—परमात्माका जब अधिगम हुआ तो पहलेके जो पाप थे सो तो भस्म हो गये और आगे जो पाप होंगे सो? कि वे छूयेंगे ही नहीं। पहलेके जल गये और बाद वाले छूयेंगे नहीं। तो बात क्या हुई, पुण्य और पाप अन्तःकरण युक्त जो कर्त्ता है, उसको लगते हैं और अन्तःकरणकी उपाधि छूट गयी तो अपना कर्त्तापन ही मर गया और कर्त्तापन मर गया तो भरी सभामें हाथ उठाकर कह दो, नहीं किया मैंने, यह मेरा किया हुआ कर्म नहीं है।

स्वामी मधुसूदन सरस्वती थे, उन्होंने बड़ा भारी ग्रन्थ बनाया—'अद्वैत सिद्धि'। बड़ा महत्त्वपूर्ण, गम्भीर भी है और बड़ा महान् ग्रन्थ है अद्वैत वेदान्तका। तो ग्रन्थ लिखकर अन्तमें क्या बोलते हैं—

ग्रन्थस्यैतस्य यत् कर्त्ता स्तूयतां वास्नीयतां।

मिय नास्त्यैव कर्तृत्वं अखण्डानुभवात्मिन॥

इस ग्रन्थको जो बनानेवाला है, लोग उसकी तारीफ करें या निन्दा करें।

मुझमें कर्त्तापन ही नहीं है, मैं तो अखण्ड अनुभव स्वरूप हूँ।

भक्तलोग भी ऐसे ही बोलते हैं—

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्। त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन॥ हे प्रभु! जो कुछ किया और करूँगा वह मैंने नहीं किया, न करूँगा, अरे तुमने किया है। बोले—फलसे बचना चाहते हो? कि फल भी तुम ही भोगो, मैंने नहीं किया है। भगवान्से कह दिया 'फलभुक् त्वमेव'।

रामानुजाचार्यजीका श्लोक है—

ममनाथ यदस्ति योस्म्यहं सकलं तिद्ध तवैव माधव। नियतस्विमिति प्रबुद्ध धीः अथवा किं नु समर्पयामि ते॥ मेरा तो कुछ है ही नहीं। बोले—सरकारने एक आदमीपर जुर्माना किया कि चलो पाँच लाख रुपया लाओ। बोले—हमारा जो हो सो ले लो। बोले—यह सब किसका है कि यह तो पहलेसे ही तुम्हारा है, हमारा है ही नहीं, जुर्माना करो तो अपनेपर और पुरस्कार दो तो अपनेको, हमारा तो कुछ है ही नहीं।

पाप, पुण्य और पाप-पुण्यका फल सुख-दु:ख और इनका संस्कार जिसमें रहता है वह सूक्ष्म शरीर और इनके कर्त्तापनेका जो अभिमान है, वह अभिमान और उस अभिमानका जो कारण है अज्ञान; जब यही चौपट हो गये तो कहाँसे लगेगा सब? बोले—

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति—निरंजन हो गये भाई। 'अंजन' कहते हैं कालिख जो आँखमें लगाते हैं, काजल। कालिखसे मिला हुआ जो गीली चीज होती है उसको कज्जल बोलते हैं। 'कत् कुत्सितं जलं कज्जलं।' वह काला पानी लगाते हैं न आँखमें, उसको कज्जल वोलते हैं। उसीको अंजन बोलते हैं। अञ्जनते अनेन। जिससे अंजित किया जाय नेत्रको, उसको अंजन वोलते हैं।

'मल'—वह भी मैल ही है, तो निरंजन माने होता है निर्मल।

यह देखो नेत्रके समान ज्ञानस्वरूप है ब्रह्म और उसमें काली-काली अंजनके समान है माया। स्वयं ज्योति ज्ञान स्वरूप जो ब्रह्म है उसमें अंजन क्या? बोले—माया ही अंजन है।

गोपियाँ कृष्णकी आँखमें अंजन लगाती थीं। तो परमात्माको बोलते हैं निरंजन। अंजना माया। अंज्यते जगत् अनया इति अंजना। यह अंजना। विद्याको भी अंजना बोलते हैं और अविद्याको भी अंजना बोलते हैं।

अंन्यते व्यन्यते हनूमान, विवेकाः अनया।

विवेकाख्य हनूमानकी जिससे उत्पत्ति होती है, उसका नाम अंजना है।

तो यह परमात्मा क्या हुआ? बोले—निरंजन!

यावित्ररंजनमजं पुरुषं जरनं संचिन्तयामि निखिले जगाति स्फुरन्तं तावद् बलात् स्फुरित हन्त हृदयस्तरेमे गोपस्य कोपि शिशु रंजन पुंज मंजु। निरंजन, निर्माय, निरवद्य, अविद्या चली गयी। परमं साम्यं द्वैतमूलक जो साम्य है वह असाम्य है। उसको शंकराचार्य बोलते हैं कि अद्वंतसे पहले जो समता है, वह सारी समता असमता है, नीचेकी है, हीनतर है, छोटी समता है। परम साम्य क्या है? देखो जीव और ईश्वरकी समता कैसी? वैण्णव लोग मानते हैं कि 'जगद्व्यापारवर्जम्'—िक जीव और ईश्वर दोनों बराबर हो गये, चैतन्य, चैतन्य चराबर, लेकिन ईश्वर सृष्टि बनाता है, स्थापता है, प्रलय करता है और जीव जो है वह सृष्टि बनाता नहीं, स्थापता नहीं और प्रलय करता नहीं। एक होनेपर भी दोनोंमें भेद है। इसीको भेद सहिष्णु अभेद बोलते हैं। चैतन्यांशमें अभेद होनेपर भी ऐश्वर्यांशमें जीव और ईश्वरका अभेद नहीं है।

और, यहाँ बोले ऐश्वर्य-अनैश्वर्य—दोनों बाधित, मिथ्या; और चिन्मात्र जो वस्तु है वह एक। इसका नाम है परम साम्य। तो यह निरंजन होकर, अविद्या और मायासे मुक्त होकर परम समताको प्राप्त हो जाता है।

> प्राणो होष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।

आत्मक्रीङ आत्मरति: क्रियावा-

नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ: ॥ 3.1.4

प्राणो होष—यह परमात्मा कोन है ? अरे यह तुम्हारा प्राण है। कामी तोग बोलते हैं अपनी प्रेयसीसे कि तुम मेरे प्राण हो और प्रेयसी बोलती है अपने प्रीतमसे कि तुम मेरे प्राण हो।

प्राण माने परम प्रेमास्पद, अस्ति-भाति-प्रियरूप। तो यहाँ 'प्राण' शब्दका क्या अर्थ है ? शंकराचार्यने बहुत बिढ़या लिख दिया प्राणस्य प्राणः। यहाँ जो शरीरमें साँस चलती है वह नहीं, जो प्राणका भी प्राण है। प्राण नहीं, प्राणोंका भी प्यारा, प्राणोंका अधिष्ठान, प्राणोंका प्रकाशक, वह। यह परमात्मा और कुछ नहीं है, अपना आत्मा ही है। प्राणोंका प्राण माने अपना आत्मा है।

सर्वभूतैर्विभाति—ब्रह्मासे लेकर तृणतक सम्पूर्ण भूतोंमें वही उपलिक्षत हो रहा है। सर्वभूतैर्विभाति। यह सह अर्थमें तृतीया नहीं है। सर्वभूतोंके साथ भास रहा है—ऐसा नहीं। सर्वभूतरूप लक्षण लिक्षता विभाति। इत्थं-भूत लक्षणे तृतीया। जैसे अभूषणैर्विभाति—ऐसे बोलते हैं। यह स्त्री है, वह कंगनसे, हारसे देखो, कितनी सुन्दर लगती है। बोले—वह नकबेसरसे कितनी सुन्दर लगती है। तो यह उसका लक्षण होगया। यह अमुक वस्त्रसे कितनी सुन्दर लगती है। तो यह लक्षण हो गया उसका। तो सर्वभूतकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय इनकी कल्पना और इनका अपवाद, इनका अध्यारोप और इनका अपवाद जिसका लक्षण है, वह परमात्मा देखो तुम्हारी आत्माके रूपमें भास रहा है।

विभाति—विविधं दीप्यते, वही सम्पूर्ण जगत्के रूपमें मालूम पड़ रहा है।

विजानन्वद्वान् भवते नातिवादी—बोले—भाई, जो इस बातको जान लेता है। विजानन् शब्दसे आपका परिचय है। वह जो आप ईशावास्योपनिषद् पढ़ते हैं, ब्राह्मणस्य विजानतः वहाँ जो विजानतः है वही यहाँ विजानन् है। जो विद्वान् इस बातको जानता है कि जो आत्मा है एष आत्मा, एष प्राणः परमेश्वर एष प्राणस्य प्राणः—यह जो प्राणका प्राण है लौकिक व्याकरणकी रीतिसे प्राण शब्दका बहुवचनमें ही प्रयोग किया जाता है—इमे प्राणः। क्योंकि प्राण-अपान-व्यान- समान-उदान पाँच हैं न, और जब एकवचनमें प्रयोग इसका किया जायेगा तो पाँचों प्राणोंमें अनुगत जो प्राण है, वह उसका अर्थ होगा। लौकिक प्राणमें तो अनेकता है और इस वैदिक प्राणमें एकता है और एकता है तब यह पाँचों प्राणोंमें अनुगत जो मुख्य प्राण है उस प्राणका भी जो प्राण है वह है—प्राणस्य प्राणाः।

सर्वभूतैर्विभाति—वही सम्पूर्ण जल, थल एवं पृथिवी। इसका अर्थ है कि आत्मा जो है वही धरतीके रूपमें दृढ़ है, वही जलके रूपमें तरल है वही सूर्य, चन्द्रमा, अग्निके समान प्रकाशमान है। अपना आत्मा ही वायुके रूपमें प्रवाह रूप हो रहा है। अपना आत्मा ही आकाश है। अपना आत्मा ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका अधिष्ठान है। अपना आत्मा ही स्वयं प्रकाश ब्रह्म है। अपने सिवाय और कोई है ही नहीं।

विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी। जो महात्मा इसका अनुभव कर लेता है वह अतिवादी नहीं होता। 'अतिवादी' का क्या अर्थ है ? बोले—िकसीने कहा कि तुम पापी हो। वह कहे—नहीं, नहीं, मैं पापी नहीं हूँ। अरे बाबा पापी नहीं, तुम बड़े पुण्यात्मा हो। हाँ! तुम, मैं दोनों एक। हाँ! तुम दोनों मित्र-शत्रु, कि हाँ; शत्रु भी मैं हूँ, मित्र भी मैं हूँ। भला भी मैं ही हूँ, बुरा भी मैं ही हूँ।

अहं एतान् अतिक्रम्य वर्ते

में इसका अतिक्रमण करके रहता हूँ—ऐसा नहीं। मैं किसीसे जुदा नहीं हूँ। आपको सुनाया था, हमारे मोकलपुरके बाबासे किसीने पूछा—तुम कौन हो? बोले—जो चींटी है सो मैं हूँ, जो मच्छर है सो मैं हूँ। जो कुछ है सो मैं ही हूँ।

इसलिए ऐसा जो ज्ञानी पुरुप है वह अतीत्य सर्वान् अन्यान् विदतुं शीलं अस्य इति अतिवादी। न अतिवादी—नाति वादी।

यह किसीसे अतिक्रान्त अपनेको नहीं मानता। हम तुमसे ऊँचे हैं, कि नहीं, नहीं, जो तुम हो सो ही मैं हूँ। अपनेको तुम जो समझते हो, जैसा समझते हो, बिलकुल वैसा ही मैं हूँ। वही मैं हूँ।

छान्दोग्योपनिषद्में इसका दूसरे ढंगसे वर्णन आया हुआ है—

एष सत्येन अतिवदित यः सत्येन वदित स नामादि प्राणान्तं मिथ्याभूतमतीत्य परमार्थ सत्यं वदित इति अतिवादी।

जो कहता है कि नामसे लेकर प्राण पर्यन्त जो मिथ्याभूत सृष्टि है, उसका अतिक्रमण करके मैं ब्रह्म हूँ, वह अतिवादी हुआ।

तो महात्मा कैसा होता है? बोले—अतिवादी होता है। माने नामसे लेकर प्राण पर्यन्त जो सृष्टि है, उसको अतिक्रान्त करके उससे परे मैं हूँ—ऐसा महात्मा होता है।

तो बोले—यहाँ तो बताया कि वह अपनेको किसीसे परे बताता ही नहीं। वहाँ बताया कि महात्मा अतिवादी होता है, कहता है मैं सबसे परे हूँ और यहाँ बताया कि महात्मा अतिवादी नहीं होता। माने किसीसे परे अपनेको बताता ही नहीं। तो दोनोंमें विरोध हो गया? नहीं दोनोंमें विरोध नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? कि दोनों यही कहते हैं कि परमार्थ सत्य ब्रह्म मैं ही हूँ।

तो परमार्थ सत्य ब्रह्म मैं ही हूँ—यह कहना और मेरे सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है, यह कहना, मैं सबसे परे हूँ, यह कहना, यह कहनेमें कोई फर्क नहीं हुआ, सबका अभिप्राय एक है। बोले—

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

'आत्मक्रीड'—बच्चे खिलौनेसे खेलते हैं, पित पत्नीसे खेलता है, पत्नी

पितसे खेलती है। माँ बच्चेसे खेलती है, बच्चा माँसे खेलता है। और यह? बोले—'आत्मक्रीड'—यह अपने आपसे खेलता है। जैसे गुड़िया बना लेते हैं, यह दुश्मन है, यह दोस्त है, दोनों एक है। देखो, शतरंजके खेलमें क्या लड़ाई होती है, सैनिकपर सैनिक पटापट करते हैं। यह ब्रह्मवेत्ता है, वह शतरंजका खेल खेल रहा है। स्वामी रामतीर्थका है—

बादशाह दुनियाके हैं मोहरे मेरी शतरंजके। दिल्लगीकी चाल है सब रंग सुलहो जंगके।। रक्शे सादीसे मेरे जब काँप उठती है जमीं। देखकर में कहकहाता खिलखिलाता हूँ वहीं।

प्रलयके चीत्कारमें परमात्मा हँस रहा है। उड़िया बाबाजी एक श्लोक कहते थे।

प्रलयस्थापि हुंकारैः चलाचलिवचालनैः।
विक्षोभं नैति यस्यान्तः स महात्मेति कथ्यते॥
प्रलयकी घोर गर्जना हो रही है और महात्मा खेल रहा है—आत्मक्रीडा।
आत्मरितः—लोग प्रेम करते हैं किससे? 'क्रीडा' वहिरंग है और 'रित'
अन्तरंग है। रित कर रहे हैं, प्रेम कर रहे हैं। किससे कर रहे हैं? कि अपनेसे ही
कर रहे हैं। कियावान्—जिस क्रियाका अभ्यास हो गया है, श्रवणका,
मननका, निर्दिध्यासनका, धारणाका, ध्यानका, उस क्रियामें लग रहे हैं। या
दुनियाका कोई भी काम करते हुए। क्रियावान्का अर्थ वही रक्खो ना! कि
कौन सा? गीतामें जो है—

हत्वापि स इमांलोकान् न हन्ति न निबध्यते।

यह कौन है ? बोले-ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

यह ब्रह्म वेताओं में विरष्ठ है। ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्र, ब्रह्मविद्वरीयान और ब्रह्मविद् विरष्ठ:। चतुर्थ भूमिकामें ब्रह्मविद्, पंचममें ब्रह्मविद्वर, छठीमें ब्रह्मविद् वरीयान और सातवीं में ब्रह्मविद्वरिष्ठ और आठवीं? बोले—वह ब्रह्म ही है उसमें भूमिका-ऊमिका नहीं है। यह सब फालतू है भाई! जिज्ञासुओं को समझाने के लिए यह भूमिकाकी कल्पना की गयी है, ब्रह्मज्ञानमें भूमिका नहीं होती। जीवन्मुक्तिमें भूमिका मानी जाती है, ब्रह्मविद्यामें भूमिका नहीं होती। वह भूमिका चित्तकी है। यह ब्रह्मवेत्ताओं में सबसे श्रेष्ठ है।

सत्येन लभ्यस्तपसा होष आत्मा सभ्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो

यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः॥ ५॥

सत्य, तप, सम्यक ज्ञान और ब्रह्मचर्य। यह देखो तत्त्वज्ञानका सहकारि साधन बताते हैं—

जैसे देखो आपको बन्दूकसे गोली मारनी हो, तो पहले जाँच कर लेते हैं कि बंदूक साफ तो है, इसमें गोली भरकर छोड़ेंगे तो निकलकर लगेगी तो लक्ष्यपर! अब निकले ही नहीं उसीमें अटक जाये तो? बंदूक गन्दी हो तो? लक्ष्य मारनेके लिए बंदूकका साफ होना भी जरूरी है, बन्दूक साफ न हो तो क्या हो? तब तो गोली नहीं लगे, यह लक्ष्यकी बात है।

जैसे आपको आँखसे देखना हो, तो आप यह देख तो लेंगे, कि आँख ठीक है। कोई अगर गलती हो आँखमें, कोई धुंध-उंध होवे तो दवा करके उसको अच्छा कर लेना चाहिए न! दिखेगा आँखसे, यह बात पक्की, लेकिन दिखेगा तो अच्छी आँखसे।

अच्छा, आपने कहा दूरबीनसे देखेंगे, खुर्दबीनसे देखेंगे, तो वह खुर्दबीन, दूरबीन भी तो स्वच्छ होना चाहिए।

अब मशीनपर जब अपनेको तौलते हैं तो पहले पता लगा लेते हैं कि यह ठीक तो बता रही है, मशीन ठीक तो है। कहीं गलत तो नहीं बताती।

तो बाबा, यह अन्तःकरण जो है, यह यदि राग-द्वेषसे संपृक्त होवे तो ठीक नहीं बताता। आपको मालूम है ? हनुमानजीको अशोकवनमें लाल कमल दिखा था और समर्थ रामदासने वर्णन किया कि नहीं बिलकुल स्वच्छ, निर्मल, श्वेत कमल वहाँ खिले हुए थे। हनुमानजीने कहा कि लाल थे, समर्थ रामदासने कहा कि नहीं, सफेद थे। हनुमानजीने कहा—देखा मैंने कि तुमने ? बाबा! क्यों लड़ाई करते हो ? बोले—चलो जानकीजीसे पूछें। जानकीजीने कहा कि हनुमान, तुम्हारी आँखमें उस समय लाली थी, द्वेषकी लाली थी, इसलिए साफ नहीं दिखा।

तो सत्यको देखनेके लिए जो मुहब्बतमें फँस जाता है, जो रांसारमें किसीकी मोहब्बतमें फँस जाता है, वह सत्यको नहीं देख पाता। हम रोज

देखते हैं संसारको, खुली आँखसे देखते हैं, बन्द आँखसे नहीं देखते। जो किसीकी मोहब्बतमें फँस जाता है, उसको ईश्वरमें दोष दिखता है, उसको गुरुमें दोष दिखता है, साधनमें दोष दिखता है, लेकिन जिससे मोहब्बत है उसमें दोष नहीं दिखता है।

यह मोहब्बत है, इसका नाम मोहब्बत है। किसीसे द्वेप हो जाये, तो गुण दिखे ही नहीं, अन्त:करणको अशुद्ध कर देता है। जिज्ञासुको सत्यका प्रेमी होना चाहिए।

तो बोले—भाई सत्यसे प्रेम कैसे होवे ? इसकी युक्ति बताते हैं, यह कि सत्य बोलो । तो बोलते समय यह विचार होगा कि भाई, हमने जब नियम लिया है कि सत्य बोलेंगे, तो सत्यकी जानकारी तो ठीक है ही नहीं, तो बोले क्या ? तो पहले सत्यकी जानकारी प्राप्त करनेकी इच्छा होगी और तब परमात्माको जान लोगे और जब परमात्माको जान लोगे, तब बड़ा मजा आवेगा । उसमें क्या मजा है ? कि यह सब सच है, यह दुनियाका राग भी सच है, द्वेप भी सच है । इसमें क्रूर होते हैं यह भी सच है, इसमें व्यभिचारी होते हैं यह भी सच है, इसमें पापी-पुण्यात्मा होते हैं, यह भी सच है । यह संसारका सत्य है । इसमें सत्य-असत्य दोनों होते हैं, यह भी सत्य है ।

एव विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।

तो जब महात्मा लोग देखते हैं कि यह दुनियाका झगड़ा तो ऐसा ही है बाबा। बोले—फिर बोलनेकी जरूरत क्या? इसमें सच बोलकर क्या फायदा उठावेंगे? कि इसमें न कुछ सच है, न झूठ है। यह तो झूठ ही लड़ाई करके दुनियामें लोग अपना दिमाग खराब करते हैं। पाँच रुपयेके लिए झूठ लेकर जाओगे अपने साथ, मर तो जायेगा न!

एक आदमी है, उसके बेटे जब रुपया ले लेते हैं उससे, तो बड़े दु:खी होते हैं। अरे मरोगे तो सारा वहीं तो लेगा, जिन्दा ले लिया तो खुश हो जाओ। खुश तो हो जाओ, मरनेके बाद सब उसीके पास जाना है।

एक गुरुजी हैं। उनका चेला कभी पैसा ले ले तो दु:खी हों कि हाय-हाय चेलेने क्यों लिया? अरे बाबा, छोड़कर तो मर जाओगे गुरुजी आखिरमें, सब चेलेके ही हाथ लगना है। तो काहेको नाराज होते हो? तुम्हारी चितापर कुछ नहीं रखा जायेगा। यह बात बिलकुल सत्य है। सुनो ! यह परमात्मा सत्यसे प्राप्त होता है। क्यों सत्यसे प्राप्त होता है, इसकी युक्ति है।

तपसा—इन्द्रिय संयमसे, इन्द्रिय संयमात्मक ज्ञानसे प्राप्त होता है। सम्यक् ज्ञानसे प्राप्त होता है और ब्रह्मचर्यसे नित्यं ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होता है। तो हमेशा सच बोलो, हमेशा तपको रखो और हमेशा अपने ज्ञानको शुद्ध रखो। गलत ज्ञानसे प्रेम मत करो और, ब्रह्मचर्यसे प्रेम करो। नारायण! यह ब्रह्मचर्य जो है न, वह बड़ी अद्भुत वस्तु है। ब्रह्मणि चर्या—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए यह चर्या है।

देखों; एक आदमी कहता है हमारा जन्म न हो और बोलता है कि आओ एक बेटेको जन्म दे दें। आपको दोनोंमें कुछ संगित मालूम पड़ती है? वोले—हमारा तो अब जन्म न होवे,लेकिन आओ एक बेटेको जन्म दे चलें। एक जीवको तो तुम जन्म देने जा रहे हो और अपनेको जन्मसे छुड़ाना चाहते हो, इन दोनोंकी कोई संगित है? यह तो बिलकुल असंगत विचार है। यह तो आत्मा वै पुत्रनामासि—बेटेका जन्म हो गया तो तुम्हारा जन्म हो गया। अव जन्म मरणसे क्या छूटोगे? अब जन्म मरणसे छूटनेका उपाय यही है कि उस वेटेको अपना बेटा न मानो। अगर उस बेटेको अपना बेटा मानते रहोगे, तो वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी तो चल गयी, तुम्हारा जन्म तो हो गया बेटेके रूपमें। अव वहाँसे बचना पड़ेगा तो ब्रह्मचर्येण नित्यम्। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो चलती है, यह भी एक प्रकारका जन्म है। वहाँसे अपने मैं-को हटाना पड़ेगा।

अरे शरीरमें हजारों, लाखों, करोड़ों कीड़े पड़े हैं। देखो एक व्यक्तिके जीवनमें उसके शरीरसे वीर्य नामकी जो धातु है वह कितनी निकलती है— इसका हिसाब लगाओ और बच्चेको पैदा करनेमें जितनी लगी है उसका भी थोड़ा ध्यान दो। तो आपको मालूम होगा कि आपके जितने बच्चे हैं, पन्द्रह हों या पच्चीस हों-ऐसे भी हैं, तो इसके वीर्यके एक बूँदसे पच्चीस बच्चे पैदा हो सकते हैं। सौ बच्चे भी पैदा हो सकते हैं। एक बूँदसे। इतना सामूर्ध्य होता है। और, जीवनमें हजारों बूँद वीर्य नष्ट हुआ है तो जैसा वीर्य नष्ट हो गया है, वैसे ही वीर्यसे बच्चा भी हुआ है।

नारायण! क्या ममता हुई ? किस बातका में मुख्य अरे एक मोह है,

••

यह मेरा बेटा और यह मेरी बेटी और यह मेरी पत्नी, यह मेरा पित और यह मेरी मय्या, यह मेरा बाप। ब्रह्मचर्यका अर्थ होता है, जब तुम खुद जन्म लेना पसन्द नहीं करते हो, तो दूसरेको जन्म मिले, यह कैसे पसन्द करते हो ? इसका अर्थ है कि मुक्तिसे तुम्हारा प्रेम नहीं है—ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

यह बात मैं आपको बताता हूँ—

यत्र प्रदर्श्या विषया सनातनाः यत्र प्रकारोऽमिनव प्रदर्शने।

ब्रह्मचर्यका अर्थ यह है कि इस शरीरके साथ ही अपना जीवन समाप्त होने वाला है और इस ज्ञानके साथ ही कि शरीरके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं है और, वह जो उदय और विलय होनेवाला ज्ञान है, यह औपाधिक ज्ञान है, यह मेरा शुद्ध स्वरूप नहीं है।

देखो, इसी समय तुम जन्म-मरणसे मुक्त हो गये—ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभः। इस तुम्हारे शरीरके भीतर एक ज्योतिर्मय शुभ्र परमात्मा है, परन्तु उसको तुम देख नहीं रहे हो। तुम देख किसको रहे हो?

यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

उस ज्योतिर्मय शुभ्र परमात्माको वे महात्मा लोग देखते हैं, जो क्षीणदोष हैं। जिनके सारे दोष क्षीण हो गये हैं वे उसको देखते हैं। इसलिए अन्त:करणको शुद्ध करो।

अबं इसमें सत्येन लभ्यस्तपसा होष आत्मा आप कहो तो थोड़ा इसको बढ़ांकर कल सुना देंगे!

> सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयान:। येनाक्रमन्त्युषयो ह्याप्त कामा

यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥६॥ तो परमात्माका भी वर्णन है और परमात्माकी प्राप्तिके साधनका भी वर्णन है। अब यह प्रसंग फिर आपको कल सुनायेंगे!



प्रवचन : 25, मंत्र 5 से 9 तक

ब्रह्मज्ञानके सहकारी साधन

चौबीसवें प्रवचनमें मंत्र-5में आये हुए सत्य, तप आदिकी विस्तृत व्याख्याको पहले लेते हैं।

सत्येन लभ्यस्तपसा होष आत्मा—

यही आत्मा—एष आत्मा, एषका अर्थ है यही आत्मा। साक्षाद् अपरोक्ष वर्तमानोऽपि अहं अहं इति लोकैर्व्यवहीयमानोऽपि, साक्षात् अपना आपा होनेपर भी और मैं-मैं-मैंका व्यवहार होनेपर भी जो नित्य प्राप्त होनेपर भी अप्राप्त हो रहा है, वह मिलेगा कैसे?

देखो अगर कोई चीज सचमुच खोयी हो तो ढूँढो, मिलेगी और मिली हुई हो तो ढूँढ़नेसे थोड़े ही मिलेगी, वह तो पहचाननेसे मिलेगी, कि मिली हुई है—कंठचामिकर वत्।

हमारे गाँवमें एक कहावत है कि अगर आदमी सचमुच नींदमें हो, तो जगानेसे जग जाता है; लेकिन अगर जाग रहा हो और जान-बूझकर सो रहा हो, नकल कर रहा हो सोनेकी तो वह जगानेसे नहीं जगता है।

तो यदि यह आत्मा सचमुच कहीं चली गयी होती, कहीं खो गयी होती, कुछ खो गयी होती, तो ढूँढ़-ढूँढ़कर कहींसे इसको निकालते। अरे यह तो यही है जो ढूँढ़ रही है। जब ढूँढ़नेवाला ही ढूँढ़ा जा रहा है, तो सिवाय इसके लिए ढूँढ़ना बन्द किया जाय, उसको पानेका और कोई साधन नहीं है। सिवाय इसके कि ढूँढना ही बंद कर दिया जाय।

अचिन्तनमचिन्तनम्।

अच्छा! तो अज्ञानकी निवृत्ति ही परमात्माकी प्राप्ति है और अज्ञानकी निवृत्ति होती है ज्ञानसे। इसलिए मेरे भाई अहं ब्रह्मास्मि—यह ज्ञान होकर अज्ञानकी निवृत्तिके सिवाय परमात्माकी और कुछ प्राप्ति नहीं है। परन्तु ज्ञान हो कैसे—यह एक सवाल है। तो ज्ञान चाहिए, साधन चाहिए। साधन दूसरी चीज होती है, प्रमाण दूसरी चीज होता है।

देखो आँख रूपमें प्रमाण है। यह अक्षर हम पढ़ते हैं, इसमें प्रमाण क्या है? कि, आँख। लेकिन आँख अक्षरको ठीक-ठीक पढ़ सके—इसमें साधन क्या है? कि चश्मा। या आँखमें रात जो दवा डाली, जिससे आँखकी स्वच्छताके लिए उसकी शक्तिमें जो रुकावट है, जो प्रतिबन्ध है, उसके निवृत्तिके लिए साधनकी जरूरत होती है। लेकिन रूप तो आँखसे ही दिखायी पड़ता है।

अच्छा, तो अब सत्यकी चर्चा करते हैं। अब पहले जिनके हाथमें पुस्तक हो, वह जरा शंकराचार्यका अर्थ देखना—

सत्येन अनृतत्यागेन मृषावदन त्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः।

सत्यसे अर्थात् अमृतका त्याग करनेसे अर्थात् मृषावचनका त्याग करनेसे परमात्मा प्राप्त होता है।

अब देखो, इसपर एक नजर डालो। आचार्यकी व्याख्याकी चतुराई। वे कहते हैं कि सत्य बोलना धर्म नहीं है, झूठ छोड़ना धर्म है—इसपर ध्यान दो। यह जैसे आप घरमें अपनी पत्नीके साथ मिलकर बाहर आ रहे हैं। अब आकर सबसे सच ही सच कहना शुरू करो कि हम तो सत्य बोल रहे हैं, तो बेवकूफ है कि नहीं वह आदमी? वह तो बेवकूफ है, एकदम। बोले—कि हम तो सत्य ही सत्य बोलते हैं।

अरे भाई, तुम यह मत कहो कि हम पूजा करके आ रहे हैं कि समाधि लगाकर आ रहे हैं कि ध्यान करके आ रहे हैं—झूठ मत बोलो, लेकिन सच बोलनेकी भी हमेशा जरूरत नहीं होती है। निषेध है शास्त्रमें। ये कटुभाषी लोग जो हैं, वे अपनेको बड़ा सत्यवादी धर्मात्मा मानते हैं। मनुजीने साफ निषेध किया है।

न ब्रूयात् सत्यमित्रयं—यदि सत्य अप्रिय होवे तो नहीं बताना चाहिए। तो ज्ञूठ बोलना अधर्म है और सत्य होनेपर भी उसको कहना जरूरी नहीं है। सत्य कहना धर्म नहीं है, ज्ञूठ न बोलना धर्म है। यह तात्पर्यार्थ बताया। अब इसका फलितार्थ बताते हैं।

आप संसारको बोलना और सोचना बन्द कर दो। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह बोलना जरूरी नहीं है और 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह दोहराना भी जरूरी नहीं है। नेति-नेति जो तुम्हें भ्रान्ति हो गयी है कि यह मैं हूँ और कि यह भी सच्चा है, यह भी सच्चा है, उसको छोड़ दो, मौन आ जायेगा। वाणीका मौन आवेगा और फिर मनका मौन आवेगा। और उस मौनके साक्षी तुम बैठे हुए हो। देखो, एक सत्य धर्मरूपमें आया। माने सत्य धर्म है। सत्य तो अपना आत्मा है और हम जो सोचते हैं और बोलते हैं संसारमें, वह असत्य है। संसारकी बातको कहना छोड़ो, संसारकी बातको सोचना छोड़ो, देखो तुम स्वयं सत्य हो।

यह व्याख्यान कौशल है, फिलतार्थ है उसका। वाग्-व्यवहार छूटा, मनोव्यवहार छूटा, समाधि लगी और तुम समाधिके द्रष्टा हुए और द्रष्टा ब्रह्म है।

इसका अर्थ यह नहीं कि सच बोलते फिरो, डोंडी पीटते फिरो कि यह सच है, यह सच है। निश्चितरूपसे ही दूसरेको नीचा दिखानेके लिए ही ज्यादा सच वोला जाता है।

एक वार र्डाड्या वावाजी महाराज हाथरससे चले, सूर्यास्त हो रहा था और निकल पड़े, कहकर नहीं उठते थे। जानेके समय बताते नहीं थे, कहते थे कि साधुका आना सवको मालूम हो, जाना मालूम न हो, जब मौज हो उठकर चल दिया—एसे वोलते थे। तो चल पड़े। िक कहाँ जाना है? अरे इधर जायेंगे महाराज, तो अमुक गाँव पड़ेगा रातमें ठहरनेको। तो पूछा उन्होंने िक िकतनी दूर हं? एकने कहा—पाँच मील। एकने कहा—नहीं महाराज, चार ही मील होगा। एकने कहा—साढ़े चार मील ही होगा महाराज! अब झगड़ा हो गया। एक कहे पाँच, एक कहे साढ़े चार, एक कहे चार। यह गाँवका मील समझो, कोई पत्थर गड़े हुए तो थे नहीं। तो इसकी झूठ है, हमारी सच है—यह बतानेके लिए ही तो लोग आपसमें झगड़ते हैं। वे सच बताना नहीं चाहते हैं, 'हमारी' बताना चाहते हैं। वह अहंकारकी अभिव्यक्ति होती है, सत्यकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। सत्य तो लोग बहुत कम जानते हैं।

जैसे ईसाने कहा था कि जिसने कभी चोरी न की हो, वह चोरको मारे। हम कहते हैं जो सत्यको जानता हो वह सत्य बोले। देखो, परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी। परमात्माके सिवाय और सत्य है क्या? अपनी-अपनीमें फॅंसे हुए हैं और बोलते हैं कि हम सत्य बोलते हैं। तो इसीसे जब आदमी सत्यकी खोज करता है, सत्य बोलता है, तब उसको सत्य परमात्माकी प्राप्ति होती है। नहीं तो झूठ ही में फँसा रहेगा।

अब देखो एक सत्यकी बात आपको बतावें। जो झूठ बोलता है उसको तरह-तरहकी बात बनानी पड़ती है और दिमागपर बोझ आ जाता है कि अब क्या बात बनावें तो हमारी इज्जत बचे। एक बार झूठ बोलनेके बाद अपनी इज्जत बचानेका सवाल आ जाता है कि अब कैसी-कैसी बात गढ़ें तो हमारी कही हुई बात सत्य सिद्ध हो जाये।

तो झूठ बोलनेमें बड़ा झगड़ा है और सत्य हमेशा एकरस रहता है। सत्यको याद रखनेकी जरूरत नहीं पड़ती। झूठको याद रखनेकी जरूरत पड़ती है। यह लोग कहते हैं न—ब्रह्माकार वृत्ति करते हैं, वह तुम्हारा ब्रह्म झूठा है, इसलिए वृत्ति करनी पड़ती है। अगर तुम्हारा ब्रह्म सच्चा होता, तो वृत्ति काहेको करनी पड़ती?

यह वेदान्तकी बात आपको सुनाता हूँ, बिलकुल, ब्रह्म तो तुम हो, तुम सच्चे हो और कभी लुट नहीं सकते, कभी नष्ट नहीं हो सकते, कभी खो नहीं सकते, कभी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता, क्यों तुमको याद करनी पड़ती है? तो यह जो तुम्हारे मनमें ब्रह्माकार है यह झूठा है और उसके खो जानेका डर है, इसलिए बार-बार याद कर रहे हो। जहाँ याद रखनेकी जरूरत पड़ती है, वहाँ झूठ होता है। स्मृति या तो किल्पत होती है या तो परोक्षकी होती है। अनुभवकी तो स्मृति होती नहीं। तो सत्यके प्रेमी बन जाओ, परमात्या मिलेगा, झूठ छोड़ दो।

अच्छा हम चाहते हैं हृदयसे कि हमसे सबलोग सच बोलें, हमसे कोई झूठ न बोले और हम दूसरेसे झूठ बोलते हैं। तो यह आदमी बेईमान हुआ न, जो ईमानदारीसे चाहता है हमारा भाई हमसे सच बोले और हम भाईसे भले झूठ बोलें। हमारा बेटा हमसे सच बोले, हम बेटेसे भले झूठ बोलें। तो देखो जैसा तुम चाहते हो, सत्यसे तुम्हारा प्रेम है, तुम दूसरोंसे सत्य चाहते हो और खुद उसके विपरीत आचरण करते हो, तो तुम्हारे जीवनमें असंगति है, इसीसे तो मर रहे हो, मरनेका कारण यही है।

तो अब सत्यके बारेमें आपको कभी जब सत्यका व्याख्यान करेंगे, तब सुनायेंगे। हमको तो जैसा प्रसंग आता है, वैसा बोलना पड़ता है। प्रेमकी बात हो तो प्रेमकी सुनावें, सत्यकी हो तो सत्यकी सुनावें। अब तपकी बात सुनो।

जीवनमें दो ही है, या तो तप या तो पत—या तो गिरो, या तो तपो। जो तकलीफ उठानेके लिए तैयार नहीं है वह जीवनमें किसी लाभका हकदार नहीं हो सकता। तुम व्यापारमें जोखिम नहीं उठाओ, पाँच रुपया लगाओ नहीं, और चाहो कि हमको दस मिल जाये, वह कैसे होगा? तो जो अपने मन और इन्द्रियोंको परमात्मामें लगाता है, एकाग्र करता है उसकी महाराज भोगकी ओरसे वृत्ति हटती है।

एक साधु था महाराज वृन्दावनमें। तो जब उसको खीर खानेके लिए मिले, तब कहता था, बस आज ब्रह्माकार वृत्ति हुई। बिना खीर खाये ब्रह्माकार वृत्ति होती नहीं। और, उड़दकी दाल खिला दो, तो बोले-बस आज संसाराकार-वृत्ति हो गयी। उड़दकी दालमें उसका संसार था और खीरमें उसका ब्रह्म था।

तो तप करनेका अभिप्राय यह होता है कि अपने मन और इन्द्रियोंको संसारमें भटकना छोड़कर परमात्मामें लगाओ। मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्रयं परमं तपः। शांकर भाष्यमें यह सबकी व्याख्या लिखी हुई है—मन और इन्द्रियोंको एकाग्रताका नाम परम तप है।

तो यह अनुकूल है, क्योंकि यह आत्मदर्शनके अभिमुखी भाव है। भोगमें संसारके अभिमुखी भाव है और तपमें आत्माके अभिमुखी भाव है। तो देखों यह ऐसा है कि जैसे कोई रबड़का थैला हो, और उसमें भर लो हवा; तब तो वह बिलकुल गोला सरीखा दिखेगा और हवा निकाल दो तो बिलकुल रबड़ ही रबड़ रह जायेगा और कुछ नहीं रहेगा। तो वैसे ही वृत्तिके भीतर जब संसार भर लेते हैं तो यह फूलके ब्रह्माण्ड बन जाती है और इसमें-से संसार निकाल दो, तो यह अपने आश्रय, अपने उपादान, अपने मूल धातुके सिवाय अपने आपको कुछ दिखाती नहीं। यह विषय रहित वृत्ति जो होती है वह अपनेको आत्मासे भिन्न नहीं दिखाती। इसलिए मन और इन्द्रियोंको विषयसे विमुख कर लो और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ, इसका नाम तप है।

अब बताते हैं—सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। दूसरा व्रत नहीं। यह देखो भूखो रहेंगे तो आत्मज्ञान होगा, यह बात नहीं है। यह कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तपत्यन, प्राजापत्य इसमें एकादशी रहनेकी जरूरत नहीं है, दिमाग ठीक रहना चाहिए। जैसे भी परमात्माका विचार होवे—एकादशी करनेसे होवे, एकादशी करो और कुछ खानेसे होवे तो कुछ खा लो थोड़ा, हल्का-फुल्का, लेकिन विचार परमात्माका करो।

यह तीर्थ-यात्रा नहीं है कि डुबकी लगायी जाकर और हो गया धर्म। यह माला फेरना भी नहीं है कि हाथमें माला आयी और हो गया धर्म। यह भूखे रहना नहीं है। यह नहीं है कि पैसेसे चन्दन, माला, अक्षत बाजारसे खरीदा और ठाकुरजीके ऊपर चढ़ायी और हो गया धर्म। ऐसा नहीं है। यह अपने मनमें कूड़ा भरा हुआ है उसको निकलना—ऐसा तप इसमें चाहिए।

सम्यक् ज्ञानेन—सम्यक् ज्ञान क्या है ? यह हम, आपको व्याख्या करके आगे सुनावेंगे। एक मन्त्रमें यह और आनेवाला है। ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:। आगे यह मन्त्रमें आनेवाला है, लेकिन आप इसको यों समझ लो कि आप जिस चीजको समझो, उसको ठीक ठीक समझनेकी कोशिश करो। ये दुनियादार लोग चीजको अधूरी समझते हैं. इसीलिए उसमें फँस जाते हैं।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज ऐसे उपदेश करते—बोले कि एक गिलास पानी है और एक मोतीका दाना है। तो जो पानी पीये हुए होगा, तृप्त होगा, प्यास नहीं होगी, या पानी मिलनेकी उम्मीद होगी, तो उसके लिए मोतीका दाना बहुत कीमती है और यदि पानी मिलनेकी उम्मीद न हो और प्राण प्याससे तड़फड़ा रहे हो, तो एक गिलास पानीके लिए आदमी एक दाना मोतीका दे देगा। तो कोमत एक गिलास पानीकी है कि एक दाना मोतीकी है?

तो बोले—पानी पीये हुए हों या मिलता हो पानी, तब तो मोतीके दानेकी कीमत है और मोतीका दाना मिलता हो, पानी न मिलता हो, तो पानीकी कीमत है। जहाँ जो चीज दुर्लभ होती है, उसकी कीमत होती है।

रावणको एक बार माटीकी जरूरत पड़ी, तो हवाई जहाजपर चढ़कर आदमी मद्रास आया, और माटी लेकर लंकामें गया।तो अब उस जमानेमें सेरभर माटी मँगवानेमें सैंकड़ों अशर्फियाँ खर्च हो गयीं। क्योंकि लंकामें माटी थी नहीं वहाँ तो सोनेकी लंका।तो सोनेकी कीमत नहीं होती, मिट्टीकी भी कीमत नहीं होती।

बाबा कहते थे कि कारणपर दृष्टि रखो यह देखो कि मोतीका वह दाना भी पानीसे बना है और गिलासका यह पानी भी पानी है, जलपर दृष्टि रखो, न मोतीसे राग करो, न मोतीसे द्वेष। समय-समयपर दोनोंका उपयोग होता है। इसलिए जो सृष्टि दिखायी पड़ रही है, इसमें स्त्री अच्छी कि पुरुष अच्छा?

अरे बाबा इसमें अच्छा-बुरा मत बताओ, एक ही मानव दोनोंमें है। मानव अच्छा कि पशु अच्छा? बोले—एक ही पंचभूत दोनोंमें है। पंचभूतमें मिट्टी अच्छी पानी अच्छा? बोले—यह सब तो महाराज महाभूत हैं, अहंकार अच्छा कि निरहंकार अच्छा? बोले—अहंकार और निरहंकार दोनों एक ही परमात्मामें अध्यस्त है, इसमें कुछ भला-बुरा नहीं होता है, यह तो आदमी भला बुरा मानकर कभी अहंकार बड़ा अच्छा (या बुरा) होता है।

एक सेठ एक ब्राह्मणके पास गया, हजारों रुपये उसके पास थे। उसने कहा—पण्डितजी! हमारे मुकदमेंमें आप गवाही दे दो हम आपको सौ रुपया देंगे।

पंडित बोला कि चले जाईये सेठजी! कृपा करके हमारे पाससे; हम ब्राह्मण हैं, पंडित हैं, यज्ञोपवीतधारी हैं, हम ब्राह्मण होकर पैसेके लिए झूठ बोलेंगे?

देखो, यह अभिमान हुआ, परन्तु झूठ बोलनेसे बच गया। एक सज्जनने किसीसे कहा कि देखो, नोटका बण्डल पड़ा है, उठा लो तो बोले कि हम तो निरिभमान हैं भाई, कर्त्तापन, भोक्तापन तो अपने अन्दर है ही नहीं है, तो नोट उठाकर रख लें तो हमको कोई चोरीका पाप थोड़े ही लगेगा?

अब निरिभमान होकर तो उन्होंने दूसरेका नोट उठा लिया और अभिमानी होकर उन्होंने झूठ बोलना स्वीकार नहीं किया। तो देखो अभिमानने झूठसे बचाया और निरिभमानताने पराया धन लेनेका अवकाश दे दिया। तो दोनोंमें सच्चा कौन, झूठा कौन?

जो सदाचारके मार्गपर ले चले सो सच्चा और जो दुराचारके मार्गपर ले चले सो झूठा। ऐसे साधन होता है।

सम्यक्तानेन—चीजको भली-भाँति समझना। सम्यक् ज्ञानका अर्थ है कि जब किसी भी वस्तुको समझने लगो तो उसको तबतक समझनेकी कोशिश करो, जबतक वह परमात्माके रूपमें न दीख जाये। जबतक दीखनेवाली वस्तु अपने अधिष्ठान सहित न दिखे, अपने प्रकाशक सहित वस्तुको देखो, तब वस्तुका सच्चा रूप मालूम पड़ेगा। यह सम्यक् ज्ञानका अर्थ है। ज्ञानका आदर करो, अनजानमें किसी वस्तुको मत स्वीकार करो।

ब्रह्मचर्येण नित्यम्—अब यह नित्यमका अन्वय सबके साथ करो—नित्यं सत्येन, नित्यं तपसा, नित्यं सम्यक् ज्ञानेन, और नित्यं ब्रह्मचर्येण। हमेशाके लिए नियम ले लो कि जो हम झूठ समझते हैं, उसको नहीं बोलेंगे—ऐसे। अपने मन और इन्द्रियोंको परमात्मामें ले जायेंगे और वस्तुकी सच्चाईको समझेंगे।

वेदमें -- ब्राह्मण ग्रन्थमें यह प्रसंग आया है कि दो आदमी लड़ते हुए

आये। एकने कहा—हमने यह वस्तु सुनी है ऐसी है। एकने कहा—हमने यह वस्तु देखी है कि ऐसी है।

तत्र यो बूयात् अहं द्राक्षिमिति — जो कहे कि मैंने देखा है, उसकी बात जोरदार है और जो कहे. कि हमने सुना है, उसकी बात कमजोर है। चक्षुसे श्रोत्र कमजोर होते हैं। तो तत्त्वज्ञान चाहिए।

ब्रह्मचर्येण — ब्रह्मचर्यका अर्थ क्या है? इसकी लम्बी व्याख्या करें तो यह आपके कामकी नहीं होगी। यह तो जब ऋषिकेशमें, वृन्दावनमें, साधुओं में ब्रह्मचर्यकी व्याख्या करनी होती है, तब वहाँ देखो कटाकट (व्याख्या करें)।

ब्रह्मचर्य पाँवका भी होता है। पाँव भी किसीके ब्रह्मचारी होते हैं किसीके नहीं होते हैं। हाथका भी ब्रह्मचर्य होता है, जीभका ब्रह्मचर्य होता है। कानका ब्रह्मचर्य होता है, आँखका ब्रह्मचर्य होता है। त्वचाका ब्रह्मचर्य होता है। मनका ब्रह्मचर्य होता है। यदि ब्रह्मचर्यका सूक्ष्म तत्त्व ज्ञात हो जाये।

अच्छा, अब देखो, गृहस्थका ब्रह्मचर्य दूसरा है, वानप्रस्थका ब्रह्मचर्य दूसरा है। गृहस्थ अपनी पत्नीके साथ रहता है और भोग करता है। और, यदि नियमसे वह भोग करे, तो ब्रह्मचारी है और वानप्रस्थ पत्नीके साथ रहता है परन्तु भोग नहीं करता और संन्यासीके साथ पत्नी रहती नहीं है।

अब देखों कि भक्त अपनी चित्त-वृत्तिके साथ रहता है और उसका रस लेता है। यह भक्त जो है यह गृहस्थ है। योगी जो है वह वृत्तिके साथ रहता है लेकिन द्रष्टा होकर रहता है, भोक्ता होकर नहीं रहता। तो योगी जो है वह वानप्रस्थ है। और, जो ज्ञानी है, उसकी वृत्ति बाधित हो गयी, वृत्ति नामकी कोई चीज ही नहीं है, इसलिए ज्ञानी संन्यासीके लिए तो स्त्री-पुरुषका भेद ही नहीं है। इसलिए वह ब्रह्मचारी है और वानप्रस्थके लिए स्त्री-पुरुषका भेद है परन्तु वह भोक्ता नहीं है, द्रष्टा है। और भक्तके लिए स्त्री-पुरुषका भेद है, वह उसका रस भी लेता है और ब्रह्मचारी जो होता है सो? बोले—ब्रह्मचारीका अपने लिए कुछ नहीं है, उसका तो सब अपने गुरुके लिए है, वह तो सेवक है।

ब्रह्मचारी धर्मात्मा है, गृहस्थ भक्त है, वानप्रस्थ योगी है और संन्यासी ज्ञानी है। ये ब्रह्मचर्यकी चार अवस्थाएँ हैं और परमात्माकी प्राप्तिके लिए यह चित्तमें मददगार होता है। वृत्तिको गुरु और ईश्वरकी सेवामें लगाना। वृत्तिका रस लेना और रसास्वादका वर्जन करके केवल द्रष्टा होना और वृत्तिका बाधित होना- ये चारों अवस्था आश्रम धर्म है। अन्तरात्माका आश्रम धर्म। इसीसे बाहरका (आश्रमधर्म)) बनता है। जो भीतरका समझेगा, वह बाहरका समझेगा।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो—देखोजी, यह परमात्माको ढूँढ़ने कहाँ जाते हो ? बोले—महाराज! गंगासागर जा रहे हैं, परमात्माको ढूँढ़नेके लिए।

तो देखो हम उसका विरोध नहीं करते हैं, हम तो बहुत मानते हैं। हम देखो श्राद्ध भी मानते हैं, मूर्तिपूजा भी मानते हैं, अवतार भी मानते हैं। हम जीव, ईश्वर, प्रकृति—तीन तत्त्व नहीं मानते, एक अद्वय ब्रह्म अपना स्वरूप है, उसमें द्वैत-त्रैत कुछ नहीं है, इसलिए किसीका खण्डन नहीं करते, सब ब्रह्मस्वरूप है, लेकिन अपना-अपना जो लक्ष्य है, निष्ठा है, उसके अनुसार काम करना चाहिए। यदि तुम आत्म जिज्ञासु हो, तो तुम्हें बाहर ईश्वर ढूँढ़नेकी जरूरत नहीं है। अन्तः शरीरे—इस शरीरके भीतर है परमात्मा, बोले—कैसा है? कि ज्योतिर्मय। और कैसा है? कि शुभ्र। बोले—कि दिखता क्यों नहीं है? कि ऐसे नहीं दिखता।

यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः । जो अन्तः करणको राग-द्वेषादिसे रहित कर प्रयत्नशील हैं, जिज्ञासु हैं, उनको दिखता है।

यतयः माने यत्रशील। प्रयत्रशील।

सत्यमेव जयति नानृतं

सत्येन पन्था विततो देवयानः १

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा

यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ ३:७:६

सत्यमेव जयित नानृतं— शांकर भाष्यमें पाठ है— सत्यमेव जयते जयित। और दूसरी पुस्तक जो है गीता प्रेसकी, उसमें सत्यमेव जयित नानृतं— ऐसा पाठ है और भाष्यमें जयते नहीं है, सिर्फ जयित है। बात क्या है ? कि संस्कृत व्याकरणके लौकिक व्याकरण— पाणिनीय व्याकरणके अनुसार जयित होता है जयते नहीं होता है। तो किसी ऐसे पंडितने जब देखा कि यह तो व्याकरणके अनुसार जयते ठीक नहीं है, तो उसने जयतेका जयित बना दिया, और, वेदमें अगर ऐसा कोई करने लग जाये, जयते का जयित बनाने लग जाये तो वह ठीक नहीं है।

यदा पश्यते रुक्मवर्ण (3.1.3)में पश्यते आ ही गया। तो 'पश्यते' नहीं होता, तो उसको भी वह 'पश्यति' बना देगा। तो वेदके व्याकरणका नियम दूसरा होता है। सत्यमेव जयते नानृतं—सचकी जीत होती है, झूठकी नहीं। सच-झूठ आपसमें कहीं टकराते होंगे? अर सच और झूठकी कहीं टक्कर नहीं होती। आपके ध्यानमें यह बात नहीं होगी, सच और झूठमें कहीं लडाई नहीं होती।

रस्सी और साँप—ये दोनों आपसमें कहीं उलझते हैं? रस्सी सच्ची है और साँप झूठा है, ये दोनों आपसमें कभी उलझेंगे? झूठ सचके सामने जायेगा कहाँ कि लड़े? तो सच और झूठमें कभी लड़ाई नहीं होती। तब यहाँ क्या बताया? कि सत्यकी जय होती है, झूठकी नहीं। इसका मतलब समझना पड़ेगा न! बोले— जो सत्यका पक्षपाती है उसकी जीत होती है और जो झूठका पक्षपाती है उसकी हार होती है। साँचको आँच क्या? संसारमें सब लोग सत्यका आदर करते हैं। दुनियामें ऐसा कोई नहीं है जो झूठका आदर करता हो। दर्शन शास्त्रमें एक मर्यादा ही बनायी हुई है, नियम है—

वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः।

यह सबकी बुद्धिका सहज स्वभाव है कि वह सत्यका पक्ष करती है। भीतरसे करेगी, बाहरसे चाहे कितना दबाओ, भीतरसे तो मन कहेगा, हाँ भाई, आखिर तो सच यही है।

अच्छा, क्योंकि हम दूसरोंसे अपेक्षां करते हैं कि वह हमसे सच वोले। मेरे सिवाय सब मुझसे सच बोलें और मैं? किसीसे सच वोलूँ और किसीसे झूठ बोलू। यह अपने लिए झूठ नहीं चल सकता। मीठा-मीठा गप्प और कड़वा-कड़वा थू-परमात्माके राज्यमें यह अन्याय बिलकुल नहीं चल सकता।

पत्थरके हैं मंदिर मसजिद, सोनेके हैं कलश कंगूरे। देवता पत्थरका और शिखर सोनेका-कैसे चलेगा?

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था बिततो देवयानः।

जो सत्यका आश्रय लेते हैं, उनके लिए देवयान मार्ग खुला हुआ है। इनकी भी एक पद्धित होती है। अगर कोई मान लो रातको मर जाये और पुण्यात्मा हो तो क्या होगा? रातमें उसकी गित नहीं होगी, वह रुका रहेगा। रातका देवता दिनके देवताको दे देगा।

अब दिनके देवतामें कृष्ण पक्ष हुआ तो क्या होगा ? दिनका देवता अपने पास पन्द्रह दिन रखेगा, जब शुक्ल पक्षका देवता आवेगा, तब उसको देना। अब वह पन्द्रह दिन रखे कि चौदह दिन रखे कि तरह दिन रखे, वह तो शुक्ल पक्ष आनेमें जितनी देर होगी, उतना रखेगा।

अब शुक्ल पक्ष हुआ और दक्षिणायन हुआ, तो क्या करेगा?

यह रखना क्या होता है, इसकी भी एक लीला है। यह वातावरणमें दिनका घरा, पक्षका घरा, ऋतुका घरा और संवत्सरका घरा—ये घरे होते हैं। तो उनको पार करनेमें देर लगती है। लेकिन पापी अगर शुक्लपक्षमें मरे तो उसकी सद्गति हो जायेगी? नहीं, शुक्लपक्ष रोक लेगा उसको अपने पास। उहरों अभी और जब कृष्ण पक्षकी पुलिस आवेगी तब उसके हवाले कर देंगे।

अब उत्तरायण हुआ तो कृष्ण पक्षकी पुलिस क्या करे ? बोले—वह रखेगी अपने पास हवालातमें। जब दक्षिणायन आवेगा, तब दक्षिणायनकी पुलिसके हवाले करेगी।

यह इसके बड़े-बड़े मजे होते हैं। येनाक्रमन्त्यृषयोह्याप्तकामा आप्तकाम महात्मा लोग इसी सत्यके आधारपर परमात्माको प्राप्त करते हैं। कहाँ? कि जहाँ सत्यका परमिनधान है। संसारमें कहे जानेवाले जितने सत्य हैं, वे उसीमें हैं। तो ऋषि कौन? कि आप्तकाम, जिनमें माया नहीं, छल नहीं, अहंकार नहीं, दम्भ नहीं, अनृत नहीं। ऐसे जो आप्तकाम विगततृष्ण हैं, वे यथाभूतवाद व्यवस्था सत्यके द्वारा देवयानको प्राप्त करते हैं जहाँ परम पुरुषार्थका निधान परब्रह्म परमात्मा प्राप्त होता है।

वह परब्रह्म परमात्मा कैसा है ? तो-

बृहच्च तिद्वयमिचन्त्य रूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तिदहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम॥ 3.1.7

वह बृहत् बृहवृत् बर्हित इति वृहत्। यह बृह् धातु है। इसका अर्थ है निरितशयं वर्धते— जिससे देश-काल-वस्तु सब व्याप्त है, जिससे बड़ा और कोई नहीं है, वह वृहत्। और दिव्य माने विकारी नहीं। और, अचिन्त्यरूपं— माने जहाँ वाणी और मनकी गित नहीं और, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है वह स्वरूप अपना छोड़ता ही नहीं है। अज्ञानियोंके लिए परमात्मा दूर-से-दूर है और ज्ञानियोंके लिए तिदहान्तिक च—ज्ञानीके लिए परमात्मा अभी है, यहीं है

अपना अत्मा ही है। उससे बढ़कर उससे अलग कोई परमात्मा है ही नहीं। तो ज्ञानीको परमात्मा हर समय मिला है और अज्ञानीके लिए परमात्मा दूर है।

बोले—अरे भाई यह सब बुझौवल—पहेली काहेको बुझा रहे हो ? कि पहेली इसिलए बुझा रहे हैं कि यहीं है वह इहैव। अब देखो 'इह' जो है, दूरात्सुदूरे तिदहानिके च—वह दूर-से-दूर है और वह यहीं पास है और, फिर बोलते हैं—इहैव। यह शब्द दो बार आया—इह, इहैव—यही और यहीं। इहैव माने हृद्येव और ये जो देखनेवाले लोग हैं—पश्यत्सु—इन देखनेवालोंकी जो गुहा है, जिसमें भोग भी गूढ़ है और ब्रह्म भी गूढ़ है—ऐसी जो गुहा है—हृदय गुहा, इसीमें ब्रह्म रहता है।

परमात्माको ढूँढ़नेके लिए बाहर जानेकी जरूरत नहीं, परमात्मा इसी गुहामें—इसी हृदयमें—इह पश्यत्सु चेतनावत्सु।

कहनेका अभिप्राय यह है कि जो इस शरीरमें बैठकर आँखसे देख रहा है, कानसे सुन रहा है, नाकसे सूँघ रहा है, जीभसे स्वाद ले रहा है, त्वचासे छू रहा है, मनसे संकल्प कर रहा है, बुद्धिसे जान रहा है, यह जो भीतर अहं, अहं, अहं फुर रहा है, इसी हजार अहंमें जो एक है और हजार हृदयमें जो एक है और हजार समयमें जो एक है, जिसमें समयका, स्थानका और वस्तुका भेद हुए बिना हर जगह परिपूर्ण है। बोले—आओ देखें परमात्माको—

> न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्व-स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:॥ 3.1.8

बोले, बाबा! जब परमात्मा इतना पास है, तो दिखता क्यों नहीं ? उसकी उपलब्धिका करण बताते हैं। लोगोंकी आदत बिगड़ गयी है, आँखसे दिखे तो समझते हैं कि दिख गया। अब सब चीज आँखसे तो दिखती नहीं। दूरबीनसे, खुर्दबीनसे ऐसी-ऐसी चीजं देखी जाती हैं, आँखमें खुर्दबीन—क्षूद्र वीक्षण यंत्र लगाते हैं और ऐसी चीज देखते हैं जो आँखसे बिलकुल नहीं दिखती है। देखो यहाँ है और दिखती नहीं है। तो न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैदेंवैस्तपसा कर्मणा वा—न वह आँखसे दिखता है अरूपत्वात्। कोई भी मनुष्य उसको आँखसे नहीं देख सकता, क्योंकि उसमें रूप नहीं है। नापि गृह्यते वाचा—

वाणीसे उसको कोई बोल नहीं सकता, क्यों? कि अनिभिधेयत्वात्—वह अभिधा वृत्तिसे तो अभिधेय नहीं है, माने नाम लेकर तो हम पुकार नहीं सकते कि अरे ओ मोहन, ओ सोहन, यहाँ आओ। तो किसी शब्दका वह अर्थ नहीं हैं अभिधा वृत्तिसे और अभिधेयसे सम्बद्ध होकर लक्ष्य भी नहीं है और, गौणी वृत्तिसे भी उसका निरूपण नहीं हो सकता। हीन वृत्ति समझ लो, मान लो यहाँ। एक अविधा वृत्ति, एक लक्षणा वृत्ति और एक गौणी वृत्ति। वैसे लक्षणाको भी कोई-कोई गौणी बोलते हैं।

तो नाम होता है मोहन, सोहन, बोले—ब्रह्म; नहीं समझ सकते। बोले—लक्षणा करो, लक्षणा भी नहीं होती है। जब लक्ष्यार्थ, जो दोनों हैं, गंगा और तटका सम्बन्ध ज्ञात होवे, तब गंगा पदका अर्थ तट होगा, लक्षणा तो तब होगी जब अभिधेयसे सम्बद्ध वस्तुका ज्ञान होवे; तो लक्षणा कहाँसे होगी? तो बोले कि गौणी? कि उसमें गुण ही नहीं है। अच्छा तो किसी भी इन्द्रियसे देखो। नहीं देख सकते! अच्छा, तपस्यासे देखो। बोले—तपस्याकी वहाँ तक पहुँच नहीं है। तपस्या सब कुछ प्राप्त करा सकती है, लेकिन न किसी इन्द्रियसे परमात्मा मिलेगा और तपस्यासे परमात्मा नहीं मिलेगा।

तो वैदिक अग्निहोत्र करो उससे मिलेगा? कि न कर्मणा—कर्मसे भी नहीं मिलेगा। तब परमात्मा मिलेगा कैसे? यह देखो बात बताते हैं—ज्ञान, प्रसादेन। विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः शंकराचार्य भगवान्ने 'ज्ञान प्रसादेन' का एक अर्थ किया है आपको बताते हैं। यहाँ तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञानका 'प्रसाद' अर्थ नहीं है। बड़ा विचित्र अर्थ किया है उन्होंने। वह कहते हैं ज्ञान तो सबके पास है और ज्ञानसे आत्मा जाना जा सकता है, लेकिन तुम्हारे ज्ञानकी क्या दशा हो गयी है! दुर्दशा कर दिया भाई, शीशा तो अपने घरमें था, जिसमें अपना मुँह देख सकते थे, लेकिन शीशेपर तो धूल पड़ी हुई है, मैल जमी हुई है, शीशेको कभी पोंछा ही नहीं। शीशा तो तुम्हारे पास है। तो महाराज यह मैल क्या लग गयी? बोले—बाह्यविषयरागादि दोष कलुषितमप्रसन्नमशुद्धं सन् न अवबोधयितं—तुम्हारे ज्ञानरूपी शीशापर संसारके विषयोंका जो राग है, उसका रंग चढ़ गया है। शीशेपर जब रंग चढ़ गया तो अपना आपा साफ उसमें कैसे दिखायी पड़े? बाह्य विषयोंका राग ही दोष है और इससे शीशा मैला हो गया, निर्मल नहीं रहा, अशुद्ध हो गया।

इसीलिए नित्यं संनिहितं अपि आत्मतत्त्वं मलावनद्धिमवादर्शम्, विलुलितिमव सिललम्।दो दृष्टान्त दिया, क्या ? कि मलावनद्धिमव आदर्शम्—जंसे शीशेपर मैल बैठ गयी हो और उसको कितने भी पाससे देखो, आँखसे सटा लो, पर शीशापर मैल बैठी रहेगी तो क्या पास होनेसे अपना आपा दिखेगा? यह मलदोपका उदाहरण हुआ कि हमारे ज्ञानरूपी शीशेमें मलका दोप है ! वह मलदोप क्या है ? कि विपयराग। विषयका राग ही दोप है। और विलुलितिमव सिललम्—पानी जोरसे बहा जा रहा हो तो क्या उसमें अपना चेहरा दिखेगा? यह विक्षेप दोप हुआ, विक्षेप दोपका उदाहरण है 'विलुलितिमव सिललम्'—बहता हुआ पानी। और मलदोपका उदाहरण है—'मलावनद्धं इव आदर्शम्' मलावनद्धं शीशा।

तो जैसे बहते हुए पानीमें और मैले शीशेमें अपना चेहरा नहीं दिखता है, इसी प्रकार चंचल और वासनासे मिलन अन्त:करणमें अपने आत्माका स्वरूप नहीं दिखता। तो जब ज्ञानकी चंचलता—यह जानो, यह जानो, यह जानो, न गुरुमें निष्ठा, न मंत्रमें निष्ठा, न इष्टमें निष्ठा, मन तो चंचल हो रहा है महाराज!

में अमृतसर गया था, थोड़े ही दिन रहा, तो लोगोंने कहा—महाराज! एक बातका ध्यान रखना, यहाँ कोई मन्त्र लेनेके लिए आवे, दीक्षा लेनेके लिए आवे, तो जल्दीसे मत देना। क्यों? बोले कि यहाँका यह रिवाज है कि जो महात्मा चातुर्मास्य करता है, उससे लोग मन्त्र ले लेते हैं और जब वह चला जाता है, दूसरा महात्मा जाता है तो फिर उससे ले लेते हैं तीसरा आवे तो तीसरेसे ले लेते हैं। इनकी न गुरुमें निष्ठा है, न मन्त्रमें निष्ठा है, न इष्टमें निष्ठा है।

तो निष्ठा नहीं होगी, तो वस्तुका ग्रहण कैसे होगा! तो एक तो संसार विषयका राग, दूसरे चित्तकी चंचलता—इन दोनोंने ज्ञानके शीशेको मिलन बना दिया है। तो पहले अपने ज्ञानको शुद्ध करो। विषयका राग और चंचलता अपने ज्ञानमें-से निकाल दो। ज्ञानको एक आकार तो दो। ज्ञानको निराकार रखो। पर निराकार न रहे तो एक आकार तो दो।

तो इस ज्ञान प्रसादसे क्या होता है ? कि अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। और अन्तःकरण शुद्ध हो जाय तो देखो ज्ञानप्रसादसे विशुद्ध अन्तःकरण हो करके ब्रह्म दर्शनके योग्य हो जाता है।

अब इसके बाद निष्कलका ध्यान करो निष्कलं ततस्तु पश्यते निष्कलं ध्यायमानः आप गीतामें पढ़ते हो— ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मनाः। अन्ये सांख्येन योगेन कर्म योगेन चापरे॥

ध्यान करो। अच्छा तो ध्यान और निर्दिध्यासनमें थोड़ा फर्क है। आपको बताते हैं। निर्दिध्यासनमें जो 'स' है, ध्यासनमें, यह है तो ध्यान ही, लेकिन इसमें एक 'स' बढ़ गया है ध्यासन, दिद्ध्यासा; जिज्ञासा जैसे होती है, ज्ञान और जिज्ञासा, ऐसे ध्यान और दिध्यासा और 'नि' उपसर्ग है। तो यह जो सन् प्रत्यय इसमें आ गया है, यह इच्छाके अर्थमें है। तो वेदान्ती ऐसा मानते हैं कि ब्रह्म ध्याताका स्वरूप है। ध्यान करनेवालेका अपना स्वरूप है। इसलिए ध्यानका अत्यन्त विषय नहीं होता। ध्याताका अपना स्वरूप होनेके कारण आत्मा ध्यानका विषय नहीं होता, ध्येय नहीं होता। आत्माका कल्पित रूप ही ध्येय हो सकता है, आत्माका असली रूप ध्येय नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो ध्याताका स्वरूप है।

तो वेदान्तियोंने ध्यातव्य शब्दका प्रयोग आत्माके लिए नहीं किया। 'श्रोतव्य' ठीक है, 'मन्तव्य' ठीक है, द्रष्टव्य भी ठीक है लेकिन 'निदिध्यासितव्यः'—ध्यानकी चेष्टा करो। परमात्माके ध्यानकी चेष्टा ही सकल अनर्थकी निवर्तिका है। ध्यान न हो—कोई बात नहीं, ध्यानकी जब चेष्टा करोगे, तो बाह्य विषयका परित्याग तो होगा, इसलिए ध्यानमान जो पुरुष है।

यह भी ध्यै चिन्तायाम्से ध्यायन् बनता है शानच् नहीं होता। शतृ प्रत्ययय होता है 'ध्यान' होता है। लेकिन आत्मनेपद इसलिए किया—अपने लिए अपना ध्यान करो! और निष्कल ध्यान करो 'निष्कल' का अर्थ भी आपको बता देते हैं कला माने शब्दकला, स्पर्शकला, रूपकला, रस कला, गन्धकला—ये सब कला है। अलग-अलग हैं। देखो, शब्दसे स्पर्श अलग, स्पर्शसे शब्द अलग, शब्द-स्पर्शसे रूप अलग—ये कला-कला हैं माने ये सब दुकड़े-दुकड़े हैं।

अच्छा, तो 'निष्कलं 'का अर्थ है कि विषयोंका ध्यान छोड़ दो। गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठाः।

ये इन्द्रियोंकी कला—एक रूप दिखावे, एक शब्द दिखावे, एक नाच दिखावे, एक गाना सुनावे। नाच दिखानेवाली दूसरी, गाना सुनानेवाली दूसरी, सुगन्ध देनेवाली दूसरी, खिलानेवाली दूसरी—ये पाँच-पाँच लगीं हैं। बोले— निष्कलं ध्यानमानः। पाँचों विषयोंको छोड़ो और पाँचों इन्द्रियोंको छोड़ो— निष्कलं।

बोले—प्राण सिंहत जो सूक्ष्म शरीर है, उसको भी छोड़ो। सत्रह तत्त्वोंवाला जो लिंग शरीर है, उसको भी छोड़ो। निष्कलं। विद्याकला, माया कला, निवृत्ति कला, इनको भी छोड़ो। शुद्ध परमात्माका ध्यान करो।

बोले-यह आखिर कैसे मालूम पड़ेगा?

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो

यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां

यस्मिन्वशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ 3.1.9

एषोऽणुरात्मा, यह अणोरणीयां महतो महीयान्—छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा, यह जो अद्वय आत्मतत्त्व है, इसको कैसे जानना? बोले—चेतसा—विशुद्ध ज्ञानसे इसको जानना। चेतस माने विशुद्ध ज्ञान। केवल ज्ञान। बोले—अच्छा, कहाँ ध्यान करना? बोले—यिस्मन्प्राणः पञ्चधा संविवेश — जिस शरीरमें ये प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान—ये पाँचों प्राण रहते हैं और जिसमें ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ रहती हैं, जिसमें ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ रहती हैं, पाँच कर्मेन्द्रियवाले, पाँच ज्ञानेन्द्रियवाले, पाँच प्राणवाले, इस शरीरके भीतर ही परमात्माका ध्यान करना प्राणेश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां—देखो यह इन्द्रियोंसे चित्त मिल गया है, सारी जनताका। तो चित्तको इन्द्रियोंसे और ऐन्द्रियक विषयोंसे अलग कर लो और जहाँ चित्त; इन्द्रिय वृत्ति और ऐन्द्रियक विषयसे जुदा हुआ, वहाँ यह आत्मा जो है यह प्रकाशते। विभवति माने प्रकाशते, यह आत्मा प्रकाशित हो जाता है।

स्वेनात्मना विभवति आत्मानं प्रकाशयति

अपने आत्माको यह प्रकाशित कर देता है। बस, अन्त:करणसे विषयको और विषय वासनाको दूर हटाओ और विषय, इन्द्रिय और प्राणके जो भेद हैं, उनको छोड़कर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ।

अब यह परमात्माकी प्राप्तिका उपाय बता रहे हैं। इसके बाद अब बहुत बढ़िया प्रसंग है, बड़ा मधुर। अब ब्रह्मका निरूपण कम है, ब्रह्मज्ञानीका निरूपण ज्यादा है, तो बड़ा मीठा, बड़ा मधुर है।

प्रवचन: 26, मन्त्र 10

ब्रह्मज्ञानीकी महिमा-1

यस्मिन्वशुद्धे विभवति एष आत्मा

जब हृदय शुद्ध होता है तब यह आत्मा अपने आपको प्रकाशित करता है।विभवति—प्रकाशयति।

अन्तः करण शुद्ध होना यह स्वागतका उपलक्षण है। जैसे कोई अपने घरमें आनेवाला हो और घरके लोग तैयारी कर रहे हों कि आवे-आवे। बुलाया भी हो, समय भी दे दिया हो। बम्बईमें एकने एक दिन महात्माको बुलाया। तो महात्माजी ठीक समयपर आगये, लेकिन घरवाले ठीक समयपर तैयार नहीं हुए। न तो घरमें झाड़ू लगा था, न फर्श बिछा था, न अपने ही काम किये, तो जब आये महात्मा तो घरके मालिकने कहा, महाराज अभी थोड़ी देर बाहर खड़े रहो। उसके बाद उसने किवाड़ी बन्द कर दिया! कि देखो, महाराज अभी तो फूलमाला ही नहीं आयी। ये लेट लतीफ लोग होते हैं न!

तो नारायण! यह परमात्मा जो है, यह जब देख लेता है कि अन्त:करण शुद्ध हो गया, जब तैयार हो गया पूरा, तब अपने आपको जाहिर करता है। रहता वहीं है, पर देखता रहता है कि अभी इसकी तैयारी पूरी हुई कि नहीं, यह हमारे स्वागत, सत्कारके लिए तैयार है कि नहीं।

एक बार ऐसा मजा आया, कानपुरमें एक शंकराचार्यजी आनेवाले थे। तो यह हुआ कि पहलेसे तैयारी होगी, अमुक तारीखको आवेंगे। शंकराचार्यजी बेचारे बड़े भोले-भाले। उन्होंने कहा कानपुर तो जाना ही है, काम सब निवृत्त हो गया है। तो जो दिन निश्चित था, उससे तीन दिन पहले पहुँच गये कानपुर। तो जो तैयारी करनेवाले थे, उन्होंने कहा कि महाराज कृपा करके आप अभी लौट जाओ और तीन दिन जाकर बिठूरमें रहो, गंगा किनारे। तबतक हम तैयारी कर लेंगे, आपका जुलूस निकालना है, आप तीन दिन पहले आगये, जुलूस कैसे निकलेगा? तो यह आत्मदेव जो हैं, ये देखते रहते हैं कि इसके अन्त:करणकी तैयारी हुई कि नहीं हुई! जब अन्त:करणमें काम न रहे, क्रोध न रहे, देखना पड़ता है। आपको इसकी प्रक्रिया बतावें, आत्म-प्रकाशकी एक प्रक्रिया होती है।

असलमें देखो जो आदमी बोलनेवाला है वह आदमी यह सोचकर बोलता है कि नहीं कि हम बोलेंगे तो सुननेवालेपर क्या असर पड़ेगा? तो जब दो बार, चार-बार, दस बार बिना सोचे उसने बोल दिया, तो नक्की हो गथा कि भाई यह तो अपने दिलकी भड़ास निकालता है, यह नहीं सोचता कि सुननेवाले-पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। तो उसकी बात सुननेमें उपेक्षा वृत्ति आ जायगी कि यह तो अपनी-अपनी सुनाता है, सुननेवालेपर क्या प्रभाव पड़ेगा, सुख होगा कि दु:ख होगा, इसका कोई ख्याल नहीं करता। तो ऐसी वृत्ति आ जाती है।

तो महाराज ये आत्मदेव यह देखते हैं कि जब हम आकर इसके दिलमें प्रकट होंगे, तो यह कहीं यह तो नहीं कहेगा कि झूठ भी ब्रह्म है और लोभ भी ब्रह्म है, मोह भी ब्रह्म है और काम-क्रोध भी ब्रह्म है, हिंसा भी ब्रह्म है, चोरी भी ब्रह्म है, जो मौज हो सो करो; क्योंकि सब ब्रह्म है। कहीं ऐसा तो नहीं करेगा!

यह हम उसकी आत्माके रूपमें जब प्रकट होंगे तो कहीं हमारा नाम लेकर यह दुनियामें बदमाशी तो नहीं फैलावेगा! तो इन्तजार करता है कि जब उसका अन्त:करण ऐसा हो जाय कि हमारा सहारा लेकर यह न कहे कि सब ब्रह्म है। तुम ऐसा करते हो? बोले—ब्रह्म है। तो आत्मज्ञानी पुरुषमें शुद्धान्त:करण होनेपर ही आत्मज्ञान हो जाता है, यह आत्मज्ञानकी मर्यादा है। तो जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, उसमें क्या विभूति आती है।

तो आपको देखो जैसा प्रसंग है वैसा मैं सुना रहा हूँ, बुरा नहीं मानना, मूर्तिकी पूजा करके जितना लाभ उठाया जा सकता है, ज्ञानी पुरुषकी पूजा करके उससे डबल लाभ उठाया जा सकता है।

यह बात जो संसारी लोग हैं उनकी समझमें जल्दी नहीं आवेगी, क्योंकि वे कहेंगे कि मूर्ति तो परमेश्वर है, ज्ञानी कहाँ परमेश्वर है? अरे बाबा ''ब्रह्मज्ञानी आपु परमेश्वर। ब्रह्मज्ञानीको ढूँढ़े महेश्वर।'' गुरु ग्रन्थ साहिबमें 'सुखमनि साहिब' में यह बात आयी है। शंकरजी ढूँढ़ते रहते हैं कि कहीं हमको ब्रह्मज्ञानी मिल जाय।

तो मूर्ति पूजासे अधिक लाभ ज्ञानीकी पूजासे क्यों होता है ? कि मूर्तिसे जितना लाभ लिया जाता है वह अपनी श्रद्धासे लिया जाता है, मूर्ति किसीके लाभका संकल्प नहीं करती है। इसीलिए यह तीर्थमें जानेकी अपेक्षा ज्ञानीके पास जाना श्रेष्ठ है, मूर्ति पूजा करनेकी अपेक्षा ज्ञानीकी पूजा करना श्रेष्ठ है। व्रत करनेकी अपेक्षा ज्ञानीका प्रसाद खाना श्रेष्ठ है। तो ऐसा क्यों है ? कि एक तो श्रद्धालुका संकल्प और एक ज्ञानी पुरुपका संकल्प—ये जब दोनों मिलते हैं न तब डबल हो जाता है काम। और, तीर्थमें, मूर्तिमें, व्रतमें एक संकल्प केवल सिंगल, काम करता है और ज्ञानीकी पूजामें डबल संकल्प काम करता है। श्रीहरि बाबाजी महाराज कभी-कभी कहते हैं कि दुनियामें अगर दो मन मिल जायँ, तो वह विश्व विजयी हो जायगा। दोके मन अगर बिलकुल एक हो जायँ, मिल जायँ, तो विश्व विजयी हो जायगा। क्योंकि संसारमें सबका मन एक-एक बिखरा हुआ है। अगर दो आदिमयोंका मन मिल गया तब तो दुनियामें सबसे जोरदार हो गया। सबका एक-एक सूतका धागा है और उसका तो डवल हो गया। दो धागे मिले तो मजबूत हो गया। तो

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध सत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।

तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-

स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥ 3.1.10

कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष अपने मनसे जिस-जिस लोकको संविभाति, संविभवति, संकल्पयित, जिस-जिस लोककी कल्पना करता है ज्ञानी पुरुष अपने मनमें शोले—ज्ञानी पुरुष अपने मनमें लोककी कल्पना ही क्यों करने लगा? वह तो निर्लोक है। अपने स्वरूपमें न आना है न जाना है, न लोक है न परलोक है, संकल्प ही क्यों करना? तो शंकराचार्य भगवान्ने इसका दो अर्थ कर दिया—

संकल्पयति मह्यम् अन्यस्मै वा भवेद्।

यह तो उनकी उदारता समझो, वह कहते हैं कि अगर ज्ञानी संकल्प करे कि इस आदमीको पितृलोकका दर्शन होवे, उस आदमीको स्वर्गलोकका दर्शन होवे, इस आदमीको वैकुंठका दर्शन होवे, तो अपने जिस भक्तको जिस लोकका दर्शन करानेका संकल्प ज्ञानी पुरुष करेगा, उस भक्तको उस लोकका दर्शन होगा।

तो उन्होंने कहा अपने लिए तो उसको लोककी कोई जरूरत नहीं है लेकिन अगर अपने सेवककी इच्छा हो—कई बार ऐसा करना पंड़ता है, बोले—सेवकने कहा कि महाराज बद्रीनाथ चले चलो। अरे भाई, हम देखकर आये हैं, हमारी देखनेकी इच्छा नहीं है, हमारे तो संकल्प नहीं होता है जानेका। कि नहीं महाराज, हमारे लिए चले चलो। बोले—चलो भाई सेवकके लिए ज्ञानी पुरुष बद्रीनाथ चले गये। तो यह हुआ कि भाई सेवक चाहता है, भक्त चाहता है कि हमको स्वर्गका, वैकुंठलोकका, पितृलोकका दर्शन होवे, ज्ञानी पुरुषने संकल्प किया और उस लोकका उसे दर्शन होने लगा।

तो इसमें यह जो बात कही न दूसरेके लिए, यह दो नम्बरकी बात है, एक नम्बरकी नहीं। एक नम्बरकी बात है कि यदि ज्ञानी पुरुष ही चाहे कि हम अमुक लोकमें पहुँच जायँ, अपने लिए, तो ये संसारी लोग जो हैं, इनको ऐसा ख्याल होता है कि जब ज्ञानी हो गये, तब उनके मनमें इच्छा काहे को होगी?

ज्ञानी हो गये तो कोई पत्थर हो गये? यह वेदान्तका संस्कार न होनेसे, यह वेदान्त ज्ञानकी त्रुटि समझना। अगर कोई यह समझता हो कि ज्ञानीके मनमें इच्छा नहीं होती है, यह समझदारीकी कमी है। क्यों कमी है? कि ज्ञान जो है वह अविद्याको निवृत्त करनेके लिए होता है, अन्त:करणमें फेर-फार करनेके लिए नहीं होता। इसलिए विद्यारण्य स्वामीने इसका ऐसे प्रतिपादन किया कि—

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहं कृतिम्। इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः॥

पंचदशीमें विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि मैं चिदात्मा! एक तो उसे ज्ञान हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ। तो मैं ब्रह्म हूँ—इस ब्रह्मभावको अन्त:करणमें प्रविष्ट नहीं करता है, वह तो देखता है कि एक नन्हा-मुन्ना जो अहंकार है वह अन्त:करणमें बैठकर इसके सारे व्यवहारको चला रहा है। इच्छाका आश्रय, माने जिसमें इच्छा है, वह आभास है चिदात्मामें। इच्छा आभासमें होती है

चिदात्मामें नहीं। अन्तः करणोपाधिकमें इच्छा भासती है, अखण्ड ब्रह्ममें नहीं। तो वह अपनेको जानतः है अखण्ड ब्रह्म, बोले—ए ज्ञानीजी! देखो, तुम्हारे मनमें इच्छा उदय हो रही है। बोले कि मच्छरके मनमें इच्छा होती है, बिल्लीके मनमें इच्छा होती है, वैसे यदि इस मनमें भी इच्छा होती ह तो क्या हर्ज हुआ? सारी सृष्टिका जैसा मन वैसे ही इस शरीरमें रहनेवाला मन। पर लोग कहते हैं यह में और यह मेरा और ज्ञानी कहता है यह मैं नहीं, यह मेरा नहीं, उसका बाध हो गया। तो चाहे वह संकल्प करे अपने सेवक भक्तके लिए और चाहे अपने लिए, इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि संकल्प तो अन्तः करणमें हुआ और अन्तः करणका संकल्पका वह आश्रय जो है वह कर्त्ता-भोका आभास है, जो शुद्ध नहीं है। इसलिए शंकराचार्य भगवान्ने एक नम्बर बात लिखी कि अगर अपने-मनमें।

सनत्कुमार बैठे हैं महलींकमें और उनके मनमें एक दिन इच्छा हुई कि चलें जरा वैकुण्ठ देखकर आवें, तो क्या उनका ज्ञान नष्ट हो गया? यह प्रश्न है। विशिष्ठजी महाराज अपनी कुटियामें बैठे हैं, उनके मनमें हुआ कि चलो रामजीसे आज मिल आवें। तो रामजीसे मिल आवें यह इच्छा हुई तो क्या विशिष्ठका ज्ञान नष्ट हो गया? तो जो लोग अन्त:करणमें कोई इच्छा उदय होनेसे ज्ञानका नाश मानते हैं उनका वेदान्तका संस्कार ठीक नहीं है, शुद्ध नहीं है। अपने आप किताब उन्होंने पढ़ी होगी, परन्तु गुरुमुखसे वेदान्त समझा नहीं होगा।

वेदान्त आपके व्यवहारमें कोई हस्तक्षेप करता ही नहीं है। एक राक्षसी थी, कर्कटी उसका नाम था, योग-वासिष्ठमें उसका वर्णन आता है और उस चुड़ैलका नाम तो आप लोगोंने सुना ही होगा, चुड़ाला नामकी ब्रह्मज्ञानी थी। शिखिध्वजके प्रसंगमें चुड़ालाका वर्णन आता है।

अच्छा यह समझो कि रुद्र भगवान् क्रोध करके जब सृष्टिका संहार करते हैं तो वह ज्ञानी रहते हैं कि उनके ज्ञानका नाश हो जाता है ? रुद्र ज्ञानी हैं कि नहीं हैं ? और जब सृष्टिका संहार करते हैं तब ज्ञान रहता है कि नहीं ?

अच्छा विष्णु भगवान् जब क्षीरसागरमें-से सबको दूध भेजते हैं और लक्ष्मीसे पाँव दबवाते हैं और शेष शैय्यापर शयन करते हैं तब उनका ज्ञान रहता है कि मिट जाता है?

अच्छा, ब्रह्माजी दुनिया भरके बच्चे-कच्चे पैदा करते हैं तब उनका ज्ञान मिट जाता है कि रहता है ? ब्रह्मा ज्ञानी हैं कि नहीं ? विष्णु ज्ञानी हैं कि नहीं ? जनक ज्ञानी हैं कि नहीं? राम ज्ञानी हैं कि नहीं? कृष्ण ज्ञानी हैं कि नहीं? इसलिए परिच्छित्र वस्तुका जो ज्ञान होता है, उसके साथ इच्छाका जन्य जनक भाव है और वह अन्त:करणमें रहता है। यह नहीं समझना कि ज्ञानीको घड़ी-घड़ी नहीं दिखेगी और किताब-किताब नहीं दिखेगी। ज्ञानी क्या अन्धा होता है ? क्या वह बावरा हो जाता है ? क्या वह पागल हो जाता है ? तो घड़ी दिखे, जो ज्ञान है अन्त:करणमें उस ज्ञानमें घड़ी देखनेकी इच्छाका उदय होता है और अपरिच्छित्र ब्रह्म विषयक जो आत्म ज्ञान है उसका, उससे वह मुक्त है। अपरिच्छित्र ब्रह्म विषयक आत्मज्ञानसे वह मुक्त है और घड़ी विषयक जो ज्ञान है उससे घड़ी देखनेकी इच्छा है। और घड़ी देखनेवाला जो ज्ञान है, उस आभासको घड़ी मालूम पड़ती है और घड़ीकी इच्छा होती है और, साक्षी जो है वह स्वयं ब्रह्म है उसमें घडीका अस्तित्त्व नहीं है, घडी देखनेकी इच्छा नहीं है और अन्त:करणका ही अस्तित्व नहीं है ? यह सब काम हो रहा है और ब्रह्म ज्यों-का-त्यों है। इसलिए ज्ञानी पुरुष अपने लिए अथवा अपने सेवकके लिए यदि किसी लोकके दर्शनका संकल्प करे तो वह पूरा होता है।

विशुद्धरात्त्वः कामयते यांश्च कामान्।

देखो यह ज्ञानी कैसा है? बोले—शुद्धसत्त्व है। इसने सत्त्वका शोधन कर लिया है। माने वह जानता है कि यह मरना-जीना कुछ नहीं है।

यह जैसे देखो किसीने समुद्र कभी न देखा हो और जानकारी न हो और एकाएक महाराज समुद्रके किनारे आवे और देखे कि बड़ी जोरसे ज्वार आया और लहरें उठ-उठकर सड़कको तोड़ रही हैं, वह कहेगा—बाबा शायद मुम्बई डूब जाये, बह जाये। जगन्नाथपुरीमें होवे या मद्रास बीचपर होवे, वह विशाल-विशाल तरंगें उठती हैं तो महाराज मालूम न हो कि वह समुद्रका, स्वभाव है, इसमें कभी तरंग उठती है, कभी शान्त होता है। कभी ज्वार उठता है कभी भाटा होता है। तो ज्ञानी पुरुष अन्तः करणके इस स्वभावको जानता है। कभी रोनेका भाव आता है, तो मालूम पड़ता है कि अब हँसना कभी आवेगा ही नहीं और, कभी हँसना आता है, तो मालूम पड़ता है कि अब कभी रोना आवेगा ही नहीं। लेकिन यह तो रोनेके बाद हँसना और हँसनेक बाद रोना यह

अन्त:करण रूप समुद्रका ज्वारा-भाटा है। जैसे समुद्रमें ज्वार-भाटा आता है, ऐसे अन्त:करणमें ज्वार-भाटा आता है। तो विशुद्ध सत्त्वका क्या अर्थ हुआ? कि वह जाने कि यह एक लहर है, आयी है, उतर जायेगी। एक बवण्डर है, उठा है शान्त हो जायेगा, एक चिनगारी जली है, वह बुझ जायेगी।

इसी प्रकार 'विशुद्ध सत्त्वः' का अर्थ है कि जिसका दृश्यमें अभिनिवेश न हो कि यह ऐसा ही बना रहेगा। ये अज्ञानी लोग क्या करते हैं, जब किसीपर गुस्सा आता है तो समझते हैं अब जिन्दगी भरके लिए दुश्मनी हो गयी और वह तो थोड़ी देर बाद ठण्डा हो जाता है।

देखो बच्चे आपसमें लड़ते हैं, बोले—अब तुमसे कभी नहीं बोलेंगे। औरतें जब अपने मर्दोंसे रूठती हैं तो कहती हैं—तुम्हारा मुँह नहीं देखेंगे, ऐसे बोल देती हैं। हम कुएँमें कूद पड़ेंगे, मर जायेंगे। लेकिन वह तो एक ज्वार होता है। ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि थोड़ी देरके बाद यह नाचेंगी, गायेंगी, इनका यह मनोभाव थोड़ी देरके लिए है।

देखो, घी कभी जम जाता है, कभी पिघल जाता है। गर्मी लगी तो पिघल गया, ठण्डी पड़ी तो जम गया। ऐसे ही अन्त:करणका भाव है—विशुद्ध सत्त्व:

यह आप ब्रह्मको समझेंगे तो दुनियाको भी ठीक समझ जायेंगे। तो यह जो अभिनिवेश है कि अब काम आया तो शान्ति नहीं आवेगो, काम ही है, क्रोध आया तो मोह नहीं होगा, अब राग हुआ तो द्वेष नहीं होगा, द्वेष हुआ तो राग नहीं होगा, यह अहंकार आया। कभी-कभी विद्याका अभिमान आता है कि मैं बड़ा विद्वान हूँ। जब बड़ा पण्डित मिलता है तो बिलकुल बह जाता है, पानी-पानी होकर बह जाता है। बोले—अब तो समझदारी कभी आवेगी ही नहीं।

तो क्षीण क्लेशाका अभिप्राय यह है कि अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये क्लेश क्षीण हो गये हैं और अन्त:करण कभी घी की तरह जम जाता है और कभी गीला हो जाता है। कभी समुद्रकी तरह ज्वार आ जाता है, कभी भाटा आ जाता है। जीवनके इस रहस्यको समझना चाहिए।

आत्मा एक रस है और जीवनके रस बदलते रहते हैं। अगर जीवनका रस बदले नहीं, समझो चटनी न खायें, सिर्फ हल्वा खायें, नमक मत खाओ और हल्वा-हल्वा खाओ, हल्वा ख़ाकर बोर हो जाओगे, जीभ बँध जायेगी, रुचेगा नहीं, ज्यादा खाओगे तो कै आने लगेगी। खीर ज्यादा नहीं खा सकते।

तो जब रस बदल-बदलकर खाते हैं, तब प्रेमसे खाते हैं। तो ईश्वर जब दुनियाको देखता है, वह भी रस बदलता है। कभी शृंगार रसका मजा आता है और कभी वीभत्स रसका मजा आता है।

एक बार हमलोग मैसूरके चित्रशालामें गये। मैसूर नरेशने बड़ी बढ़िया चित्रशाला बनवा रखी थी। एक तस्बीर देखो और हँसते-हँसते लोटपोट हो जाओ, हास्य रसका। एक तस्वीर देखो करुण रसका, रोने लग जाओ, आँखमें आँसू आजायें। एक तस्वीर देखो शृंगार रसकी लिति भाव मनमें आजाये। तो यह क्या है? जैसे हम लोग भिन्न-भिन्न प्रकारकी तस्वीर देखते हैं और जब निकले चित्रशालामें-से, तब क्या बोले? मजा आया, क्या सुन्दर चित्रशाला है!

इसी प्रकार यह जो हमारा जीवन है, यह भी एक चित्रशाला है, इसमें कभी करुण रस आता है, कभी अद्भुत रस आता है, कभी हास्य रस आता है, कभी रौद्र-भयानक आता है, कभी वीभत्स आता है, कभी शृंगार रस आता तो कभी शान्त रस आता है। यह मजा है इसका। तो विशुद्ध सन्त्व पुरुषका अर्थ यह है कि वह सत्ताको पहचान गया, इसका क्लेश क्षीण हो गया। वह तो सबमें मजा लेता है।

एक दिनकी बात आपको सुनावें, हम लोग प्रेमकुटीसे कहीं आ रहे थे या जा रहे थे। स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज मोटरमें बैठे थे, क्या हुआ कि बगलसे एक मोटर निकली, बरसातका दिन। अब वह मोटरकी पहियामें से वह पानी उछला और मुँहमें पड़ गया, वह सड़कका पानी स्वामी प्रेमपुरीजीके मुँहमें भर गया। तो क्या बोलते हैं? कि आज तो मोटरका चरणामृत मिल गया।

अब दूसरा कोई संसारी आदमी हो तो क्या करेगा? या तो अपनी मोटरको आगे बढ़ाकर उसपर भी पानी डालेगा; कभी-कभी देखते हैं ड्राइवर लोग कहते हैं—उसने हमारे ऊपर पानी डाला तो हम भी डालेंगे, उसके आगे निकाल लेंगे; और या कभी जाकर उससे लड़ाई करते हैं कि यह तुमने क्या किया और जब उन्होंने चरणामृत शब्दका उच्चारण किया, तो महाराज हँसी आ गयी, हम सब लोग हँसते-हँसते लोटपोट हो गये। तो विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।

जीवनका रस लेनेकी एक प्रक्रिया होती है और वह ज्ञानसे सीखी जाती है। ज्ञानी पुरुष जो भोगता है ज्ञानिना चिरतुं यत् शक्यं सम्यग्राज्यादिलौकिकम्—ज्ञानी पुरुष चाहे तो राज्य चलावे। क्या कृष्ण ज्ञानी नहीं थे? क्या राम ज्ञानी नहीं थे? क्या अश्वपित ज्ञानी नहीं थे? क्या जनक ज्ञानी नहीं थे? ज्ञानीका मतलब यह नहीं होता है कि वह घर छोड़कर चला जाये। बोले—ज्ञानी हो गये तो अब गाँवमें रहनेका तुमको अधिकार नहीं रहा? जाओ! अब जंगलमें जाओ! अब ज्ञानी हो गये तो पूरी खानेका तुमको अधिकार नहीं रहा, अब तो सिर्फ बाजरेकी रोटी खाना। यह कोई बात है? इसलिए विशुद्ध सत्त्वः कामयते यांश्व कामान् शुद्धान्तः करण पुरुष जो चाहता है, भोग चाहे तो भोग मिले, लोक चाहे तो लोक मिले, जो-जो चाहे सो आ जाये।

एक दिनकी बात है हम एक महात्माके पास गये, दूसरी बार गये थे उनके पास। एक बार पहले कहीं मिले थे, तो उस बार तो महाराज, बहुत परेशान करके मिले, पाँच-छह मील उनके पीछे-पीछे हम लोग घूमते रहे, जहाँ जायें मालूम हो अब आगे जायेंगे। अन्तमें नावपर चढ़कर वे उसपार चले गये महाराज। हम लोगोंने भी छोटी नाव की और उनका पीछा किया, वे बड़ी नावपर थे। उसपार जाकर पकड़ा। तो थोड़ी देर मिलकर, बैठकर (चले आये)। फिर दूसरी बार जब उनके पास गये, चौदह मील दूर थी हमारे गाँवसे वह जगह और खाने-पीनेका कोई बन्दोबस्त नहीं, माघका महीना था। हमारे मनमें आया कि अगर आम मिल जाते, तो, रोटी-चावल तो हम किसीकी खा ही नहीं सकते थे। अपने यहाँ ऐसा ही रिवाज था। इसलिए सोचे आम मिलते तो खाते। अब माघका महीना और एकदम देहात, बनारस वहाँसे बारह-तेरह मील। आम कहाँसे मिले ? तो मनमें ही आया। थोड़ी देरके बाद देखा कि एक आदमी टोकरीमें आम लिए हुए आगया। तो महात्माजीको भेंट किया उसने। अब महात्माजी गये कुटियामें, चाकू निकालकर ले आये और तराश-तराशकर हमको देने लगे, हम खाने लगे। वे हँसने लगे। फिर बोले—गुरु! आम खानेके लिए आते हो कि सत्संगके लिए आते हो!

यह कहो कि उनका संकल्प नहीं हुआ। उनके पास बैठकर हमारे मनमें संकल्प हुआ। वे तो कल्पवृक्ष थे, उनके नीचे बैठकर हमने संकल्प किया, पूरा हो गया। यह उनकी उपस्थितिका महात्म्य था अथवा यूँ कहो कि वे हमारे मन की बात जान गये, उन्होंने संकल्प किया। या तो उनका संकल्प सिद्ध हुआ या तो मेरा संकल्प सिद्ध हुआ। लेकिन बिना संकल्प सिद्धिके उस समय आम मिल नहीं सकता था। माधका महीना, बनारससे बारह-तेरह मील दूर, और तीस-पैंतीस वर्ष पहले स्टोरमें रखनेवाली प्रथा नहीं थी, बनारसमें एयर कंडीशन नहीं था कि माधमें आम रखा हुआ हो। बहुत बढ़िया हापुस खाये।

तो यह क्या है? यह सिद्धि है तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्— आत्मज्ञानी पुरुष अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका स्नष्टा है। वह ब्रह्मा-विष्णु-महेशको बुला सकता है, बना सकता है और दिखा सकता है और, वह लोक और भोग जीत सकता है। इसलिए—तस्मादात्म जं ह्यर्चयेद् भूतिकाम:।

अब लो महाराज कहते हैं—भूतिकाम:—जो विभूति चाहता हो, सकाम होवे, यदि कोई कामनावाला पुरुष होवे तो आत्मज्ञानसे विशुद्धान्त:करण हुए, विशुद्ध-सत्त्व महापुरुषकी पूजा करे।

अब देखो पूजा कैसे करें? देखो शंकराचार्य भगवान्का वचन पढ़ देता हूँ—

अर्चयेद् पूजयेत् पाद-प्रक्षालनं शुश्रृषा। नमस्कारादिभिर्भृतिकामो विभृतिमिच्छु:॥

उसका पाँव धोवे, उसकी सेवा करे। उसको नमस्कार करे। 'आदि' शब्द भी इसमें पड़ा हुआ है, माने ठनठनपाल नहीं, भोजन भी करावे।

यह आठ आनेकी माला होगी, दो आनेका चन्दन होगा, दो पैसेका चावल भी होगा और दण्डवती लम्बी होगी, लेकिन महाराजको कुछ खानेको भी मिले, वह पूजा नहीं। रुपये-पैसे खर्च हो जायेंगे दिखावेमें!

भूतिकामः — जो अपना कल्याण चाहे, विभूतिकी इच्छा होवे, संसारका वैभव चाहते हो और यदि अन्तः करणको शुद्ध करना चाहते हो तो, ज्ञानी पुरुषकी सेवा करनी चाहिए।



मुण्डकोपनिषद्-प्रवचन

तृतीय मुण्डक, द्वितीय खण्ड

प्रवचन : 26, (वितत) मंत्र 1-2

ब्रह्मज्ञानीकी महिमा

बोले—भाई, सकाम पुरुष होवे तब तो (ज्ञानीकी पूजा करके) उसकी कामना पूरी होवे और कोई निष्काम होवे तो वह ज्ञानीकी पूजा करे कि नहीं करे ? तो अगले मन्त्रमें बताते हैं (कि वह भी ज्ञानीकी पूजा करे)। यह तीसरे मुण्डकका दूसरा खण्ड है। माने यह उपनिषद् त्रिशिरा है, तीन मुंड है इसके—कस मुण्डक, किं मुण्डक और आनन्द मुण्डक। और एक—एक मुण्डमें दो—दो खण्ड हैं, अगला और पिछला, एक भूरा, एक सफेद जैसे दो प्रकारके विभाग सिरमें होते हैं वैसे इस मुण्डकमें तीन सिर हैं और एक—एक सिरके दो—दो खण्ड हैं।

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-

स्ते शुक्रमेतदप्तिवर्तन्ति धीरा: ॥ 3.2.1

बोले—देखो, परम पूज्य सृष्टिमें कौन है ? बोले— स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम—यह सर्वाधिष्ठान अद्वितीय परम ब्रह्मको आत्मारूपसे जानता है। यह ब्रह्मज्ञानी है। यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्—जिस परब्रह्म परमात्मारूप धाममें यह सम्पूर्ण जो विश्व—माया किल्पत विश्व, यह समस्त जगत् (जिसमें) प्रतीत हो रहा है और जो परम शुभ्र है, शुभ्रम परम्ं ब्रह्मधाम—जो शुभ्र है, सबसे परे हैं, स्वयं प्रकाश ज्योति रूप है ऐसा जो एक प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न परब्रह्म परमात्मा है, एतत् माने प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न, और 'परम' माने माया अविद्यादिसे परे और 'ब्रह्म' माने अद्वितीय और 'धाम' माने सर्वाधिष्ठान 'शुभ्र' माने निर्मल-ज्योति स्वरूप) जिसमें यह सम्पूर्ण विश्व किल्पत है, सवेद— उसको ही महात्माने जान लिया कि मैं वही ब्रह्म हूँ। अब?

उपासते पुरुषं ये ह्यकामा:—जो लोग अकाम होकर ऐसे पुरुषकी उपासना करते हैं; उपासना तो करें, पर चाहें कुछ नहीं; क्योंकि अन्त:करण तो मोटर है और इसमें जो संकल्प है, वह ड्राइवर है और जीव मालिक है मोटरका। तो ड्राइवरको जहाँ कह दिया जाये, वहाँ मोटरको पहुँचा देता है। इसी प्रकार संकल्प जहाँ पहुँचनेका होगा, वह इस अन्त:करण रूप मोटरको वहाँ पहुँचा कर तदाकार कर देगा।

अब यह बात हुई कि यह जानेकी इच्छा क्यों होगी? नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सिच्चदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा यह तुम्हारा आत्मा, यही आनन्दका आनन्द, यही ज्ञानका ज्ञान, यही सत्का सत्—सत्यस्य सत्यम्—यह सत्यका सत्य है। यह मनसो मनः—यह मन-का-मन है। प्राण-का-प्राण है। यह स्वयं तुम्हारी आत्मा प्राणेश्वर है, इसको छोड़कर तुम्हें बाहर जानेकी आँखके रास्तेसे, इच्छा क्यों होती हैं? देखो; इसीका नाम काम है।

हमने एक करोड़पितके घरमें सुना कि हर रिववारको उसके बच्चे होटलमें खानेको जाते हैं। तो मैंने उससे पूछा कि तुम्हारे घरमें क्या वैसी रसोई नहीं बन सकती कि होटलमें जैसी वह खानेके लिए जाते हैं? बोले— महाराज! बच्चोंको विलायत जाना पड़ेगा तो वहाँका भोज वहाँका एिटकेट, वहाँके ढंगका बचपनसे उनको अभ्यास रहेगा, इसलिए उनको यहाँके मशहूर-मशहूर होटलमें हर रिववारको भेजते हैं कि जाकर सीख आयें। और, घरमें माँस नहीं बनता है, तो वहाँ जाकर मांस भी खानेका अभ्यास कर लेते हैं।

तो वे बाहर क्यों जाते हैं? घरमें जो चीज नहीं मिलती है उसको

खानेके लिए जाते हैं। नहीं-नहीं, घरमें उनके सब कुछ हैं, लेकिन घरमें रुचि नहीं है।

श्रीकृष्ण जब माखनचोरी करने जाते थे, तो मैया पूछती थी—बेटा घरमें माखन है खा लो, (बाहर चुराकर क्यों खातें हो?) बोले—हमको अपने घरके माखनमें रुचि नहीं है, हमको तो वह चाहिए।

तो कामना जो है— यदि तुम एक इंच दूर और एक क्षणका इन्तजार किये जानेवाला और एक रत्ती भरकी कोई चीज अपनेसे जुदाको चाहते हो, दूर माने देशपरिच्छित्र, क्षण दूर माने काल परिच्छित्र और एक रत्ती भर माने वस्तु परिच्छित्र अगर चाहते हो, तो अपने आत्मानन्दको तो नहीं जानते, आत्माको नहीं चाहते। तो कामकी जो निवृत्ति है वह स्वरूप प्रतिष्ठा है। जिज्ञासुके लिए जो कामकी निवृत्ति है, वह स्वरूपमें प्रतिष्ठा है। यह जिज्ञासुकी महिमा है।

काम शब्दका अर्थ समझो। स्त्री-पुरुषके मिलनका नाम काम नहीं है और मिटाई खानेका नाम काम नहीं है, कपड़ा पहननेका नाम काम नहीं है और मकानमें रहनेका नाम काम नहीं है। हिमालयमें जानेसे काम नहीं मिटता, गेरुआ पहननेसे काम नहीं मिटता। काम वह चीज है जो अपने सिच्चदानन्द परिपूर्ण होनेका जो अज्ञान है, उस अज्ञानके कारण जो हम दूसरेको चाहते हैं, उस दूसरेकी चाहका नाम काम है। और, जब दूसरा अपना स्वरूप ही है, तब काम कहाँ? क्योंकि जो आत्मा इस हृदयमें है वही उस हृदयमें है।

तो यह हुआ उपासते पुरुषं ये ह्यकामाः। जो अकाम होकर ऐसे ज्ञानी पुरुषकी उपासना करते हैं ते धीराः भवन्ति—वे धीर हो जाते हैं। धीर माने—

यं हि न व्यथयन्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम दुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
नानुध्यायान् बहून शब्दान् वाचो विग्लापन हितत्।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥

जो अकाम होता है, वह धीर हो जाता है और ऐसा अकाम धीर जब ज्ञानी महापुरुषकी उपासना करता है तब क्या होता है? बोले—सकामको तो कामनाकी पूर्ति होती है और निष्कामको क्या होगा? बोले—बैठ जायेगा बिलकुल—ते शुक्रमेतदितवर्तिन धीरा:। शुक्रमें कौन आता है? शुक्र माने पुरुषका वीर्य। उस वीर्यमें कौन आता है? जो कामका विषय होता है, वह वीर्यके अन्दर आता है। जो कामके घेरेमें होगा वही वीर्यमें आवेगा, काम पकड़कर उसको ले आवेगा कि आओ वीर्यमें बैठो। और यदि जीव निष्काम हो गया तो उसको वीर्यमें लानेवाला कौन रहा? काम ही तो वीर्यमें लाता है। रितका जो काम है वह किसी जीवको वीर्यमें लाकर डाल देता है और उस आत्माको ही काम जो है, वह चैतन्यसे जडमें डाल देता है।

देखो एक ओर जड़ है। कौन? कि वीर्य; और एक ओर चैतन्य है पुरुष। इस चैतन्य पुरुषको जड़ वीर्यके साथ सम्बद्ध करनेवाला, बीचमें यह मिलानेवाला कौन है? जैसे ब्याहमें स्त्री-पुरुषको मिलानेवाला घटक होता है, कन्या और वरको मिलानेवाला घटक होता है। ऐसे समझो कि जैसे बीचमें कुटनी होती है, वैसे एक ओर वीर्यकी जड़ता है, दूसरी ओर आत्माकी चेतनता है। इस चेतनताको इस जड़ताके साथ किसने मिलाया? बोले—इस कामने मिलाया और कामकी जड़ क्या है? अपने आनन्द स्वरूपको नहीं जानना।

तो यह काम लाकरके शुक्रमें डाल देता है। जब मनुष्य निष्काम हो गया तो वीर्य वाह्य हो गया, वीर्य बन्ध्य हो गया। निष्काम पुरुषका जो वीर्य है, इसमें चैतन्य तो आवेगा ही नहीं और जब चैतन्य नहीं आवेगा तो वह निर्वीर्य हो गया। बन्ध्य हो गया, बाँझ हो गया। तो शुक्रका अतिवर्तन हो गया, माने जन्म-मरणके चक्करसे वह बिलकुल छूट गया। उसको फिर स्त्रीके पेटमें जानेकी जरूरत नहीं रही, क्योंकि वह निष्काम है।

तो देखो हुआ क्या? कि ज्ञानी पुरुपकी जो पूजा करता है, वह सकाम भावसे करे तो सारी कामना पूरी होये और निष्काम भावसे करे तो जन्म-मरणसे मुक्त होकर मोक्षको प्राप्त होवे।

इसिलए चाहे कोई सकाम होवे और निष्काम होवे, दोनोंको ज्ञानी महात्माकी पूजा करनी चाहिए।

अब आगे बताते हैं कि ज्ञानी पुरुपकी जो कामनाएँ हैं वे तो यहीं शान्त हो जाती हैं। तो कामका फल क्या है? और निष्कामकी स्थिति क्या है? इन दोनों बातोंको बतानेके लिए अगला मन्त्र है— कामान्यः कामयते मन्यमानः

स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्व

हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा:॥ 3.2.2

इसिलए परमात्माकी ओर चलनेका मार्ग है—कामत्याग। वो क्या है? बोले—दृश्य विषयक काम, अदृश्य विषयक काम और इष्ट विषयक काम— ऐसे तीन करो नहीं तो दो करो।

यह काम जो है न मन्यमानः चिन्त्ययानः—क्या कर रहे हैं बाबाजी? कि स्वर्गमें जायेंगे—अपां सोमं अमृता अभूम—सोमपान करके हम अमर हो जायेंगे। स्वर्गमें जायेंगे तो क्या मिलेगा? बोले—नन्दनवनमें घूमेंगे और अप्सराएँ वहाँ साथ होंगी और विमान मिलेगा चढ़नेको और मनमें जो भोग आवेगा, अमेरिकामें जैसे बटन दबाते हैं और भोजन आ जाता है, वैसे मनमें चाहेंगे और जो चाहेंगे सो भोग सामने आ जायेगा मन्यमानः।—मनमाना भोग करेंगे।

और, भोगमें यह गुण है, यह गुण है—ऐसा करके महाराज, धर्म करोगे तो स्वर्ग मिलेगा, अधर्म करोगे तो नरक मिलेगा। और राजा होंगे, बादशाह होंगे, सेठ होंगे, पैसे होंगे। तो—

कामान्यः कामयते मन्यमानः जो भोगोंका चिन्तन करता हुआ, बस यही चाहता है कि हमको यह मिले, यह मिले सकामभिजीयते तत्र तत्र —वह अपनी कामनाके अनुसार महाराज! तत्र तत्र जायते। जैसा भोग चाहोगे, वह भोग मिलनेकी सुविधा जहाँ ज्यादा होगी न; वहीं जाओगे। यह देखी जो कामी होगा उसका अगर पुनर्जन्म होवे तो वह सिंह नहीं होगा। वह क्या होगा? अरे वह बकरा होगा, वह बैल होगा।

बकरेको कामी बोलते हैं। पाँच-सात बच्चे देनेवाला कुत्ता-कुत्तिया होगा। और क्रोधी होगा तो? क्रोधी होगा तो भेड़िया होगा, बाघ होगा, शेर होगा, साँप होगा। और माँस खानेकी इच्छा ज्यादा होगी तो? गीध होगा। तो, स कामभिजीयते तत्र तत्र—जिस ढंगकी कामना अपने मनमें होती है, उसके अनुसार पुनर्जन्म होता है। धर्मके अनुसार, अधर्मके अनुसार; और यह करो और वो करो, उसी कामनासे वेष्टित होकर तत् तदाकार शरीर प्राप्त होकर वहाँ-वहाँ जाता है। अच्छा, इस महात्माका क्या होगा? पर्याप्त कामस्थ कृतात्मनस्तु—अरे इसने तो सब कामनाओंका फल प्राप्त कर लिया। बोले—कौन? कि एक बादशाह है। कि बादशाह कहाँ है? अरे यह तो हमारे संकल्पमें ही है न! अच्छा, तो बादशाह जो भोग कर रहा है, वह तो हमारा संकल्प ही कर रहा है वह तो हमसे मिला हुआ है

इन्द्र राजादि देहादिषु नाना खाद्यानि भक्षयन्—विद्यारण्य स्वामी अनुभूति प्रकाशमें बोलते हैं कि मैं ही इन्द्र होकर स्वर्गका भोग कर रहा हूँ, मैं ही ब्रह्मा होकर ब्रह्मलोकका भोग कर रहा हूँ, मैं रुद्र होकरके संहार करता हूँ, विष्णु होकरके पालन करता हूँ!

नक्षत् क्रीडन रममाणः स्त्रीभिर्वायानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरित्रदं शरीरम्—संसारमें जितने सुख हैं, वे सब मनसे मिलते हैं। वे तो हमारे मनकी फुर-फुराहट हैं। सृष्टिका सारा सुख क्या है? हमारे मनकी फुर-फुराहट है, इसको पर्याप्त काम बोलते हैं। यह पर्याप्त काम है।

आत्मकामत्वेन परिसमन्ततः आप्ताः कामां यस्य—अपने सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। तो अपनेमें ही जब ब्रह्मलोक है, वैकुण्ठ है, गोलोक है, मैं ही हूँ ब्रज,

मो में बसत या वृन्दावन। मो में ये राधा कृष्ण जुगल अभिराम हैं।

ये बड़े सुन्दर युगल राधा-कृष्ण कहाँ रहते हैं ? कि हमारे भीतर आनन्द कर रहे हैं। लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शंकर हमारे मनमें आराम कर रहे हैं। तो महात्मा तो पर्याप्त काम है। सृष्टिमें जितने आनन्द हैं, बोले—अंगूर खाओ, मुँहमें लो, तब मजा आवेगा। बोले—अंगूर तो हमारे अन्दर फल रहे हैं, ऐसे रसीले हैं महाराज कि जीभपर डालो नहीं और उसका मजा हमको आ रहा है।

बोले—तुम्हारा ख्याली ख्याल तो नहीं है यह ? अरे ख्याली सुख तो नहीं है ? बोले—तुमको जो पैसेका सुख है कि हमारी तिजोरीमें इतने पैसे रखे हैं, यह तुम्हारा ख्याली सुख है कि पैसा कमानेका सुख है ? कि अभिमानका सुख है ? खुशी जितनी होती है, सुख जितना होता है, वह मानसिक ही होता है। इस रहस्यको ज्ञानी लोग जानते हैं और अज्ञानी लोग समझते हैं कि वस्तुमें सुख होता है। मरते हैं।

पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्तु। इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

जो कृतात्मा है—कृतात्मनस्तु। दो हुए—पर्याप्त काम और कृतात्मा— कृतात्मा कौन है ? पर्याप्त काम तो वह है कि जिसकी सारी कामनाएँ अपने आप पूर्ण हो रही हैं और कृतात्मा कौन है ? कि अविद्या लक्षण जो अपर रूप है, उपाधि है, उसका तिरस्कार करके और स्वरूप रूपसे, ब्रह्मरूपसे जिसने अपने आत्माको जान लिया, वह हुआ कृतात्मा।

यह जीवन्मुक्तिकी श्रुति है—

इहैव सर्वे—इहैव माने तिष्ठत्येव शरीर—मरनेके बाद नहीं, ब्रह्मज्ञानमें उधार सौदा बिलकुल नहीं है कि यहाँ तुम हमको दान दे जाओ और परलोकमें तुम्हारा कल्याण करेंगे।

असलमें जिसको देनेका सुख नहीं होता, देते समय जिसको सुख नहीं होता उसको दानके फलस्वरूप स्वर्गसे भी सुख नहीं होगा। जिसको देते समय सुख होता है, उसको स्वर्गमें सुख हो सकता है। लेकिन जिसको देते समय सुख नहीं होता, दबावमें पड़कर बेमनके—अश्रद्ध्या हुतं दत्तं तपस्तमं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ। न च तत्प्रेत्य नो इह। उसने तो यहीं अपना फल खो दिया।

धर्म करनेका, पूजा करनेमें मजा आ रहा है, आहा, क्या सौभाग्यका दिन है कि भगवान्की पूजा कर रहे हैं। क्या आनन्द है कि जीभपर राम-राम-राम आ रहा है। अब वह राम-राम करनेमें इस समय सुख मिलेगा, तब उसका फल सुख होगा। दान करनेमें इस समय सुख मिलेगा, रो-रोकर दान किया तो क्या किया!

मैंने आपको सुनाया होगा कभी, एक सेठ आया वृन्दावन। अब राखीका दिन, एक वहाँकी अध्यापिका थी। वे सेठ सभामें बैठे थे, उसने जाकर राखी बाँध दी। तो सेठजीको आयी शर्म, उन्होंने पूछा—बहनजी आपने राखी बाँध दी हमको, तो क्या चाहिए? कि हमको कुछ नहीं चाहिए। तुम भाई हम बहन, बड़े सुखकी बात है यह तो, अब हम भाई-बहन हो गये। बोली—नहीं बहनजी, तुमने बाँधा तो कुछ तो माँगो। बोली—हमें अपने लिए कुछ नहीं चाहिए।

बोले—नहीं, कुछ तो लो। बोलीं कि अच्छा, हमारा विद्यालय चलता है,

उसकी में अध्यापिका हूँ, उसके लिए तुम इतने हजार रुपये दे दो। भरी सभामें सेठजीने कह दिया कि 'अच्छा देंगे।' ताली पिट गयी।

अब महाराज घर गये तो रोने लगे, पछताने लगे, कि हाय-हाय, आज तो पाँच हजार मैं खो आया। अब मुनीमसे बोले—िक मुनीमजी, कोई ऐसा उपाय करो कि देना न पड़े।

अब महाराज करीब-करीब तीन वर्ष लगा, वह राखी बाँधनेका जो पाँच हजार था, वह लेनेमें उस बेचारी महिलाको। कितनी चिट्ठी लिखनी पड़ी और कितनी बार जाना पड़ा, किसको-किसको कहना पड़ा, पाँच हजार लेनेमें तीन वर्ष लगे।

तो तुम्हें पता ही नहीं कि फल क्या होता है? दान कर्म करनेका जो सुख है वह तत्काल मिलना चाहिए तो ये जो ज्ञानी पुरुष हैं, इस मानसिक रहस्यको समझते हैं और वे जानते हैं इहैव तिष्ठत्येव शरीरे—शरीर जिन्दा है और न धर्मके लिए प्रवृत्ति है और न उसके अनुसार कामना है, सारी कामना उनके अन्दर लीन हो गयी है। इसलिए कामनाका हेतु जो है, अपनी विशेषताका, अपने स्वरूपका अज्ञान। अपनी महिमा, जब मनुष्यके घरमें पाँच लाख रुपया रखा हो, तिजोरीमें है और मालूम न हो और उसे जरूरत पड़ी पाँच रुपयेकी तो वह क्या करेगा? दूसरेके घर माँगने जायेगा।

यह महाराज, सुख माँगनेके लिए जितने लोग विषयके पास जाते हैं कि हमें सुख मिले, कि हे भोग सुख दो, हे मर्द सुख दो, हे औरत सुख दो, हे कपड़ा सुख दो, हे मकान सुख दो। ये सब कौन हैं? कि इनके हृदयकी तिजोरीमें जो राशि-राशि सुखका अपार समुद्र, भण्डार जो भरा हुआ है, उसको नहीं जानते हैं, इसीलिए ये बाहर सुखकी भीख माँगने जाते हैं। अरे तुम्हारी आत्मामें (सुख-ही-सुख है)। यह महात्मा पुरुष जिनकी सारी कामना जल गयी, भस्म हो गयी है, वह तो अपने सुखमें बैठा हुआ है। इसलिए जो इसकी पूजा करता है वह भी, कामनापूर्तिके द्वारा भी और निष्काम होनेके द्वारा भी अपना कल्याण प्राप्त करता है।

अब यह प्रश्न पैदा हुआ कि भाई यह आत्मज्ञान तो बड़ी बढ़िया चीज है, स्वयं तो सुख हो-ही-हो, दूसरेको भी सुख दे सकें। तो आओ फिर जैसे मिलता हो, वही करें। कहो तो हम भी प्रवचन करना शुरू करें, तो हमको भी आतम-ज्ञान हो जायेगा। हम भी सिंहासनपर बैठें। तब बोले—िक जाकर ब्राह्मी बूटी पीयें और खूब बुद्धि बढ़ जायेगी, तब वह आत्मज्ञान मिल जायेगा। अच्छा, काशीमें जाकर वेद विद्याका स्वाध्याय करें।

बोले—उन-उनपाल। सिंहासनपर बैठकर तो ऐसी मूर्खताकी बात की जाती है कि जिससे मूर्खोंकी सृष्टि हो। हम भी सिंहासनपर बैठकर ऐसी बातें करते हैं कि जिससे केवल समझवालोंको ही सुख हो, सो नहीं; मूर्खोंको भी सुख मिले, ऐसी बात करते हैं। आप लोग ऐसे नहीं हो। और कोई-कोई एकाध होवे तो उसमें आप अपनेको गिनना मत। नारायण, प्रवचन करनेसे यह सुख नहीं मिलता और मेधा, ब्राह्मी बूटी पीकर (नहीं मिलता), वह महाराज, बैरिस्टरकी बुद्धिसे, जजकी बुद्धिसे भी नहीं। सुनकर भी श्रुतेन—उससे भी नहीं मिलता। तव यह मिलता कैसे है? आत्मज्ञान कैसे मिलता है? जिसे प्राप्त करके आत्म-ज्ञानी इतने आनन्दमें रहता है और दूसरोंको भी आनन्द देता है, ज्ञानी-अज्ञानी सवको, वह ज्ञान मिलता कैसे है?

अव देखो, इसका उत्तर तीन तरहसे दिया जाता है। शंकराचार्य भगवान्की पद्धित एक है, रामानुजाचार्यकी पद्धित दूसरी है और यह जो (गुरु-शिप्यके) प्रसंगकी संगित है, वह कैसे लगती है (यह पद्धित तीसरी है)। शंकराचार्यका भी ठीक है, रामानुजाचार्यका भी ठीक है और प्रसंगकी जो संगित है उसपर अपनी बुद्धिसे भी थोड़ा ध्यान देना पड़ेगा।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

- (1) एष परमात्मा,
- (2) एष आत्मा,
- (3) एष पर्याप्तकामाः कृतात्मा यमेव शिष्यं वृणुते तेन शिष्येण लभ्यः। अब यह बात आपको कल सुनावेंगे!



प्रवचन : 27, मंत्र-3-4

आत्म-प्रकाश कैसे?

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृण्ते तनुं स्वाम्॥ 3.2.43

प्रथम खण्डके अन्तिम मन्त्रमें (3.1.10 में) यह बात बतायी कि सकाम भावसे भी जो तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी उपासना करते हैं, उनकी सारी कामना पूर्ण होती है। उसका अभिप्राय है कि तत्त्वज्ञानी महापुरुष परमात्मासे परमेश्वरसे एक हो गया है इसलिए वह परमात्माकी उपासनाका सर्वोत्तम स्थल है। और इस द्वितीय खण्डके प्रथम मन्त्रमें यह बात बतायी कि उपासते पुरुषं ये हाकामाः ते शुक्रमेतदितवर्तन्ति धीराः।

इस महापुरुषने ब्रह्मको जान लिया है कि ब्रह्म सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश है और वह अविद्या मायादिसे रहित है। ऐसे तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी जो उपासना करते हैं वे पुनर्जन्मके चक्करसे छूट जाते हैं। कैसी उपासना करते हैं? कि यथा देवे तथा गुरौ—जैसी ईश्वरकी उपासना करते हैं, ठीक उसी भावसे वे गुरुकी उपासना करते हैं अकाम-निष्काम भावसे; वे फिर शुक्रकी मर्यादामें नहीं आते। माने उनको अन्नसे पककर शरीरमें वीर्य बनना और फिर माताके पेटमें जाना यह सब नहीं करना पड़ता है। सन्त, सद्गुरु, तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी उपासनामें यही भाव होना चाहिए कि यह साक्षात् ईश्वर है। जो उपासना करता है वह शुक्र मर्यादा, वीर्य मर्यादाका अतिक्रमण कर जाता है। न तो उसकी संसारमें कहीं प्रीति होती है और न तो माता-पिताकी योनिमें उसको आना पड़ता है।

दूसरे मन्त्रमें यह बात बतायी कि यह नरक-स्वर्गमें जाना है, जन्म-मरण है, ये सब केवल कामीको ही होता है।

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

यह यहाँ-वहाँ भटकना जो है, यह किसके लिए? एक आदमी दिनभर बाजारमें भटके, तो वहाँ कुछ पाना चाहता है, तभी तो भटकता है, बाजार नहीं भटकाता है, पानेकी इच्छा ही तो उसको भटकाती है।

एक स्त्री अगर दिनभर पर्स लेकर इस घरसे उस घर घूमती रहे, तो वह जो घर-घूमनी औरत है, वह कामवश ही तो घूम रही है, कोई तृप्ति तो घूमनेमें होती नहीं है, महात्मा जो है वह पर्याप्त काम और कृतात्मा है।

तो आप्त काम होनेसे समझो अथवा अपने आत्माको ब्रह्मरूप समझ लेनेके कारण सारी कामनाएँ उसकी बाधित हो गर्यी, वर्जित हो गर्यी, आत्म साक्षात्कार हो गया।

तो इस दूसरे मन्त्रमें यह सबसे विलक्षण बात बतायी कि वह शरीरधारी रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओंसे मुक्त हो गया है—ई हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा:—ईहैव शब्दका अर्थ अस्मिन्नेव जीवने—इस शरीरसे जीवनमें रहते हुए ही उसकी कामनाएँ प्रविलीन हो जाती हैं।

इसमें भी एक अद्भुत बात यह है कि दूसरी श्रुति कहती है—अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः। जब मनुष्य अशरीर हो जाता है तो संसारके प्रिय और अप्रिय उसका स्पर्श नहीं करते। दूसरी श्रुति कहती है कि

सशरीरस्य ततः न प्रियप्रिययोः अपहतिः अस्ति।

जबतक मनुष्य सशरीर रहेगा, तबतक यह प्रिय है और यह अप्रिय है— यह भेद नहीं मिटेगा और, भाई शरीर रहेगा तो आगसे जलेगा, बरफसे ठण्डा मालूम पड़ेगा। तो शरीर रहेगा तो प्रिय-अप्रिय भावका निवारण नहीं हो सकता और जब अशरीर हो जायेगा, तब प्रिय और अप्रिय उसका स्पर्श नहीं करेंगे।

यह वेद भगवान् ऐसा बोलते हैं और यहाँ कहते हैं कि एक ऐसा विलक्षण ब्रह्मज्ञानी नामका व्यक्ति आ गया धरतीमें कि वह शरीर रहित भी नहीं है, सशरीर है, जिन्दा है, चलता है, फिरता है, बोलता है, खाता है, पीता है, लेकिन उसकी कामनाएँ प्रविलीन हो गयी हैं। तो कामनाएँ प्रविलीन हो गयी हैं—इसका अर्थ यह होता है कि जब उसने अपनेको ब्रह्म जाना, तो ब्रह्ममें तो प्रकृति ही नहीं है, माया ही नहीं है।

यह प्रकृतिकी सिद्धि होती है देह दृष्टिसे। जो अपनेको देह मानता है, उसके लिए व्यष्टि और समष्टिका भेद होता है, कार्य और कारणका भेद होता है।

वह तो फोटो लेते समय एक कोणसे फोटो लेनेपर जैसे कोई चीज छोटी और बड़ी आती है, वैसे देहाभिमानके कोणपर बैठकर जब हम जगत्के कारणका अनुसन्धान करते हैं, तो वहाँ प्रकृतिकी सिद्धि होती है। और जब देहाभिमान छोड़कर ब्रह्मसे एक होकर देखते हैं तो न जीव न प्रकृति और न जीव प्रकृतिके नियन्ता। नियम्य नियन्ताका कोई भेद ही नहीं सिद्ध होता। तो ऐसी स्थितिमें विषय भी बाधित और विषयोंकी कामना भी बाधित और भोका भी बाधित। तो न कामनाके विषय हैं, न कामना है और न कामी है और ज्ञानीका शरीर भी है और व्यवहार भी है। स्वरूप दृष्टिसे कामी, काम और विषय स्वरूपसे भिन्न नहीं है। इसलिए व्यवहारसे दीखनेवाले जो कामी, काम और विषय हैं, ये उसके स्वरूपमें लीन नहीं, विलीन नहीं, प्रविलीन हो गये हैं।

यह तीन कर दिया। वह देखों काम जो है वह सुषुप्तिमें लीन हो जाता है। सुषुप्तिमें कहाँ कामना रहती है? न काम, न क्रोध, न लोभ, कोई नहीं रहता है। गाढ़ निन्द्रामें तो सुषुप्तिमें, समाधिमें लीन होते हैं और प्रलयमें प्रलीन होते हैं और ब्रह्मज्ञानमें ये क्या होते हैं? लीन भी नहीं और प्रलीन भी नहीं, प्रविलीन होते हैं।

प्रविलीन होते हैं माने व्यवहार दृष्टिमें कामी, काम और विषयके उपस्थित रहते हुए भी, वे तत्त्वदृष्टिसे बाधित होते हैं।

तो यह जो अद्भुत स्थिति है कि मनुष्य जिन्दा भी है और, वह स्वयं ब्रह्म दृष्टिसे, देखो गीतामें क्या बिढ़या बात बतायी, स्थित प्रज्ञका यह लक्षण नहीं बताया कि उसमें काम नहीं होता। क्या लक्षण बताया?

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ जो भोग चाहता है उसे शान्ति नहीं मिलती और तत्त्व-ज्ञानी भोग चाहता नहीं है, भोग उसको चाहते हैं।

'तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे'—तत्त्वज्ञानी रोटीके लिए भटकता नहीं है, रोटी भटकती रहती है कि कब तत्त्वज्ञानी मिले और हम उसके मुँहमें जायें। तत्त्वज्ञानी पैसेके लिए चन्दा करने नहीं जाता है, पैसा ही आता है उसके पास कि हम आपका पाँव छूएं।

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी—यह विषयोंको चाहनेवाला नहीं है, कामनाओंका कामी नहीं है—

कामायं प्रविशन्ति सर्वे—सारी कामनाएँ उसमें आकर प्रविष्ट हो जाती हैं। सबमें यह होड़ लगी रहती है कि हम उसका स्पर्शकर पवित्र हो जाँय। हम उसको छूकर पवित्र हो जाँय। सूर्य चाहता है कि हम अपनी किरणोंसे इस ज्ञानीके शरीरका स्पर्शकर पवित्र हो जाँय। चन्द्रमा चाहता है कि हम इसके ऊपर चाँदनी बरसाकर पवित्र हो जाँय। हवा चाहती है कि हम इसकी सेवा करके कृतार्थ हो जाँय।

तद्वत कामा यं प्रविशन्ति सर्वे—जैसे निदयाँ आती हैं और समुद्रमें लीन हो जाती हैं। समुद्र नदीके पास नहीं जाता है, नदी समुद्रके पास आती है। इसी प्रकार यह ब्रह्मज्ञानी महापुरुष विषय-भोगके पास नहीं जाता है, उसकी दृष्टिमें तो अपनी आत्माको छोड़कर और कुछ है ही नहीं। परन्तु विषय-भोग अपने आश्रय रूपसे, अपने अधिष्ठान रूपसे, अपने साक्षीरूपसे, अपने अभिन्न निमित्तोपादान कारण रूपसे विराजमान जो ब्रह्मज्ञ है, उसका स्पर्शकर धन्य-धन्य होते रहते हैं।

इसीसे श्रुतिने बताया—

जक्षत क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा। वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरित्रदं शरीरम्॥

जीवन्मुक्त महापुरुषकी क्या स्थिति होती है कि जबतक खा रहा है, खेल रहा है, विहार कर रहा है, स्त्रियोंके बीचमें है, यानैर्वा—बड़ी-बड़ी सवारियोंके बीचमें है, वयस्यै:—अपने हमजोलियोंके बीचमें है और यह शरीर बिलकुल उसके साथ, परन्तु उसको कभी यह भ्रान्ति ही नहीं होती कि मैं यह शरीर हूँ। मैं यह शरीर हूँ—यह भ्रान्ति उसके चित्तमें कभी नहीं होती। इसलिए शरीरका खाना, शरीरका पीना, शरीरका चलना, शरीरका विहार करना, इसके साथ उसका कोई सम्बन्ध जुड़ता ही नहीं। वह तो अखण्ड परब्रह्म परमात्मासे बिलकुल एक हुआ।

अब जिज्ञासुने कहा कि महाराज, ऐसे परमात्माका साक्षात्कार तो हमको करना चाहिए, हमको जरूर होना चाहिए। कि हम पापसे छूट जाँय, पुण्यसे छूट जाँय, भोगसे छूट जाँय, जन्म-जन्मान्तरसे छूट जाँय, नरकसे छूट जाँय, अपने स्वरूपमें, अपनी महिमामें प्रतिष्ठित हो जाँय। यह रिथित हमको प्राप्त होनी चाहिए। वह आत्मज्ञान हमको बताओ कैसे होता है? हमको तो आत्म ज्ञान चाहिए।

बोले—भाई! तुमको क्या सूझता है? उसने कहा—महाराज! हमको तो ऐसा सूझता है जैसे आप प्रवचन करते हैं, वैसे इस आसनपर बैठकर हम भी प्रवचन करें। प्रवचन करेंगे तो हमारी आत्मा आपसे मिल जायेगी। उपदेश करनेका शौक होता है कई लोगोंको, उनका नाम होता है कनरसिया। तो कनरसिया दो तरहके होते हैं। एक कनरसिया तो ऐसा होता है जो दूसरेकी आवाज सुनकर खुश होता है और एक कनरसिया ऐसा होता है जो अपनी आवाज सुनकर ही खुश होता है। लाउडस्पीकरपर बोलना पड़े और अपनी बोली हुई आवाज लौटकर अपने कानमें पड़े, तो बोलनेवालेको बड़ा मजा आता है कि देखो, हमारी आवाज कितनी ऊँची, कितनी गम्भीर, कितनी मीठी है।

तो प्रवचनमें बात क्या होती है ? प्रवचन अध्ययन पूर्वक ही होता है। ये जितने वक्ता लोग होते हैं, पहले हमने देखा था, ग्रन्थ छपे थे—व्याख्यान रत्नाकर, व्याख्यान सुधा, प्रवचन श्लोक माला!

प्रवचनमें बोलनेके लिए श्लोकमाला छपी थी। अपने बचपनमें ऐसी पुस्तकें पढ़ी थीं, देखी थीं।

तो जिनको प्रवचन करना पड़ता है, उनको दूसरोंको समझाना पड़ता है और दूसरोंको समझाना पड़ता है तो वे तरह-तरहके ग्रन्थ देखकर तरह-तरहके श्लोक याद करके बोलते हैं। अध्ययन बाहुल्यके बिना प्रवचन नहीं होगा। जो लोग दो-चार व्याख्यान रट लेते हैं, वे कैसे प्रवचन करेंगे?

एक हमारे महात्मा थे, उनक्रो दो व्याख्यान याद थे। एक तीन घण्टेका,

एक छह घण्टे का। तो जब कहीं जाते थे तो पूछ लेते थे कि भाई देखो, तुम कौन-सा व्याख्यान सुनना चाहते हो, हमारे पास दो हैं—एक तीन घण्टेवाला, एक छह घण्टेवाला। कहो तो छह दिनमें छह घंटेवाला सुना दें, दो दिनमें सुना दें, एक दिनमें सुना दें और कहो तो तीन घण्टे वाला तीन दिनमें सुना दें। दो दिनमें सुना दें, एक दिनमें सुना दें।

एक हमारे मस्तराम बाबा आते हैं कभी-कभी। अरे वे तो बता ही देते हैं, भरी सभामें बोलते हैं कि देखो भाई, कोई पैंतीस-छत्तीस व्याख्यान हैं हमारे पास, अब तुम जो कहो सो सुना दें। वे बड़े स्पष्टभाषी हैं। साधु अच्छे हैं, पर स्पष्टभाषी है, दो टूक बात कह देते हैं। बोले—देखो, हम पढ़े-वढ़े नहीं हैं, लेकिन हमको व्याख्यान याद हैं, और कहो तो महीने भर एक-एक नया व्याख्यान रोज दे सकते हैं।

तो अब इस प्रवचनकी बात हम आपको सुनाते हैं, प्रवचनमें अध्ययन बाहुल्य तो होता है, परन्तु उससे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः

महाभाष्यकारने व्यावहारिक जीवनमें चार अवस्था मानी है—स्वाध्याय कालेन, बोध कालेन, आचरण कालेन, प्रवचन कालेन—चार प्रकारकी अवस्था व्यावहारिक जीवनमें आती है—पहले अध्ययन करो, फिर उसका अनुभव करो, फिर उसका आचरण करो और फिर उसका प्रवचन करो।

और पहले ही प्रवचन करने बैठ जाओगे तो? महाराज, आजकल साधु होते हैं, इधर गेरुआ रंगा उधर प्रवचन शुरू। एक व्यक्तिने हमको चिट्ठी लिखी थी, एक-दो वर्ष पहले, कि हम एम.ए.पास होकर आये हैं काशी विश्व-विद्यालयसे और ब्रह्मचारी वेषमें इस समय हैं, दो-तीन महीने हो गये, अब हमारा विचार है कि विदेशमें जाकर धर्म और संस्कृतिका प्रचार करें। तो आप बताओ कि हम कौन-कौन-सी पुस्तक पढ़ लें, तो हम प्रचार करने लग जायेंगे!

अब बताओ उनको धर्म और संस्कृतिके बारेमें तो कोई ज्ञान ही नहीं है, एम.ए, पास होनेसे क्या होता है।

तो जबतक बोध न हो और आचरण न हो, तबतक प्रवचनकी योग्यता नहीं आती, लेकिन यह जो परमात्माका ज्ञान है, इसमें चार काल नहीं है। श्री हर्षने नैषधमें नलकी जो महिमाका वर्णन किया है न—

अधीतबोधाचरण प्रचारणैरमुष्यवाणी रसनाग्रनर्तकी।

—िक, नलकी जीभपर वाणी नाचा करती थी, सरस्वती नृत्य करती थी। अधीतबोध—अध्ययन हो, बोध हो, आचरण हो, तब प्रचार होवे। प्रचार करनेकी योग्यता सबमें नहीं होती है।

बोले—महाराज, प्रचारक जो होता है, वह दासनावान् होता है। इसलिए जब हुकेकी नलीमें-से हवा निकलती है, पानी निकलता है तो गंदला हो जाता है। क्योंकि उसमें धुआँ रहता है। हुकेके पानीमें दुर्गन्ध होती है। क्यों दुर्गन्ध होती है? कि उसमें धुआँ रहता है।

इसी प्रकार वासनावान् जो प्रचारक हैं, उनकी जीभसे, उनके गलेसे, उनके दिलसे निकली हुई जो बात होती है उसमें उनकी वासनाकी गंध आती है। ये वस्तुका निरूपण नहीं करते हैं, उससे कुछ कमाई करना चाहते हैं।

तो प्रवचनसे उस परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। प्रवचन है बड़ा उपयोगी, केवल प्रवचन नहीं, उसके साथ परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा होनी चाहिए।

न मेधया न बहुना श्रुतेन—मेधा खूब तीव्र होवे। कई लोग बड़े-बड़े मेधावी होते हैं।

धीः धारणावती मेधा—धारणावती बुद्धिको मेधा बोलते हैं। संस्कृत भाषामें जो शब्द होते हैं एक-एक अलग अर्थके वाचक होते हैं। जैसे देखों, बुद्धिके वाचक शब्द हैं:—बुद्धिमंनीषाधिष्णा धीः प्रज्ञा शेमुषी मितः। बुद्धिके लिए सात शब्द इकट्ठे दिये, बुद्धिके लिए सात पर्याय हैं लेकिन सातोंका अर्थ अलग-अलग होता है।

तो मेधा क्या है ? जो वस्तुका विश्लेषण करनेमें समर्थ बुद्धि होती है। पिरच्छेदक बुद्धिका नाम मेधा होता है। दो चीजें एकमें मिली हुई मालूम पड़ रही हों, अब देखो, जैसे यह लाउडस्पीकर दिख रहा है तो आँखसे इसका रूप दिख रहा है और यह लाउडस्पीकरमें लोहेका छड़ लगा हुआ है। इसमें लोहा कितना दीख रहा है और हमारी आँखका चमत्कार कितना है, यह दोनों अलग-अलग करना पड़ेगा। लोहारूप द्रव्य क्या है, उसका आश्रित रूप क्या है, जिस रूपका नेत्रके द्वारा दर्शन हो रहा है। तो नेत्रके द्वारा देखे जानेवाला रूप और उस रूपका आश्रय लौह द्रव्य—लौह धातु; और वह लौह धातु भी स्वतंत्र धातु नहीं है, वह पाँच भौतिक है, मृत्तिका प्रधान है। यह लोहा भी

मिट्टी है, एक तरहकी मिट्टी है, यह आगमें जल जाता है। यह सोना नहीं है, मिट्टी है।

तो लोहा द्रव्य क्या है और उस द्रव्यके आश्रित रहनेवाला रूप क्या है और आँखसे लोहा देखा जाता है कि आँखसे रूप देखा जाता है? आँखसे सिर्फ रूप देखा जाता है, आँखसे लोहा नहीं देखा जाता। हाथसे लोहेका कठोर है—यह स्पर्श मालूम पड़ता है। पर यह लोहा है कि यह पीतल है—यह हाथसे नहीं मालूम पड़ता।

तो मेधा किसको कहते हैं ? मेधा उसको कहते हैं कि जो द्रव्यको अलग कर दे, उसके गुणको अलग कर दे, उसमें जो इन्द्रियोंका सम्बन्ध है, उससे अलग कर दे और एक-एक वस्तुका सम्बन्ध विच्छेद करके मेधृ हिंसायाम् चीजको टुकड़े-टुकड़े कर दे; माने जो अनुमानमें, मननमें, युक्ति- प्रयुक्तिमें बडे निपुण हैं, वे मेधावान कहे जाते हैं, मेधावी, उनके लिए मेधावी शब्द है।

परन्तु; कोई बड़ा भारी मेधावी होवे तो क्या उसे आत्माका ज्ञान हो जायेगा? कि नहीं; न बहुना श्रुतेन—बहुत श्रवण करनेसे भी ज्ञान हो गया—यह बात नहीं कही जा सकती।

अब देखो कई महात्मा लोग इस मन्त्रको ऐसे बोलते हैं—

बहुना श्रुतेन—माने श्रवण और मेधा माने मनन और प्रवचन जो होता है वह श्रवण, मनन पूर्वक किये हुए निद्धिध्यासनसे सम्पन्न होता है। इसलिए प्रवचन शब्दका अर्थ यहाँ निद्धिध्यासन है। प्रवचन माने प्रकृष्ट, जो वाणी है, परा वाणीके साथ सम्बद्ध होकर जो मन-ही-मन हम निद्धिध्यासने करते हैं— शिवोऽहम् सोऽहम्—इस प्रकारकी जो उपासना करते हैं।

बोले—इनसे भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। केवल निद्धिध्यासनसे या केवल मननसे या केवल श्रवणसे। मात्र श्रवण, मनन, निदिध्यासन—इनसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

कि तब कैसे होगी? तो-

यमेवैष वृण्ते तेन लभ्यः तस्यैष

आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

अब देखो तीन तरहसे इसका अर्थ आपको सुनाते हैं, पहले श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजका अर्थ आपको सुनाते हैं। वे कहते हैं नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः में जो आत्मा शब्द है उसका अर्थ है परमात्मा। क्योंकि 'लभ्य' है। वह तो प्राप्त नहीं है प्राप्तव्य है, इसलिए आत्मा शब्दका अर्थ है यहाँ परमात्मा। तो अयमात्मा माने यह जो शास्त्रमें वर्णित परमात्मा है, इसको प्राप्त करके ज्ञानी कृतार्थ हो जाता है, वह आत्मा कैसे मिलता है? कि—एष आत्मा परमात्मा यमेव प्रपन्नम् शरणागतं जीवं वृण्तते तेन विरत्ना जीवेन लभ्यः। एष परमात्मा यमेव प्रपन्नं शरणागतं भक्तं जीवं वृण्तते तेन भक्तेन लभ्यः।

जिस भक्तको, प्रपत्रको, शरणागतको भगवान् वरण करता है, पसन्द करता है कि यह हमारे पास आ जाये, तो वह उसके पास आ जाता है।

अब देखो यह सगुण ईश्वरका वर्णन। श्रीरामानुजाचार्य महाराजका नहीं यह सम्पूर्ण वैष्णवोंका, शैवोंका, शाक्तोंका, गाणपत्योंका, सौरोंका—सबका आप यह अर्थ समझो, क्योंकि उनके मतमें ईश्वर सगुण है और उसकी भी पसन्दगी-नापसन्दगी होती है। सगुण ईश्वर किसीको पसन्द करता है और किसीको नहीं करता है। बड़ा स्वतन्त्र है। यह नहीं कि उसे रीझनेके लिए कोई बढ़िया जाति चाहिए।

> का जातिर्विदुरस्य यादवपतेः उग्रस्य किं पौरुषम्। कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं विद्या गजेन्द्रस्य का॥

विदुरजी कौनसे उच्च जातिके थे? उग्रसेनने कौन-सा साधन किया था? क्या दिया था भगवान्को?

तो उसकी पसन्दगी बड़ी विचित्र। राहमें चलते-चलते मथुराकी सड़क पर, कंसकी दासी मिल गयी कुब्जा। कूबड़ निकला हुआ पीछेसे, त्रिवक्रा, सिर तो उसका धरतीकी ओर चला गया, पीठ पीछेको चली गयी और घुटने बाहरको निकल आये—आगेको—त्रिवक्रा, तीन जगहसे टेढ़ी और कंसकी दासी थी, लेकिन कृष्णकी नजर पड़ गयी। बोले—वाह-वाह-वाह, यह हमको पसन्द आ गयी। पसन्द आगयी महाराज तो कुब्जा भगवान्को प्राप्त हो गयी। यह जैसे कोई योगी अपनी कुंडलिनीको टेढ़ी होनेपर भी पसन्द कर ले और उसको सीधा कर दे। त्रिवक्रा, यह त्रिवलीकृत कुंडलिनी शक्ति कैसे चलती है? इडा और पिंगला—ये दोनों सुषुम्रापर गाँठ लगाती हुई चलती हैं और शक्ति टेढ़ी-मेढ़ी चलती है। तो बोले—इसीको पसन्द कर लिया कि आओ इसको सीधा करें, कुंडलिनीका ही जागरण हो जाये। अरे इस सिर्णिको ही प्रेम करो।

कुंडली बाँधकर जो बैठे, कुंडलिनीको सर्पिणी बोलते हैं संस्कृतमें। ज्योतिषी लोग जैसे कुण्डली लपेटते हैं, साँप कुण्डली बाँधकर बैठता है कुण्डलको तरह। तो कुण्डली माने सर्प होता है। देखो प्रेम हो तो है, साँपिनको पसन्द कर लिया कि आओ हम इस कुंडलिनीके साथ ही भिड़ेंगे। उधर कृष्णने कुब्जाको ही पसन्द कर लिया। तो ईश्वरकी पसन्द जातिपर, सम्प्रदायपर, लिंगपर, धर्मपर, योगपर, व्रतपर आश्रित नहीं होती, जिसको ईश्वर पसन्द कर ले खींच ले कि यह हमारी ओर आवे, उसीको मिलता है।

तो देखो श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजके जो अनुयायी हैं, उनसे मिलकर बात की। यदि ईश्वर स्वतन्त्रतासे पसन्द करने लगे तो उसमें वैषक्य नैघृण्य दोष आवेगा, पक्षपात किया, किसीको पसन्द कर लिया और किसीको नापसन्द कर लिया तो उसमें तो विषमता आ गयी, पक्षपात आ गया। एकके प्रति पक्षपात हुआ दूसरेके प्रति निर्दयता हुई। तो यह ईश्वरमें कैसे आया? तो बोले—नहीं—

आनुकूल्यप्रातिकूल्याभ्यां व्यवस्थाः।

श्री रामानुजदास वृन्दावनमें रहते थे, हरदेवजीके मन्दिरमें, रामानुज सम्प्रदायके बड़े अच्छे वेद्य विद्वान् थे। हमारी माताजीने उनसे मन्त्र लिया था वैष्णवी दीक्षा। तो हमने उनसे पूछा तो बोले—नहीं, जब जीव अनूकूल होता है, ईश्वरकी प्राप्तिके लिए उन्मुख होता है, जब चाहता है, तब भगवान् उसको पसन्द करते हैं। अनुकूल होवे तब पसन्द करते हैं और प्रतिकूल होवे, तो कहते हैं अभी जाओ गंगास्नान कर आओ। अनुकूल होवे तो कहते हैं आओ,आओ हमारे मन्दिरमें आ जाओ।

देखो, सत्संग बड़ी चीज है। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास हम लोग बैठे होते, पाँच-सात-दस आदमी और धुआँधार वेदान्तकी चर्चा होती रहती। इसी बीचमें कोई सज्जन एक आ गये। आकर बैठे, प्रणाम किया, बोले—अरे जा-जा-जा रास देखकर आ, यहाँ काहेको बैठ गया! क्या घट पटकी खट-पटमें पड़ते हो! जा, रास देख!

तो जो वेदान्तके अनुकूल हैं, उसके सामने वेदान्तकी बात करते हैं, जो वेदान्तके प्रतिकूल हैं उसके सामने वेदान्तकी बात नहीं करते हैं।

ऐसे जो ईश्वरके अनुकूल है, उसको ईश्वर पसन्द कर अपने पास बुलाता

है और जो प्रतिकूल है उसको कह देता है—अभी थोड़े दिन तीर्थ कर आओ, थोड़ा व्रतकर आओ, थोड़ी यात्रा कर आओ, थोड़ी पूजा कर लो।

अब समझो जो लोग जाड़ेके दिनमें चन्दन लगाकर, ठण्डा-ठण्डा फूल गलेमें डालते हैं न, उनको देखकर मनमें क्या आता है, बतावें आपको । उस समय मनमें आता है कि अभी इनको मन्दिरमें ही पूजा करनी चाहिए, महात्माके पास नहीं आना चाहिए। ठण्ड लग रही हो और गलेमें लाकर कोई ठण्डी-ठण्डी माला डाल दे तो मनमें यही आता है कि अभी इनको मूर्तिपूजा करनी चाहिए, अभी इनको महात्माके पास सत्संग करनेके लिए नहीं आना चाहिए।

सब बात योग्यताकी दृष्टिसे होती है, आनुकूल्यप्रातिकूल्याभ्यां व्यवस्थाः। ठीक है शंकरजीपर हर-हर महादेव करके एक लोटा पानी चढ़ा दो, उनको ठण्ड नहीं लगेगी। अब साधुके ऊपर डाल दो तो निमोनिया हो जाय। तो पूजाकी जो योग्यता है वह भी तो देखनी पड़ेगी।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः—जो भगवान्की ओर चलता है, भगवान् उसका वरण करते हैं। तस्यैष आत्मा—ईश्वर उसका कौन है? कि ईश्वर उसका आत्मा है और, स्वाम् तनुं विवृणुते—कैसे मिलता है? कि अपने आपपर जो पर्दा है उसको हटा देता है कि देखो हम तुम्हारे सामने हैं।

श्री शङ्कराचार्यजी महाराज इसका अभिप्राय ऐसे बताते हैं, यह मन्त्र और जगह भी आया है, केवल यहीं है सो बात नहीं है, दूसरी जगह भी श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने इसकी व्याख्या की है और यहाँ भी की है।

तो यहाँ ऐसे करते हैं व्याख्या—एष साधकः। एष जिज्ञासुः। यमेव परमात्मानम् वृणुते तेन साधकेन तेन वरणेन लभ्यः। जब यह जिज्ञासु सच्चे हृदयसे परमात्माका वरण करता है,

जब तक लड़की स्वयंवरमें रहती है, इनको माला पहनावें कि इनको माला पहनावें, तबतक उस स्वयंवरमें बैठे हुए जो वर हैं, जो लड़के हैं, उनमें— से कौन लड़का ममता करेगा कि यह हमारी पत्नी है। अभी तो उसके हाथमें उसके वरमाला है। अभी तो उधर देखती है। वह ठीक होगा कि वह ठीक होगा, यह सुन्दर है, यह स्वस्थ है,यह धनी है, यह मृदुभाषी है; यह सुशील है, इनमें–से किसे वरण करे? जब सबको छोड़कर वह दृढ़ निश्चयसे एकको वरण कर लेती है तब महाराज, उसके बाद वह उसको मिल जाता है। पहले रिवाज थी ऐसी कि लड़की मन-ही-मन किसीको वरण कर लेती थी कि हमारा अमुकसे ब्याह हो। अभी थोड़े दिनोंकी बात बताते हैं और उसके पास खबर भिजवा देती थी कि देखो हमने मनसे तुमको पसन्द कर तिया, तुम हमारे पित हो।

राजपृतोंका जो इतिहास है उसमें आप एक नहीं हजार दृष्टान्त ऐसा प्राप्त कर सकते हैं। यह भी खबर भेज देती थी, हमारा भाई दूसरेसे ब्याह कर देना चाहता है, हमारा बाप दूसरेसे ब्याह करना चाहता है और अमुक पुरुष भी हमसे ब्याह करना चाहता है, तुम जो ठीक समझो सो करो, मैं तो तुम्हारी।

एक बार अगर लड़की किसीको वरण करले, बोले—अब दूसरेके साथ इसका ब्याह नहीं हो सकता। रुक्मिणीने श्रीकृष्णके पास सन्देश भेज दिया— मैंने तुमको वरण कर लिया, अब मा वीरभागमिभमर्श......—मैं वीरका भाग हूँ, शिशुपाल आकर कहीं मुझे छू न दे, इसकी जिम्मेवारी तुम्हारे ऊपर है। और मैं! शिशुपाल जीता तो मर जाऊँगी और एक जन्ममें नहीं मिलोगे तो सौ जन्ममें मर-मरके तुमको प्राप्त करूँगी, पर प्राप्त करूँगी तो तुमको।

यह वरण है। यह जो जीवके जीवनमें वरण है, अब इस वरणका स्वरूप समझ लो क्या है? अन्यत् सर्व परित्यच्य। एक आदमी आते हैं, कहते हैं— महाराज हम भोगसे भी गये, कर्मसे भी गये, कारखानेसे भी गये और ब्रह्म भी न मिला, हम इस झगड़ेमें न पड़ते तो वह तो हमको मिलता न! नारायण, यह जो उनके मनमें कमजोरी है, इसको कहाँ वे समझते हैं? वे तो कहते हैं न इधरके रहे न उधरके। माने दोनों ओर। उनको मालूम पड़ता है कि जीवनका रस दोनों ओर है।

जिसके लिए जीवनका रस कैवल एक ओर हो जाता है, एकको छोड़कर एक परमब्रह्म प्रत्यक चैतन्याभित्र ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारके सिवाय हमको ब्रह्मलोक, गोलोक,वैकुण्ठलोक नहीं चाहिए, हमको लौकिक, पारलौकिक और अलौकिक कुछ नहीं चाहिए। जबतक वरणका यह रूप नहीं होगा कि हम तुम्हारे सिवाय दूसरा कुछ चाहते ही नहीं हैं और, जबतक धमकी देते हैं कि ये देखो तुम हमारा आदर नहीं करते हो, अब हम तुमको छोड़कर उनके घर जाते हैं। तो क्या हुआ कि भाई आज नहीं तो कल ये नाराज चले ही

जायेंगे, तो आज ही जरा सावधान हो जाओ। तो ईश्वरको धमकी देना कि हे ईश्वर! तुम नहीं मिलोगे, तो हम विषय सेवन करने लग जायेंगे और संसारसे सम्बन्ध जोड़ेगे।

बोले—बाबा, अभी तुम्हें दोनों ओर मजा मालूम पड़ता है, तो उधर ही ठीक रहेगा।

ईश्वर कहता है अभी उधर ही ठीक रहेगा, इधर आकर विक्षेप मत करो। तो, यमेवैष वृण्ते एष साधकः यमेव परमात्मानं वृण्ते तेन साधकेन लभ्यः। तेन वरणेन लभ्यः। इसी जिज्ञासुके द्वारा वह प्राप्त होता है, इसी वरणके द्वारा वह प्राप्त होता है।

कैसे प्राप्त होता है ? असलमें ईश्वर कोई दूसरा नहीं है-

तस्य एष आत्मा:। वह जो ईश्वर है वह जबतक अज्ञात है, तबतक पराया मालूम पड़ता है और जब ज्ञात होता है, तब अपना स्वरूप मालूम पड़ता है। किसे मालूम पड़ता है कि ईश्वर गोलोक, साकेत, वैकुण्ठमें हमसे दूर रहता है या निराकार रहता है या अन्तर्यामी या ऐसा रहता है वैसा रहता है, वह कबतक? जबतक ईश्वर जाना नहीं गया। जहाँ अज्ञानका पर्दा हटा वहाँ तो मालूम पड़ता है अरे नारायण! यह तिलकी ओटमें पहाड़ छिपा हुआ। ऐसी कोई चीज हो सकती है जिसमें ईश्वर न हो? ऐसी कोई जगह हो सकती है, जहाँ ईश्वर न हो? ऐसा कोई समय हो सकता है जहाँ ईश्वर न हो?

तस्य एष आत्मा। यह तो जिज्ञासुकी आत्मा ही है। तब क्या होता है कि वरण करते ही स्वां तनुं विवृणुते—वरण करते ही वह अपने आपको बिलकुल विवरण कर देता है। विवृणुते माने विवरण माने खुलाकर देता है।

बँधेसे बन्दा खुलासे खुदा।

जो बँधा हुआ है उसका नाम बन्दा है, और जो खुला हुआ है उसका नाम खुदा है। खुलासे खुदा। खुदा कौन? जो खुला है, उन्मुक्त है। विवृणुते तनुं स्वा—अपने शरीरके ऊपर कोई पर्दा नहीं रहने देता, सारे पर्दे हटाकर मिलता है।

अब आपको इस मन्त्रका तीसरा भाव सुनाता हूँ। यह भी महापुरुषसे सुना हुआ भाव है।

ये महारपुरुष भी जिन्होंने बताया हमारे बड़े श्रद्धेय महापुरुष थे। उन्होंने

कहा—देखो, यह जो प्रसंग है, मुण्डक उपनिषद्में जहाँसे प्रारम्भ हुआ-यं यं लोकं मनसा संविभाति—अपना कल्याण चाहो तो आत्मज्ञानी जो है वह पर्याप्त काम है उसकी सारी कामनाएँ लीन हो गयी हैं। तो यह आत्मज्ञानीका वर्णन है। तो यहाँ एप पद जो है वह न साधकके लिए और न ईश्वरके लिए। त्वं पदार्थ प्रधान कहो तो साधकके लिए और तत् पदार्थ प्रधान कहो तो ईश्वरके लिए। उनका कहना था कि यहाँ 'एष' पद गुरुके लिए है आचार्यके लिए है।

वहीं जो तत्त्वज्ञानी पर्याप्तकाम कृतात्मा, विशुद्ध सत्त्व, जिसकी उपासना करनेसे सारी कामनाएँ पूरी होती हैं और निष्काम होकर उपासना करनेसे मुक्ति मिलती है, वहीं

एष पर्याप्त कामः कृतात्मा महात्मा यमेव शिष्यं वृणुते। तेन वरणेन। तेन शिष्येण। तेन वरित्रा लभ्यः।

ये गुरुदेव महाराज वरण कर लें। चुन लें। इसमें भी चुनाव होता है। चुनाव क्या होता है? कि असलमें महात्मा लोग इसको जानते हैं। यह प्रचारकोंका रहस्य नहीं है और इस बातको प्रचारक लोग नहीं जानते हैं। यह दुनियामें जिसको धन कहते हैं, वह भी परमात्मा है इसको महात्मा लोग जानते हैं और, जिसको भोग बोलते हैं, काम बोलते हैं वह भी परमात्मा है, इसको महात्मा लोग जानते हैं और जिसको धर्म-कर्म बोलते हैं वह भी परमात्मा ही है, इसको भी महात्मा लोग जानते हैं और जिसको मोक्ष कहते हैं वह भी परमात्मा ही है। परमात्माका ही नाम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये सब परमात्माका ही नाम है।

तो जब कोई भी संसारी मनुष्य अर्थ नामवाले परमात्माको प्राप्त करनेके लिए आता है कि हमको धनके रूपमें परमात्मा मिले, वहींसे हमको सुख मिले, हमको धनका दर्शन होवे, धन मेरा होवे। हमको धनका तो दर्शन होवे और मेरा बन जाये, कोई कहता है हमको कृष्णका-दर्शन हो जाये, कृष्ण मेरा बन जाये। वह कहता है हमको कृष्णसे सुख होता है, वह कहता है हमको धनसे सुख होता है। तो एक आदमी कृष्ण नामवाले परमात्माका दर्शन, उससे ममता और उससे सुखी होना चाहता है और एक आदमी धन नामवाले परमात्माके दर्शन और ममता और उससे सुख पाना चाहता है। तो वह परमात्माको पहचानता नहीं है, इतना दोष तो है भला, और इतना दोष तो सब जगह है,

लेकिन असलमें धनके रूपमें भी परमात्मा, भोगके रूपमें भी परमात्मा मोक्षके रूपमें भी परमात्मा, सुषुप्तिके रूपमें भी परमात्मा, समाधिके रूपमें भी परमात्मा विक्षेप रूपमें भी परमात्मा और मल रूपमें भी परमात्मा है।

महात्माने तो परमात्माका रहस्य ही जान लिया। तो जब कोई आदमी यह कहता आता है कि हमको तो यह सन्तरा चाहिए तो कहता है-ले सन्तरा। वह परमात्मा है। महात्मा जानता है कि हम इसको सन्तरा नहीं दे रहे हैं, हम इसको परमात्मा दे रहे हैं। वह इसको सन्तरा समझता है, हम इसको परमात्मा समझते हैं। इस लिए अर्थ चाहनेवालेको वह मना नहीं करता। कह देता है भाई यह काम करो तुम्हें अर्थ मिलेगा, अर्थके रूपमें ईश्वर मिलेगा। तुमको धर्मके रूपमें मिलेगा, भोगके रूपमें मिलेगा, मोक्षके रूपमें मिलेगा जो असलमें ईश्वरको चाहेगा उसको ईश्वर मिलेगा। ईश्वर कोई ऐसी सस्ती चीज है कि जो न चाहे उसको भी मिला दे। व्यापार न करे और धन मिला दे, ब्याह न करें और भोग मिला दे। यज्ञ न करे और धर्म मिला दे और परमात्मा मिला दे। कि इसकी जरूरत महात्माको नहीं होती, क्योंकि जो जहाँ है वह वहाँ असलमें परमात्मामें है, तुम रोओ कि मैं तो दु:खी हूँ और महात्मा कहेगा अरे परमात्मा! तुम तो साक्षात् ब्रह्म हो, सिच्चदानन्द स्वरूप।

'परमानन्द स्वरूप तू नहिं तोमें दु:ख लेश।'

तू तो परमानन्द स्वरूप है, तुममें दुःखका लेश नहीं है। नारायण, यह रोना भी तेरा एक लीला है। यह रोता है यह भी आनन्दकी एक अभिव्यक्ति है आज तेरी मौज ऐसी आगयी है कि मैं रोके अपना सुख प्रकट करूँ। यह रोना भी सुखकी एक अभिव्यक्ति है।

प्रचारक लोग कहते हैं यह सही है और यह गलत है। प्रचारक जो होते हैं वे द्वन्द्व भावका प्रचार करते हैं और महात्मा जो होता है उसकी सबमें आत्मबुद्धि, आत्मदृष्टि निरन्तर बनी रहती है। इसीसे आचार्यमें और अवधूतमें फर्क होता है। इसीसे एक मण्डलेश्वरमें, एक मठाधीश्वरमें और एक फक्कड़ अवधूतमें फर्क होता है। फक्कड़ अवधूत जो है, उसके पास कोई ब्रह्मज्ञानके लिए आवे तो ब्रह्मज्ञान बतावेगा और मण्डलेश्वर और पीठाधिपति गाँवमें जायेगा, पर्चा बँटवायेगा, लाऊडस्पीकर लगावेगा, कहेगा तुम बड़े दु:खी हो और तुम जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए हो, आओ-आओ हम तुमको रास्ता बताते हैं। तो प्रचार करनेवाले और फक्कड़ अवधूतमें क्या फर्क होता है, यह इससे समझमें आता है।

महात्माकी दृष्टिमें सब परमात्मा है जो जहाँ है, जैसे है। मरता हुआ भी परमात्मा है, कराहता हुआ भी परमात्मा है, दु:ख भोगता हुआ भी परमात्मा है, रोता हुआ भी परमात्मा है। परमात्माके सब रूपोंको महात्मा जानता है।

उसने तो असली अधिष्ठानको ही पहचान लिया और प्रचारक लोग क्या करते हैं कि यह ईश्वर है और यह नहीं है-यह विवेक करवाते हैं। तो तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्। जब गुरु पसन्द करता है कि हाँ भाई, यह तो सचमुच परमात्माको पाना चाहता है, तब वह अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है—अरे बाबा, जैसे तू साढ़े तीन हाथ वाला शरीर वैसा मैं भी! तुझको लगता हूँ? कि हाँ!

देख! मैं तुझको साढ़े तीन हाथका शरीर लगता हूँ और मैं ब्रह्म हूँ; ऐसे ही तू अपनेको भी देख कि साढ़े तीन हाथका शरीर लगता है और परमात्मा है ब्रह्म।

मैं खाता हुआ परमात्मा, बोलता हुआ परमात्मा, चलता हुआ परमात्मा, मैं सब व्यवहार करता हुआ परमात्मा तू सब व्यवहार करता हुआ परमात्मा क्यों नहीं हो सकता? तो विवृणुते तनुं स्वाम्—ये महात्मा लोग जो अपने शरीरपर, अपनी आत्मापर एक पर्दा डालकर रहते हैं, सबके सामने अपनेको जाहिर नहीं करते। तो जब देखते हैं कि हाँ भाई, यह तो योग्य पुरुष है, यह सचमुच ब्रह्मको चाहता है और ब्रह्म होने योग्य है तो वे उसके सामने अपने आपको खोल देते हैं।

> नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ 3.2.4

ये जो आत्मदेव हैं—'अयमात्मा बलहीनेन न लभ्यः।' देखो निष्ठाके बिना बल नहीं आता। एक जगह जबतक जमोगे नहीं, जैसी हवा आयी ऐसे बह गये, भोगी आये तो भोगी, योगी आये तो योगी, रोगी आये तो रोगी, जैसी हवा आयी ऐसे बह गये। दिन भरमें सत्रह बार खुश होते हैं, इसका अर्थ है कि एक जगह टिके रहनेके लिए बल नहीं है तुम्हारे अन्दर। तो बलहीनका अर्थ होता है आत्मिनष्ठा जिनत जो वीर्य है; वीर्य है माने हवा कैसी भी बहे, हम तो महाराज बिलकुल दीवारके अन्दर चट्टानकी तरह बैठे हुए हैं, हिला कोई नहीं सकता। जब कोई निष्ठा ही नहीं, मन ही डावाँडोल हो गया, तब मनुष्यको क्या प्राप्त होगा?

देखो, जहाँसे तुम हटते हो वहाँ परमात्मा है। तो जब तुम हटते हो तो परमात्मासे ही हट जाते हो। तुम्हारे हृदयमें परमात्मा है, अब हृदयमें-से हटे, बोले—न-न, परमात्मा कहाँ रहता है? बोले—बकरेमें रहता है। कुत्तेमें रहता है। घोडेमें रहता है। नारायण कहो, स्त्रीमें रहता है। पुरुषमें रहता है।

अब तेरे दिलमें क्या रहता है? उसके दिलमें परमात्मा रहता है, तेरे दिलमें शैतान बैठा है? जिससे तुम प्रेम करते हो उसमें परमात्मा रहता है और तुम्हारे दिलमें शैतान बैठा हुआ है? तो यह मोहब्बती लोगोंने क्या किया? कि दूसरेके दिलमें ईश्वर बैठा दिया और अपने दिलमें शैतानको बैठा लिया।

अरे भाई दूसरेके दिलमें परमात्मा है तो तुम्हारे दिलमें भी तो है, उसको क्यों नहीं देखते ? तो अपने दिलमें बैठनेका बल नहीं है।

बल किसमें होता है? जो त्यागकर सकता है। जो भोगका त्याग कर सके, धनका त्यागकर सके, कर्मका त्यागकर सके, उसके अन्दर बल होता है। जिसके अन्दर बल नहीं है वह परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता। बोले—बाबा, देखो यह बेटा है, यह हाथी-घोड़ा है, यह विषयासिक है।

एक आदमीने कहा कि महाराज बस एक सन्तान हो जाये, तो हम सब कुछ छोड़कर संन्यास लेना चाहते हैं। सन्तान हो गयी ईश्वर कृपासे।

बोले—महाराज! अभी तो बहुत छोटा है थोड़ा पढ़-लिख जाये।

पढ़ लिख गया। यह हुआ अब इसका ब्याह कर दें। अब तैयार। ब्याह हो गया। तो बोले—महाराज अभी तो इनको संसारका कोई अनुभव नहीं है, जरा नाती भी हो जाय।

अब नाती-पोता हो गया। तो बोले—अब तो शरीर वृद्ध हो गया, अब तो तपस्या करनेकी शक्ति नहीं है, अब तो सेवक चाहिए। मर गये।

ऐसे नहीं बनता। एक आदमीने अपने ससुरको चिट्ठी लिखी कि आज

हम संन्यासी होने जा रहे हैं, तुम्हारी इच्छा हो मिलनेकी, तो आकर हम लोगोंसे मिल जाओ। अब सासने सुना तो वह रोने लग गयी कि हमारी बेटी पतिके बिना कैसे रहेगी और हमारा जमाई साधु हो जायेगा, हाय-हाय मैं तो मारी गयी।

अब वह जो ससुर था, उसने कहा कि तुम रोओ मत मुत्रीकी माँ। क्यों ? कि वह हमारा जमाई साधु होनेवाला नहीं है। क्यों नहीं होनेवाला है ? बोले—ऐसे साधु हुआ ही नहीं जाता। कैसे साधु हुआ जाता है ? कि तुमको बतावें! बोली—हाँ, बताओ कैसे साधु हुआ जाता है ? ऐसे हुआ जाता है, देखो, मुत्रीकी माँ, तुम मेरी भी माँ हो और मैं तुम्हारे पाँव छूता हूँ और अब मैं संन्यासी होकर जा रहा हूँ। अब वह जमाई तो सासका भी पालन करनेके लिए, अपनी पत्नीका भी पालन करनेके लिए घरमें रहे और वह ससुर साधु हो गया।

नारायण, इसके लिए प्रमाद उसके लिए प्रमाद, इससे ज्ञान नहीं होता। तपसो वाप्यलिङ्गात्—बोले तप तो बहुत करते हैं, लेकिन त्याग नहीं है। अलिङ्गात् तपसा—लिंग क्या है? लिङ्ग त्याग है।

लिङ्गं चिह्नेऽनुमाने च सांख्योक्त प्रकृताविष।
शिवमूर्ति विशेषेऽिष मेहनेऽिष नपुंसकम्॥
यह लिंग शब्द संन्यासका वाचक है। संन्यास माने प्रदीप्त अन्तर्दृष्टि।
ज्ञान ऐसा चाहिए कि अपने ज्ञानके प्रकाशमें देखा हुआ जो असत है
उसको छोड़ सकें। जो-जो ज्ञानके प्रकाशमें जाना जाये, उस विनाशी
विषयको, उस जड़ विषयको, उस दुःखद विषयको छोड़ सकें।

ज्ञान, माने त्याग युक्त जो ज्ञान होता है, वह सफल होता है। और त्यागसे रहित, संन्याससे रहित जो ज्ञान है, वह सफल नहीं होता।

एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान्

अब देखो श्रवण करना चाहिए, लेकिन आत्माका वरण हो—यह साधन हो गया। मनन होना चाहिए, लेकिन आत्माका वरण हो। निर्दिध्यासन और प्रवचन होना चाहिए, परन्तु आत्माका वरण हो। सद्गुरुकी प्रधानता होनी चाहिए, परन्तु आत्माका वरण हो। आत्माका वरण हो और साथ-ही-साथ निष्ठाकी दृढ़ता होवे, दूसरेमें आसिक न होवे और ज्ञान समर्थ होवे, अपने जाने हुए असत्का त्याग करनेमें ज्ञान समर्थ होवे। इन उपायोंसे जो प्रयत्न करता है। (उसे परमात्माकी प्राप्ति होती है)। अरे परमात्मा दूसरा कुछ नहीं, अपने अज्ञात आत्माका नाम परमात्मा है। जो हम अपने आपको अनन्त ब्रह्म रूपसे नहीं जानते हैं, इसीसे ईश्वर अप्राप्त हो रहा है। अपने आपको जब जानोगे न, तो तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।

अरे यह आत्मा तो उसीका है, दूसरेका है ही नहीं। यह आत्मा ज्ञानसे अविद्याका विधूनन करके परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है। सो यदि आप चाहते हो कि हमको परमात्मा मिले, उसमें प्रवेश होवे जल्दी, तो ज्ञान ऐसा चाहिए जिससे जाने हुए विषयका परित्याग किया जा सके और स्त्री-पुत्रादिके कारण आत्मज्ञानमें प्रमाद नहीं होवे और निष्ठा ऐसी होनी चाहिए कि उसमें एक जगह टिके रहनेकी दृढ़ता होवे। और, श्रवण, मनन निदिध्यासन ऐसा होना चाहिए जिसमें आत्माका वरण, आत्मिजज्ञासा, आत्म-प्रार्थना होवे और गुरुकी प्रसन्नता होवे। इसीसे महापुरुषोंने परमात्माको प्राप्त किया है।

सं प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः

कुतात्पानो वीतरागाः प्रशान्ताः।

ते सर्वगं सर्वत: प्राप्य धीरा

युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ 3.2.5

इसीको प्राप्त करके जो ऋषि हैं वे ज्ञान तृप्त हो जाते हैं—कृतात्मा, वीतराग प्रशान्त।

यह महात्माका वर्णन है। आगे महापुरुषका बड़ा विलक्षण वर्णन आ रहा है।

अब वह आपको फिर कल सुनावेंगे!



प्रवचन : 28, मंत्र 5-6

ब्रह्मज्ञानीकी महिमा-3 जीवन्मुक्ति एवं क्रममुक्ति

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः

कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्यधीरा

युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ 3.2.5

मुख्यतः पर्याप्तकाम कृतात्मा ब्रह्मवित्की महिमाका वर्णन करनेके लिए है। तीसरे मुण्डकके प्रथम खण्डमें ही इसका बीज डाल दिया था कि सकाम पुरुष यदि आत्मज्ञानीकी पूजा करें तो उनको विभूति मिलती है। भौग चाहनेवाला सकाम पुरुष ब्रह्मज्ञकी उपासना करके प्राप्त कर लेता है।

दूसरे खण्डमें बताया कि अकाम पुरुष यदि परमात्माकी, उस ब्रह्मज्ञानीकी उपासना करे तो वह शुक्रका अतिक्रमण कर जाता है, माने पुनर्जन्मसे मुक्त हो जाता है।

तो दूसरे खण्डके दूसरे मन्त्रमें यह बात बतायी कि जो पर्याप्त है, कृतात्मा है, मरनेके बाद उसकी कमनाएँ नष्ट होती हों सो नहीं, जीवन कालमें ही सम्पूर्ण कामना और विषयोंसे भी उसका अभेद हो जाता है।

इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः। सर्व कामना बाधित होकर जैसे अध्यस्त अधिष्ठानसे अभिन्न होता है, वैसे तत्त्वज्ञानीको अपने स्वरूपमें सम्पूर्ण जगत् बाधित है और यही उसकी जीवन्मुक्ति है। फिर बताया कि यह आत्मज्ञानी जो है यह जिसको वरण कर लेता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है। प्रवचन, मेधा अथवा बहुश्रुत होनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। बहुत श्रवण करनेसे, बहुत मनन करनेसे, बहुत निदिध्यासन पूर्वक प्रवचन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

> यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः। एष पर्याप्तकामः कृतात्मा महापुरुषः यमेव शिष्यं वृणुते तेन लभ्यः।

यह अपने जिस शिष्यको पसन्द कर ले, यह ब्रह्मज्ञानीकी महिमा है कि वह जिसके ऊपर दृष्टिपात कर दे, वही मुक्त हो जाय।

फिर बताया कि ज्ञान ऐसा होना चाहिए जिसमें बल हो और संसारकी उपेक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसमें त्याग हो। ज्ञान ऐसा होना चाहिए जिसमें लिंग हो। इन उपायोंसे जो विद्वान् प्रयत्न करता है, समर्थ ज्ञान होना चाहिए, तत्काल अविद्याकी निवृत्तिमें समर्थ ज्ञान हो, कमजोर ज्ञान नहीं। कमजोर ज्ञान क्या होता है? जैसे हम संसारियोंके कमजोर ज्ञानका उदाहरण बताते हैं। वे समझते हैं कि झूठ बोलना बुरा है। यह ज्ञान है न उनको कि झूठ बोलना बुरा है। यह ज्ञान है न उनको कि झूठ बोलना बुरा है। तो यह कमजोर हो गया। क्यों कमजोर है? कि जरा-सा मतलब आया और झूठ बोलने लगते हैं, अपने ज्ञानका तिरस्कारकर दिया और मतलबका आदरकर लिया। तो उनका ज्ञान कमजोर हो गया और स्वार्थ बडा हो गया।

अच्छा ज्ञान यह है कि ब्रह्मचर्य बहुत उत्तम, लेकिन जब कोई प्रसंग आया तो अपने ज्ञानके विपरीत ब्रह्मचर्यका भंग कर दिया। तो क्या हुआ ? कि ज्ञान कमजोर हो गया और भोग बलवान हो गया।

तो ज्ञान चाहिए समर्थ। माने जिस विषयका ज्ञान होवे, उसमें इतनी दृढ़ता होवे कि ज्ञानके विपरीत जो वस्तु है वह ज्ञानपर काबू न पा ले। तो ब्रह्मज्ञान समर्थ कैसे होता है? जो अविद्याके निवारणमें समर्थ है। जिसके बाद अपनेको कर्ता मानकर कुछ कर्तव्य न उभर आवे। जिसके बाद अपनेको भोक्ता मानकर कुछ भोक्तव्य सिरपर सवार न हो जाय। क्योंकि जब अविद्याकी निवृत्ति हुई तो कर्त्ता और कर्तव्य, भोक्ता और भोक्तव्य, प्रमाता और प्रमेय— (सदंशमें विवर्त है कर्त्ता कर्त्तव्य और आनन्दांशमें विवर्त है भोक्ता और भोग्य

आंर चिंदण में विवर्त है प्रमाता और प्रमंय) अद्वितीय आत्मतत्त्वकं ज्ञानसं जय अविद्याकी निवृत्ति हुई ये तीनों जुगल बाधित हो जाते हैं। ये तीनों द्वन्द्व हैं — कर्ता और कर्मका द्वन्द्व ब्रह्मचारी है, भोक्ता और भोग्यका द्वन्द्व गृहस्थ हैं और प्रमाता और प्रमेयका द्वन्द्व वानप्रस्थ है और यह तुरीय संन्यासाश्रम हैं — ज्ञान संन्यास इसको बोलते हैं। यह कर्म संन्यास नहीं है, यह क्रम संन्यास नहीं है, यह बुढ़ापेका संन्यास नहीं है, यह कर्मकाण्डका संन्यास नहीं है, यह ज्ञानका संन्यास है। इसमें चोरी कटौती नहीं करते। इसमें जनेऊ रहे कि नहीं रहे, इसमें कपड़ा लाल होवे कि नहीं होवे इसमें विरजा होम होवे कि नहीं होवे, इसकी जरूरत नहीं पड़ती। इसका नाम विद्वत्–संन्यास होता है। इसका नाम संन्यास होता है, प्रदीप्त अन्तर्दृष्टि।

आपको सुनाया होगा, एक बार मैं एक महात्माके पास दो-तीन महीने रहा। तो सुनाया उनको ग्यारहवाँ स्कन्ध भागवतका, रासलीला सुनायी, सातवाँ स्कन्ध सुनाया भागवतका। तो जब पूरा हो गया तो बोले—िक आओ तुमको दक्षिणा दें।

यह बात सन् इकतीस बत्तीसकी है, उसके पाँच-चार वर्षके बाद तो मैं 'गीता प्रेस' में गया था। और गीताप्रेसमें वर्ष बरस रहनेके बाद, तब संन्यास लिया था। तो जिस दिन संन्यास वेशका ग्रहण किया था, उससे कम से-कम ग्यारह वर्ष पहलेकी बात यह है जो सुना रहा हूँ।

बोले—आओ दक्षिणा दें। उनके पास कौपीनके सिवाय और तो कुछ था ही नहीं, दक्षिणा क्या देते?

एकान्तमें ले गये, बोले—'दिक्षणा ज्ञान सन्देश:।' ज्ञानका उपदेश करना यही दिक्षणा है। यह ज्ञान है, बोले—'देखो नारायण! तुम ब्रह्म हो। तुम अपनेको कभी जीव नहीं मानना!' पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दु:खी, जन्मान्तरमें जानेवाला, लोकान्तरमें जानेवाला और परिच्छिन्न—ये चार बात जो अपनेमें मानता है उसको जीव कहते हैं। जो कर्मसे अपनेको पापी-पुण्यात्मा मानता है और भोगसे अपनेको सुखी-दु:खी मानता है और अन्तःकरणके गमनागमनसे अपना गमनागमन मानता है और अपनेको किसी कारणसे परिच्छिन्न मानता है, करणसे परिच्छिन्न मानता है, कारणसे परिच्छिन्न मानता है, ये चार बात जो मानता है उसको जीव कहते हैं।

तो उन्होंने कहा—बस हमारी दक्षिणा तुम यह आज स्वीकार करो कि तुम ब्रह्म हो, मानो, बोलो कि मैं ब्रह्म हूँ। और अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी दु:खी, संसारी माने आवागमन वाला, संसारी माने नरकमें, स्वर्गमें, पुनर्जन्ममें जाने-आनेवाला और परिच्छित्र आजसे अपनेको मत मानना। और बोलां संन्यासका मन्त्र और उन्होंने मुझसे संन्यासका मन्त्र बुलवा दिया, प्रेपोच्चारण करवा दिया। अब मैं आप लोगोंको नहीं करवाऊँगा। उसके एक उच्चारण करनेके बाद फिर संन्यासी हो जाता है। तो उन्होंने हमको उच्चारण करवाया और बोले कि देखो चाहे घरमें रहो, चाहें बाहर, कपड़ा चाहे लाल पहनो, चाहे सफेद, आजसे तुम नारायण हो, साक्षात् ब्रह्म हो। अपनेको जीव कभी मत मानना। और देखो जब वह सन् इकतीस रहा हो तो अब पैतीस वर्ष हो गया, एक बात मैं कह सकता हूँ कि उसके बाद तबसे अबतक जो उन्होंने चार वात मना की थी, अपनेको कर्ता नहीं मानना, भोक्ता नहीं मानना, संसारी नहीं मानना और परिच्छिन्न नहीं मानना—इन चारों बातोंकी मान्यता हमको स्वप्नमें भी नहीं आयी है, यह बात आपको स्पष्ट रूपसे बता रहा हूँ कि ये चारों बात अपने चित्तमें, स्वप्नमें भी नहीं आयी कि मैं कर्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छित्र जीव हूँ। तो हमारा असली संन्यास हुआ था सन् इकतीसमें और वेशका जो संन्यास है यह हुआ सन् ब्यालीसके प्रारम्भमें जनवरीमें।

तो महात्मा लोग—संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः ऋपि लोग जव परमात्माको प्राप्तकर लेते हैं, तो ज्ञानसे तृप्त हो जाते हैं। ऋषि माने ऋषि दर्शनात् ऋषिको ऋषि क्यों कहते हैं? क्योंकि वह देखता है। स्तोमान्ददर्श— यह निरुक्तमें ऋषि शब्दकी जो व्युत्पत्ति है, उसको मन्त्र दिखायी पड़ने लगे।

एक ऋषि बैठा तो क्या देखता है कि मन्त्र बोल रहा है—संप्राप्येनमृषयो ज्ञानतृप्ताः मन्त्र बनाये नहीं जाते, मन्त्र बने बनाये दीखते हैं। तो पहलेसे जो मन्त्र हैं उनका दर्शन होता है और उनका जिनको दर्शन होवे, उनको ऋषि बोलते हैं। यह बात सामान्यरूपसे लोगोंको मालूम नहीं होगी। हमको स्वप्नमें शार्दूलिवक्रीड़ित, स्नगवी, मालिनी, शिखरिणी वृत्तके जो छन्द हैं बड़े-बड़े जो न कभी किसी पुस्तकमें पढ़े न कभी सुने, संस्कृतके ऐसे शुद्ध श्लोक स्वप्नमें बोले जाते हैं, मेरे मुँहसे कि जागनेपर जब याद आते हैं और उसको कभी हम

तिख लेते हैं, तो श्लोक वह बिलकुल निर्दोष होता है। तो वह तो न कर्भा सुना हुआ है न पढ़ा हुआ है। एक कविका जन्म हो जाता है स्वप्रमें और वह काव्यकी रचना करता है।

नारायण! ये जो महात्मा लोग हैं, ऋषि लोग हैं ये अनादि कालसे जो मन्त्र ही विद्यमान हैं सृष्टिकी धारामें, वैखरी वाग्धारामें नहीं, मध्यमा वाग्धारामें नहीं, कुछ पश्यन्ति वाग्धारामें और कुछ परा वाग्धारामें जो अनादि कालसे मन्त्र प्रवाहित हैं. जब अपनेको तटस्थ, ब्रह्म आत्माके रूपमें जानते हैं, तब वह तटस्थ ब्रह्मात्मा जो है वह वाग्धारामें प्रवाहित मन्त्रको देखता है। इसको योलते हैं ऋषि।

एनम् संप्राप्य—वे उस परमात्माको प्राप्तकर ज्ञानतृषाः ज्ञानसे तृष्त हो जाते हैं। ज्ञानसे तृष्त होनेका अर्थ क्या है?

तेनैव ज्ञानेन एव तृष्ताः। लोगोंकी तृष्ति कैसी होती है? तृष्ति माने खानेके वाद जो डकार आती है—सो नहीं, आहाहा! पेटपर हाथ फेर लिया और बोले—तृष्त। इसका नाम तृष्त नहीं होता। खीर खानेसे जो तृष्ति होती है, हल्वा खानेसे जो तृष्ति होती है, वह तृष्ति देहको बढ़ानेवाली है। वह शरीरके उपचयका कारण है, उससे शरीर बढ़ता है। तो ज्ञानसे ही तृष्त है—इसका अभिप्राय यह है कि बाहरी किसी भी वस्तुके बिना अपना जीवन प्रीतिमय हो रहा है। जैसे ज्ञानको नजरसे सब दिखता है, अद्वितीय अधिष्ठान और अद्वितीय अधिष्ठान देखनेसे जो भेद भावकी निवृत्ति होकर, राग-द्वेषकी निवृत्ति होकरके समत्वरूप तृष्ति होती है, वह जीवन्मुक्तमें हमेशा विद्यमान रहती है।

कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः — कैसे होते हैं ? सो बताते हैं कि अविद्या किल्पत जो अनात्मरूप है, उसका अपनयन कर नित्यसिद्ध पररूपमें ही निष्पन्न हैं।

वह अविद्या किल्पत माने गूर्खतासे माना हुआ। इसके बारेमें वेदान्तमें दो मत हैं। एक तो मूर्खताको ही अविद्या कहते हैं और एक मूर्खताके कारणको अविद्या कहते हैं। यह तूलाविद्या और मूलाविद्या शब्दका मूल अर्थ क्या है? अध्यास ही अविद्या है—यह एक पक्ष है और अध्यास तो भ्रान्ति रूप है—वृत्ति रूप है, इसका कारण जो है वह अविद्या है—यह दूसरा पक्ष है। तो वैय्याकरण आदि जो तन्त्र हैं, वंय्याकरणोंके जो तन्त्र हैं, व्याकरण तन्त्र हैं, उनमें अध्यासकको ही अविद्या मानते हैं। मूल विद्याको बिलकृल मानते ही नहीं। वं तो कहते हैं यह जो मृर्खता है, भ्रान्ति है, आप इसको अगर ठीक-ठीक समझें तो वे कहते हैं कि जैमें कोई समझो पूर्वको पश्चिम समझ ले तो पूर्वको पश्चिम समझनेकी भूल कहाँ है? वृद्धिमें है न, वैसे ही यह वृद्धिमें भूल है कि हमने अखण्ड अद्वय परमात्माको जीव समझ रखा है। यह भूल सिर्फ बुद्धिमें है औंग जहाँ वस्तुका साक्षात्कार हुआ यह वृद्धि भ्रान्ति निवृत्त हो गयी।

अब अध्यासको ही अविद्या कहते हैं—यह एक पक्ष है और अध्यास भ्रान्तिरूप है, अहं जीव: इत्याकारक है, अतिस्मंस्तद् बुद्धि: और अविद्या जो है वह अपनेको ब्रह्म न जानना, यह इस विपर्ययका, इस आवरणका कारण है—ऐसा दूसरा मत है। तो यह अविद्यासे कित्पत अपना स्वरूप तुम जो अपनेको मानते हो कि 'हम मन्ष्य' क्या सोच-विचारके माना है?

अच्छा बोलते हैं मैं संन्यासी! तो यह तो जिस दिन संन्यास लिया, उस दिन इस शरीरमें संन्यासीपना कल्पित हुआ। उसके पहले क्या मानते थे? कि ब्राह्मण। यज्ञोपवीतादि संस्कारसे सम्पन्न होकर गायत्रीका जप करते। उसके पहले क्या थे? कि हिन्दू। तो उससे भी पहले क्या? कि मनुष्य। मनुष्य नहीं प्राणी। ये सब क्या है? कि यह सब अविद्या कल्पित संज्ञा है। बोले—प्राणी नहीं जीव।

एक संन्यासीको मनुप्य होनेमें कितनी देर लगेगी? एक ब्राह्मणको मनुप्य होनेमें कितनी देर लगेगी? एक हिन्दूको मनुप्य होनेमें कितनी देर लगेगी? अरे जबतक वह उस भावको छोड़ नहीं देता, तबतक उस भावमें है। यह जीवभाव अपना पकड़ा हुआ है! यह प्रमाण सिद्ध नहीं है, न प्रत्यक्षसे। यह जो संन्यासित्व, ब्राह्मणत्व, हिन्दुत्व, मनुष्यत्व हैं, ये प्रत्यक्ष अनुमान, उपमानादिसे सिद्ध नहीं हैं। अर्थापित, अनुपलब्धिसे सिद्ध नहीं है। यह प्रमाणसिद्ध नहीं है! यह अपने भावकी स्वीकृति है कि मैं अमुक हूँ। तो यह जो अज्ञानसे कित्पत अपनेमें भ्रान्ति मूलक भाव हैं, भ्रान्तिभाव हैं, इस भाव भ्रान्तिका परित्यागकर अपने स्वतः सिद्ध स्वरूपको, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छित्र परब्रह्म तत्त्वको आत्मरूपसे जानना यही कृतात्मा होना है।

वीतरागा:-अपनी विगत सुनाओ। यह विगत बीती हुई बातको बोलते

हैं हिन्दीमें, यह तो बीत गया। यह वीतरागमें जो 'वीत' है उसका भी वही अर्थ है। उपसर्ग है और 'इज्' धातुसे कत प्रत्यय होनेपर बना हुआ शब्द है 'इत'। वि+इत वीत। वीत माने बीता हुआ। विगत—व्यतीत। तो 'वीतराग' शब्दका क्या अर्थ हुआ? राग और रागके भाई; कौन? कि द्वेप। तो वीतराग माने राग-द्वेपादि दोप जिसके जीवनमें इतिहासकी वस्तु हो गये हैं, मालूम पड़ते थे, अब नहीं हैं, नहीं मालूम पड़ते हैं। तो जब कभी अपना जीवन-वृत्त सुनाना पड़ता है, तब कहता है—हाँ भाई, एक समय ऐसा था जब हमारे राग था, द्वेष था। अब? कि अब तो पता नहीं लगता, अब तो पुरानी बात याद करते हैं। उसको बोलते हैं—वीतरागा:।

तुम्हारे जीवनमें राग-द्वेष आज है कि पहले थे? अब मिट चुके हैं, तो पहलेकी याद कर-करके तो रोना नहीं और देखो—एक बात आपको सुनावें, यह सत्य, यथार्थ बात आपको सुनाते हैं। असलमें हम जो राग-द्वेष करते हैं वह याद कर-करके करते हैं। उसने हमको गाली दी थी और उसने हमको सुख दिया था।

हेमलताने एक दिन बताया, किसी रिश्तेदारके घर गयी जव छोटी थी, बच्ची थीं, तो वहाँ सब लोग रो रहे थे, कोई रोनेका काम था। तो यह सोचे कि सब लोग रो रहे हैं तो मैं भी रोऊँ। तो रोना न आवे। तो घरमें कौन-कौन मरा था, उसकी याद करे कि कैसे भी रोना तो आ जाय, कौन बिछुड़ा, अब उसकी याद करें। तो जिन लोगोंको रोनेका शौक होता है, वे पिछली बातोंको ज्यादा याद करते हैं।

पिछली बातोंको याद करना छोड़ दो तो न राग होगा, न द्वेष होगा। किसीने किसी दिन तुमसे एक मीठी बात कही, अब आज वही कड़वी बात कहता है! तो तुम उसकी मीठी बात याद करके रोते हो कि वैसी मीठी बात आज क्यों नहीं बोलता! और कभी कड़वी बात किसीने कह दी, तो उसकी याद करके आज रोते हो।

तो असलमें वर्तमानमें न कड़वा है न मीठा है। देखो, एक मिनट; और मिनटमें क्या होता है? कि मिनटसे छोटा सेकेण्ड होता है और एक सेकेण्डके भी गणितज्ञ लोग करोड़वाँ हिस्सा निकाल लेते हैं। तो वर्तमानमें, माने एक मिनटके भीतर जो वर्तमान सेकेण्ड है, साठ सेकेण्डमें-से एक सेकेण्ड और एक सेकेण्डमें भी जो एक करोड़वाँ हिस्सा है, उसमें तुम मौजूद हो। वहाँ कहाँ राग है? कहाँ द्वेप है? जो पीछे छूट गया उसमें राग-द्वेप मर गया, वह तो बह गया गंगाजीमें और जो आनेवाला है वह तो अभी देखा हुआ ही नहीं है। तो तुम्हारी स्थित क्या है? कि तुम तो वीतराग हो भाई! सचमुच वीतराग। यह सब वीतराग होते हैं। अपनेको जानते नहीं हैं।

प्रशान्ता:—प्रशान्ता:का अर्थ है इन्द्रियाँ शान्त होवें, उपराम होवें, अपने घरमें बैठी हों।

हमने देखा है, एक परिवार है वीकानेरमें, जिन्दा है। मुर्देकी बात नहीं कर रहे। उस परिवारके लोग जो होते हैं, उनकी आँखकी पलकें हर समय हिलती रहती है। सारे परिवारमें कोई रोग होगा, कोई परम्परागत रोग होगा, मैं समझता हूँ।

तो इन्द्रियोंमें रोग होता है। क्या रोग होता है? कि यहाँसे चलकर वहाँ जाती हैं। और वहाँकी चीजको अपने भीतर कर लेती हैं। यह ऐसा ही है।

एक दिन किसी गाँवमें कोई दु:खद घटना हो गयी। तो सब स्त्रियाँ बैठ गयीं चुपचाप, कोई बोले ही नहीं। तो एक दिन तो ऐसे बीत गया। जब दूसरे दिन इकट्ठी हुईं तो एकने कहा—'देखो भाई, हमारे तो मुँहमें खुजली होती है, अब हमसे तो बोले बिना रहा नहीं जाता, तो आओ कुछ लड़ाई-झगड़ा हो।' अरे तुम बड़ी झगड़ालू हो, झगड़ेकी बात करती हो। अच्छा हमें झगड़ालू कहती हो? अब इसी बातपर दोनों ओरसे महाराज कहा-सुनी प्रारम्भ हो गयी। तो इन इन्द्रियोंको खुजली होती है कि 'आ बैल मोहे मार'। आ विषय तू मेरे भीतर घुस जा। आजा औरत! आजा मर्द। तू मेरे दिलमें घुस जा।

तो यह क्या है? कि यह इन्द्रियोंकी अशान्ति है। प्रशान्तका क्या अर्थ है? आँख अपने गोलकमें बैठे, अपने घरमें बैठे; क्यों पड़ोसीके घरमें जाती है? यह दिल अपने घरमें बैठे। हर समय शापिंग ही शापिंग तो नहीं करनी है। अरे भाई वह तो हफ्तेमें एक दिन, महीनेमें एकाध दिन होती है। अब रोज पर्स लेकर बाजारमें चले गये।

एक दिन एक सास वोली हमसे कि क्या बतावें महाराज! हमारी बहू बाजारमें गयी तो दस लाख रुपये सौदेका आर्डर दे आयी। अब क्या करें भला! वह तो दूकानसे दूकानमें जाना, जिनके घरमें एयर कंडीशन नहीं होता है, वे जाकर एयर कंडीशन दूकानमें बैठना पसन्द करते हैं। जिनके घरमें हँसी -खेल करनेवाला कोई नहीं होता है, वे जाकर दुकान-दुकानपर घूमते हैं।

तां यह जो इन्द्रियोंका दुकान-दुकानमें घृमना है न, यह अशान्ति है। और उनकी प्रशान्ति क्या है? कि अपना मन अपने दिलमें। यह जो हृद्य पृंडरीक है, हृदय कमल, इसपर बैठों तो ईश्वर हो जाओ। यह मन अगर हृद्य कमलपर बैठें तो ईश्वर हो जाय। यह आँख अगर अपनी पुतलीको छोड़कर बाहर न जाय तो यह कृण्ण हो जाय। इसीका नाम कृष्ण है। यदि आँख अपने काले तिलमें, यह जो बीचमें काला तिल है उस यह काले तिलमें अगर आँख बैठी रहे तो, इसका नाम कृष्ण है। और मन अगर हृदय कमलपर बैठें तो उसका नाम साक्षात् नारायण है। वह मन नहीं नारायण है। तो इन्द्रियाँ होवें प्रशान्त। ऐसे जो महापुरुष हैं, वे क्या करते हैं? कि, सर्वगं—सर्वव्यापी आकाशवत जो परमात्मा है, अपना आत्मा है उसको सर्वत्र प्राप्य—नोपिधपारिच्छिन्नेन एक देशेन, परमात्माकी प्राप्ति जिसको होती है, उसको एक जगह नहीं होती, जो उसको पहचान लेता है, उसको सब जगह परमात्माकी प्राप्ति होती है।

वोले—तुमको ईश्वर कहाँ मिला? कि गुफामें मिला। तुमको ईश्वर कहाँ मिला? वोले! पंढरपुरमें मिला। तुमको ईश्वरं कहाँ मिला? बोले—हृदयमें मिला। नहीं, जिसको ईश्वर मिलता है, उसको जैसे पंढरपुरमें मिलता है; वैसे मुम्बईमें भी मिलता है। जैसे हृदयमें मिलता है वैसे बाहर भी मिलता है। जैसे आज मिलता है, वैसे कल भी मिलता है। जैसे पत्थरमें मिलता है वैसे आसमाँमें मिलता है। जिसको ईश्वर मिलता है। सर्वत्र प्राप्य होता है।

सर्वत्र माने सब जगह। उसको उपाधि परिच्छेदसे ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती, उसको तो ज्ञान दशामें सर्वत्र ईश्वर प्राप्त होता है। क्योंकि जो सर्वगत है, सर्वोपादान है, जो सर्वद्रष्टा है, जो सर्वाधिष्ठान है, जिसके अतिरिक्त कुछ दूसरा है ही नहीं, उसको उसने अपने आत्माके रूपमें जाना। उस अद्वितीय ब्रह्म तत्त्वको आत्मरूपसे जानकर वह धीर पुरुष है। धीर शब्दका अर्थ लिखा है शङ्कराचार्य भगवान्ने 'अत्यन्त विवेकी'।

ध्यायन्ते इति धीरा: । ध्यायन्ति इति धीरा: । धीर किसको कहते हैं ? कि जो चिन्तन करते हैं उनका नाम धीर है। यह रच् प्रत्यय चिन्तन करनेवालेके ही अर्थमें है तो बोले—अत्यन्त विवेकी कहाँ है? एक विवेकी होता है हंग, जो दूध पानी उलग करता है। तो यह शरीर और आत्माको अलग अलग जानना यह जो सांख्यकी दृष्टि है, इसका नाम विवेक है और अत्यन्त विवेक क्या है? अत्यन्त विवेक सर्प-रज्जुका विवेक है। जैसे रज्जुमें सर्प नामकी कोई वस्तु नहीं है वैसे अपने आत्मामें यह सृष्टि कुछ है ही नहीं, इसका नाम है अत्यन्त विवेक।

युक्तात्मान:—अपने स्वरूपके सिवाय उनको कुछ दिखता ही नहीं है। तो वे सब जगह और सब रूपमें सर्वव्यापी परमात्माको ही देखते हैं: और सर्वरूपमें जब प्राप्त कर लेते हैं, तब जैसे घड़ा फूट जानेपर घटाकाश पहले भी महाकाश और बादमें भी महाकाश, इसी प्रकार अविद्याकृतोपाधि (देह)का उच्छेद हो जानेपर वे ब्रह्म वेत्ता लोग ब्रह्मधाममें प्रवेश करते हैं। क्योंकि वे तो पहले भी ब्रह्म ही थे। तस्येषु आत्मा विशते ब्रह्मधाम।

अब आगे वर्णन करते हैं-

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः

संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।

ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले

परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ 3.2.6

वेदान्त विज्ञानके द्वारा अपने अर्थका, वस्तुका ठीक-ठीक निश्चय कर लिया है—वेदान्त जिनत जो ज्ञान है, वेदान्तके विचारसे षड्लिंगका अनुसन्धान कर (उपक्रम और उपसंहारकी एकता और बारम्बार दुहराना—अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपित—इन छह बातोंके द्वारा) जिसने यह निश्चय कर लिया कि मैं ब्रह्म हूँ—जैसे माँने नाम रख दिया किसीका नाम मोहन, किसीका नाम सोहन। तो बोले—भाई! माँने तो नाम रखा है मोहन, सोहन बिना विचारे ही। दिल्लीमें एक बड़ी गोरी-चिट्टी लड़की है, उसका नाम है कृष्णा, अब माँ-बापका रखा हुआ नाम है। लड़की है गोरी और नाम रख दिया कृष्णा। तो उलटा हो गया। एक महाराज करोड़पित सेठ हैं, उनका नाम है छदामीमल। और एक दरिद्र हैं उनका नाम है करोड़ीमल। तो यह जो माँ-बाप नाम रखते हैं, यह विचार करके नाम नहीं रखते हैं। पर यह श्रुति भगवती जो है इसने विचार कर हमारा नाम रखा

है। तुम आविचार पूर्वक रखे हुए नामको मानते **हो और विचार पूर्वक रखे** हुए नामको नहीं मानते।

भला वताओं यह विचारपूर्वक नाम क्या है ? वेदान्त विज्ञान बताता है कि असलमें तुम ब्रह्म हो।

तो भला क्या विचार किया वेदान्तने इसमें? विचार यह किया कि तुम मार्क्षा हो, द्रष्टा हो, तुम देश काल वस्तुसे अपिरिच्छित्र हो, श्रुतिने विचारपूर्वक तुम्हारा नाम रखा है, वेदान्त विचारसे यह सुनिश्चित अर्थ है। वेदान्त विज्ञानका अर्थ है परमात्मा, उसका जिसने निश्चय कर लिया कि परमात्मा और आत्मा—ये अभिन्न हैं। वे वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था: यह निश्चय कौन करते हैं?

संन्यासयोगात् यतयः शुद्ध सत्त्वाः।

संन्यासके योगसे। संन्यास क्या होता है? देखो, भक्ति मार्गमें न्यासका मंन्यासका अर्थ दूसरा होता है, वेदान्त मार्गमें दूसरा। वेदान्तमें आता है—

न्यास एवात्यरेचयत्—संन्यास सबसे बड़ा है। न्यासमेषां तपसां अतिरिक्तं आहुः। संसारमें जितनी तपस्या है, उनमें संन्यास सबसे बड़ा है। संन्यासका सीधा अर्थ है—न्यास माने रखना, 'सं' माने सम्यक्, भली-भाँति, विचार पृर्वक, और 'नि' माने नितराम और 'असुक्षेपे' फेंक देना। 'ज्यों-की-त्यों धरि दीन्ही चदिरया।' चद्दरका एक टुकड़ा भी, एक सूत भी, जरा रंग भी अपने ऊपर न लगने पावे इस अविद्या किल्पत प्राकृत प्रपंचको, इस दृश्य प्रपंचको ज्यों-का-त्यों, पूरी तरहसे विचारकर, विवेककर, अपनेको कूटस्थ जानकर 'सं' माने सम्यक् जानकर 'नि' माने पूरी तरहसे 'आस्' माने फेंक देना; किसको? अविद्या किल्पत प्रपंचको। इस संसार सर्पका पता मत लगाओ, कहाँसे पैदा हुआ? कोई जरूरत नहीं हैं। यह कहाँ लय होगा, इसकी कोई जरूरत नहीं है। (पहले सर्पको फेंक दो चाहे वह सच्चा हो या झूठा)।

असलमें सृष्टि प्रलय नहीं होता है। यह जो वर्णन आता है, आदि कालमें सृष्टि हुई और अन्तकालमें लय होगा। यह बिलकुल झूठी बात है, किसीने देखा नहीं है। न लय होता है, न सृष्टि होती है। न सर्पका जन्म होता है रस्सीमें, न मृत्यु होती है। जन्म और मृत्युकी कल्पना होती है अपनी दृष्टिकी अपेक्षासे। जब हमको वहाँ साँप दिखने लगा, तब पैदा हुआ और जब साँपका दिखना बंद हो गया, तब मर गया। तो यह प्रपंचके सृष्टि और प्रलयका अध्यारोप है परमात्मामें, वेदमें वर्णन है, उपनिपदमें वर्णन है, दर्शनमें वर्णन है, इतिहास-पुराणमें वर्णन है कि सृष्टि प्रलय होता है। यह नहीं समझना कि आपने ही कहीं पढ़ा होगा पुस्तकोंमें कि सृष्टि प्रलय होता है और आपको मालूम है कि सृष्टि-प्रलय होता है और हमने नहीं पढ़ा, सो बात नहीं है। हमने भी आपकी तरह पढ़ा है उन वेदके मन्त्रोंको, उपनिषदोंको, पुराणोंको, महाभारतको, वाल्मीकि रामायणको, दर्शन शास्त्रको!

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।
येन जातानि जीवन्ति।
यत्-प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।
जन्माद्यस्य यतः।

हमने भी पढ़ा है। लेकिन हम जानते हैं कि वह अध्यारोप और अपवाद न्यायसे है। सृष्टिका वर्णन इसलिए किया जाता है कि आप जिस दृश्यको देख रहे हैं उसको नाशवान समझें और प्रलयका वर्णन इसलिए किया जाता है कि अपने उपादान कारणसे भिन्न नहीं है।

इसका अभिप्राय है और जब वैराग्य और ज्ञानमें उपयोगी होनेके लिए सृष्टि और प्रलयका वर्णन होता है, तब यह प्रयोजनानुसारी सत्य है, यह परमार्थ सत्य नहीं है। इसलिए वस्तु तत्त्वमें न सृष्टि होती है, न प्रलय, वह तो ज्यों-का-त्यों अखण्ड है। इस विनाशी सृष्टिसे हमें वैराग्य होवे और इसमें जो मसालेके रूपमें, उपादानके रूपमें पिरपूर्ण परमात्मा है, उसको जान सकें इसके लिए सृष्टि प्रलयका वर्णन होता है। तो यह जो किल्पत सृष्टिवाला, किल्पत प्रलयवाला जो अविनाशीमें विनाशी प्रपंच है, जो अधिष्ठानमें अध्यस्त है, जो चेतनमें जड़ है, जो आनन्दमें दु:ख है जो आत्मामें अनात्मा है, जो द्रष्टामें दृश्य है, इस प्रपंचका संन्यास कर देना, फेंक देना, महत्त्वहीन है।

'ज्यों-की-त्यों धरि दीन्ही चदरिया।'

इसका कोई महत्त्व नहीं है, इसको बोलते हैं सन्यास।

संन्यास माने प्रदीप्त अन्तर्दृष्टि, ज्ञानाग्नि। जिस ज्ञानाग्निमें सृष्टिमें अपनेको जितने बड़े-बड़े कहनेवाले हैं, कि हम भी बड़े, हम भी बड़े, ये सब-के-सब जिस ज्ञानाग्रिमें भरम हो जाते हैं, उसका नाम है संन्यास। जैसे दही-बड़ेकों चटनीके साथ खा जाते हैं, वैसे ये जितने बड़े-बड़े हैं—उसमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशका भी नाम आता है. उसमें हिरण्यगर्भका भी नाम आता है, उसमें सृत्रात्माका भी नाम आता है, जिस ज्ञानकी आगमें सम्पूर्ण द्वैत प्रपंच भस्म हो जाता है, उसका नाम है संन्यास।

शुद्धसत्त्वाः फिर मिलावट वाली बात नहीं रहती। शुद्धसत्त्वाःका अर्थ है यह मिलावटी घी, मिलावटी दूध, यह मिलावटी गेहूँ, यह दुनिया मिलावटी है। विना दो वस्तुका मिश्रण हुए सृष्टि नहीं हो सकती, सत्त्वका शोधन होना अर्थात् अन्तःकरणका परमात्मासे अभिन्न होना, परमात्माके सिवाय दूसरी वस्तुका न भासना—यही सत्त्वकी शुद्धि है। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। यह मन्त्रका दूसरा हिस्सा है इसकी व्याख्या कल करेंगे!



प्रवचन : 29, मंत्र 6-7

ब्रह्मज्ञानीकी महिमा-4 (सद्योमुक्ति एवं क्रममुक्ति)

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः

संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।

ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले

परामृता: परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ 3.2.6

अब आपको थोड़ी बात वेदान्त विज्ञानके सम्बन्धमें बताते हैं। कल तो जरा धका-मुक्कीका दिन था। कभी विश्वनाथजी का दर्शन करने जाओ. तो धके खाने पड़ते हैं भाई, भीड़-भाड़ हो जाती है तो बड़ी मुश्किल हो जाती है। अब लेकिन कोई जाय मुम्बईसे विश्वनाथजीका दर्शन करने और भीड़ देखकर बाहरसे ही लौट आवे, उसकी बुद्धिको क्या कहेंगे! अरे भाई जरा सहो तो! कहो कि विश्वनाथजीमें धक्का ही न हो, तब तो बेचारे विश्वनाथ नहीं रहेंगे, एकनाथ हो जायेंगे। वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः—वेदान्तका श्रवण-मनन निदिध्यासन कर जो अनुभव होता है, उस अनुभवके स्वरूपको जिन्होंने बिलकुल ठीक-ठीक निश्चय कर लिया है।

वेदान्त विज्ञान और ऐन्द्रियक विज्ञान, मानस विज्ञान, बौद्ध विज्ञान, ऐसे कहो—विज्ञानको चार कक्षामें बाँट लो। तो ऐन्द्रियक विज्ञानमें इन्द्रियाँ रहती हैं अपने शरीरमें और इनसे जो अर्थ मालूम पड़ता है, वह अलग होता है। जैसे गौरिति: द्रव्या: गौरिति: शब्द:। गौरिति ज्ञानम्। यह गाय घास चर रही है। गाय है— ऐसा मुँहसे बोल रहे हैं और घास चर रही है—ऐसा आँखसे देख रहे हैं और मनमें ज्ञान हो रहा है कि हमने गायको देख लिया।

अहं गां जानमम--में गायको जानता हूँ। यह गायका विज्ञान हुआ। गाय अलग, शब्द अलग, उसका जाता अलग इसको ऐन्द्रियक विज्ञान बोलते हैं।

अव मानम विज्ञान देखों। यह शत्रु है, यह मित्र है—यह ऐन्द्रियक विज्ञान नहीं है। शत्रु मित्र इन्द्रियसे नहीं जाने जाते। शत्रु मित्र राग-द्रेषके संस्कारसे संस्कृत मनसे जाने जाते हैं। तो शत्रुत्व मित्रत्व, मानस विज्ञान है। उसमें अलग अलग शत्रु और मित्रकी प्रतीति होने पर भी असलमें वह मानस देश, मानस काल और मानस द्रव्यसे पृथक नहीं है। ये शत्रु मित्र स्वप्नवत् है। जैसे अपने मनमें सपना दिखता है। देखों मनुष्य शरीर आँखसे दिखता है। देखों मनुष्य शरीर आँखसे दिखता है। देखों मनुष्य शरीर आँखमें दिखेगा, उसका नाम 'मनुष्यत्व' तुम जीभसे रखोंगे, लेकिन यह दोस्त है कि दुश्मन है, यह वात अपने मनसे पहचानोंगे, आँखसे नहीं पहचान सकते।

अच्छा, अव वौद्ध विज्ञान देखो। जैसे ऐन्द्रियक विज्ञान और मानस विज्ञान सुपुतिमें लीन हो गया, ऐसे सम्पूर्ण विश्व सृष्टि अपने अभावमें लीन हो जाती है, अपने अभावमें चर्ती जाती है। तो बुद्धिक द्वारा जब हम विचार करते हैं तो प्रत्येक वस्तुका जन्म उसके अभाव, उसकी शुन्यतासे होता हुआ दिखता है।

तो योद्ध विज्ञानका स्वरूप क्या है? कि दु:खम्-दु:खम्। दु:ख है, दु:ख है। क्षणिकम् क्षणिकम्—क्षणिक है, क्षणिक है। स्वलक्षणम्-स्वत्वक्षणम् और शृन्यम्-शृन्यम्—यह बौद्ध विज्ञानका स्वरूप है।

और वेदान्त विज्ञानका स्वरूप क्या है ? जहाँ विज्ञान और अर्थ—ये दो न हों, परन्तु स्वयं प्रकाश अधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्य होवे। वेदान्त विज्ञानमें विज्ञेय विज्ञानसे पृथक् नहीं है।

तो ठीक है बौद्ध प्रत्ययमें जैसे विज्ञाता और विज्ञेय दोनोंका अभाव यताया वह तो वेदान्तको स्वीकार है, परन्तु बौद्ध प्रत्ययमें जो विज्ञानको शून्य यताया यह वेदान्तको स्वीकार नहीं है। विज्ञानसे ही, विज्ञान ही जब इदं प्रत्ययका विषय होता है, तब विज्ञेय बोलते हैं और विज्ञान ही जब अहं प्रत्ययका आश्रय होता है, तब उसको विज्ञाता बोलते हैं। इदंता और अहंताके रूपमें विवर्तमान जो विज्ञान है, वह विज्ञान अर्थाभिन्न विज्ञान और विज्ञानाभिन्न अर्थ, जहाँ अर्थ और विज्ञानका भेद नहीं है, वस्तुसद् विज्ञान और विज्ञानसद् वस्तु (वह परमार्थ वस्तु है) तो वेदान्त विज्ञान जो है, वह जो ऐन्द्रियक अथवा यान्त्रिक विज्ञान है अथवा जो मानस विज्ञान है अथवा जो शृन्य विज्ञान है: बौद्ध प्रत्ययसे पृथक् कोई आत्मा नहीं है बौद्ध प्रत्ययसे अलग—माने बुद्धिमें जो विज्ञानको धारा बहती है, उसके सिवाय कोई आत्मा नहीं है—ऐसा जो बौद्ध प्रत्यय है, उन सब विज्ञानोंसे विलक्षण है। यह बुद्धिकी जो धारा बह रही है, इसका द्रष्टा कोई नहीं, साक्षी कोई नहीं, अधिष्ठान कोई नहीं, यह जो बौद्धोंकी कल्पना है वह वेदान्तको स्वीकार्य नहीं।

चार्वाक्का केवल एन्द्रियक विज्ञान है। जैन सिद्धान्त मानस विज्ञान रूप है और बौद्धोंका शून्य विज्ञान है। यह बुद्ध महात्मासे चलाया हुआ होनेके कारण बौद्ध नहीं, बुद्धिके प्रत्यय सन्तानके रूपमें ही सत्यको स्वीकार करनेके कारण, परमार्थको स्वीकार करनेके कारण उसका नाम बौद्ध विज्ञान है।

और, परमार्थ विज्ञान माने जिसमें ये तीनों कल्पित रूपसे भासते हैं, इन तीनोंका जो अधिष्ठान है और स्वयं प्रकाश, प्रत्यक्चैतन्याभित्र अद्भय ब्रह्म तत्त्व है, जिसमें अर्थका और विज्ञानका भेद नहीं है।

यदि अर्थ विज्ञानसे भिन्न होवे तो वह या तो जड़ दशाको प्राप्त हो जायेगा—प्रकृति, परमाणु, पंचभूत और या तो ईश्वर दशाको प्राप्त हो जायेगा किल्पत चैतन्य, परोक्ष चैतन्य और या तो वह शून्य दशाको प्राप्त हो जायेगा अभाव रूप, जिसमें ईश्वर और प्रकृति दोनोंका निषेध हो जाता है। परन्तु वेदान्त विज्ञान न जड़ विज्ञान है, न शून्य विज्ञान है और न ईश्वर विज्ञान है।

जड़ विज्ञान द्रव्य प्रधान, बौद्ध विज्ञान वृत्ति प्रधान है। शून्य विज्ञान अभाव प्रधान है। यह जो अर्थाभिन्न विज्ञान, विज्ञानाभिन्न अर्थ विज्ञान है यह जो अद्वय तत्त्वका निरूपण करनेवाला वेदान्त विज्ञान है, यह सबसे विलक्षण है। तो सुनिश्चित कर लेना चाहिए इसको वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः।

सन् चौंतीसमें हमलोग लगभग एक वर्ष रहे प्रयागमें। वहाँसे उठे तो हिर बाबाके बाँधपर गये। तीर्थयात्रा प्रारम्भ हुई वृन्दावन गये, हरद्वार गये, ऋषिकेश गये। पंडित सुन्दर लालजी जो आजकल वृन्दावन रहते हैं, पहली भेंट इनसे वहीं हिर बाबाजीके बाँधपर हुई। हरिबाबाजीके यहाँ हमने भागवतकी कथा सुनायी। तो कोई वेदान्तका प्रसंग् था, वेदान्त सुनाया। तो उठनेपर पण्डितजीने पूछा कि तुमंने वेदान्त गुरुमुखसे पढ़ा है कि नहीं? मैं भी पण्डित था, ये भी पण्डित थे। ये ज्वालापुर महाविद्यालयक प्राध्यापक थे। व्याकरणक अच्छे पण्डित हैं।

तो मैंने कहा पण्डितजी! मैंने सुना है, पढ़ा नहीं है।

अरे सुना है! सुननेसे कहीं वेदान्त आता है? तो मैंने कहा— पण्डितजी! वेदान्तका तो श्रवण-मनन ही होता है, श्रवण ही होता है, वेदान्तका अध्ययन तो होता ही नहीं। वेदान्त तो श्रवण करनेकी वस्तु हैं, पाठ करनेकी, अध्ययन करनेकी वस्तु नहीं है। तो बोले—वाह वाह वाह! ऐसे खुश हुए कि पीठ ठोंक दी कि वाह बहुत अच्छी बात कही। एक मिनटमें बदल गये। बड़े सीधे हैं, सरल चित्तके हैं। जब जो मनमें आता है प्रकट कर देते हैं। यह भी एक सरलता है कि गुस्सा आवे तो गुस्सा कर लिया, खुश हुए तो खुशी हो लिया। यह सन् चौंतीसकी बात है माने तीस-बत्तीस वर्ष पहलेकी बात है।

वेदान्तिवज्ञान सुनिश्चितार्थाः। अब बोले—भाई, िक वेदान्त विज्ञानमें ज्ञान और वस्तुका अभेद है। यह देखो माला और मालाका ज्ञान—ये दो चीज हो गयी! माला है हाथमें और मालाका ज्ञान है हृदयमें—ये दो चीज हो गयी। वेदान्त कहता है िक नहीं, जो ज्ञान है सो ही माला है और जो माला है, सो ही ज्ञान है। माला बाहर और दिल भीतर, ऐसा नहीं है और दिल पहले और माला बादमें— ऐसा भी नहीं। माला पहले और दिल बादमें—ऐसा भी नहीं। दिल और मालामें कालका भेद नहीं है और दिल और मालामें देशका भेद नहीं है, माला बाहर नहीं और दिल भीतर नहीं और सच पूछो तो दिल और मालामें वस्तुभेद भी नहीं। एक ही अखण्ड ज्ञान जो है वह देहात्मना भी भास रहा है और मालात्मना भी भास रहा है। यह जैसे मालाकी प्रतीति हो रही है, वैसे ही देहकी और जैसे देहकी वैसे, माला की। अखण्ड ब्रह्म—सत्यमें यह देह और मालाकी कीमत एक है। यह ज्ञानके ही दोनों विवर्त हैं कि यह मैं हूँ और यह अन्य है। ये दोनों ज्ञानके दो रूप हैं, अखण्ड ज्ञानमें ये दो भेद नहीं।

अच्छा, अब आगे चलते हैं। संन्यासयोगात् यतयः शुद्ध सत्त्वाः। योग क्या है? संसारको पाना योग है। कई लोग मानते हैं, बड़े-बड़े लोग युक्ति करते हैं। कोई कहते हैं स्वर्गको पाना योग है। कोई कहते हैं ब्रह्मलोकको पाना योग है। बोले—संन्यास योग क्या है? कि अपने आत्माके सिवाय जो कुछ है उसको छोड़ देना, उसका उपनयन करना, उसका अपवाद करना, इसका नाम यंत्र्याम योग है। अपने स्वरूपके अज्ञानसे किल्पत जो भी अन्य पदार्थ है उसका त्याग करते चलो, त्याग करते चलो मनसे। स्व-दृष्टिसे उसका त्याग करते चलो, अन्तमें जो शेप रह जायेगा वह कौन? वह अपना आत्मा और उसमें जो संन्यासकी गयी वस्तु, वह? कि वह अध्यस्त। अपने स्वरूपसे भिन्न कृछ नहीं। वोले—

संन्यास जोग कठिन ऊधो हम न करब हो।

योले—यतयः अरे याया यत करो इसके लिए। यह कोई तुम्हारे घर अपने-आप थोड़े ही आयेगा। परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे—योले भाई, एक परान्तकाल होता है और एक अपरान्त काल होता है। ये जो संसारी लोग मरते हैं यह अपरान्त काल है। अ+परान्त काल। और जो मुमुक्षु जिज्ञासु मरते हैं, उनका परान्त काल होता है।

अव देखो अपरान्तकाल और परान्तकाल क्या है ? वारम्वार मरना यह परमृत्यु नहीं है। एक परमृत्यु होती है, एक अपरमृत्यु होती है। तो जैसे किसीके घर रोज-रोज माँगनेके लिए जाना-यह क्या है ? यह तो रोज-रोज मरना है। और ऐसा मरना कि फिर जन्म-मरण न होवे, इसका नाम परान्त काल है। तो यह जो संसारी लोग मरते हैं, ये मरते समय भी कुछ माँगते हुए मरते हैं। संसारीका स्वरूप यही है कि ये मर जायें तो मर जायें लेकिन हाथ फैलाना न छूटे। वोले-वेटा मिल जाता तो वहुत बढ़िया, एक मकान वन जाता तो बहुत विद्या, यह भाग मिल गया होता तो वहुत विद्या। अच्छा, जिन्दगीमें यह काम कर चुके होते, यह काम हमको करना चाहिए, अव महाराज, यह भोग चाहिए, यह काम चाहिए, यह वस्तु चाहिए, यह कुटुम्बी चाहिए। यह मरते-मरते भी माँगना नहीं छोड़ते, हाथ फैलाये मरते हैं। ये हाथ फैलाकर मरते हैं। तो कोई-कोई तो कहता है ये दिखाते जाते हैं कि देखो, हम कुछ ले नहीं जा रहे हैं, तुम भी सीख लो मरते समय हाथमें कुछ नहीं जाता। मरते समय मुट्ठी नहीं बँधी रहती, फैल जाती है। शरीर ढीला पड़ जाता है, ढीला पड़नेसे हाथ फैल जाता है। लेकिन हमको तो ऐसा लगता है कि ये मर्ते समय भी पट्टे माँगते ही जाते हैं, मरनेके बाद भी हमारे हाथमें कुछ रख देना। धन चाहिए, स्त्री चाहिए, मकान चाहिए, प्रतिष्ठा चाहिए।

तो योले—इनका मग्ना भी असली मरना नहीं है, यह जिन्दगी तो इन्होंने नकली वितायी, इनकी मौन भी डालड़ा है।

अच्छा. असली मौत तव होती है जब या तो उपासनाके द्वारा अपने इष्टलोकमें पहुँच जाओ, ब्रह्मलोकमें पहुँच जाओ।

देखां, ब्रह्म तो है एक। अब जहाँ ब्रह्मकी उपलिख्य होवे, उसीका नाम ब्रह्मतोक है। भागवतमें तो इसका कई जगह वर्णन है। जब यह कहते हैं कि ब्रह्माजी किसीको वरदान देनेके लिए आये और अपने धाममें गये, तो कहाँ गये? विष्णु भगवान् वरदान देनेके लिए आये तो वरदान देनेके वाद गये कहाँ? तो स्वधाम शब्दका प्रयोग है, अपने धाममें गये। तो श्रीधर स्वामीने उसका अर्थ लिखा है—

स्वधाम हृदयं।

अरे वे आँखके रास्ते कलेजेमें घुस गये। यह उनका स्वधाम है। तो देखों स्वधाम क्या है? ब्रह्मलोंक क्या है? कि ब्रह्म तो है एक उसमें जो कृष्णकी उपासना करें उसको कृष्णलोंक—गोलोंक दिखेगा, जो रामकी उपासना करें उसे साकेत लोंक दिखेगा। और, जो शिवकी उपासना करें उसे केलाश लोंक दिखेगा। और, किसीको हिरण्यगर्भ लोंकका अनुभव होगा, वह तो इष्टके अनुसार एक होनेपर भी अनेक इष्टके रूपमें दिखता है, इसलिए उसकों ब्रह्मलोंक कहते हैं। है वह एक ही बिलकुल।

यह कहते हैं ऐसे-ऐसे जादूगरीके खेल होते हैं—यमपुरी जिसका नाम है, तो वहाँ कोई जाये, तो दक्षिण दरवाजेसे जब वह ले जाया जाता है तो यमराज दिखते हैं उसको काली पोशाकमें, बड़े भयंकर हाथमें गदा लिए हुए, भैंसेके साथ। और उसी लोकमें, यमलोकमें उत्तरके दरवाजेसे यदि कोई प्रवेश करे, तो बड़े सौम्य महाराज, आइये-आइये, स्वागत करते हुए एक ही यमराज दिखायी पड़ते हैं। बड़ा सौम्यरूप, धर्मराज वह पूर्व मुँहसे, उत्तर मुँहसे, पश्चिम मुखसे धर्मराज दिखायी पड़ते हैं और दक्षिण मुखसे यमराज दिखायी पडते हैं।

गरुड़ पुराणमें यह वर्णन है। गरुड़ पुराण मैंने बीसों बार लोगोंको सुनाया है। हमको तो अच्छा अभ्यास था गरुड़ पुराणका पहले। अब भी उसकी बहुत सारी बातें याद हैं। लेकिन यह तो जब किसीको मौतकी याद ज्यादा आवे, तब देखने लायक है। वैसे 'गरुड़ पुराण' बड़ा पुराण है। उसमें 'प्रेत कल्प' तो उसका एक प्रकरण है जो मरनेपर लोगोंको सुनाया जाता है। वह तो छोटी सी चीज है।

तो अपने इष्टदेवके लोकमें अथवा ब्रह्मलोकेषु जिज्ञासु जो हैं, साधक जो हैं वे अनेक प्रकारके होते हैं। तो उनका हृदय भी अनेक प्रकारका होता है। तो अनेक प्रकार हृदय जो हैं उन्हें हृदयके भेदसे ब्रह्मलोक भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है।

यह जो छोकरा-छोकरी कहते फिरते हैं न कि मार डाला, मार डाला, वह नहीं समझना। वह असली मरना नहीं है। बिलकुल झूठा मरना है।

एक दिन देखा मैंने किसी अखबारमें एक युवक किसी युवर्तासे कह रहा था कि मैं तुम्हारे लिए आकाशके तारे तोड़कर ला सकता हूँ। तो उस स्त्रीने कहा—यह जो खजूरका पेड़ है न, इसपरसे चार खजूर तोड़ ले आओ अब वे तो बेचारे हक्के-बक्के हो गये, क्योंकि उनको तो खजूरके पेड़पर चढ़ना ही नहीं आता था। वे तो आकाशके सात तारे तोड़कर ला सकते थे, खजूर तोड़कर नहीं ला सकते थे। तो यह महाराज, जो झूटे मरनेवाले हैं इनको तो रोज-रोज मरना और रोज-रोज जन्मना पड़ता है। और, जो मुमुक्ष होता है वह परान्त काले उसका जो अन्तकाल है वह पर है।

ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले।

तो परान्तकाल किसका होता है? जो इन्तकाल करता है। उर्दूमें जो 'इन्तकाल' शब्द है न, इन्तकाल कर देना, माने आखिरी दान, इन्तकाल माने होता है आखिरी दान। दे दिया। हमने अपनी चीज, अपना खेत बस अन्तिम रूपसे दे दिया। इन्होंने तो इन्तकाल कर दिया।

तो जो दृश्य प्रपंचका, अनात्म प्रपंचका इन्तकाल कर देता है, उसको परान्तकालकी प्राप्ति होती है। तो वहाँ क्या होता है? कि परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। सच पूछो तो अमृतकी प्राप्ति तो वहीं होती है। एक अमृत वह होता है जो स्वर्गमें मिलता है और एक अमृत होता है, वह अपने स्वरूपमें मिलता है। परम अमृतं अमरणधर्मकं ब्रह्मात्मभूतं येषां ते परामृताः। अरे वे तो जिन्दा ही महाराज, परम अमृत स्वरूप हो जाते हैं।

देखो, जो लोग आकर-ग्रन्थोंका अध्ययन नहीं करते हैं, केवल अखबार

या पित्रका पढ़कर वेदान्ती हो जाते हैं कई लोग ऐसे मामूली कितावें पढ़कर वेदान्ती हो जाते हैं। तो असलमें उनको वेदान्त नहीं आता। यह चीज जरा न्यारी है। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रको वेदान्त ग्रन्थ बोलते हैं। उपनिषद् भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीता भाष्य, वह भी जो शांकर भाष्य है। अद्वेत विद्या जानना हो तो शांकर भाष्य पढ़ना चाहिए और सगुण ब्रह्मविद्या जानना हो तो और आचार्यीका भाष्य पढ़ना चाहिए।

अव और आचार्यों महाराज, श्रीरामानुजाचार्यका स्वयं लिखा भाष्य नहीं है. उनके नामसे बादमें पण्डित रंगरामानाथनने लिखा है। श्रीवल्ल्भ सम्प्रदायमें भी स्वयं वल्लभाचार्यजी महाराज द्वारा लिखा हुआ उपनिषद् भाष्य प्राप्त नहीं होता है, बादके पंडितोंने लिखा है, सो भी थोड़ा ही, पूरेका नहीं। मध्व सम्प्रदायमें उपनिषदोंपर मध्वाचार्यकी 'तात्पर्य टीका' मिलती है। निम्बार्काचार्यका कुछ नहीं मिलता है उपनिषदों पर। बादमें जो उनके पंडित हुए हैं सम्प्रदायमें, उन्होंने लिखा है। यह स्थिति है।

तो उपनिषदोंका प्राचीन-से-प्राचीन संभाष्य जो मिलता है, वह शंकराचार्यका ही मिलता है। उन्होंने और-और भाष्यों की चर्चा की है कि पहले थीं, परन्तु वे अब मिलती नहीं हैं। तो वेदान्तका स्वाध्याय जो है वह उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता भाष्य, इनके द्वारा सम्पन्न होता है।

परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।

अद्भुत विद्या है यह वेदान्त विद्या। तो उपनिषद्को जब पढ़ोगे, तब पता लगेगा कि यह जो अमृत है, वह स्वर्गका अमृत अमृत नहीं है, ब्रह्मलोकका अमृत अमृत नहीं है। अमृत-कौन है? कि जो सम्पूर्ण मृत्युओंका साक्षी है उसीका नाम अमृत है। स्वयं प्रकाश आत्मतत्त्व ही अमृत है। यह जबतक अन्त:करणसे मिला रहता है, तबतक अपरामृत है और जब अन्त:करणके साथ तादात्म्यको छोड़ गया, तब यह परामृत है। अपना स्वरूप ही परम अमृत है। तो मैं यह कह रहा था आपको कि आप प्राचीन ग्रन्थोंका स्वाध्याय करें (यदि वेदान्त जानना चाहते हैं।)

अच्छा, एक ऐसी बात आपको बताते हैं जो लेख पढ़नेसे और अखबार पढ़नेसे मालूम नहीं हो सकती। जब परब्रह्म परमात्माका ज्ञान होता है तो ब्रह्मज्ञानीका शरीर भी मीठा हो जाता है। लो, अब यह बात जल्दी नहीं मालूम पड़ेगी। वर्णन आया है कि ब्रह्मजानीमें जो स्वयं सिद्धियाँ आती हैं, उसमें चींटी भी उसका शक्कर लेना चाहती है। लो! और उलटा हुआ। स्त्रियाँ उसको घेरे रहती हैं। ऐसे वर्णन आता है। उपनिषदोंमें ऐसा वर्णन आता है—

> कुरङ्गाक्षीवृन्दंतमनुसरित प्रेम तरलं वसत्तस्य क्षौणीपितरिप धरित्री परिवृद्धः। रिपुः कारागारं कलयित परं केलिकलया चिरं जीवन्मुक्तः स च भवित भक्तः प्रतिजने॥

यह सिद्धि है। जैसे शक्करके पाम चींटी मँडराती हैं, वैसे ब्रह्मजानीके भीतर अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड मँडराते रहते हैं।

एक ब्रह्मज्ञानी एक वार सोलन गये, तो जिस मकानमें वे ठहराये गये, जब रातको वे सोये तो उसकी कड़ी रातको ट्रिकर गिर पड़ी। तो उनके पाँवको छूती हुई धरतीमें चली गयी। चोट नहीं लगी। अकारण गिरी, न तो कोई तेज हवा चल रही थी, न मकानपर कोई वजन था। तो यह विचार हुआ कि आखिर यह कड़ी रातमें ट्रिकर गिरी क्यों? तो जो मकान मालिक था, उसने वताया कि महाराज इस घरमें एक भृत रहता था और वह इस कड़ीमें रहता था। तो जब ब्रह्मजानी आकर इसमें ठहरा, तो उसके प्रभावसे उसके सद्भावका उदय हुआ और आकर उसने ब्रह्मजानीका चरण छूआ, और मुक्त हो गया।

भूत-प्रेत भी आते हैं उसके पास। उड़ियावावाजी महाराज जब घृमते थे तो डाकू लोग उनके पास आते थे। वेश्याएँ भी आती थीं। यह देखो जहाँ व्यक्तिगत अहंता समाप्त हो जाती है। (वहाँ समष्टि अहं काम करता है)। अब यह बात कल्याणमें छापनेकी नहीं है।

हमारे मोकलपुरके बावाजी थे। एक आदमी उनको डंडा मारनेके लिए तैयार हुआ। उनको तो हँसी आ गयी। तो उसका हाथ और डंडा दोनों ऊपर-का-ऊपर ही, ज्यों-का-त्यों रह गया और एक अनिष्ट हो गया उसका। पूछा कि यह क्या किया! बोले—िक गुरु, मैंने तो कुछ नहीं किया। तब हुआ कैसे? यह तो बताओ कि उसका हाथ तो ऊपर ही रह गया। डंडा ऊपर ही रह गया और उसका अनिष्ट हो गया! बोले कि देखो, देवता लोग हमारे साथ-साथ घूमते रहते हैं। हम कुछ नहीं करते, कोई संकल्प नहीं किया। हमारे लिए उसका जैसा पूजा करना था वैसा ही उसका मारना भी था। वह डंड़ा मार देता तो हमको कुछ विचार नहीं होता, लेकिन, जो देवता लोग साथ रहते हैं. उन्होंने उसका डंडा पकड़ लिया और उसका ध्यान हटानेके लिए उसका अनिष्ट कर दिया।

रिपः कारागारं कलयित—ब्रह्मज्ञानीको कोई द्वेप करे तो जेलमें जायेगा अपने आप ही, वह नहीं पकड्वायेगा। ये सब सिद्धियाँ कुरंगाक्षीवृन्दं तमनुसरित प्रेम तरलं वसनम्यक्षौणीपितरिप धरित्री परिवृद्धः। रिपः कारागारं कलयित..... कहनेका अभिप्राय यह है कि सब बात अखबारमें नहीं मालूम पड़ती है। जक्षकीडन् रममाणः श्रुति है ही।

अपने स्वरूपमें स्थित हो तो **परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे**—परम अमृत स्वरूप हो गये वे परामृत है। परामृतका अर्थ है उसके जीवनमें भी मिठास है, उसकी रहनीमें भी मिठास है, उसके चलने-फिरनेमें में भी मिठास है, माधुर्य तो है उसके चलनेमें, फिरनेमें, बोलनेमें, शरीरमें, उसके मनमें, उसकी वाणीमें, उसकी स्थितिमें—सर्वत्र मधुर परंब्रह्मका प्रकाश स्थितिमें सर्वत्र मधुर परंब्रह्मका प्रकाश हो गया, इसलिए परामृताः।

स्वर्गमें जानेपर जो अमृत मिलता है सो नहीं, परम अमृत उसके जीवनमें है, इसलिए 'परिमुच्यन्ति सर्वे'। सद्योमुक्ति इनको प्राप्त हो जाती है। परि समन्तात् परिमुच्यन्ति सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते

तो जहाँ हैं वहीं वे मुक्त हैं। मुक्तको कहीं देशान्तरमें नहीं जाना पड़ता। मुक्तिका निवास कहीं गाँवमें नहीं होता, किसी लोकमें नहीं होता, किसी देवताकी मुद्वीमें नहीं होता, यह किसीके देनेसे नहीं मिलती। मुक्ति किसी गाँवमें जानेसे नहीं मिलती। न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते—जो चीज यहाँ न हो, उसके लिए वहाँ जाना पड़े। तो,

शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च। पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः॥

जैसे आकाशमें चिड़िया चलती है तो कोई चरण-चिह्न नहीं छोड़ती है। जैसे पानीमें मछली चलती है तो उसके चरण चिह्न नहीं पड़ते हैं, इसी प्रकार यह ज्ञानवान् पुरुषकी जो गति है वह कोई चरण चिह्न छोड़नेवाली नहीं है।

अनध्वगा अध्वसु पारियष्णवः।

ये जिज्ञासु लोग, मुमुक्षु लोग चाहते तो यह हैं कि हम गस्तेक पार जाँय, लेकिन इनको रास्तेमें चलना नहीं पड़ता 'अध्वसु पार्रायण्गवः'। चाहते तो हैं कि हम संसारसे पार पहुँच जाँय, लेकिन 'अनध्वगा' उनको रास्तेमें चलना ही नहीं पड़ता है। क्योंकि जिनका ईश्वर, जिनका प्रियतम दूसरी जगह वसता हो, 'प्रीतम पतियाँ तब लिखें, जब कहुँ होय विदेस। तनमें, मनमें, नयनमें, वाकों कहा संदेस।'

अपना प्रीतम विदेशमें होय, तो उसे चिट्ठी लिखकर भेजें, अपना प्रीतम तो अपने हृदयमें, अपना आत्मा ही, कहीं बिलकुल जाना ही नहीं है। इसिलए जहाँ जाकर पहुँचना पड़ता है, वह देश परिच्छित्र गित है। इसमें साधन भी परिच्छित्र और साध्य भी परिच्छित्र, और ब्रह्म जो है, वह समस्त है, सर्वाध्विन, सर्वाविभासक, स्वयं प्रकाश है।

यदि ब्रह्म देश 'परिच्छित्र होता तो उसकी क्या गित होती? बोले— दुनियामें जैसे और चीजें होती हैं वैसे ही होती। वह भी कभी जन्मता और कभी मरता, और जैसे सोना पैदा होता है और सोना मरता है और कैसा होता है ? कि

'अन्याश्रितं'—दूसरेकी मुट्ठीमं रहता है, उसका मालिक दूसरा कोई होता है। और 'सावयवं'—उसके टुकड़े-टुकड़े भी हो सकते हैं। और 'अनित्यम्'— हमेशा रहनेवाला न होता। कृतकं च— नकली सोना भी बनता है; नकली सोना। लोग कहते हैं कि बड़े घरकी स्त्रियाँ जब हीरा पहनकर निकलती हैं तो लोग उसको सच्चा समझते हैं और, छोटे घरकी स्त्रियाँ हीरा पहनकर निकलती हैं, तो उसको लोग झूठा समझते हैं। भले उनका झूठा हो और इनका सच्चा हो, तो भी ऐसा होता है।

तो नारायण बात क्या है? कि यदि आत्मा, ब्रह्म, सचमुच अप्राप्त होता, अन्य होता, तो मिट्टीके डलेके समान यह बनता और बिगड़ जाता और उसका मालिक जमीनका मालिक होता और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते, वह कभी फूट जाता और वैसा बनावटी भी बनाया जा सकता, लेकिन ब्रह्म ऐसा नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। तब अविद्या आदि रूप जो संसार बन्धन है, अविद्या, भ्रान्ति, अस्मिता—यह जो संसारका बन्धन है, इसको दूर कर देना ही मोक्ष है। यह कोई मोक्ष उत्पाद्य नहीं है, मोक्ष पैदा नहीं किया जाता, मोक्षका संस्कार नहीं किया जाता, मोक्षका

विकार नहीं किया जाता, मोक्ष मरता नहीं, अपने स्वतः सिद्ध आत्म स्वरूप, यह स्वरूप सिद्ध जो आत्मा है, स्वरूप सिद्ध अपना आत्मा, इसीका नाम मोक्ष है, केवल अज्ञानकी निवृत्ति मोक्ष है।

अब देखो, अब फिर इस बातको दृसरे ढंगसे लेते हैं, वह क्या है ? कि यह संसारी तो बारम्बार मरते हैं और बारम्बार जन्म लेते हैं। इसमें भी एक मजा है कि अगर किसीसे प्रेम होवे, और उसके लिए जन्मना-मरना पड़े तो प्रेमी लोग उसको बहुत पसन्द करते हैं।

जैसे देखों कोई एक आदमी अपने घरमें रहे और अपने लिए ही, अकेला हो और बीस बार अपने कपड़े बदले और अपना शृंगार बदले, तो वह थोड़े दिनोंमें ऊब जायेगा। किसको दिखानेके लिए बदलते हैं? अपनेको ही देखना तो वह तो देखते ही रहते हैं, लेकिन किसीसे प्रेम हो महाराज, और उसको पसन्द हो कि यह दस पोशाक पहनकर हमारे पास आवे, तो पहननेवालेको खुशी होगी।

तो यदि ईश्वरसे प्रेम होवे, और ईश्वरसे प्रेममें बारम्बार जन्म होवे, कभी उनके सामने खरगोश होकर गये, कभी उनके सामने पोपट होकर गये, कभी मार होकर नाचने लगे, कभी कोयल होकर बोलने लगे, तो नारायण प्रेमीको तो बहुत पसन्द आवे। बारम्बार मरे। लेकिन वह प्रियतमके लिए होवे तो! प्रेम स्वसुखका नाम नहीं है, वह तो प्रियतमके सुखका नाम है, जैसे उसको सुख होवे, वही नाच नाचना। यह तो प्रेमकी बात हुई।

तो संसारमें और प्रेममें फर्क क्या है? संसारी लोग अपने लिए चक्कर लगाते हैं, नाचते हैं, अपने सुखके लिए, अपने सुखके लिए संसारी लोग दिनभरमें सत्तर नाच नाचते हैं और जो प्रेमी होता है वह अपने प्रेमीको सत्तर नाच नाचता है। यह भक्ति हुई। और महाराज योगी लोग, न अपने लिए न दूसरेके लिए, ज्यों-के-त्यों! मुमुक्षु लोग कहते हैं कि बाबा! रहकर क्या करना संसारमें!

ज्ञानीकी दृष्टिसे न अपरान्तकाल है, न परान्तकाल है। संसारीके लिए अपरान्त काल है—बारम्बार जन्म और मुमुक्षुके लिए परान्त काल है मोक्ष। ज्ञानीके लिए न बन्धन है न मोक्ष, न संसार-दशा है—न मुक्ति-दशा, न साधन-दशा, न साध्य-दशा। तो ज्ञानीकी दृष्टि इन दोनोंसे न्यारी होती है। गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ 3.2.7

मुक्तिका जब समय आता है, तो देहको बनानेवाली जो कलाएँ हैं— प्राणादि, वे अपनी प्रतिष्ठिमें चली जाती है अर्थात् अपने अपने कारणमें लीन हो जाती हैं। जैसे मिट्टीका डला फूटेगा तो मिट्टी होगा. सोनेका जेवर फूटेगा तो सोना होगा, इसी प्रकार सब वस्तुएँ अपने मूलकारणमें जाकर लीन हो जाती हैं!

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा, 'प्रतिष्ठा शब्द द्वितीया विभक्तिका बहुवचन है, प्रश्नोपनिषद्के छठे प्रश्नमें यह प्रसंग आया है कि पुरुषमें कितनी कलाएँ होती हैं ? वहाँ बताया कि सोलह कलाएँ होती हैं । तो देखो, कला हमेशा परिच्छित्र होती हैं । जैसे चन्द्रमामें सोलह कला हैं । सूर्यमें बारह कला हैं । और यह आप लोग जो 'कलाक' बोलते हैं, दिनमें कितने क्लाक ? चौबीस होते हैं ! ये कला हैं । संस्कृतमें भी कालवाचक 'कला' शब्द है । कला काष्ठा रूपेणः । ये जैसे पल विपल होते हैं न, वैसे 'कलाकाष्ठा' कालका अवयव होता है ।

तो सोलह कला होती है—प्राण, श्रद्धा, आकाशादि पञ्चभूत, और इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तपस्या, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम ये सोलह कलाएँ होती हैं।

इनमें-से बृहदारण्यक उपनिषद्में ऐसा वर्णन आता है कि मरने पर; संसारी मरेगा तब तो दूसरा जन्म हो जायेगा, उसका तो सोलहों कलाएँ उसकी फिर उठ आवेंगी। लेकिन मुमुक्षु यदि ज्ञान प्राप्त करके मरेगा तो इसमें-से पन्द्रह कला तो उसकी लुप्त हो जायेंगी तत्काल, लेकिन एक कला उसकी रह जायेगी। वह कला क्या है? तो बोले—नाम। दुनियामें नाम उसका रह जायेगा।

बड़े-बड़े ज्ञानी मरे, मुमुक्षु मरे, जिज्ञासु मरे, लोग नाम लेते हैं। लोग मरनेवालोंका भी तो नाम लेते हैं न! तो बोले—पन्द्रह कलाएँ तो नष्ट होकर अपने-अपने मूलकारणमें मिल जाती हैं। परन्तु यह नाम एक ऐसी कला है, जो, नितान्त किल्पत चीज होती है, वह लीन किसमें होवे? वह तो ज्ञातामें ही र्तात होगी। वह तो नाम जिसको मालूम पड़ता है, वह जब नहीं रहेगा तो नाम नहीं रहेगा। तो जिस अन्त:करणमें नामका संस्कार है, महात्मा ज्ञान देव हुए, महात्मा नामदेव हुए, महात्मा एकनाथ हुए, महात्मा रामकृष्ण परमहंस हुए,रामतीर्थ हुए, शंकराचार्य हुए। तो यह नामका संस्कार जिसके अन्त:करणमें है, उसका अन्त:करण जब लीन होगा, तब न उसमें-से नाम लीन होगा, इसिलए व्यक्तिक मर जाने मात्रसे उसका नाम लीन नहीं होता, नाम बना रहता है। मुक्त हो जानेपर भी नाम बना रहता है, मुमुक्षु हो जानेपर भी नाम बना रहता है और मरनेपर भी नाम बना रहता है।

इसिलए सोलह कलाओं में से पन्द्रह तो मुक्तिके साथ लीन हो जाती हैं। और देवता अपनी अपनी इन्द्रियों से कारणमें—प्रतिदेवतामें लीन हो जाते हैं। और मुमुक्षुने जो कर्म किये हैं उनमें भी दो तरहके हैं कर्म—एक प्रवृत फल और एक अप्रवृत्त फल। तो जिस कर्मके हिस्सेसे शरीर बन गया है वह और जिससे नहीं बना है वह; आप समझो कि कुम्हारके घरमें माटी है तो एक माटी तो वह है जिसको हाथमें लेकर बिन्दी बनाकर चाक पर रखकर घड़ेके रूपमें कुम्हारने बना लिया और एक माटी वह है जो उसके घरमें ढेरके रूपमें रखी हुई है। तो क्या होगा? भाई, जिसका घड़ा जबतक जिन्दा रहेगा, तबतक वहाँ माटी घड़ेके रूपमें रहेगी और जिसका घड़ा नहीं बना उस माटीका क्या होगा? बोले—वह तो माटी है ही है।

वैसे ही यह जो ज्ञानी पुरुष है, यह जितने कर्मसे फलकी प्रवृत्ति हो गयी है माने उसका शरीर, जाति, आयु और भोग बन गया है उतना तो तबतक रहेगा, जबतक शरीर रहेगा और जितनेसे नहीं बना है वह कर्म तत्काल क्षीण हो जायेगा और विज्ञानमय माने अविद्या कृत जो उपाधि है, अविद्यादि उपाधि इसमें घुस आये यह जो अपना में है, यह अन्तःकरणमें नहीं है। अन्तःकरण जब रोता है तब मैं नहीं रोता है। यह बड़ी मजेदार बात है। अन्तःकरण जब हँसता है तब मैं नहीं हँसता है। यह तो अपनी जो परर्छां है न, शीशेमें, शीशा ही कभी उदास होता है और शीशा ही कभी स्वच्छ होता है और जिसकी परछाईं है वह तो ज्यों-का-त्यों।

अच्छा, सूर्य मिलन होता है कि सूर्य स्वच्छ होता है ? कि नहीं, जिस पानीमें, जिस घड़ेमें उसकी परछाईं पड़ रही है, उस घड़ेका पानी हिलता है तो रजोगुणी है और मैला है तो तमागुणी है और स्वच्छ है निर्विकार है तो सत्त्वगुणी है। यह तो अन्त:करणकी स्थितियाँ हैं।

हमने देखा बाथरूममें एक शीशा होता है, तो वृन्दावनमें चिड़िया घुस आती है। तो चिड़िया उस शीशेपर बैठकर जो चिड़िया शीशेमें दिखती है, उसको प्रतिबम्ब नहीं समझती है, क्योंकि उनको विज्ञान मनुष्यके समान तो मालूम नहीं। अरे वो लड़ती हैं महाराज, वो चोंच मारती हैं उनकी चोंच टूट जाती है तो अपनी परछाईंके साथ कोई क्यों लड़ रहा है? कि भ्रमके कारण। उसको वह सच्चा मानता है।

ये बच्चे हैं न, बच्चे बिलकुल छोटे बच्चे. उनके सामने शीशा कर दो, बिलकुल शीशेकी पहचान नहीं है तो उनसे कहो प्यार करो, तो शीशेमें जो बच्चा दिखेगा, उसे प्यार करेंगे। अच्छा, फिर उनको जब मालूम हो जाये कि मैं ही शीशेमें दिख रहा हूँ, तो आप शीशेको घूँसा मारनेकी कोशिश करो, देखो वह बच्चा दूर बैठा हुआ रोने लग जायेगा। वह यह समझेगा कि ये तो हमको ही मार रहे हैं।

तो यह बच्चा अज्ञानी है बेचारा. यंह अपने अन्त:करणमें पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब है, आभास है, उसपर कोई चोट लगती है, तो उसको वह अपनी चोट समझता है कि मेरे ऊपर चोट लग रही है।

इसी भ्रान्तिक कारण संसारमें सारे दु:ख होते हैं। तो यह जो विज्ञान मय आत्मा है, माने जो बुद्धिमें पड़े हुए आभासको — प्रतिबिम्बको एक समझकर उसमें बैठा हुआ है। तो यह विज्ञानप्राय—बौद्धप्राय और ये सब-के-सब कर्माण विज्ञानमयश्च आत्मा—ये सब-के-सब पन्द्रह और विज्ञानमय उपाधिका अपनयन हो जाता है, तब किस परमात्मामें एक होते हैं, तो शंकराचार्य भगवान्ने आत्माके लिए उपनिषदोंमें जो शब्द आते हैं, उनका संग्रह कर लिया है—

परे, अव्यये, अनन्ते, अक्षये, ब्रह्मणि, आकाशकल्पे, अजे, अजरे, अमृते, अभये, अपूर्वे, अनपरे, अनन्तरे, अवाह्ये, अद्वये, शिवे, शान्ते, सर्वे एकीभवन्ति अविशेषतां गच्छन्ति एकत्वं आपद्यन्ते।

अब देखो, इन शब्दोंकी व्याख्या करनी होय, तो नारायण, महीनेभर और चाहिए। परमात्मा कैसा है? कि पर है, अव्यय है, अनन्त हैं, अक्षय हैं, आकाशकल्प है, अज है, अजर है, अमृत है, अभय है, अपूर्व हैं, अनपर हैं, अनन्तर है।

'अपृर्व' है माने उसके पहले कुछ नहीं है, कारण नहीं है उसका कोई।

'अनपरे' माने उसका कोई कार्य नहीं है। 'अनन्तरे' माने उसके भीतर कुछ नहीं है और 'अबाह्य' माने उसके बाहर कुछ नहीं है। अपूर्वे अनऽपरे माने काल परिच्छित्र नहीं है और अनन्तरे अबाह्य माने देश परिच्छित्र नहीं है। अद्वयं माने विषय परिच्छित्र नहीं है और 'शिवे' माने परम कल्याण स्वरूप है—सर्वाधिष्ठान। शान्त है—उसमें कोई विक्षेप नहीं है। तो यह जो अपनी आत्मा है, इसका यही स्वरूप है।

जैसे जलका जो आधार है घड़ा, उसको हटा दो, तो सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेगा—हट गया। जैसे घड़ेको फोड़ दो, तो उसका जो आकाश है, घड़ेमें जो पोल है, वह महाकाश स्वरूप ही है। इसी प्रकार यह अन्त:करणकी उपाधि जहाँ छूटी—इसका जहाँ अपवाद हुआ, वहाँ जो अपना आत्मा है, वह तो विलकुल एक है।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ 3.2.7

पन्द्रह जो कलाएँ हैं, वे अपनी प्रतिष्ठाको प्राप्त हो गयीं और सब देवता अपने मूल स्वरूपमें मिल गये और आरब्ध फल और अनारब्ध फल जो कर्म हैं प्रवृत्त फल और अप्रवृत्त फल जो कर्म हैं और बुद्धिकी उपाधिसे जो आभास है वह सब। देखो जो चैतन्य है, वह तो ब्रह्म है ही है और जो उपाधि है, सो? बोले—अविद्या कल्पित होनेके कारण, वह भी ब्रह्मसे/भिन्न नहीं है। तो जब अविद्याकी निवृत्ति होती है तो केवल आत्मा ही ब्रह्म नहीं हो जाता, उपाधि भी ब्रह्म हो जाती है, पर यह बात जिज्ञासुकी समझमें नहीं आती है।

जैसे समझो उपाधिमें जो आत्मा है सो तो ब्रह्म है, परन्तु यह उपाधि क्या है ? उपाधि माने समझो अन्त:करण, उपाधि माने शरीर। तो यह आत्मा तो ब्रह्म है, वेदान्त कहता है—तत्त्वमिस। अहं ब्रह्मास्मि—आत्मा तो त्रहा है और यह अन्तः करण क्या है? यह शरीर क्या है? कि यह त्रह्मके सिवाय कोई और होगा? बोले—और नहीं है। यह तो त्रह्मके अज्ञानसे ही, यह त्रह्ममें उपाधि किल्पत हुई थी जैसे ब्रह्ममें अपना जीवन अलग किल्पत हुआ था, वैसे ब्रह्ममें ही यह उपाधि अलग किल्पत हुई थी। तो जब ब्रह्मज्ञान होता है, तो जैसे अपना आत्मा ब्रह्मरूप ही है, यह ज्ञान होकर अपनेको जीव समझनेकी जो भ्रान्ति है, वह मिट जाती है, वैसे ही जब ब्रह्मज्ञान होता है, तब यह अन्तः करणको उपाधि समझना, देहको उपाधि समझना, जगत्को उपाधि समझना, यह जो समझनेकी भ्रान्ति है कि अन्तः करण और देहकी उपाधिसे जगत् भासता है, तो यह जो उपाधि और औपाधिक हैं—ये दोनों ही ब्रह्ममें अविद्यासे किल्पत हैं और ब्रह्मका ज्ञान होते ही इन दोनोंकी भी निवृत्ति हो जाती है।

परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति—तब परब्रह्म ही परब्रह्म परमात्मा. देवताके रूपमें भी ब्रह्म, अन्तः करणके रूपमें भी ब्रह्म, कलाके रूपमें भी ब्रह्म, आभासके रूपमें भी ब्रह्म और अनेकके रूपमें भी ब्रह्म; क्योंकि वह तो ब्रह्मके अज्ञानसे ही राब कुछ ब्रह्मसे जुदा दिखता है।

अब आगे नारायण, आठ नौ, दस ग्यारह—चार मन्त्र इस खण्डमें और रह गये और दिन दो हैं।



प्रवचन : 30, मंत्र 7 से 9 तक

ब्रह्मज्ञानीकी महिमा-5

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा—

कलाओंकी गिनती है पन्द्रह। कला कहते हैं एक अंशको। जैसे चन्द्रमामें सोलह कलाएँ होती हैं। तो कला अंशसे छोटा है। कलाके सम्बन्धमें शास्त्रमें अनेक उपचारका वर्णन आता है, निवृत्ति कला, विद्या कला, शान्ति कला, प्रतिष्ठा कला, शान्त्यातीत कला—ये सब शरीरमें होती हैं। फिर ऐसे पाँचका पन्द्रह कर देते हैं। यह भी एक कलाकी पद्धित है और के ब्रह्मणि लीयन्ते इति कला:। 'क' माने ब्रह्ममें जो अन्तमें लीन हो जाये उसका नाम कला। कला ऐसी होती है जैसे नट होता है, वह अपनी कला दिखाता है। गवैये होते हैं, वह अपनी कला दिखाता है।

अच्छा अव देखों, नट जो अपनी आँखकों भिन्न-भिन्न प्रकारसे संचालन करके कला दिखाते हैं। आँखसे माँग लो—यह कला है आँखकी, आँखसे अपना दु:ख प्रकट कर दे, आँख तो एक ही है और वह आदमी एक ही है, लेकिन आँखकों ऐसे ढंगसे संचालन करता है कि इसमें आर्ति होवे, इसमें याचना होवे, इसमें शृंगार रसका प्रदर्शन होवे, उसमें प्रीतिकी भावना होवे—खिलत, कितत, याचित, आर्त, दृष्त, विलत, एकसौ छब्बीस प्रकारसे नट अपनी आँखकों बनाकर बताता है। लेकिन वह जो नटकी कला है, वह नटसे भिन्न कोई चीज है क्या? कोई ठोस वजनदार वस्तु है? यह तो आँखकी कला बतायी। ब्रजमें ऐसे-ऐसे पद प्रसिद्ध हैं जिसमें श्रीकृष्णकी आँखोंका वर्णन है,आँखसे वो गजब ढाता है महाराज—ऐसे!

इसीको कला कहते हैं, जो अपने आश्रयसे भिन्न तो होवे नहीं, परन्तु अपनेको ऐसा-ऐसा ढंग दिखावे—गवैया लोग कला दिखाते हैं यह भैरवी है, यह धमार है, घनाक्षरी है, इनके जो भिन्न-भिन्न प्रकारके आलाप होते हैं, जय जयवन्ती है, यह केदारा है, यह गलेसे बताते हैं, गला ही तो है न। तो यह जो

आलाप उनका है, उसको कोई उनके गलेसे अलग करके दिखा सकता है कि उसका यह वजन है? यह गलेके संचालनकी ही प्रक्रिया है, कंठ, तालु आदिके आघातकी ही ऐसी प्रक्रिया है कि भिन्न भिन्न प्रकारके शब्द निकलते हैं, इसको कला बोलते हैं। जैसे चित्र बनानेकी कला है, ऐसा बनाते हैं चित्र कि एक ओरसे देखो तो सुभाष बाबू दिखें, एक ओरसे देखो तो नेहरूंजी दिखें, एक ओरसे देखो तो गाँधीजी दिखें। बनानेकी कला होती है, उलटकर देखों तो बच्चा मालूम पड़े और सीधाकर दो तो पुरुष मालूम पड़े ऐसे चित्र मैंने देखें हैं।

सीधे रहने पर जो पुरुषकी दाढ़ी मालूम पड़ती है, उलट देनेपर वह बच्चेका बाल हो जाता है। विचित्र-विचित्र चित्र बनाते हैं। तो यह क्या उस चीजसे जुदा होती है?

कलाका मतलब ही है कि एकको अनेक करके दिखा दे। एक गलेसे अनेक राग। एक पाँवसे नृत्यके अनेक ताल। अब देखो एक ही तो तबला है और एक ही तो हाथ और ये तालावचर—तबलची लोग इसपर क्या 'ता धिनता' की सृष्टि करते हैं। उसमें क्या उत्पन्न होता है? उत्पन्न कुछ नहीं होता, ध्वनिकी उत्पत्ति और ध्वनिका लय ही कलाकी उत्पत्ति और कलाका लय है। परब्रह्म परमात्मामें यह सृष्टिमें पन्द्रह कला हैं तो कुल-की-कुल। यह साँस चलना एक कला है, श्रद्धा होना एक कला है। यह परमात्माकी प्राप्तिके लिए श्रद्धा भी एक कला है। यह नहीं कि ब्रह्म ज्ञान होनेके बाद भी इसको धारण करना है। यह आकाशादि पंचक यह परब्रह्म परमात्मा कलासे अपनेमें दिखा रहा है। इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक—ये सब-के-सब असलमें नाम मात्र हैं परब्रह्म परमात्मामें।

तो जब यह कला अधिष्ठानसे भिन्न न मालूम पड़े। अच्छा, एक आदमी बड़े आनन्दसे मुस्कुराता है, उसका ऊपरी होंठ कैसे उठता है ऊपरको, निचला होंठ कैसे ऊँचा टेढ़ा होता है, विकसित होता है, दाँत कैसे दिखते हैं! अब उससे कहो कि भाई तुम्हारे पास मुस्कान तो बहुत बढ़िया है, थोड़ी-सी हमको दे दो हम अपने घर लेते जायेंगे। तो चित्र उठाकर ले जाओ, तब भी वह जड़ मुस्कान जावेगी, वह जो स्फुरण शील मुस्कान है वह तो नहीं जायेगी! इसीका नाम कला है कि हो तो एक, परन्तु अपनेको दिखा दें अनेक। तो ये परब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं—

देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु—यह रसोई बनानंकी कला एसी होती हैं महाराज! एक सज्जन काशीमें आये गौरीशंकर गांयनकाके घर। गौरीशंकर गांयनका बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनके बताया गया कि ये सज्जन तीन अत्रसे ज्यादा नहीं खाते हैं। कोई भी अन्न हो, पर तीन अन्नसे ज्यादा न हों। अन्न महाराज उन्होंने एक अन्नमें से चुन लिया चना और एक चुन लिया चावल और एक चुन लिया गेहूँ, बस तीन अन्न। लेकिन तीन अन्नसे जो पकवान बना उनके लिए, वह छप्पन प्रकारका हुआ।

तो यह तीन प्रकारके अन्नसे छप्पन प्रकारका भोजन बना देना, यह क्या हुआ ? इसीका नाम कला है। तो एक ब्रह्मसे अनेक प्रकारकी सृष्टि होना, यह कला है और यह कला दिखानेपर दिखे और शान्त करें तो शांत हो जाये, यह सृष्टिकी कला है। तो देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु और यह देवता है।

आप जानते हैं कि देवता क्या है? द्युतिमान, यह हमारी आँखमें, नाकोंमें, इन्द्रियोंके साथ कड़ी जोड़नेमें एक तृतीय वस्तुकी आवश्यकता पड़ती है। यह आप देखना जैसे यह हम फूल या घड़ी देख रहे हैं अपने हाथमें तो यदि यहाँ अँधेरा होता तो ये नहीं दिखते। ये होते तब भी नहीं दिखते, हमारी आँख होती तब भी नहीं दिखते। आँख न हो तब भी ये होनेपर भी नहीं दिखेंगे और ये नहीं दिखेंगे और ये नहीं तब भी आँख होनेपर भी ये नहीं दिखेंगे और ये दोनों हों पर रोशनी न हो तब भी ये नहीं दिखेंगे। माने हमको कोई भी वस्तु देखनेके लिए तीन वस्तुकी जरूरत पड़ती है, भौतिक रूपसे विषय, आध्यात्मिक रूपसे आँख और आधिदैविक रूपसे सूर्यकी रोशनी—दृग्रूपम् अर्कम्।

अब आप देखो कि इसमें यहीं ईश्वरकी जरूरत है वस्तुके ज्ञानके लिए। जब हम अपने दिलमें किसी वस्तुको देखते हैं तो देखनेवाले हम और दीखनेवाली वस्तु और देखनेके लिए जो प्रकाश है, वह ईश्वर।-

तो जब अद्वैत ज्ञान होता है तो यह कला और कलाकार, नट और नाट्य—दोनों ईश्वररूप हो जाते हैं और देवता, इन्द्रिय और विषय—ये ईश्वररूप हो जाते हैं और सारे कर्म ईश्वररूप हो जाते हैं और यह विज्ञानमय जो आत्मा है, विज्ञान माने अन्तःकरण—विज्ञायते अनेन इति विज्ञानम्। अन्तःकरणम्। तन्मयं आत्मा।

तन्मय: आत्माका अर्थ है कि विज्ञायते यस्मिन् और विज्ञायते येन तृतीय मुण्डक. द्वितीय खण्ड 505 तद्विज्ञानम्। जिसमें और जिससे ज्ञान होता है, उसका नाम है विज्ञान। माने हमारे भीतरके करण, भीतरकी इन्द्रियाँ। तो जब हम विज्ञानाभिमानी हो जाते हैं, माने अपनेको ब्रह्म न जानकर, इस अन्तः करणमें आकर आभास रूपमे वैठ जाते हैं या अविच्छित्र रूपसे इसको प्रकाशित करते हैं और उसके साथ ताटात्म्यापत्र हो जाते हैं, तब हमारा ही नाम होता है विज्ञानमय।

जव आदमी किसीके साथ तन्मय हो जाता है, तव उसको वोलते हैं कि वह तो तन्मय हो गया है भाई। लोभी आदमी धनमय हो जाता है। कामी पुरुष काममय हो जाता है। प्रेमी पुरुष प्रेममय हो जाता है—

'मैं बौरी ढूँढ़न चली रही किनारे बैठ।'

भागवतमें पुरंजनका वर्णन आता है कि वह पुरंजनीके साथ इतना घृल मिल गया था, इतना एक हो गया था। तो यह आत्मा जो शरीरके साथ एक हो गया है, इसके द्वारा वाहरकी चीजोंका ज्ञान होता है और जिससे ज्ञान होता है उस यन्त्रके साथ मिल गया। गीतामें जिसको वताया—यन्त्रारूढानि मायया। यह मनुष्य यन्त्रारूढ़ हो गया है। परमार्थका काम ही यह है कि दिलके साथ मत मिलो। अगर परमार्थके मार्गपर चलना है तो अपने मनसे मेल मिलाप मत करो। मनमुख परमार्थके रास्तेमें नहीं चलता, गुरुमुख परमात्माके परमार्थके मार्गमें चलता है।

अगर अपने मनकी आवाज मानने लगो, एक आदमी था यहाँ मुम्चईमें, जब हम करपात्रीजीके यज्ञमें आये थे, यहाँ मेरीन ड्राईव पर जब यज्ञ हुआ था, पहला; जहाँ श्रीनिकेतन बना है, उस समय सेक्सिरिया बिल्डिंग तक मकान बने हुए थे, श्रीनिकेतन नहीं बना था। यह मेघदूत, पारिजात आदि कोई मकान नहीं थे, जबकी बात है। तो एक सेट था यहाँ, उसको सपने आते थे कि आज यह नम्बर आवेगा और बस कलसे करोड़पति हुए। तो सचमुच यह पाँच-छह लाखका पहले था, फिर पचास लाखका हो गया। और एक दिन ऐसा सपना आया कि सब-का-सब बंटाढार। दीवाला निकल गया।

तो अपनी माँकी वातपर विश्वास करो, बापकी बात पर विश्वास करो, गुरुकी बातपर विश्वास करो, इनके अनुभवसे लाभ उठाओ। अगर सपनेकी बात मानने लगोगे तो चार दिन वह ठीक होगा, तो छह दिन, आठ दिनमें धोखा हो जायेगा। तो यह मनीराम आदमीको धोखा देते हैं। इनकी आज्ञासे मनुष्यको अपना जीवन नहीं बनाना चाहिए। विज्ञानसं, माने यह जो अनेकताका भाव हो रहा है सृष्टिमें, इससे अपनेको बचाना चाहिए।

तो जब यह आत्मा अपनेको अन्तः करणसे जुदा कर लेता है तो महात्मा हो जाता है, इस अन्तः करणमें मैं करके मत बैठो, इस अन्तः करणको मेरा करके मत बैठो। यह तन्त्रज्ञानका मार्ग है। न यह तुम हो, न यह तुम्हारा है। जैसे सपना दीर्घ संस्कारसे आता है और कभी सच्चा हो जाता है, यह घुनाक्षर न्यायसे ही सच्चा होता है।

घुनाक्षर न्याय क्या है? घुन अग्नमें में निकलते हैं, तो कभी कागजपर चलते हैं। तो संयोगवश कुछ अक्षर वन जाते हैं। अब घुनको तो अक्षर लिखना नहीं आता है, वे तो Bychance—संयोगवश वे अक्षर लिख जाते हैं। तो बोले— यह घुन वड़ा भारी पंडित है, क्यों? िक उसने तो अक्षर बना दिया, अब घुनके बनाये हुए अक्षरको पढ़ने लगो तो अच्छे विद्वान् हो जाओगे भला, घुन हो जाओगे! इसी प्रकार ये जो अपने सपने होते हैं, ये जो अपने मनोराज्य होते हैं, ये द्रेपसे पूर्ण होवें तो यह बुरे बुरे सपने आते हैं और रागसे पूर्ण होवें तो मोहब्बतके सपने आते हैं, ये सच्चाई वतानेमें समर्थ नहीं हैं। इसीलिए महात्मा लोग अन्तः करणसे असंग होकर रहते हैं तो कर्माण विज्ञानमयश्च आत्मा।

एक सज्जन कल कहे, यह भला परब्रह्म परमात्माको ज्ञेय क्यों वनाते हो? असलमें परमात्माको ज्ञेय नहीं तो अज्ञेय बना दो। अज्ञेय वना दो। तो आज ही वेदान्त विचारको तिलांजिल दे दो। भले सोपेनहावर हो जाओ, भले तुम कांट हो जाओ। रहस्यवादी हो जाओ, अज्ञेयवादी हो जाओ कुछ भी हो जाओ, यदि परमात्माको ज्ञेय नहीं मानोगे, तो अज्ञेय मानोगे। और अज्ञेय मानोगे तो जिज्ञासाकी प्रवृत्ति तो आज ही समाप्त हो गयी। नहीं भाई, परमात्मा न ज्ञेय है, न अज्ञेय है, यह दोनोंसे विलक्षण है। यह बड़ी विलक्षण बात है कि परमात्मा न तो घड़ीकी तरह ज्ञेय है और न तो आकाशके छोरकी तरह अज्ञेय है। यह तो दोनोंके बीचमें से रास्ता निकालना पड़ता है।

बहुत विलक्षण। परमात्मा ज्ञेय है कब तक? जबतक तुम विज्ञानमय होकर, माने अन्त:करणसे एक होकर ज्ञाता बने बैठे हो। यदि परमात्मा ज्ञेय है तब तो तुम्हारा ज्ञाता होना सफल है और यदि परमात्मा ज्ञेय नहीं है तो क्या होगा? या तो तुम कहोगे कि बस संसार ही ज्ञेय है और संसारको जानो और उसमें फँस जाओ और या तो यह कहो कि परमात्मा अज्ञेय है और मैं अज्ञानी हैं।

देखों, अगर परमात्मा अज्ञेय है तो तुम क्या हुए? बोले—अज्ञानी। जो परमात्माको नहीं जानेगा सो अज्ञानी हुआ। तो परमात्मा अज्ञेय रहेगा और तुम अज्ञानी रहोगे और यदि तुम कहो कि परमात्मा तो अज्ञेय है, लेकिन संसार ज्ञेय है तो संसार ज्ञेय रहेगा और तुम ज्ञाता, तब भी जीव दशाका भंग नहीं हुआ। एक ज्ञाता भी जीवदशा है और अज्ञ भी जीवदशा है। तो जीवदशासे मुक्ति नहीं मिल सकती।

जीवदशासे मुक्ति मिलनेकी पद्धित क्या है ? कि जवतक मैं जाता हूँ, तबतक जगत् ज्ञेय नहीं है, परमात्मा ही ज्ञेय है।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृत मश्रुतं।

हम तुमको वह ज्ञेय बताते हैं, जिसे जानकर अमृत्तत्त्रकी प्राप्ति होती है— ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

जबतक विवेक कर तुम अपनेको ज्ञातापनेसे जुदा नहीं करोगे, यह ज्ञाता कौन है, विज्ञानमय कोशमें आरूढ़ है, विज्ञानरूप अन्तः करणमें आरूढ़ है, जो चिदाभास है, जो अन्तः करण विच्छित्र चैतन्य है, दोनों पद्धित है, आभास भी और अन्तः करणाविच्छित्र कूटस्थ भी; माने बुद्धि सहित चैतन्य और चेतन सहित बुद्धि—इसीका नाम तो अध्यास है। यह जो अध्यासकी दशा है, इसमें अपनेमें ज्ञाता भासता है और परमात्मा ज्ञेय भासता है। तो पहले यह विवेक करो कि मैं ज्ञाता नहीं, शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ। अब परमात्माके बारेमें सोचो कि वह ज्ञाताका विषय ज्ञेय नहीं है। और ज्ञाताका विषय अज्ञेय भी नहीं है। वह तो नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म ही है।

अब इसमें एक बड़ी विलक्षण बात है कि कई लोग ऐसे भी होते हैं, जो विवेक कर यह निर्णय कर लेते हैं कि मैं जेयसे न्यारा ज्ञाता हूँ। मैं दृश्यसे न्यारा द्रष्टा हूँ। मैं साक्ष्यसे न्यारा साक्षी हूँ। बहुत अच्छा, आपने बहुत बिढ़या विवेक किया। आपके मुँहमें घी-शक्कर, आपको खूब मीठा लगे, स्वाद आवे। लेकिन यदि वे इस प्रश्नपर विचार करनेसे मुकर जायेंगे कि यह जेय क्या है, यह दृश्य क्या है, यह साक्ष्य क्या है, अपनेको केवल ज्ञाता-द्रष्टा-साक्षी जानकर सब कुछ हो जायेंगे, तो उनको अद्वय तत्त्वका ज्ञान नहीं होगा। बोले—यह रही

किताब और में इसको जाननेवाला इससे अलग और किताब चाहे टूटे, चाहे फुटे।

महाराज यह क्या बनता- बिगड़ता है ? अब यह क्या हुआ ? दरअसल तुमने अपनेको किताबसे न्यारा तो समझा, लेकिन किताब क्या है—यह तो अभी तुमको मालूम ही नहीं हुआ। क्यों नहीं मालूम हुआ ? यह किताब जो है इसमें सिर्फ दो ही दिशा है, विचार करनेकी, या तो इस किताबके उपादानका विचार करो, इसमें जो यह काली- काली लकीरें, अक्षर मालूम पड़ते हैं न, यह स्याहीके हैं। और लकीरसे बनाये गये हैं और कागज भी माटीके विकारसे ही बना हुआ है। तो असलमें इसमें लकीरें और स्याही और कागज और जिल्द, जो भी किताबमें मालूम पड़ रहा है, यह मृद् विकारसे न्यारा नहीं है। तो किताबका उपादान क्या है ? मिट्टी। तुम्हारे शरीरका उपादान भी मिट्टी। तुम्हारे अन्त: करणका उपादान भी मिट्टी पंचभूत। तन्मात्रा समझो।

तो अब इनके उपादानका विचार करते हुए किताबका उपादान, शरीरका उपादान, अन्त:करणका उपादान, उपादान माने मूल-मसाला, किस मसालेसे ये सब पैदा हुए हैं, इसका विचार करते-करते जगत्में देखो एक भूत सूक्ष्म जिसमें नामरूप प्रकट नहीं हुए हैं और नामरूपका बीज है, वैसी सत्ता, वह परमात्मामें कल्पित है, वह परमात्मामें माया है।

अब दूसरी दिशा उसकी यह हो सकती है कि आओ हम आँख बंद कर लें। तो किताब नहीं दिखेगी, मन बन्दकर लें तो आँख नहीं दिखेगी। तब यह क्या है? यह द्रष्टाकी तृष्टि है। या तो यह अखण्ड परमात्मामें जैसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड किल्पत हैं, वैसे यह धरती भी किल्पत है और इस पंचभूतमें यह, हम, तुम, वह—सब किल्पत है परमात्मामें। या तो यह कहो कि सम्पूर्ण जगत्के अधिष्ठान सिच्चदानन्दघन ब्रह्ममें यह सम्पूर्ण दृश्य किल्पत है, मिथ्या है, विवर्त है। और या तो यह कहो कि यह सम्पूर्ण सृष्टि मुझ सिच्चदानन्दघन द्रष्टाकी दृष्टिका विलास है। तो वह सिच्चदानन्दघन और यह सिच्चदानन्दघन केवल उपाधिके पकड़नेसे अलग-अलग मालूम पड़ते हैं और उपाधिको छोड़ देनेपर एक अखण्ड अद्वय सिच्चदानन्दघन ब्रह्म है।

तब यह उपाधि क्या हुई? यह उपाधि आत्मदृष्टिसे भी मिथ्या है और तत्त्व दृष्टिसे भी मिथ्या है। इसको बोलनेके दो तरीके हैं, एक तो यह कि देखो घड़ेसे मिट्टी न्यारी है और एक यह कि मिट्टीसे घड़ा न्यारा नहीं है। तो कभी हम यूँ बोलेंगे। कभी वों बोलेंगे कि सम्पूर्ण दृश्य प्रपंचमं आत्मा परमात्मा बिलकुल न्यारा है। कोई सम्बन्ध नहीं है। कभी बोलेंगे कि मिथ्या सर्पसे— कल्पित सर्पसे रज्जू विलकुल न्यारी है। और कभी यों वोलेंगे कि रज्जूसे सर्प विलकुल न्यारा नहीं है। तो स्व दृष्टिमं — ब्रह्म दृष्टिसे यह जगत् विलकुल न्यारा नहीं है। और जवतक अज्ञानी जाता वनकर प्रपंचका विचार करता है, तवतक वे भी इससे न्यारे हैं और परमात्मा भी इससे न्यारे हैं। तो जो परमात्मा न्यारा है. उसका नाम ईश्वर हुआ और जो जीवात्मा न्यारा है उसका नाम जीव हुआ। और जिससे न्यारा है, उसका नाम जगत् हुआ, प्रकृति हुआ। तो दृश्यका मृत कारण प्रकृति और सम्पूर्ण प्रकृतिको धारण करनेवाला परमात्मा और यह प्रकृतिके छोटे अंशको धारण करनेवाला जीवात्मा। लेकिन जव जीवात्माको दृङ् मात्र और परमात्माको दृङ् मात्र विवेक कर, उपाधिसे न्यारे कर दोनोंको एक जान लेते हैं तो यह प्रकृति और प्राकृत ये दो और ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड और भूत सृक्ष्म—ये सव-के-सव एक अद्वय ब्रह्ममें विना हुए ही भास रहे हैं। एक बात । और दूसरी वात यह होगी कि अद्वय ब्रह्मके सिवाय और कोई दूसरी चीज नहीं है, यह जानकी प्रणाली है। तो उस दशामें परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति — उस समय परम अव्यय तत्त्वमें सव एक हो जाते हैं।

तो अव बताते हैं, चलो गंगाजीको वहने दो। गंगाजी किधर बहे भाई? किधरका सवाल कहाँ है, जब सर्व देशमें, सर्वकालमें स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान रूपसे ब्रह्म ही विद्यमान है, तो किधर बहे? बोले—बस उसी ब्रह्मकी ओर बहे। किस देशमें बहे, किस कालमें बहे, किस वस्तुमें बहे—सो नहीं; वही जो अव्यय-अनन्त-अक्षय आकाशके समान अजर, अमृत, अभय, अपूर्व अबाह्म अद्वय, अनन्तर, शान्त ब्रह्म है, ब्रह्ममें सब-के-सब मिल जायें।

मिल जायें कैसे? उस चीजसे मिल जायें कि समाधिमें मिल जायें, बोले—नहीं भाई, यह जो तुम अलग समझते हो, यह अलग समझनेकी भूल छूट जाये। तो—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

3.2.8

जैसे निदयाँ जल है और समुद्र भी जल है, पर धरतीकी उपाधिसे नदीका जल अलग मालूम पड़ता है और समुद्रका जल अलग मालूम पड़ता है। जलमें क्या फर्क है ? जल तो जल ही है। बोले—एकका स्वाद मीठा है और एकका स्वाद खारा है, एक वड़ी धरतीपर है, एक छोटी धरतीपर है।

अय देखो विचारवान लोगोंसे पृछो कि जलपर धरती हैं कि धरतीपर जल हैं। धरतीमें पानी निकलता है कि पानीमें धरती निकलती हैं? यह जैसे बुलबुले निकलते हैं. समुद्रपर हम लोग धनुपकोटि गयं थे। तो यह जो समुद्रके बुदबुदे होते हैं, फेन होती हैं वह बड़ी-बड़ी होकर मन मन भरकी होकर जम जाती हैं। तो बिलकुल पत्थर सरीखी हो जाती हैं। साधु लोग जाते हैं तो उठा लाते हैं। हम लोग भी गये थे, हमारी स्पेशल ट्रेन जब गयी थी, सन् सन्तरमें. स्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज गये थे। वो मन-मन भरके फेनके टुकड़े उठाकर ले आये वहाँसे लाकर एक कुंड बना दिया। परमार्थ निकतनमें, स्वामी विद्यानन्दजी महाराज गये थे। अब लाकर एक कुंड वना दिया। और उस कुंडमें वह मन-मन भरका पत्थर डाल दिया। हल्का होता है, वह तो समुद्र फेन ही जमकर पत्थर बन गया है। वह डाल दिया, अवन्वह वहने लगा। तो बोले—कि देखो वो पत्थर ले आये हैं समुद्रसे सेतु जिन तैरनेवाले पत्थरोंसे रामचन्द्र भगवान्ने पुल बाँधा था, दर्शन करो, दर्शन करो। अव वहीं समुद्रमें जमनेवाले फेन पत्थर सरीखा हो जाता है।

तो देखो, समुद्रसे वह पत्थर पैदा हुआ है। पत्थरसे समुद्र पैदा नहीं होता, समुद्रसे पत्थर पैदा होता है। बोले—यह वही है, रामचन्द्र भगवान्के समय यह नल-नीलने छू दिया, तब ये समुद्रमें तैरने लगे थे उस समय, देखो अब भी तैरते हैं। दर्शन करो।

ये जो बड़े-बड़े महात्मा हैं वे पैसेके लिए ऐसा नहीं करते हैं, उसमें एक दूसरा भाव बताया, वह आपको सुनाते हैं। गाँवके लोग तो इस बातको जानते ही नहीं, तो वे जब कोई आश्चर्यकी बात सुनते हैं, तो उसे देखनेके लिए दौड़ पड़ते हैं। जब यह बात लोगोंमें ज्यादा मशहूर नहीं थी, तो उसे देखनेके लिए लोग ज्यादा जाते थे। वह पत्थर नहीं, बिलकुल समुद्र फेन है, पानी है। इसी प्रकार यह जो धरती है यह कहाँ बनी? यह धरती समुद्रमें बनी कि समुद्र धरतीमें बना? देखो, हमलोग धरतीपर रहते हैं इसीलिए मालूम पड़ता है कि

समुद्र भी धरतीपर रहता है। और यदि समुद्रमें रहो महाराज! तब मालृम पड़ेगा कि समुद्रके एक हिस्सेमें यह धरती है, पानी ज्यादा है और धरती बहुत कम है।

आजकल तो लोग कहते हैं कि तीन हिस्से समुद्र है, एक हिस्सा धरती है। शास्त्रोंमें वर्णन है कि दस हिस्सा जल है और एक हिस्सा धरती है। तो वह जो वातावरणमें जल रहता है, उसकी भी गिनती है। इसमें जो मट्टेमें पानी है, घी में पानी है, तेलमें पानी है, जो दहीमें पानी है, गन्नेमें जो पानी है, वह सब पानी भिलकर दही समुद्र, घृत समुद्र, ये सब समुद्र इसमें गिने हुए हैं तो दस गुना जल विकार है और एक गुना धरती है।

तो ये जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड दिखायी पड़ रहे हैं ये ब्रह्मरूप ही हैं। यह अपनी देह भी, इसमें जो विज्ञान है—अन्त:करण, वह भी, ये जिस मूल उपादान कारणसे बने हैं और जो मैं द्रष्टा हूँ—सो, उन दोनोंसे जुदा नहीं हूँ।

एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा कि यह द्रष्टा और दृश्यकी सन्धि क्या है ? यह सन्धिका अभिप्राय आप ऐसे समझो कि जैसे ये दो उँगली हैं, ये आपसमें मिलती हैं। तो दो उँगली अलग होवें, तो बीचमें आकाश होगा, पोल है दोनोंके बीच न होवे तो ? ये दो उँगली दो नहीं होंगी एक ही होंगी।

तो जव कभी कोई चीज दो होती है, तो उसके बीचमें तीसरी चीज उसे अलग करनेवाली होती है। एक हुआ द्रष्टा और एक हुआ दृश्य, दोनोंको अलग करनेवाली चीज क्या है?

तो देखो, एकने कहा कि दृष्टि है तो बोले—दृष्टि दृश्य है कि द्रष्टा है? दृष्टि भी तो दृश्य है! तो अभी प्रश्नका समाधान कहाँ हुआ? दृष्टि सहित दृश्य एक वर्गमें और द्रष्टा एक वर्गमें। तो द्रष्टा दृश्यमें सन्धि क्या है?

उड़िया बाबाजी महाराज बोले कि यह द्रष्टाके स्वरूपका जो अज्ञान है, वह अज्ञान ही सिन्ध है। द्रष्टाको तुम ब्रह्मरूपसे नहीं जानते हो, इसिलए यह समझते हो कि एक देशमें दृश्य है, एक देशमें में हूँ। एक कालमें दृश्य है, एक कालमें मैं हूँ। एक वस्तुके रूपमें यह जड़ दृश्य है और मैं द्रष्टा हूँ। तुम द्रष्टाको ब्रह्मरूप नहीं जानते। यह ब्रह्मका जो अज्ञान है, वही द्रष्टा और दृश्यका भेदक सिन्ध है। यदि द्रष्टाके स्वरूपका ज्ञान हो जाये, तो द्रष्टा और दृश्यमें भेद नहीं रहे।

यह दृश्य क्या है ? कि द्रष्टाकी दृष्टिकी दमक है। द्रष्टा ही दृश्य रूपमें भास रहा है। रज्जूपहित चैतन्य ही रज्जु और सर्प दोनोंके रूपमें भास रहा है। अन्तः करणोपहित चैतन्य ही अन्तः करण और उसके द्वारा दृश्यमान सम्पूर्ण दृश्यके रूपमें दिख रहा है। वह चैतन्य—अन्तः करणोपिधक चैतन्य और मायोपिधक चैतन्य भी वही है और उस चैतन्यमें माया और अन्तः करण दोनों मिथ्या भास रहे हैं। इस चैतन्यके सिवाय न माया है, न अविद्या है, न कार्य है न कारण है, न समिष्ट है, न व्यष्टि है। तो जैसे निदयाँ स्यन्दमान होकर समुद्रमें जाती हैं और अपना नाम रूप छोड़कर अस्त हो जाती हैं। अपना नाम रखना हो, अपना रूप रखना हो तो समुद्रकी ओर नहीं जाना। जैसे जुगनू सूर्यकी रोशनीमें जायेगा तो क्या होगा अपना नाम-रूप खो बैठेगा कि नहीं? आगकी चिनगारी अगर आगमें मिल गयी तो अपना नाम रूप खो बैठेगी।

एक कथा पढ़ी थी। जब झूसीमें रहता था, तब प्रयाग महातम्य पढ़ा था, बारह अध्यायमें है, द्वादशाध्यायी प्रयाग महातम्य है। सौ अध्यायका है, शताध्यायी है, 'प्रयाग-शताध्यायी।' तो जब ग्यारह-बारह दिनमें परिक्रमा हुई प्रयागराजकी, उड़िया बाबाजी महाराज भी परिक्रमामें थे, कई सौ आदमी थे, रामलीला थी, रासलीला थी और ऊँट-गाड़ी और बैलगाड़ी, हजारों आदमी। तो हम रोज प्रयागशताध्यायी सुनाया करते थे लोगोंको माहात्म्यमें। उसमें एक कथा आयी थी कि प्रयागराजमें जमुनाजी तो पहलेसे बह रही थीं, बड़ी गम्भीर, बड़ी गहरी, साँवरी-साँवरी। देखो, साँवरेके रंगमें रंगकर आयी थीं, वह तो बिलकुल साँवरी प्रयागराजमें बह रहीं। इसी बीचमें क्या हुआ? शिवके रंग-में-रंगी हुई गंगाजी, गोरी-गोरी उधरसे पधारीं। दोनों हिमालयकी बेटी। तो यमुनाको जब मालूम हुआ कि हमारी छोटी बहन गंगा, गोरी-गोरी शिवके रंग-में-रंगी हुई पधार रही हैं, तो बोलीं हमारी छोटी बहन है स्वागत करेंगे। और महाराज खूब बढ़के जरा बड़की ओरसे घूमके बाराबंकीकी तरफ हो गर्यी कि हम तो स्वागत करेंगे गंगाका। अब गंगाने क्या किया कि अपना मुँह फेर लिया और वह झूसी-प्रयागका पुल है, वहींसे घूम गयीं कि हम पूर्व जायेंगे। हम यमुनासे मिलेंगे ही नहीं, बिना मिले ही चले जायेंगे। अब यमुनाने पुकारा ओ बहन ! ओ बहन ! मुझे तुमसे इतना प्रेम है, मैं तुमसे गले लगनेके लिए खड़ी हूँ, तू आती क्यों नहीं ? उधर क्यों जा रही है, क्यों रूठ रही है ?

गंगाजी बोलीं कि बहन तू बड़ी है, धारा भी तेरी बड़ी. गहराई भी तेरी बड़ी और तू पहलेसे बह रही है, तो मैं आकर तुझमें मिलूँगी. तो न तो मेरा नाम रहेगा और न तो मेरा रूप, अबतक तो मैं गंगा गंगा बनकर आयी हूँ, जब तेरे अन्दर मिल जाऊँगी तो लोग सब यमुना बोलेंगे, गंगा तो कोई बोलेगा ही नहीं।

तो यमुना बोलीं, बस इतनी बाते है! तो ले तू मेरी छोटी बहन है, मैं आज मितनेकी खुशीमें अपना नाम और रूप दोनों तुमको दे देती हूँ। हमारे तो कृष्ण रह गये ब्रजमें, तो अब हमारा नाम रूप बहकर समुद्रमें जाये, अब मैं कृष्ण पत्नीकी जगह समुद्र पत्नी कहलाऊँ, यह मुझे पसन्द नहीं है। अब तो मैं कृष्ण पत्नी हो चुकी हूँ, अब मैं समुद्र पत्नी नहीं हो सकती, तो बहन मैं समुद्रमें नहीं मिलूँगी तुममें मिल जाती हूँ और मैं अपना नाम और रूप खो देती हूँ।

तो नाम रूप तो खोना था गंगाका, क्योंकि गंगा वहाँ पतली धारा है, हल्की है, छिछली है, दौड़ती हुई है और यमुनाजी बड़ी गम्भीर हैं, स्थिर हैं, धीर हैं और पहलेसे बहती हैं, लेकिन यमुनाने अपना नाम रूप गंगाजीमें खो दिया। तो बाबा जब मिलना होता है, तब अपना नाम रूप रखकर मिलना नहीं होता।

देखो, एक वैज्ञानिक अणु जानते हैं, अणुके ज्ञानी हैं और एक प्रकृतिके ज्ञानी हैं, जीवके ज्ञानी हैं, एक ईश्वरके ज्ञानी हैं, एक कपड़ेके ज्ञानी हैं, एक रोटीके ज्ञानी हैं और मैं? कि मैं ब्रह्मका ज्ञानी हूँ। तो ब्रह्म इस तरहसे आभूषण बनकरके कि कोई उसका ज्ञानी होकर बैठे, ब्रह्म नहीं रहता है। जो ब्रह्मका ज्ञानी होता है, वह अपना नाम रूप खो देता है।

तथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः।

अपना अगर नाम ही पकड़ोगे, तो नाम रखनेके लिए भी झुकना पड़ता है और अपना अगर रूप रखोगे तो? अरे बाबा, हिरण्याक्षका रूप नहीं रहा, हिरण्यकशिपुका रूप नहीं रहा। जो बड़े सुन्दर हुए, जिनके सौन्दर्यका वर्णन आता है, नल बड़े सुन्दर थे, दमयन्ती बड़ी सुन्दर थी, द्रौपदी बड़ी सुन्दर थी, और पुरुष भी बड़े विलक्षण-विलक्षण, यह चन्द्रमाके सौन्दर्यका जो वर्णन आता है, यह कथा भागवतमें है। शतपथ ब्राह्मणमें भी है। और शतपथ ब्राह्मणमें ही नहीं, ऋग्वेदके मन्त्रोंमें भी है। माने ऐसा हुआ आकाशमें कभी कि एक तारा जो बृहर्यातक मण्डलमें थी और बृहस्पतिक साथ चलती थी, वह तारा अपने मण्डलसे छृटकर चन्द्रमाके मण्डलमें चली गयी। एक तारा एक ग्रहको छोड़कर दूसरे ग्रहमें मिल गयी। तो वेदोंमें इसका वर्णन ऐसा रूपक वाँधकर किया हुआ है कि चन्द्रमाके सौन्दर्यपर तारा मुग्ध होकर चन्द्रमाके पास चली गयी। तो क्या हुआ कि ताराको प्रेम नहीं मिला, तो परम् सुन्दर जो चन्द्रमा था, उसके ऊपर मोहित हो गयी, तो उसके साथ सम्बन्ध हो गया। ऐसा वर्णन आता है।

वह है तो आधिदेविक और आध्यात्मिक उपाख्यान लेकिन पुराणोंमें, वेदोंमें इसका रूपक बाँध कर वर्णन किया गया। इसीलिए यदि कभी आर्यसमाजी लोग आक्षेप करते हैं न कि भागवतमें यह क्या लिखा है, तब उनके सामने यह मन्त्र उठाकर रख दिया कि जरा इसका अर्थ बता दो। तो जो उसका अर्थ है, वही इसका अर्थ है। ऐसे ब्रह्मा जब सरस्वतीके सौन्दर्यको देखकर मोहित हो जाते हैं, यह कथा आती है पुराणोंमें।

जब वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना छूट गया था तो स्वामी दयानन्दने ऐसी कृपा की कि लोग खूब प्रेमसे अध्ययन करने लगे। तो जब पहले लोगोंने प्रश्न किया यह क्या, यह सरस्वती क्या, यह ब्रह्माका मोहित होना क्या! सब पुराणोंमें गड़बड़ लिखी है। अब महाराज लोगोंने जब वेदोंमें से मन्त्र निकालकर रख दिया—

प्रजापतिः दुहितरं चकमे

अब जो वेदका मन्त्र सामने आया तो कैसे व्याख्या करें। तो देखों असलमें जो अपने नामको बचाना चाहता है, अपने रूपको बचाना चाहता है, रूप तो कभी बच नहीं सकता और नाम वह भी बदल जाता है। महाराज क्या बतावें, बड़े-बड़े नाम अभी कुछ थोड़े पढ़े-लिखोंका नाम मालूम होता है और इतिहासमें थोड़े दिनों तक लिखा रहता है। देखों अंग्रेजोंके जमानेमें जो पत्थर लगे हुए थे न, सड़कों पर और मूर्तियाँ लगी हुई थीं कि यह अमुक साहबकी मूर्ति है, लोगोंने उखाड़कर फेंक दिया। उसकी जगहपर दूसरे आगये। जो अंग्रेजोंके नामकी सड़कें थी न हिन्दुस्तानमें, हमारे सामने, अब उन सड़कोंका वह नाम नहीं रहा, बदल गया वह नाम। तो देखों, नाम भी कहाँ रहता है? लोग एक बार नाम लगाते हैं और एक बार नाम बदल जाता है।

यह रूप। नारायण बाल आगये, बाल कालेसे सफेद हो गये, मर गये। तो विद्वान् जानता है कि संसारका नाम-रूप तो छूटनेवाला है, वह उससे विमुक्त होकर मेरा यह रूप है और मेरा यह नाम है यह अभिमान उसको नहीं होता, क्योंकि वह परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्—जो पर अक्षरसे भी परे है, परत: पर:, वह अव्याकृतसे भी परे स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान परात्पर कारणातीत, कारण—साक्षी, कारणाधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्याभित्न स्वयं प्रकाश जो दिव्य पुरुष है उससे एक हो जाता है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याब्रह्म वित्कुले भवति।

तरित शोकं तरित पाप्पानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवित ॥ 3.2.9

जिसने महाराज इस परम ब्रह्मको जान लिया; यह अद्भुत बात है, दुनियामें जाननेसे कुछ नहीं होता है। आप जान लो कि घरमें बहुत बढ़िया रसोईं बनाकर रखी है, खीर बहुत अच्छी बनी, पर जाननेसे क्या होगा? वह तो खानेको चाहिए न! खानेको न मिले तो किस कामकी?

एक परिवार है अतरौलीमें। उसको उसके बाप-दादा बता गये थे कि हमारे इस मकानमें चहबच्चा गड़ा हुआ है। चहबच्चा माने करोड़ोंकी सम्पत्ति सोना, हीरा, उसमें गड़ा हुआ है। अब उन बेचारोंको तो खानेकी भी तकलीफ होती है, लेकिन वह घर, वह जमीन नहीं छोड़ सकते, क्योंकि बाप-दादोंने कहा है कि उसमें चहबच्चा गड़ा हुआ है। खुदवाते हैं तो मिलता नहीं है और वह जमीन बेच सकते नहीं, क्योंकि पता नहीं किस हिस्सेमें गड़ा हुआ है।

तो यह जानकारी होनेपर भी कि धन यहाँ गड़ा हुआ है, जबतक मिले नहीं, तबतक किस कामका? लेकिन महाराज यह जो अपना आत्मा है आत्मदेव यह कैसा है? तो जब दूसरी चीज होगी, तब जानने भरसे नहीं मिलेगी, जाननेके बाद उसको पानेके लिए प्रयत्न करना पड़ेगा और पाना पड़ेगा, लेकिन अपने आपके बारेमें अगर कोई चीज आप जानोगे, तो जाननेके बाद उसको पाना नहीं पड़ेगा, वह तो मिला-मिलाया है। इसीलिए ज्ञान कर्मका अंग नहीं है। संसारका ज्ञान कर्मका अंग है। कर्म बड़ी चीज और ज्ञान छोटी चीज है, संसारमें।

आजकल देखो लोग प्रोफेसर होना पसन्द नहीं करते हैं, इंजीनियर होना

पसन्द करते हैं। डाक्टर होना पसन्द करते हैं। क्यों? कहते हैं प्रोफेसर या संस्कृतका पण्डित बेचारा क्या करेगा? वह महाभाष्य स्वयं पढ़ेगा, अष्टाध्यायी पढ़ेगा और उसका सबसे बड़ा काम होगा कि वह दूसरे विद्यार्थी को वहीं महाभाष्य और वहीं अष्टाध्यायी पढ़ाते मर जाये। लेकिन इंजीनियर जब पढ़ेगा तो वह सिर्फ पढ़कर पढ़ावेगा नहीं, मकान बनाकर तैयार कर देगा। मोटर बनाकर तैयार कर देगा। दवा बनाकर तैयार कर देगा। वह काम करेगा, तो संसारमें जो ज्ञान होता है, वह काम करनेके लिए होता है, सिर्फ जानकारी प्राप्तकर अपने दिलमें रख लिया, वह ज्ञान संसारके कामका नहीं होता। लेकिन यह जो आत्मज्ञान है, यह इंजीनियरिंगका या डाक्टरीका या खेतीका अंग नहीं है, यह तो अपने बारेमें ऐसी जानकारी है कि यदि यह प्राप्त हो जाये तो कुछ करना बाकी नहीं रहता है।

दूसरी चीज जाननेके बाद भी अप्राप्त रहती है और अपना आपा जाननेके बाद अप्राप्त नहीं रहता है। दूसरेके पास चलकर जाना पड़ता है और अपने पास चलकर नहीं जाना पड़ता। इसलिए यह जो तत्त्वज्ञान है इस परब्रह्मको जिसने जाना स ब्रह्मैव भवति। जो अपनेको ब्रह्म जान लेता है। ब्रह्म ही हो जाता है। इसका अभिप्राय क्या है? अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसका अपना स्वरूप है। नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। अस्य कुले अब्रह्मवित् न भवति।

इसकी शिष्य परम्परामें जो आ जाता है, वह अब्रह्मवित् नहीं होता। ब्रह्मज्ञानीके चेले-का-चेला, चेले-का-चेला, 'कुले'—माने कुल। यह कुल दो तरहका होता है—एक बिन्दुका, माने वीर्यसे पैदा होता है और एक नादका। तो ब्रह्मवेत्ताका दोनों प्रकारका जो वंश है, उसमें जो पैदा हो जायेगा वह ऐसे रास्तेपर चल पड़ा जो कभी-न-कभी ज्ञानी हो जायेगा।

अब वह जिज्ञासु होगा, अब वह शुद्धान्त:करण होगा, एक जन्ममें नहीं, दो जन्ममें, दो जन्ममें नहीं, दस जन्ममें उसका रास्ता बदल गया, अब वह संसारके रास्तेमें नहीं जायेगा और वह—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।

वह ब्रह्मवित् हो जायेगा।

तरित शोकं तरित पाप्पानं—वह हर्ष और शोक दोनोंको तर जाता है। तो यहाँ यह वर्णन किया कि भाई, अच्छा काम कोई करने लगता है तो

उसमें विघ्न पड़ते हैं, क्योंकि कोई देवता है, कोई मनुष्य है, कोई ऋषि है। ऋषि शाप दे तो विघ्न पड़ जाये, देवता नाराज हो जाये तो विघ्न पड़ जाये, मनुष्य कोई ऐसा षड्क्षक लगा दे—कुछ ज्योतिषमें एक षड्क्षक योग होता है. कन्या और वरकी जब कुँडली मिलाते हैं, उनके छठे हुए और उनके आठवें—ऐसे जब पड़ गये—षड्क्षक, तो षड्क्षक होनेपर उसको अच्छा नहीं मानंते हैं। तो मनुष्यको बीचमें षड्क्षक लगा दे, षड्यन्त्र रच दें। तो बोले मनुष्य, देवता, देत्य बाधा डालते हैं। तो कहीं ब्रह्मदेवता भी मरकर किसी दूसरी गतिको न प्राप्त हो जायें। बोले—नहीं, तत्त्व ज्ञानसे ही उसके सारे प्रतिबन्ध दूर हो जाते हैं, क्योंकि अपनी मुक्तिमें अज्ञानके सिवाय दूसरी कोई रुकावट नहीं है। मुक्ति नित्य है और अपना स्वरूप है, इसलिए जो इसको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है और उसके कुलमें सब ज्ञानी होते हैं।

और महाराज 'शोक' कहाँसे आता है ? यह जो लोग 'शो' दिखाते हैं बहुत, उन्हींको शोक होता है। यह शोक क्या है कि अनेक इष्ट अपने मनमें आकर बस गये कि हम व्यापार करके धनी बनें, कि ब्याह करके भोगी बनें, कि चुनाव लड़के मिनिस्टर बनें। अब यह मनमें जब उलझन पैदा की जाती है कि इधर-कि-उधर तब शोक आता है। अरे महाराज, फाड़ दुपट्टा एक तरफ हो जाओ तो शोक काहेका ? यह निश्चय कर लो कि हमको तो एक ही तरफ चलना है, तो शोक काहेका है।

हमने हरद्वारमें देखा, लोगोंमें यह हो कि यह हो। एकने कहा—देखो भाई, तुमको शंका हो रही है कि यह खुफिया पुलिसका आदमी है, कि यह डाकू है? यही न! तो लो हम अपने सारे कपड़े उतारकर फेंक देते हैं, ये तुम ले जाओ, इसमें जो हथियार हो सो ले लेना, जो कागज हो सो ले लेना, और हम? कि बिलकुल नंगे और छोड़कर चल पड़ा, हो गया फकीर। अब कोई क्या करेगा? तो यह फकीर जो है 'फिकर फाँक फकनी करे, ताको नाम फकीर।' यह शोक तो उन्हींको होता है जो मनमें उलझन बढ़ानेकी कोशिश करते हैं। ऊपर हो जाये ता शोक काहेका? बिलकुल नक्की कर लो, इधर-कि-उधर!

तरित शोकं तरित पाप्पानं—बोले—शोकका कारण तो पाप है। यह दु:ख जो है यह पापका लिंग है। माने पापका चिह्न है। जिस आदमीके चित्तमें ज्यादा दुः ख होता है उसके पापके संस्कार बहुत प्रबल हैं। पापकी कोई पूँछ नहीं होती। आपने कभी देखा है कि पाप कैसा होता है? कैसी पूँछ, कितनी लम्बाई, कितनी चौड़ाई? काला कि गोरा? पाप कभी देखा है कि कैसा होता है। दिलका बारम्बार दुःखी होना यही पूर्वकृत पापोंकी पहचान है। मनमें वासना होना, पाप कर्म करना और दुःखी रहना—ये पापके तीन स्तर हैं। तो यहाँ 'पाप' शब्दका अर्थ है कर्ममात्र। पाप और पुण्य दोनों। क्योंकि दोनों फँसाते हैं।

तरित पाप्पानं धर्माधर्माख्यम्।

शंकराचार्य भगवान्ने कहा कि धर्मके नामपर भी पाप आता है। कि स्वर्गमें जायेंगे और भाई सच पूछो तो थोड़ा पापके बिना धर्म बनता भी नहीं। कैसे बनता है? एक गाँवमें बड़ा भारी संगीतका उत्सव हुआ, हजारों आदमी इकट्ठे हुए, पचासों, सैकड़ों महात्मा आये, हम लोग उसी गाँवमें ठहरे हुए थे। एक दर्जी आकर रोने लगा, बोला—स्वामीजी, आप लोगोंका उत्सव तो बहुत बढ़िया हो रहा है, हम तो गाँव छोड़कर जा रहे हैं। बोले—भाई! क्यों गाँव छोड़कर जा रहे हो? तो बोला कि जमींदार साहब जो यह संगीतका उत्सव कर रहे हैं, इन्होंने हर घरपर सौ रुपयेका चन्दा लगाया है और न दें तो ये जूता मारते हैं और हमारे पास तो सौ रुपया देनेको नहीं है। या तो गाँव छोड़कर जायँ, नहीं तो यह मार डालेगा ऐसा जल्लाद है।

उड़िया बाबाजी महाराजके पास खबर गयी, इतना बड़ा संकीर्तन और यह क्या हो रहा है, ये गाँवके गरीबोंको सतानेके लिए संकीर्तन हो रहा है। तो उड़िया बाबाजी ने एक दूसरे जमींदारसे बातकी तो उसने कहा—अच्छा, इसमें जितना खर्च होगा, यह सब मैं दे दूँगा, गाँवसे चन्दा इकट्ठा न किया जाय।

तो देखो; एक ओर संगीतका उत्सव होगा, दूसरी ओर चन्दा कर लोगोंको तकलीफ दी जायेगी, एक ओर घरमें काम करनेवालोंको सोनेका समय नहीं मिलेगा, खानेका समय नहीं मिलेगा, भूखे रह जायेंगे। तो जहाँ कहीं ज्यादा बढ़ावा कर धर्म करते हैं, यज्ञ करते हैं तो पशुकी हिंसा ही हो जाती है, मन्त्र बोलते हैं तो अशुद्ध ही हो जाते हैं बोलनेमें, तो ऐसा कोई पुण्य नहीं होता, जिसमें थोड़ा-थोड़ा पाप न जुड़ जाय। लेकिन यह वेदान्त ज्ञान ऐसां है कि इससे पाप और पुण्य दोनोंसे पार हो जाते हैं।

देखो, यह बात मैंने कैसे कही?

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।

देखो, कई लोग कथा सुननेका पुण्य लेते हैं, तो कई लोग जूता चुरानेका पाप भी लेते हैं कि नहीं? तो नारायण, यह संसारमें जितने कर्म होते हैं. उसमें पाप-पुण्य दोनों लगे रहते हैं। जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है, तब मनुष्य पाप पुण्य दोनोंसे पार हो जाता है। और—

गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति-

यह जो गुहाग्रन्थि है, हृदय ग्रन्थि और अविद्या ग्रन्थि—दो ग्रन्थि पहले बतायी गयी है। अविद्या वासना प्रपंच ग्रन्थि जो है उसे काम ग्रन्थि बोलते हैं—हृदय ग्रन्थि और केवल अविद्या मात्र जो ग्रन्थि है, माने समझो गाँठ पड़ गयी है जड़-चेतनकी, सच्ची पड़ी है कि झूठी? तो गाँठको सच्ची मानना यह अविद्या ग्रन्थि है और हमको यह मिले, यह मिले, इसके बिना हम सुखी नहीं होंगे—तो यह हृदय ग्रन्थि इसको बोलते हैं। संसारमें किसी चीजके बिना अपनेको दु:खी मानना यह दिलकी गाँठ है। दिल कहीं गड़ गया। और अविद्या ग्रन्थि क्या है? अपने आपको न जानना मात्र ही अविद्या ग्रन्थि है। तो जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है तो हृदय ग्रन्थि और अविद्या ग्रन्थि—दोनों छूट जाती हैं। इनसे विमुक्त होकर मनुष्य स्वयं अमृत स्वरूप हो जाता है, माने अपने अमृत स्वरूप आत्माको जान लेता है।

अब दो भन्त्र मुण्डक उपनिषद्में और हैं।



प्रवचन : 31, मंत्र 10-11

उपसंहार-ब्रह्मविद्या सम्प्रदानकी मर्यादा

मुण्डकोपनिषद्के तीसरे मुण्डकके दूसरे खण्डमें नवें मन्त्रमें उपसंहार किया गया विद्याका—स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवित नास्याब्रह्मवित्कुले भवित। जिसने परम् ब्रह्मको जान लिया, वह ब्रह्म ही हो गया। और उसके कुलमें, उसकी शिष्य परम्परामें जो कोई भी पैदा होता है, जो कोई उसकी शिष्य परम्परामें आता है वह अब्रह्मवित् नहीं होता है, घूम-फिरकर एक जन्ममें, दो जन्ममें उसको ब्रह्म ज्ञानकी प्राप्ति होती ही होती है। वह शोकके पार हो जाता है, वह धर्माधर्मसे पार हो जाता है, वह गुहाग्रन्थिसे विमुक्त होकर स्वयं अमृत स्वरूप हो जाता है।

उपनिषद्के प्रारम्भमें यह प्रश्न किया गया था कि वह कौन-सी वस्तु है जिसके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है ? एक ऐसी चीज है जिसको जान लेनेपर कोई भी चीज जाननेको बाकी नहीं रहती।

दूसरे उपनिषदों में जब यह प्रश्न उठाया गया है, तो वहाँ तर्क किया गया है कि भला ऐसे कैसे हो सकता है कि एक वस्तुको जानो और सबका ज्ञान हो जाय! और वहाँ बताया है कि जैसे लोहाके ज्ञानसे लोहेसे बनी सब वस्तुएँ, सोनाके ज्ञानसे सोनासे बनी सब वस्तुएँ, मिट्टीके ज्ञानसे मिट्टीसे बनी सब वस्तुएँ समझमें आजाती हैं, इसी प्रकार जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण चैतन्यको जान लेनेसे अहं और इदं—ये दोनों उससे भिन्न नहीं रहते हैं। अहंके रूपमें भी वही फुर रहा है और इदंके रूपमें भी जही फुर रहा है, उसके ज्ञानसे कोई भी ज्ञान शेष नहीं रहता।

फिर यह हुआ कि इस बातके लिए प्रमाण कौन-सा मानना चाहिए। प्रमाण आप यह नहीं समझना जैसे आपसमें बातचीत करते हैं और चार-चौपाई बोल देते हैं और वह प्रमाण हो गया। संस्कृतमें विद्वान् प्रमाणके सम्बन्धमें बहुत सावधान हैं। व्याकरणके महाभाष्यकारने लिखा किं भोः श्लोकाः प्रमाणम्! क्यों भाई, कोई बात श्लोकबद्ध कर छन्दमें बोल दी जाये इसीसे क्या वह प्रमाण हो जाती है? कि नहीं, उससे प्रमाण नहीं होती है, प्रमेयं-वस्तुका जिससे साक्षात्कार होवे, जिस वस्तुको हम जानना चाहते हैं,

उसपर जो आवरण है अविद्याका आवरण है, वह अज्ञानावरण जिससे ध्र्यस्त हो जाये उस वस्तुका साक्षात्कार हो जाय, उसको प्रमाण बोलते हैं। जैसे रूपके विषयमें नेत्र प्रमाण है;जैसे हमारे मनमें कौन शत्रु है, कौन मित्र है, इसके बारेमें हमारे मनमें जो संस्कार युक्त ज्ञान है वह प्रमाण होता है; जैसे हमें सुपुप्ति अवस्था होती है उसमें कौन प्रमाण है? हमको स्वप्रावस्था होती है, इसमें कौन प्रमाण है? साक्षी प्रमाण है। यह साक्षी भास्य है। इसमें दृसरेका साक्ष्य नहीं है। हमने सपना देखा, यह बात क्या अन्यको मालूम पड़ सकती है? हमको गहरी नींद आयी, यह बात क्या किसी अन्यको मालूम हो सकती है? इसमें प्रमाण कौन है? कि इसमें मैं प्रमाण हूँ। मैं ही साक्षी हूँ उसका। इसी प्रकार यह जो साक्षी मैं है, यह ब्रह्म है— इसमें कौन प्रमाण है? इसमें केवल श्रुति प्रमाण है।

श्रुतिने विस्तारसे विचार कर यह बात बतायी कि देखो भाई वेद तो सब लोग पढ़ते हैं, तो सबको यह बात क्यों नहीं मालूम पड़ती कि एक अद्वितीय ब्रह्म है ! उसके उत्तरमें यह बात बतायी गयी कि विद्या दो प्रकारकी है, एक अपरा विद्या और एक पराविद्या। जो यह बतावे कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, जो भेदका अवलम्बन लेकर प्रतिपादन करे, वह शब्दाराशि है तो वेद, परन्तु वह धर्म विषयक कर्त्तव्य विषयक निर्णय देनेवाला होनेसे और शब्द प्रधान होनेसे. अर्थ प्रधान न होनेसे (अपरा विद्या है) । केवल शब्द प्रधान है अपरा विद्या, यह जो कर्मकाण्ड कराते समय वैदिक लोग मन्त्र बोलते हैं, श्रेश्वरकी पूजा करायी और शत्रो देवीरविष्ट्र आपो भवन्तु पीतये।यह मन्त्र बोल दिया।तो अब इस मन्त्रका शनिश्चरके साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध देखनेमें नहीं आता है, परन्तु यह शब्दका ही साम्थ्य है जिससे शनिश्चरकी पूजा हो जाती है। तो शब्द सामर्थ्य प्रधान जो मन्त्र हैं वे अलग हैं और अर्थ प्रधान जो मन्त्र हैं वे अलग हैं, अर्थमें भी द्वैतके प्रतिपादक मन्त्र अलग हैं और अद्वैतके प्रतिपादक मन्त्र जुदा हैं। सबका समन्वय अद्वैतके प्रतिपादनमें होता है। इसलिए अक्षर तत्त्वके निरूपणमें जो पराविद्या है वहीं प्रमाण है। यदि ब्रह्मका निर्माण करना होता तो इसमें कर्म उपासना योग प्रमाण होते। परन्तु स्वयं सिद्ध ब्रह्मके लिए निर्माण नहीं चाहिए, उसके लिए ज्ञापक प्रमाण चाहिए जो वस्तुका साक्षात्कार करा दे। साध्य वस्तुके लिए कर्म उपासना योगके द्वारा निर्माण होता है और सिद्ध वस्तुके लिए प्रमाणके द्वारा केवल अविद्या आवरण, अज्ञानावरणका भंग मात्र होता है।

उस वस्तुका तरह तरहमं प्रतिपादन किया गया। कर्म विद्यासं वराग्यकी बात बतायी गयी, लांक परलोकसे वैराग्य करो। परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् बाह्मणो निर्वेदमायात् और उसके बाद तत्त्व निरूपण हुआ। ऐसा विलक्षण तत्त्वका निरूपण है मुण्डकोपनिषद्में—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परताः परः॥

इस प्रकार तत्त्वका प्रतिपादन और यह जो शुद्ध तत्त्व है उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं।

देखो. पहले तो अक्षरात्परतः परः बोलते हैं, वह सबसे परे जो अक्षर उससे भी परे है। अप्राण। अमना है। शुभ्र है। यह हुआ तत्त्वका विवेक, और—

> ब्रह्मैवेदममृतं परस्ताद ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तेरण। अधशोध्वं च प्रेसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं विरिष्ठम्॥

ब्रह्मातिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है, केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म है और उसके लिए साधनका जो वर्णन किया, साधनमें ब्रह्मचिन्तन, प्रणवका आलम्बन, सत्य, ब्रह्मचर्य, सम्यक् ज्ञान, श्रद्धा—इन सब वस्तुओंका वर्णन किया और अन्तमें यह बात बतायी कि—

तरित शोकं तरित पाप्पानं गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।

जो इस ब्रह्मको जान लेता है, उसके जीवनमें कोई शोक नहीं होता है। सम्पूर्ण शोकोंको निवारण करनेवाली यह ब्रह्मविद्या है और फिर उसको कर्मका फल नहीं भोगना पड़ता, कर्मके फलसे वह मुक्त हो जाता है। तरित पाप्पानं—में पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, यह जो कर्मको अपने साथ जोड़ना है, यह पात्मा है और इसी पापके कारण पुण्यसे सुख और पापसे जो दु:ख मिलता है, वह भी पाप्पाके अन्तर्गत है। तो कर्त्ता-भोक्ता-परिच्छित्र संसारीपना जो है, यह गुहा ग्रन्थिसे ही वह विमुक्त हो जाता है। और,

अमृतं ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद ब्रह्म पश्चाद् यहाँ जो बताया विमुक्तो अमृतो भवित यहाँ अमृत शब्दका अर्थ वहीं ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद—जो अमृत ब्रह्म है, वही है वह और इसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इस उपनिषद्में विदेहमुक्तिकी तरफ ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया कि आदमी जिन्दा तो ध्यान करे और मरनेके बाद उसको अनुभव होवे, यह भी एक विलक्षण बात है।

दूसरे जितने उपासनाके सम्प्रदाय हैं वे जीवन्मुक्तिको स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि यह नरक, स्वर्ग, पुनर्जन्म आदि जो हैं, ये तो मरनेके बाद मिलते हैं। इसलिए यह जो मुक्ति होती है ब्रह्मज्ञानसे, यह मरनेके बाद होती है, माने मरनेके बाद उसको नरकमें, स्वर्गमें, पुनर्जन्ममें नहीं जाना पड़ेगा। इतना ही ज्ञानका फल है और यह संसार जबतक है, तबतक तो चलता रहेगा, इसका प्रवाह सच्चा है। लेकिन अद्वैत सम्प्रदाय इसको स्वीकार नहीं करता है। अद्वैतके विद्वान् इस बातको स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म ज्ञान होनेके बाद वर्तमान जो दृश्य प्रपंच है इसका भी कोई सत्त्व और महत्त्व नहीं रह जाता है, इसलिए मुक्ति केवल मरनेके बाद नहीं होती, वेदान्तका ठीक-ठीक ज्ञान होनेके साथ ही अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है—इहैव।

इसीलिए इस उपनिषद्में बारम्बार 'इहैव' शब्दका प्रयोग आया है। अविद्याग्रन्थिं विकीरतीह सोम्य।

इसी जगह, इसी जीवनमें जो अविद्या ग्रन्थिको विकीर्ण कर देता है—खोल देता है, अविद्याकी गाँउ कोई उसके लिए रहती नहीं है। तो ऐसी यह उपनिषद् है सद्योमुक्ति देनेवाली तत्त्वज्ञानसे। यह ध्यान प्रधान उपनिषद् नहीं है, यह ज्ञान प्रधान उपनिषद् है और यह विदेहमुक्ति प्रधान उपनिषद् नहीं है, जीवन्मुक्ति प्रधान उपनिषद् है और यह लोक विशेषमें जाकर मुक्ति होती है यह वर्णन करनेवाली नहीं, इसी लोकमें मुक्ति होती है, परन्तु यह जो आत्मा है वह कोई घटपटादिवत् लौकिक व्यवहारका विषय नहीं है, क्योंकि यह साक्षी है, यह द्रष्टा है और इसकी ब्रह्मताका प्रतिपादन करनेके लिए उपनिषद् है। इसलिए यह कोई लौकिक विज्ञानके समान यन्त्रगम्य विज्ञानके समान यह विज्ञान नहीं है। यह तो अपने हदयमें भीतर बैठी हुई, जो वस्तु है उस वस्तुका वर्णन करनेवाला विज्ञान है, और आपने यह श्रवण ही किया कि न तत्र सूर्यों भाति न चन्द्र, तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि।

अब बताते हैं कि इसका अधिकारी कौन होता है। ग्रन्थके अन्तमें अधिकारीका निरूपण कर देते हैं—

तदेतदऋचाऽभ्युक्तम्।

यही बात ऋग्वेदकी ऋचाके द्वारा कही गयी है। ऋग्वेदमें एक मन्त्र आता है। ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवाधि विश्वे निषेदुः। यस्तत्र वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इशे समासते॥

सारे देवता मन्त्रमें निवास करते हैं। जो उसको नहीं जानता है, वह वेदके सब-के-सब मन्त्र कंठस्थ करके भी क्या करेगा? बहुत सारे मन्त्र उसको कंठस्थ हैं, पर उनके वर्णनका जो अभिप्राय है, उसको नहीं जाना, तो वह मन्त्रको जानकर क्या करेगा। श्रीमद्भागवतमें आया—

मण्डूका व्यसृजन् गिरः

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी मेंढकों की बोलीको बताया है कि-

वेद पढ़िहं जनु बटु समुदाई।

रामचिरत मानसमें वर्षा ऋतुका वर्णन है, तो वहाँ यह वर्णन किया कि मेंढक जो टर्र-टर्र करते हैं तो वह ऐसे ही लगता है कि जैसे ब्रह्मचारी लोग वेद पढ़ रहे हों और भागवतमें भी यही है—मण्डूका व्यसृजन् गिर:। अब भागवतमें तो यह है सो है ही, ऋग्वेदमें भी है, वेदपाठको मण्डूक वाणीके साथ क्यों उपमा दी गयी? तो एक विसष्ठसूक्त है ऋग्वेदमें। ऋग्वेदमें ऐसा वर्णन है कि एक बार लोकमें अवर्षण हो गया, वर्षा नहीं हो रही थी; लोग दुर्भिक्षसे बहुत पीड़ित थे, तो विसष्ठ ऋषिको बहुत भारी चिन्ता हुई कि ये लोग तो भूखे-प्यासे मर जायेंगे, जब पानी नहीं बरसेगा तो अन्न नहीं होगा और लोग भूखे रह जायेंगे।

अब महाराज, वे ध्यानमें बैठे तो विसष्ठ ऋषिको वे मम्त्र दिखायी पड़े जिनके प्रयोग करनेसे वर्षा होती है। तो जिस समय उन मन्त्रोंका दर्शन हुआ विसष्ठ ऋषिको, उसी समय वहाँ मेंढक बोलने लग गये। तो मेंढक बोलनेका अर्थ बरसातके प्रारम्भमें यह होता है कि वर्षा-ऋतु आ गयी। वे वर्षा ऋतुके सूचक होते हैं। तो विसष्ठने कहा कि हमारा संकल्प था कि वर्षा होवे और हमारे उस संकल्पको पूर्ण करनेके लिए ये मेंढक बोल रहे हैं। यह मेंढकोंकी कथा है वेदमें। विसष्ठ ऋषिने जब देखा कि मण्डूक तो हमारे संकल्पकी पूर्तिको और निकट ला रहे हैं और मदद कर रहे हैं, तो उन्होंने दो-तीन मन्त्रोंमें उन मेढ़कोंकी स्तुति की, प्रशंसा की।

मण्डूका कस्मात्? मञ्जूका भवन्ति।

ये मण्डूक क्यों हैं ? बोले-ये बर्ड़ मञ्जूल होते हैं। ब्रह्म इवं चतुष्पाद

भविन्त। यह जैसा ब्रह्म है, उसी प्रकार ये चतुण्याद होते हैं। ये केवल अपग विद्यांके जानकार ही नहीं होते हैं, बल्कि मण्ड़कका सहारा लेकर तो चतुण्याद ब्रह्म (माण्डूक्य) का भी बोध हो सकता है। तो ये केवल अपरा विद्यांके आचार्य नहीं, परा विद्यांके प्रतीक भी हैं। तो यह ऋग्वंदमें इस प्रकारसे यह मण्डुकोंकी कथा आयी है। तो वह तो दूसरा प्रसंग है—तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम्। जो ऋचाको तो पढ़े, परन्तु ऋचांके अर्थको न जाने, वह तो भारवाही है। तो यदि वेदान्त विज्ञानको आप समझना चाहते हैं तो कैसा होना चाहिए? बोले—

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः

स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः।

तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत

शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ 3.2.10

तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम्—यह बात इस मन्त्रसे कही गयी है। पहली बात यह है कि 'श्रोत्रियाः'—वेदका स्वाध्याय होना चाहिए। अपरा विद्या और पराविद्याका स्वाध्याय होना चाहिए। इसमें अपराविद्याके द्वारा वर्णित जो कर्म, उपासना है उसका अनुष्ठान कर क्रियावन्तः होना चाहिए। उसके बाद ब्रह्मनिष्ठाः। पहले अपरब्रह्म निष्ठा, फिर परब्रह्म निष्ठ होना चाहिए। तो यह कैसे होगा? कि स्वयं जुह्बत एकिंपं श्रद्धयन्तः—एक जो ऋपि हैं उसके ऊपर श्रद्धा करो और स्वयं हवन करो। यह हवन जो है, इससे अपरा विद्या, परा विद्याके ज्ञानका साधन बन जाय। यह हवन दूसरेसे नहीं करवाया जाता। इसमें ब्राह्मण प्रतिनिधि रखकर होम नहीं होता, यह स्वयं अपने आप होता है। जुह्बते माने हवन करते हैं। तो किसको हवन करते हैं? कि एकिंपि—एक ऋषि जो अग्नि हैं, उसमें हवन करते हैं। कैसे हवन करते हैं? कि श्रद्धयन्तः—श्रद्धासे हवन करते हैं।

अब आप देखों कि आपके घरमें बहुत प्यारी वस्तु है। क्या ? कि घी-बूरा। महाराज घी बूराके बिना तो देवता लोग भोग ही ग्रहण नहीं करते। तो घी चाहिए।

हमें हमारे बचपनकी याद है, कभी-कभी वैरागी लोग आते थे, तो संन्यासी आते तो घरमें बनी रोटी खा लेते और रामानन्द, रामानुज सम्प्रदायके लोग आते, वे घरमें रोटी नहीं खाते थे, तो वे बनाते थे। तो कहते घी तो जरूर चाहिए। क्योंकि घी डालं विना भगवान्कों भाग कैसं लगावेंगे ? तो देखां घी घृत जैसे यज्ञमें घी वृहा डालते हैं, ऐसे यह जठराग्रिमें जो हवन होता है, उसमें भी घी बृहा चाहिए। और यह घी-बृहा मनमें क्या है ? कि स्नेह है स्नेह माने घृत। घरमें जो घी चृहा है उसका हवन करों, आगमें बाहर। उसमें तो धर्म होता है, पुण्य होता है और भीतर जो अग्नि है, जठराग्नि, उसमें हवन करों तो अन्तर्होम अन्तर्याग होकर यह प्राण और इन्द्रियोंकी पित्रतता होगी। माने भोगकृत दोषसे बचोगे। वाहर यज्ञ करनेसे कर्मकृत दोषसे बचेंगे, क्योंकि यज्ञका नियम ले लेंगे तो अमुक प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पालन करना, अमुक प्रकारकी धरतीमें सोना, अमुक प्रकारका खाना, अपने आप ही अग्निहोत्र सम्बन्धी नियम आ जायेंगे और जब जठराग्निमें हवन सम्बन्धी नियम लेंगे, तब क्या होगा ? एकिष जुह्नते। तब क्या होगा कि हमारा भोगकृत जो दोष है, वह दूर हो जायेगा। जठराग्निमें प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा—यह जठराग्निमें होनेवाला हवन है।

अब इसीमें जो स्नेह है मनमें हमारे, मनमें जो घी है और मनमें जो बूरा है वह हम संसारमें लोगोंको देते फिरते हैं। लो हमारा स्नेह, लो हमारा मोह और लो हमारा प्राण। यह जब अधिदेव अग्निमें इनका हवन करेंगे—कृष्णाय स्वाहा, गोपीजन वल्लभाय स्वाहा, यह क्या हुआ कि यह अधिदेव अग्निमें इनका हवन हुआ।

अब उसके बाद क्या शेष रहा? कि अविद्या शेष रही। आत्माग्निमें इसका हवन होगा। इस प्रकारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, बाहरकी अग्निमें हवन करनेसे भोगकी शुद्धि होती है जठराग्निमें हवन करनेसे। बुद्धि और मनमें जो दोष हैं उनकी शुद्धि होती है ईश्वरके प्रति समर्पण करनेसे, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्। ब्रह्म कर्म समाधिना और अविद्याका जो मल है वह आत्माग्निमें हवन करनेसे शुद्ध होता है।

तो. एकर्षिका अर्थ देखो क्या विलक्षण है। एक जो ऋषि है। एकर्षि माने अग्नि होता है—अग्निमीले पुरोहितं। यह वेदके प्रारम्भमें जो मन्त्र आते हैं, उस मन्त्रोंमें अग्निकी आराधना होती है।

अब यही अग्नि एक ऋषि ज्ञान स्वरूप है, परमात्मा। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। यह एकर्षि कौन है? कि गुरु है। श्रद्धा करो और इस गुरुके प्रति आत्म- समर्पण करो। परमात्माके प्रति आत्म समर्पण, धर्मके प्रति आत्म समर्पण, यह श्रद्धयन्तः। श्रद्धा करके इसको धारण करो।

तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत—इस ब्रह्मविद्याका उपदेश किसके प्रति करना? जो अपर विद्याके अनुसार अपर ब्रह्मकी उपासना कर चुके हो उनको इस ब्रह्म विद्याका उपदेश करना चाहिए। शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्। जिन्होंने भलीभाँति, विधिवत् शिरोव्रतका आचरण किया होते। यह शिरोव्रत जो है, जो अथर्ववेदके अनुयायी हैं, वे जब यज्ञ करते हैं तो उस यज्ञमें अग्निको सिरपर धारण करनेका विधान है। अग्निको पहले ऐसे पात्रमें रखते थे कि वर्णन आया है श्रीमद्भागवतमें कि जब कोई महापुरुष आता था और राजा उनका स्वागत करनेके लिए जाते थे तो पुरोहित भी जाते। पुरोहित भी स्वागतके लिए चलते, कोई शंख बजाता, कोई वेदमन्त्रका पाठ करता, राजा चलता। तो जो अग्निहोत्रका अग्नि होता था उसको भी साथ-साथ लेकर स्वागत करनेके लिए जाते थे। ऐसी परम्परा प्राप्त होती है।

तो इस अग्निको हवन भी करते हैं और उठाकर सिरपर भी धारण करते हैं। तो जिन्होंने इस अग्निको उठाकर सिरपर धारण कर लिया है, आथर्विणकोंमें प्रसिद्ध जो शिरोव्रत है उसका जिसने विधिवत् पालन किया है।

अब शिरोव्रतका दूसरा अभिप्राय देखो। शिरोव्रतका अर्थ संन्यासी होना भी होता है। क्योंकि यह मुण्डक उपनिषद् है, तो इसका अधिकारी कौन? बोले—मुड़िया। मुण्डक। जिनका 'क' माने सिर मुण्ड होवे। बालोंसे सँवारा हुआ न हो। इसका क्या अभिप्राय हुआ? कि जो बाह्य शौक है, जो विलासिता है, जो शृंगारका भाव है वह न होवे। बिना बालके तो कोई शृंगार होता ही नहीं। शास्त्रमें लिखा है कि कहीं भी तीर्थमें जाओ तो वहाँ बाल कटवाना चाहिए। प्रयागराजमें जाओ तो प्रयाग मुण्डे। गयामें जाओ तो पिण्डदान करो, प्रयागमें जाओ तो मूंड मुँडाओ। तो वह मूंड-मुँडाओंका मतलब क्या होता है? ऐसा वर्णन आता है कि पाप जो हैं वे मनुष्यके दिलमें तो रह नहीं पाते क्योंकि वहाँ तो परमात्मा बैठा हुआ है। सोते समय बेचारोंको वहाँसे निकल जाना पड़ता है, सपना देखते समय निकल जाना पड़ता है, राम-राम करते समय निकल जाना पड़ता है। गंगा स्नान करते समय उनको निकल जाना पड़ता है। यह बाल जो है यह शरीरका मल है। जैसे भीतर आग है और बाहर धुँआ होवे,

यह वाल जो हे यह भीतर जो आग है, उसका बाहरी धुँआ है। तो पाप बालका आश्रय लेकर शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हैं। जब आदमी पापका संकल्प करता है, तब तो वे सार शरीरमें आजाते हैं और जब पापका संकल्प नहीं करता तो वह वालका आश्रय लेकर रहता है। उसमें शृंगारकी भावना है, अपनेको सजाने सँवारनेकी भावना है कि नहीं? तो तीर्थमें जाये तो बोले—भाई स्त्री होवे सधवा होवे, या वानप्रस्थ होवे या ब्रह्मचारी होवे तो क्या करे? बोले—कम-से कम दो अंगुल बाल ऊपरसे उसको भी कटवा देना चाहिए। तीर्थयात्राके प्रसंगमें ऐसा वर्णन आता है। और, ये बाबाजी लोग हुए तो इन्होंने पूरा ही कटवा दिया। तो यह मुण्डकोपनिषद्का अभिप्राय क्या है कि अथर्वणवेदकी रीतिसे जिसने अपने सिरपर अग्रि धारण किया है—

शिरोवतं विधिवद्यस्तु चीर्णम्। जिन्होंने विधिपूर्वक मूंड मुँड्वा लिया है यह भी अर्थ हुआ। और तीसरी बात उसकी यह है कि असलमें यह परमार्थका मार्ग जो है, यह कमजोर लोगोंके लिए नहीं है, यह तो सूरमाओंका काम है। जो संसारके विषय-भोगको छोड़नेमें मैं-मैं, कैं-कैं करनेवाले हैं, ये कमजोर दिलवाले जो हैं वे इसके अधिकारी नहीं है। यह तो शिरोव्रतंका अर्थ है 'असिधाराव्रत'—तलवारका धार। वैसे शिरोव्रतका अर्थ है अपना सिर जो कटावे। हिम्मत है? बोले—सिर कटाना पड़ेगा। देखो भाई, महात्मा लोग सिर कटाकर तो उपदेश करते हैं। आपने दध्यङ् आथर्वण ऋषिकी बात सुनी होगी, अश्विनी कुमार गये उनके पास ब्रह्म विद्या ग्रहण करनेके लिए दधीचि ऋषिके पास। दधीचिने कहा—बाबा, हमको इन्द्र कह गया है कि किसीको इस ब्रह्मविद्याका उपदेश करोगे तो हम तुम्हारा सिर ही काट लेंगे। तो हमारा तो सिर कट जायेगा। बोले—सिर कट जाये तो कट जाये, हमको तो ब्रह्म विद्या बताओ।

इन्द्र ब्रह्म विद्याका शत्रु है। क्योंकि जो लोग ब्रह्मविद्या जान जाते हैं, वे फिर इन्द्राय स्वाहा करके इन्द्रको आहुति नहीं देते हैं, होमादि नहीं करते हैं। इन्द्रकी पूजा नहीं करते हैं। देखो, कृष्णने खुद तो इन्द्रकी पूजा छोड़ी, खुद तो छोड़ी दूसरोंको भी छुड़वा दिया। तब क्या हुआ? दधीचि ऋषिने कहा—सिर कट जायेगा। अश्विनी कुमारने कहा कि लो हम तुम्हारा सिर काटकर अलग रख लेते हैं। जो सिर कटा हुआ है, वह ब्रह्मविद्याका उपदेश करे और उसके

ऊपर अश्वके सिरको जोड़ दिया और उससे ब्रह्मविद्या सीख ली और जब इन्द्रने वज्र मारा तो अश्व सिर हटा दिया और फिर उसकी जगहपर जो पहला सिर है वह रख दिया। तो, शिरोवतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्—जहाँ गुरु ही सिर कटाये बाबा, वहाँ अगर चेला सिर काटनेको तैयार न हो, तो यह ब्रह्मविद्या कैसे मिले?

अब सिर कटानेका अभिप्राय क्या है? देखो आध्यात्मिक दृष्टिसे सिर कटानेका अर्थ है अभिमान छोड़ देना। यह शरीरमें जो अभिमान है वहीं सिर बना हुआ है। गुरुके पास गये और पाँव-पर पाँव रखकर बैठ गये, महाराज दंडवत। बोले—'काहेके लिए आये हो?' दंडवत करते समय सिर थोड़ा और पीछेकी ओर हो गया! काहेके लिए आये हो? कि ब्रह्मविद्याका उपदेश करो। यह तो छोटा बननेका माने अपना बड़प्पन छोड़कर विनयसे, तद्विद्ध प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। यह प्रणिपात करके नाक धरतीपर रगड़कर सीखनेका मार्ग है, यह नाक ऊँची करके सीखनेका मार्ग तो नहीं है! तो यह क्या हुआ? शिरोव्रतका एक तो अर्थ हुआ कि अभिमानको, अपने अहंकारको त्याग दिया है, चीर्णम्का अर्थ है आचरण कर लिया है, आचरितम्। जैसे कीर्णम् निगीर्ण, उदीर्णम्, इसी प्रकार यह चीर्णम् है। तो विधिवत् जिसने यह शिरोव्रतका आचरण किया है यह इसका अधिकारी है।

दूसरी बात यह है शिरोव्रतकी, यह जो सिर है, यह दिमाग है, इसमें बुद्धि रहती है! तो आदमी जानमें, अनजानमें माँ-बापसे, परिवारसे, संगतिसे अध्ययनसे, भिन्न-भिन्न प्रकारका संस्कार अपने सिरमें बैठा लेता है। अब देखो शास्त्रोंमें ही अनेक प्रकारका वर्णन है। कर्मके अधिकारीके लिए दूसरा वर्णन है, उपासनाके अधिकारीके लिए दूसरा वर्णन है, योगके अधिकारीके लिए दूसरा वर्णन है। देखो, जो समाधि लगाने बैठे और उसके मनमें इष्टकी, देवताकी स्फुरण होने लगे, तो यह समाधिके लिए विघ्न है। यह अधिकारी भेद हुआ। और हम श्रीकृष्ण दर्शनके लिए श्रीकृष्णका ध्यान करने लगे और उसमें समाधि लगाने लगे तो वह विघ्न है। और हम ब्रह्मका विचार करने लगें और इष्ट आकर सामने खड़ा हो जाये या समाधि लगने लग जाये तो दोनों विघ्न हैं और यदि समाधि लगाते समय वेदान्त विचारका उदय होने लगे तो वह विचार भी विक्षेप है। और यदि कृष्णोपासनाके समय वेदान्त विचार विचार आने लगे, तो वह कृष्णोपासनामें विघ्न

होगा। असलमें हम जो काम करने बैठे हैं, उसके विपरीत जो आवेगा, सो विघ्न होगा। अब यह बात दुनियादार लोग नहीं समझते हैं। कृष्णका ध्यान करने बैठे और आगया वेदान्तका विचार, बोले—हमारी उन्नति हो गयी। उन्नति क्या हो गयी, तुम्हार मनने एकाग्रताको खो दिया। एकाग्रतामें जानेमें उसको तकलीफ हुई तो उसने एकाग्रता छोड़ दी।

बोले—महाराज हम तो वेदान्त विचार करते हैं, लेकिन यह कृष्ण नहीं मानता, खींच लेता है मन। बोले—इसका अर्थ है तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारी प्रतिभा अभी फुरफुराई नहीं। नव नवोन्मेष शालिनी नहीं हुई।

हम तो बैठते हैं समाधि लगाने, परन्तु ये विचार और इष्ट देव आने लगते हैं। बोले—अभी तुम्हारी बुद्धि एकाग्रताके योग्य नहीं हुई।

यह सारा-का-सारा वर्णन योगके अधिकारीके लिए, उपासनाके अधिकारीके लिए, वेदान्तके अधिकारीके लिए है, बोले—कोई समाधि लगा रहा हो, अग्निहोत्री हो और अग्निहोत्रका समय हो जाय तो उसे समाधि लगानी चाहिए कि अग्निहोत्र करना चाहिए? उसको समाधि छोड़कर अग्निहोत्र करना चाहिए। कोई श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न होवे और कृष्णका प्रेमी होवे और उस समय सन्ध्या-वन्दनका समय हो जाय, तो क्या करना चाहिए? तो देखो कर्मकाण्डी होय तो कृष्ण ध्यान छोड़कर सन्ध्या-वन्दन करना चाहिए और कृष्ण प्रेमी भक्त हो, तो सन्ध्या वन्दन छोड़कर उसको कृष्णका ध्यान ही करना चाहिए। तो यह जो शास्त्रमें वर्णन है, वह भिन्न-भिन्न अधिकारीके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारसे है। बोले—राम-राम जपकर रहे और बीचमें शिव-शिव होने लगा। बोले—शिवजीने बड़ी कृपा की हमारे ऊपर। कि न, न, यह राम-राम छुड़ानेके लिए शिव-शिव विघ्न आया है। और शिव-शिव कर रहे उस समय राम-राम आ जाये तो समझो कि तुम्हारें शिव-शिवमें विघ्न आया है यह राम-राम।

अपनी-अपनी निष्ठाके अनुसार मनुष्यको चलना चाहिए, अपनी निष्ठाके विपरीत नहीं चलना चाहिए। तो शिरोव्रतं का अभिप्राय क्या है कि यह जो तुम्हारे दिमागमें संस्कारोंकी खिचड़ी हो गयी है, संस्कारोंकी खिचड़ी बैठ गयी है, इसका विवेककर अलग-अलग, अपने सम्पूर्ण सिरको ही, क्योंकि माँने बताया कि तुम्हारा नाम मोहन, और गाँवमें लोगोंने तुम्हारा नाम मोहू बता दिया, महुआ बता दिया। घरमें नाम रखा गया मोहन शर्मा; मोहन शर्मा श्रीकृण्णके साथ सम्बन्ध हुआ। बोले—घरमें मैया मोहन करके बोलने लगी तो दूसरे लोग मोह बोलने लगे। एकके घरमें गया मैं तो उन्होंने अपने लड़केको पुकारा भुवानिया भुवानिया। मैंने कहा यह क्या! बड़े पढ़े लिखे संस्कारी सज्जन थे, मैंने कहा यह भुवानिया क्या होता है तो हँसकर बोले कि यह 'भगवान्' नाम इसका रखा गया है, यह प्यारमें हम लोग भुवानिया बोलते हैं। तो इस तरहसे महाराज ये ऐसे ऐसे संस्कार तुम्हारे दिमागमें पड़ जाते हैं।

तो पहले शिरोव्रत करो, शिरोव्रत करनेका अभिप्राय है कि तुम्हारे दिमागमें जाने-अनजानेमें जो उलटे-सीधे तुम्हारे अधिकारके विपरीत संस्कार आगये हैं उनको छोड़कर, वेदान्तपर, गुरुपर, ईश्वरपर, अपनी निष्ठापर, श्रद्धा करके आगे बढ़ो—

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णवितोऽधीते।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ 3.2.11

तदेतत्सत्यम्—तदेतत्—वही जो पूछा था कि आप हमेशा सत्यका वर्णन करो, जिस सत्यको जानकर सबका ज्ञान हो जाता है और ब्रह्मैवेद, अमृतं पुरस्तात्—जिसके सिवाय और कुछ नहीं है, उस सत्यका वर्णन करो।

तो कहते हैं कि, ऋषिरङ्गिरा पुरोवाच—अंगिरा ऋषिने पहले यह वर्णन किया था कि 'तदेतत्सत्यम्'—इस मुण्डकोपनिषद्में जिस अक्षर तत्त्वका परतः अक्षरात् परतत्त्वका वर्णन है वही यह सत्य है।

एक आपको और सुनावें, कहीं-कहीं ऐसी व्याख्या मिलती है कि संसार तो है क्षर और ब्रह्म है अक्षर और साकार ईश्वर अक्षरसे भी परे पुरुषोत्तम है। तो वहाँ पुरुषोत्तम ही असली ब्रह्म है। वह जो 'अक्षर' है वह अपर ब्रह्म है। कारणरूप होनेके कारण अपर ब्रह्म अक्षर है और परब्रह्म पुरुषोत्तम है। ऐसा वहाँ समझना चाहिए। नहीं तो 'अक्षरात परतः परः'। सबसे परे जो अक्षर है उससे परे परमात्मा है। तो सबसे परे अक्षर कौन है? कि कारण ब्रह्म वही अक्षर तत्त्व। वह क्षरका तो वर्णन नहीं है, उससे परे, कौन है? कि पुरुषोत्तम तत्त्व। तो वही अक्षरात् परतः परः। परात्परः। जिसका नाम है, वह वही तत्त्व है। तो वही सत्य है और उसके सिवाय सब मृषा है। ऋग्वेदमें कहीं-कहीं वर्णन आता है कि यह विश्व भी सत्य है। ठीक है। ऐसा भी तो वर्णन आता है कि एक वाक्- का वाक् है। एक आँख-का-आँख है। एक प्राण का-प्राण है। एक मन-का मन है। इसी प्रकार यह भी वर्णन आता है कि सत्यस्य सत्यम् — वह सत्य-का सत्य है। अंगिरा ऋषिने यह उपदेश किया है, शौनकके प्रश्नके उत्तरमें। माने अक्षर तत्त्वका परात्पर परत: अक्षरात्पर सत्यका निरूपण किया है।

नैतदचीर्णव्रतोऽधीते—जो अचीर्ण व्रत है जिसने व्रतका आचरण नहीं किया है, वह उसका अध्ययन नहीं करता। अन्तमें—

नमः परम् ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः।

जो परमर्षि हैं जो परम ऋषि हैं उनको नमस्कार है। अब यह ऋषियोंमें भी कई भेद होते हैं। आजकल तो चाहे जिसके लिए ऋषि शब्दका प्रयोग हो जाता है, लोग अपने नामके साथ शौकिया ऋषि लगा लेते हैं।

एक सज्जन हैं हमारे मित्र, बहुत पुराने हैं, गंगा किनारे रहते हैं। तो उन्होंने चौबीस-चौबीस लाख गायत्रीके बहुत अनुष्ठान किये हैं तो उनको सब लोग ऋषिजी कहते हैं। कि उन्होंने खुद ही अपना नाम ऋषि रखा हुआ है, यह तो हमको नहीं मालूम पर हैं, अभी मिला मैं। एक दिन मैंने पूछा कि इनको लोग ऋषिजी क्यों कहते हैं? तो बोले कि महाराज, ये दुर्वासा ऋषि हैं। ये ऋषि तो हैं, परन्तु दुर्वासा ऋषि हैं। माने गुस्सा बहुत करते हैं। इसलिए नाम तो उनका गाँववालोंने दुर्वासा ऋषि रखा था; परन्तु उनके सामने किसीकी हिम्मत नहीं होती तो सिर्फ ऋषिजी बोलते हैं।

ऋषि तो लोग अपने आप ही नाम रख लेते हैं। ऋषि उसको कहते हैं कि वेदके जितने मन्त्र हैं, सब मन्त्रोंका कोई-न-कोई द्रष्टा होता है। जैसे गायत्री मन्त्र आप लोगोंको मालूम है न, आप लोग पढ़ते होंगे कि गायत्री मन्त्रका ऋषि विश्वभित्र। इसी प्रकार कई-कई मन्त्रोंके द्रष्टा जो होते हैं, कई ऋषि होते हैं। माने ऋषि जो हैं वे बिलकुल जीवित हैं। जो वेद मन्त्रोंके द्रष्टा हैं, उनका नाम ऋषि होता है।

अब इसमें भी एक होते हैं परमर्षि, एक होते हैं ब्रह्मर्षि, एक होते हैं देवर्षि एक होते हैं राजर्षि, एक होते हैं काण्डर्षि, एक होते हैं श्रुतर्षि, एक महर्षि, सात प्रकारके ऋषियोंके भेदका शास्त्रमें वर्णन आता है।

यहाँ कहते हैं कि हम परमर्षि प्रकारके ऋषियोंको नमस्कार करते हैं। तो परम ऋषि कौन हैं ? हमारे ब्रह्म विद्या सम्प्रदायके जो आचार्य हैं, ब्रह्मासे लेकर हमारे गुरु पर्यन्त जो ब्रह्म विद्याके ऋषि हैं। क्योंकि बिना सम्प्रदाय परम्पराक यह विद्या प्राप्त नहीं होगी।

अब यह भी आपको सुना दें कि संस्कृत भाषामें सम्प्रदाय शब्दका जो अर्थ होता है वह दो प्रकारसे होता है। एक तो शिष्य सम्प्रदायके अर्थमें होता है; एक तो समझो ज्ञान सम्प्रदायसे होता है। अब देखो, हमारे संन्यासियोंके गुरुओंका आप नाम लो, तो शंकराचार्य संन्यासी हैं, गोविन्दपाद संन्यासी हैं, गोड़पाद संन्यासी हैं, शुकदेव संन्यासी हैं। इनसे तो सम्प्रदाय ठीक चला, यह तो वेश सम्प्रदाय हुआ, यह तो ठीक चला लेकिन इससे पहले व्यास, पराशर, शिक्त, विसष्ठ ये तो संन्यासी नहीं थे। ये तो सब-के-सब गृहस्थ थे। तो वे संन्यासी सम्प्रदायके गुरु कैसे हो सकते हैं? क्योंकि वे तो गृहस्थ थे। बोले—यह गृहस्थ और संन्यासीका शिष्य भाव नहीं है, यहाँ ज्ञान सम्प्रदाय है। जिसको ज्ञान हुआ, उसने अपने शिष्यको ज्ञान दिया, जो उसका शिष्य बना वह संन्यासी हो तो भी शिष्य और वह गृहस्थ हो तो भी गुरु, क्योंकि उसने ज्ञान दिया। तो सम्प्रदान—गुरुने शिष्यको ज्ञानका सम्यक् प्रकृष्ट दान किया। भलीभाँति और उत्तम, गुरुने शिष्यको ज्ञानका दान किया। यहाँ दाता गुरु हैं और गृहीता शिष्य है। सम्प्रदाय है।

यह देखो, जैसे यजमानः ब्रह्मण्यम् गां ददाति—एक यजमान ब्राह्मणके लिए गायका दान करता है। तो यहाँ यजमान दाता है गायका मालिक और ब्राह्मणको विधिवत् उसने दान किया। तो गायका सम्प्रदाय तो हुआ परन्तु ब्राह्मणके लिए हुआ। इसी प्रकार गुरु जो है वह अपनी वाणीका दान करता है। अपनी विद्याका दान करता है। हृद्देशस्थ विद्याका शिष्यके प्रति दान करता है।

आपने पंचदशीमें पढ़ा होगा जीव ईश्वरका वहाँ एक विलक्षण सम्बन्ध बताया हुआ है कि यह जो मायिक प्रपंच है, मायिक सृष्टि है, मिट्टी, पानी, आग, हवा—यह पंचभूतोंकी सृष्टि समझो, यह ईश्वरकी तो बेटी है, ईश्वरने यह सृष्टि बनायी है और ब्याही किसके साथ गयी? बोले—जीवके साथ। इसीलिए बेटी अपने माँ बापको ज्यादा दु:ख नहीं देती, तभीतक दु:ख देती है जबतक ब्याह न करे और ब्याह करनेके बाद वह अपने पितको ही दु:ख देती है, माँ— बापको ज्यादा दु:ख नहीं देती, यह सृष्टि जो है—ईश सृष्टं जीव भोग्यम्। पंचदशीका शब्द ही यह है। तां यह जां सम्प्रदान हं, यह ब्रह्म विद्या है। यह ब्रह्मविद्या दुःख मिटानेवाली विद्या है। यह दुनियादारकी कोई बेटी नहीं है। यह गुरुकी तो बेटी हैं और यह जाकर शिष्यको सुख देती हैं, उसका सोच मिटा देती हैं और उसको परमानन्द दान करती है। तो जैसे पिता अपनी पुत्रीका दान अपने जामाताको करता है, इतना प्यारा है वह शिष्य और इतनी प्यारा है वह विद्या कि अपने हदयकी जो विद्या है उसको गुरुजन अपने शिष्यके प्रति सम्प्रदान करते हैं। जैसे अयोग्यवरको कोई अपनी बेटी नहीं ब्याहता, यह लेकर सँभालेगा कि नहीं, बाबा, देख लेते हैं, कि बेटी सँभालेगा कि नहीं, इसी प्रकार गुरु लोग भी यह विचार करते हैं कि यह हमारी ब्रह्मविद्याको सँभालने योग्य नहीं है। कहीं बदनाम तो नहीं कर देगा। कोई विद्वान् होकर अगर शास्त्रोक्त आचरणसे विपरीत काम,क्रोध, लोभके अधीन हो जाये, तो उससे ब्रह्मविद्याकी और ब्रह्म विद्या दान करनेवालेकी ही बदनामी होती है। इसलिए शमदमादि सम्पन्न अधिकारीका विचार करके गुरु लोग अपनी यह निधि, अपना यह खजाना, अपनी यह बेटी देते हैं।

चेले लोग गुरुकी परीक्षा नहीं कर सकते। जब चेला परीक्षा करनेके लिए आता है गुरुके पास, तो गुरु समझ जाता है कि अभी तो इसीके मनमें हमारे प्रति संशय है, तो ऐसे संदिग्ध वृत्तिवाले शिष्यको विद्याका दान ही क्यों करें?

परम ऋषिका अभिप्राय ऐसा समझो कि अपराविद्याका जो ऋषि है, वह ऋषि और पराविद्याका जो ऋषि है, वह परम ऋषि और हमारे गुरुसे लेकर ब्रह्मातक जो कड़ी जुड़ी हुई है। समझो हमारे गुरु जो हैं, वे तो कानको विद्या देते हैं। कानमें तो दिशाएँ हैं, अन्त:करणमें ब्रह्मा बैठे हुए हैं और उनमें भी अनेक ऋषि हमारे हृदयमें विद्यमान हैं। तो यह ब्रह्मविद्या सम्प्रदान जो है यह ब्रह्मासे लेकर हमारे पास तक यह जो सम्प्रदानकी पद्धति है, उसको सम्प्रदाय कहते हैं।

यह आजकल लोग पहले पढ़ते हैं अंग्रेजीके शब्द, उसका पर्याय ढूँढ़ते हैं संस्कृतमें। संस्कृत भाषाका धर्म किसी सम्प्रदायके आचार्यके द्वारा प्रवर्तित रहनीका नाम नहीं है।

जैसे मुहम्मद साहबके द्वारा प्रवर्तित रहनीका नाम इस्लाम है, मुस्लिम तृतीय मुण्डक, द्वितीय खण्ड 535 मजहब है, और जैसे ईसाके द्वारा प्रवर्तित रहनीके अनुसार रहनेवालेका नाम ईसाई है और ईसाई मजहब है, वैसे हिन्दू धर्म, सनातन धर्म जिसको बोलते है उसमें आप प्रथम आचार्यका नाम बताओं मुहम्मदकी तरह, ईसाकी तरह किस कालमें पैदा हुए और किसने इस सनातन धर्मको प्रचलित किया! तब बताओ कि जैसे मजहब या सम्प्रदाय शब्दका प्रयोग मुस्लिम धर्मके लिए या जरथुत्स धर्मके लिए या ईसाई धर्मके लिए होता है, वैसे अमुक आचार्यके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय कैसे आवेगा हिन्दू धर्ममें ? जो अर्थ उन-उन सम्प्रदायोंमें प्रचलित है वह अपने सम्प्रदायमें आता ही नहीं। क्योंकि यहाँ तो धर्म कहते हैं उसको, जो मनुष्यके कर्ममें, मनुष्यके संग्रहमें, मनुष्यके भोगमें, मनुष्य कितना धन इकट्ठा करे, कितना भोग-भोगे, कौन-कौनसे कर्म करे और मनुष्यके मनमें किस प्रकारके विचार रहें - इसको नियन्त्रित करनेके लिए। अरे चाहे भारतीय हो, चाहे अमेरिकन हो, चाहे रिशयन हो, एशिया महाद्वीपका होवे चाहे यूरोपका होवे, सम्पूर्ण विश्वसृष्टिका कोई भी मनुष्य जो कर्मकी मर्यादा चाहता है, जो भोगकी मर्यादा चाहता है, जो धनकी मर्यादा चाहता है, जो अपनी चित्तवृत्तियोंकी मर्यादा चाहता है, उसको नियन्त्रणमें रखनेवाला, धारणात धर्म: उसको धारण करनेके लिए धर्म शब्दका प्रयोग किया जाता है।

अब महाराज, 'रिलिजन' शब्दसे वह कैसे बनेगा? जो एक सम्प्रदायके प्रवर्तित आचार्य द्वारा जो रहनी विशेषको धर्म कहते हैं, मजहब कहते हैं उसके अर्थमें वह कैसे आवेगा? तो हमारे यहाँ जो धर्म शब्द है बिलकुल निरुपपद है, उसके साथ कोई भी विशेषण नहीं जुड़ता है। बिना विशेषणका धर्म है, यह अमुक आचार्यके द्वारा चलाया हुआ धर्म नहीं है। इसकी प्राप्तिके लिए केवल ऋषियोंकी सम्प्रदाय परम्परा होती है, माने गुरु-शिष्य परम्परा।

गुरु परम्परा भी इसलिए कि केवल विज्ञानके द्वारा या यान्त्रिक खोजके द्वारा यह धर्म और ब्रह्म जाने नहीं जा सकते, इसलिए इसमें गुरुकी जरूरत होती है। तो नमः परम ऋषिभ्यः परमर्षियोंको हम नमस्कार करते हैं।

तृतीय मुण्डकका द्वितीय खण्ड समाप्त मुण्डकोपनिषद्— प्रवचन समाप्त





महत्त्व है। एक तो यह मंत्र संहिताका भाग है, दूसरे इसके मंत्रोंका प्रचार-प्रसार प्रमाणके रूपोंमें सर्वत्र होता है। ब्रह्मसूत्रमें भी इसके मंत्रों पर विचार किया गया है। अतः वेदान्तके जिज्ञासुओंके लिए इस उपनिषद्का विचार अनिवार्य है। संन्यास, प्रपात्रोपासना तथा अन्तःकरणशुद्धिके अन्य उपायोंका भी इसमें वर्णन है। 'ब्रह्मवेद् ब्रह्मैव भवति' इसकी प्रसिद्ध सुक्ति है। गुरूपसित्तकी अनिवार्यता भी इसमें बनायी गयी है तथा ब्रह्मज्ञानी गुरुके सत्संग तथा सेवाका अपूर्वफल भी यहाँ बनाया

गया है। जीवन्मुक्ति तथा संन्यासीको क्रम-मुक्तिकी अवधारणा

उपर्युक्त समस्त विषयों पर प. पू. महाराजश्रीने अपने प्रवचनोंमें अत्यन्त सरल सुबोध ढंगसे अपना अनूठा प्रकाश डाला है। जैसा महाराजश्रीके साहित्यके पाठकोंको पूर्व परिचय ही है उनके प्रवचनोंका गम्भीरता एवं प्रसाद दोनों अनुपमरूपसे उपस्थित रहते हैं। स्वाध्यायकी सुविधाके लिए प्रारम्भमें उपनिषद्का मूल-पाठ भी दे दिया गया है।



भी बहुत स्पष्ट है।